

द्वि मासिक

अप्रैल १९६४

अनेकान्त



श्री बड़े बाबा (भ० आदिनाथ) कुंडलपुर

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१ शान्तिनाथस्तोत्रम्—पद्मनंदाचार्य	२
२ नया मन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के जैन मूर्ति लेख —परमानन्द शास्त्री	२
३ ध्यान —डा० कमलचन्द्र सौगर्षी	३
४ कावड़! एक चलता फिरता मन्दिर —महेन्द्र भनावत	७
५ कविवर रङ्गभू रचित-सावय चरित —श्री अग्रचन्द्र नाहट	१०
६ भगवान् महावीर के जीवन प्रसंग —मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी प्रथम	१७
७ महावीर का गृह-त्याग—कस्तूरचन्द्र कामलोवाल	१९
८ आचार्य भावसेन के प्रमाण विषयक विशिष्ट मत डा० विद्याधर जोहरापुरकर	२३
९ दिग्विजय (ऐतिहासिक उपन्यास) —आनन्दप्रकाश जैन—जम्बूप्रसाद जैन	२५
१० सर्वोदय का अर्थ—विनोवा भावे	३२
११ जैन ग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह पर मेरा अभिमत —दरबारी लाल कोठिया	३३
१२ नन्दिमंघ बलात्कारगण पट्टावली —परमानन्द शास्त्री	३५
१३ शान्ति और सौम्यता का तीर्थ कुण्डलपुर —श्री नीरज जैन	४३
१४ आकस्मिक वियोग	
१५ बा० जयभगवान के निधन पर कुछ पत्र	
१६ समर्पण (कविता) बा० जयभगवान जी	
१७ साहित्य—समीक्षा	४८



सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

अनेकान्त के ग्राहकों से

अनेकान्त के १७ वें वर्ष का वार्षिक मूल्य जिन अधिकांश ग्राहकों का प्राप्त नहीं हुआ, उन्हें चाहिये कि अनेकान्त का प्रथमांक पहुँचते ही पेशगी मूल्य छह रूपया मनीआडर से भिजवा कर अनुग्रहीत करें। मूल्य प्राप्त न होने पर अगला अंक वी. पी. से भेजा जावेगा। आशा है प्रेमी महानुभाव इस निवेदन पर ध्यान देंगे, और अपना मूल्य निम्न पते पर भिजवा ने की कृपा करें।

व्यवस्थापक अनेकान्त

वीर सेवामन्दिर २१ दरियागज दिल्ली



सहायता

ला० प्रद्युम्नकुमार नरेशचन्द्रजी जैन पानीपत ने बाबू जयभगवान जी एडवोकेट पानीपत के स्वर्गवास के समय निकाले हुए दान में से इक्कीस रूपया सधन्यवाद प्राप्त हुए।

प्रेमचन्द जैन

सं० मंत्री, वीर सेवा मन्दिर



दानी महोदयों से निवेदन

जो धर्मात्मा सज्जन धार्मिक कार्यों में दान देते रहते हैं वे दान देते समय अनेकान्त पत्र और वीर-सेवा-मन्दिर लायब्रेरी को न भूलें, इन्हें भी अपना आर्थिक सहयोग प्रदान कर पुण्य व यश के भागी बनें। अनेकान्त के स्वयं सहायक बन कर और अपने मित्रों को बना कर, तथा स्वयं ग्राहक बन कर और प्रेरणा द्वारा दूसरों को बना कर जैन संस्कृति के अभ्युत्थान में सहयोग प्रदान करें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'



अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये

ए० किरण का मूल्य १ रूपया २५ न. पं.

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिये सम्पादक मंडल उत्तरदायी नहीं है।

ग्रोम ग्रहम्

वीर सेवा मंदिर पुस्तकालय

4251

अनेकान्त

वि. सं. देवली

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १७

किरणा, १

वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, देहली-६.

वीर निर्वाण सं० २४६०, वि० सं० २०२०

अप्रैल

सन् १९६४

शान्तिनाथ स्तोत्रम्

त्रैलोक्याधिपतित्वसूचन परं लोकेश्वरैरद्भुतं,
यस्योपर्युपरीन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते ।
अश्रान्तो दूगतकेवलोज्ज्वलरुचा निर्भस्मितार्क प्रभं,
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥१॥
देवः सर्वविदेष्ट एष परमो नान्यस्त्रिलोकीपतिः,
सन्त्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां संमताः ।
एतद्धोषयतीव यस्य विबुधैस्ताडितो दुन्दुभिः,
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥२॥

पद्मनंदाचार्य

अर्थ—जिस शान्तिनाथ भगवान के एक एक के ऊपर इन्द्रों के द्वारा धारण किए गए चन्द्रमण्डल के समान तीन छत्र तीनों लोकों की प्रभुता को सूचित करते हुए निरन्तर उदित रहने वाले केवलज्ञान रूप निर्मल ज्योति के द्वारा सूर्य की प्रभा को तिरस्कृत करके सुशोभित होते हैं वह पाप रूप कालिमा से रहित श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करें । जिसकी भेरी देवों द्वारा ताड़ित हो कर मानो यही घोषणा करती है कि तीनों लोकों का स्वामी और सर्वज्ञ यह शान्तिनाथ जिनेन्द्र ही उत्कृष्ट देव है और दूसरा नहीं है, तथा समस्त तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने वाले इसी के वचन सज्जनों को अभीष्ट हैं, दूसरे किसी के भी वचन उन्हें अभीष्ट नहीं है, वह पापरूप कालिमा से रहित श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगों की सदा रक्षा करें ॥ १, २ ॥

संयोजक वीरसेवा-मन्दिर

संक० परमानन्द शास्त्री

नयामन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के जैन मूर्ति-लेख

वेदी २ कटनी नं० ३

१. बाहुबली खड्गासन सफेद पाषाण साइज ऊंचाई १७॥ इंच चौड़ाई ८ इंच, चौकी ४॥ इंच। दोनों ओर दो इन्द्र। वि० सं० १६७६ फागुण मासे शुक्ल पक्षे श्री कुन्दकुन्दाग्नाये अकलतरा नगरे प्रतिष्ठितम्।

२. सिद्ध मूर्ति सा० उचाई ८ इंच, चौड़ाई ६ इंच। श्री सं० १६४२ माघ शुक्ला १३ भानुपुरे श्री कुन्दकुन्दादि दिगम्बर गुरुपदेशात् प्रतिष्ठितं जिनबिम्बं सकल संघ शुद्धाग्नाया प्रणमिति नित्यम्।

३. कुन्धनाथ चिन्ह बकरा सफेद पाषाण सा० उचाई ७ इंच, चौड़ाई ५ इंच सं० २४७६ वि० सं० २००६ माघ शु० १२ मूलसंघे कुन्दकुन्दाग्नाये मोदीनगरे उत्तर प्रदेश, दिल्ली निवासी ला० रघुवीरमिह श्री जिनबिम्बं प्रतिष्ठापितमिदं।

नोट—इस वेदी में बक्स नं० १ में दो पाषाण मूर्ति-१ सफेद पाषाण की और दूसरी काले पाषाण की, तथा १७ धातु की, २-३ इंच तक की लेखरहित हैं।

महावीर स्वामी—सं १६४७ पौष शु० ६ बिम्बं, चन्द्रप्रभ स्वामी वैशाख मासे, (संवत् नहीं)

४. छोटी मूर्तियां १ इंच से १॥ इंच तक की लेख रहित, शेष ७० मूर्तियां छोटी एक इंच वाली लेख रहित।

तथा पेटी नं० २ में निम्न मूर्तियां और हैं जिनमें एक मूर्ति चौमुखी धातु की है। सं० १७६६ मिति माहसुदी ६ श्री मूलसंघे भ० जगत्कीर्ति दूसरी मूर्ति पार्श्वनाथ की है। लेख नहीं है। तीसरी नयफर्णा पार्श्वनाथ की है जो ३ इंच ऊंची और दो इंच चौड़ी है। सं० १६४२, वैशाख १०। चौथी भी पार्श्वनाथ की है, ३ इंच ऊंची और दो दो इंच चौड़ी है। लेख है, पर अस्पष्ट होने से पढ़ा नहीं जाता। पांचवीं सप्तफर्णा पार्श्वनाथ की है। जिस पर निम्न लेख अंकित है। संवत् १६४१ फागुन सुदि ३ मूल संघे भ० शीलभूषण, ज्ञानभूषण, तदाग्नाये पार्श्वनाथ।

छोटी छोटी ४१ मूर्तियां और हैं। जिनमें पार्श्वनाथ की एक त्रिमूर्ति है। सं० १७४१ मगमिर सुदि १२ भट्टारक श्री अजित कीर्ति तदाग्नाये [अग्नोतकान्वये] गरग गोत्रे सोनवालेन प्रतिष्ठापितम्।

आदिनाथ हल्का गुलाबी पाषाण साइज ऊंचाई १६ इंच चौड़ाई १२॥ इंच। सं० १६३२ माघ सु० ३ भ० राजेन्द्र कीर्तिस्तदाग्नाये मेहरचन्द्रेण प्रतिष्ठापितं, इन्द्रप्रस्थ दिल्ली नगरे, रंगीलाल।

शीतलनाथ चिन्ह-कल्पवृक्ष मृ० गिया पाषाण सा० ऊंचाई १२ इंच, चौड़ाई १२ इंच। सं० १६३२ माघ सु० ३ काष्ठा सं लोहाचार्यान्वये भ० राजेन्द्रकीर्ति तदाग्नाये अग्रोतकान्वये गरग गोत्रे साधु ईश्वरचंद तत्पुत्र मेहरचन्द्रेण प्रतिष्ठापितं, इन्द्रप्रस्थ नगरे दिल्ली।

मूल वेदी

आदिनाथ सफेद पाषाण साइज ऊंचाई २० इंच, चौड़ाई १२ इंच चिन्ह दृष्यम्।

सं० १६६४ माघवदि २ सोमवासरे महाराजाधिराजा श्री थानसिंह जी राज्ये भ० श्री चन्द्रकीर्ति तत्पद्वे भ० श्री देवेन्द्रकीर्ति स्तदाग्नाये सरस्वती गच्छे बलात्कार गये कुन्दकुदाचार्यान्वये।

तत्प्रतिष्ठा कारितं भोजीमावाद नगरे।

ध्यान

(डा० कमल चन्द्र सोगारो, प्राध्यापक दर्शन शास्त्र, राज ऋषि कालेज अलवर)

भारतीय जीवन एवं दृष्टिकोण अध्यात्म प्रधान रहे हैं। यद्यपि चार्वाक जैसे भौतिकवादी भारत में पनपे, किन्तु वे इसकी अध्यात्मप्रधान विचार शैली पर अपना प्रभुत्व स्थापित न कर सके। अध्यात्म यहां के साहित्य, कला और जीवन में अंकुरित हुआ, विकसित हुआ और फला-फूला है। आध्यात्मिक मूल्यों की दृष्टि से वस्तुओं को परखना भारतीय पद्धति है आध्यात्मिक आदर्शों का सान्नाकार, उनकी गहरी अनुभूति व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के स्रोतक हैं। ध्यान वही साधन है जो आदर्शों को कोरे विचारों के क्षेत्र से उठाकर जीवन के क्षेत्र में ले आता है। जीवन में आदर्शों से तन्मयता ध्यान का ही प्रतिफल है। ध्यान की प्रक्रिया का उदय मनुष्य के जीवन में उस समय हुआ होगा, जब मनुष्य को यह भान हुआ कि सत्य प्राप्ति का संबंध प्राकृतिक शक्तियों की ओर ताकने से नहीं किन्तु अपने भीतर के अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने से है। ध्यान मनुष्य के विकास की अवस्था का परिचायक है जब बाह्य शक्तियों के आश्रित रहकर शान्ति और सन्तोष प्राप्त करने में असमर्थ रहा होगा, बाह्य आडम्बरमय जीवन से वह थक गया होगा, और संकुचित सामाजिक जीवन से बृहत् सामाजिक जीवन में पदार्पण कर रहा होगा। Dr. Caird ने ठीक ही कहा है "Man looks outward before he looks inward, he looks inward before he looks upward" मनुष्य सर्व प्रथम बहिर्मुखी होता है, तत्पश्चात् अन्तर्मुखी और फिर सत्यमुखी ध्यान ही अन्तर्दर्शी मनुष्य को सत्य-दर्शी बनाता है। और मुख्य बात तो यह है कि ध्यान के माध्यम से सत्य मानव मात्र द्वारा प्राप्ति की वस्तु बन जाता है। जातीयता ही नहीं राष्ट्रीयता के बन्धन भी टूट जाते हैं।

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का एक विशिष्ट स्थान है, आध्यात्मिक अनुभूति को यहां सर्वोपरि महत्ता प्रदान की गई

है। साधारणतया यह समझा जाता है कि जैन दर्शन एक आचार दर्शन है, आध्यात्मिकता को यहां विशेष महत्व नहीं दिया गया है। किन्तु यह विचार त्रुटिपूर्ण है। जैन आचार आध्यात्मिक भूमिका पर अवस्थित है। जैन साहित्य में सम्यग्दर्शन की महत्ता, गुणस्थानों द्वारा आत्मा का प्रतिपादन, द्वादश तपों में अंतरंग तपों का स्थान, आत्मा के तीन रूपों पर विचार-ये सब बातें इस ओर संकेत करती हैं कि जैन दर्शन कोरी नैतिक अनुभूति को ही सर्वोपरि नहीं मानता, किन्तु आध्यात्मिक अनुभूति को आधार रूप में स्वीकार करता है। इतना ही नहीं इसकी प्राप्ति का मार्ग भी प्रस्तुत करता है। अणुव्रत, महाव्रत, विभिन्न तप साध्य नहीं साधन हैं। ये सब एक उच्च तत्त्व, आत्मिक तत्त्व की प्राप्ति की ओर संकेत करते हैं। अतः इस आत्मिक तत्त्व की श्रद्धा, इसकी सतत चेतना, की सर्व प्रथम आवश्यकता है। यही सम्यग्दर्शन है कुन्दकुन्द ने कहा है कि सम्यग्दर्शन गुणरूपी रत्नों में सर्वश्रेष्ठ है और मोक्ष का प्रथम सोपान है। उत्तराध्ययन में कहा गया है कि सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं हो सकता २। यहां तक कहा गया है कि सम्यक्त्व रहित मनुष्य उम्र तप करते हुए भी सहस्र करोड़ वर्ष तक बोधि को नहीं पा सकता ३। अतः जिस तरह नगर के लिये द्वार का का, मुंह के लिये चबुत्ता का और वृक्ष के लिये मूल का महत्व है उसी तरह ज्ञान, दर्शन वीर्य और तप के लिये सम्यक्त्व का महत्व है ४। इस तरह से आध्यात्मिक प्रगति जीवन का आदर्श है। इस आध्यात्मिक प्रगति, इस आध्यात्मिक प्राप्ति के लिये ध्यान सर्वश्रेष्ठ साधन है। अन्य सब साधन ध्यान की भूमिका बनाने के लिये हैं। ध्यान परम आत्मा की प्राप्ति के लिये द्वार है। जैन साहित्य में ध्यान की महत्ता को विभिन्न शब्दों में व्यक्त किया गया है। आराधना सार में कहा गया है कि खूब तप

१-भाव पा० १४५,

३-दर्शन पा० ५,

२-उत्तरा० २८।२६

४-भगवती आ० ७३६

करो, संयम का पालन करो, सारे शास्त्रों को पढ़ो किन्तु जब तक आत्मा का ध्यान नहीं करो, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। तत्त्वसार के अनुसार ध्यान के बिना जो कर्म किये करने की इच्छा करता है वह उसी मनुष्य के समान है जो बिना पैर का होने पर भी मेरू के शिखर पर चढ़ने की इच्छा करता है। भगवती आराधना के अनुसार जैसे छुछा को नष्ट करने के लिये अन्न होता है तथा जिस तरह प्यास को नष्ट करने के लिये जल है वैसे ही विषयों की भूल तथा प्यास को नष्ट करने के लिये ध्यान है।

एक विषय में चितवृत्ति का रोकना ध्यान है। चित चंचल होता है इसका किसी एक बात में स्थिर हो जाना ध्यान है। षट्खंडागम में कहा गया है कि विचारों का किसी एक विषय पर स्थिरता ध्यान है जबकि चित्त के एक विषय से दूसरे विषय पर जाने को भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है। ध्यान का विषय शुभ अथवा अशुभ हो सकता है। ध्यान का विषय जब शुभ होता है तब वह प्रशस्त ध्यान है और जब अशुभ होता है तो वह अप्रशस्त ध्यान है। पूज्यपाद के अनुसार इसी ध्यान से दिव्य चिंतामणि मिल सकता है, और इसी से खली के टुकड़े भी मिल सकते हैं। जब ध्यान के द्वारा दोनों मिल सकते हैं तब विवेकी लोग किस ओर आदर बुद्धि करेंगे? निश्चय ही वे दिव्य चिंतामणि को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होंगे। शुभचन्द्र ने ध्यान के भेद बतलाते समय एक स्थान पर ध्यान के तीन भेद-शुभ, अशुभ और शुद्ध-किये हैं, और दूसरे स्थान पर प्रशस्त और अप्रशस्त इस तरह को भेद किये हैं। इन दो भेदों में कोई विरोध नहीं है, पहिले विभाजन में दृष्टि सैद्धान्तिक है किन्तु दूसरे में व्यवहारिक। प्रशस्त ध्यान धर्म और शुक्ल के भेद से दो प्रकार का है, और अप्रशस्त अर्थात् और रौद्र के भेद से दो प्रकार का है। यहां हम जिस ध्यान को मोक्ष

हेतु मान रहे हैं वह प्रशस्त ध्यान है। अतः ध्यान से हमारा अभिप्राय यहां प्रशस्त ध्यान ही है।

ध्यान की आवश्यक शर्तें:-

ध्यान के लिए सर्वप्रथम ध्याता में निम्नलिखित गुणों का होना अनिवार्य है : (१) मुक्ति की इच्छा, (२) वैराग्य, (३) शान्त चित्त, (४) धैर्य, (५) मन व इन्द्रियों पर विजय, (६) उद्यम, (७) यथार्थ वस्तु का ज्ञान, (८) दृढ़ आसन का अभ्यास। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ध्याता (क) सांसारिक, (ख) दार्शनिक, (ग) मानसिक बाधाओं को जीतने वाला होना चाहिये तथा उसे (घ) समय, (च) स्थान, और (छ) आसन की उचितता का ध्यान रखते हुए (ज) समता की प्राप्ति का अभ्यास करना चाहिए। (क) गृहस्थ का जीवन अनेकों बाधाओं से घिरा होने के कारण ध्यान में कठिनाइयाँ उपस्थित करता है। शुभचन्द्र के अनुसार किसी देश वा काल आकाश के पुष्प और गन्ध के सींग हो सकते हैं, परन्तु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होनी तो किसी देश व काल में संभव नहीं। यहां यह नहीं समझना चाहिए कि गृहस्थ ध्यान कर ही नहीं सकता, इसका अभिप्राय तो केवल इतना ही है कि उत्तम कोटि का ध्यान गृहस्थाश्रम में असंभव है। (ख) जिनके पास तत्त्वज्ञान नहीं है, जो तत्त्वों में सन्देह करने वाले हैं उनके ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। (ग) मन का रोध ध्यान के लिये अतिआवश्यक है। जिसने अपने चित्त को वश नहीं किया उसका तप, शास्त्राध्ययन, व्रतधारण, ज्ञान, कायक्लेश इत्यादि सब तुष खंडन के समान व्यर्थ है, क्योंकि मनके वशीभूत हुए बिना ध्यान की सिद्धि नहीं होती। जो मन को जीते बिना ध्यान की चर्चा करता है वह ध्यान को समझता ही नहीं। मानसिक बाधाओं को जीतने के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओं का अभ्यास कार्यकारी होता है। (घ) (छ) ध्यान के लिए स्थान, आसन और समय का चुनाव भी कम महत्व की शर्तें नहीं हैं। वे सब स्थान छोड़ देने चाहिए जहां दुष्ट, मिथ्यादृष्टि, जुआरी

४- आराधना १११

६-तत्व० १३

७- भगवती आ० १६०२

१-तत्वा० १।२७

२-नव पदार्थ पे० ६६

३-षट्खंडा० १३ पे० ६४

४-कार्ति० ४६८

५-इष्टो० २०

६-ज्ञाना० ३।२७, २८ २५।१७

७-ज्ञाना ४२७।३

१- ज्ञाना० ४-१७

२- ज्ञाना० २२-२८

३- ज्ञाना० २२-२४

४- ज्ञाना० २७-४

मयार्या, व्यभिचारी निशाम करने हों। ऐसे स्थानों का चुनाव करना जो शान्त हों, मन पवित्रता उत्पन्न करने वाले हों, जैसे पर्वत का शिखर, गुफा, नदी का किनारा, आदि। जो आसन मन को निश्चल करने में सहायक हो वही आसन सुन्दर है। पञ्चामन सामान्यतया ध्यान का उत्तम आसन माना गया है। जिस समय चित्त त्रोभ रहित हो वही काल ध्यान के लिए उपयुक्त है। जन सहित क्षेत्र हो अथवा जन रहित प्रदेश हो, आसन उपयुक्त हो वा अनुपयुक्त, जिस समय चित्त स्थिर हो जाय तब ही ध्यान की योग्यता है १। (ज) समता या साम्य की उत्पत्ति भी ध्यान के लिए आवश्यक है। जिस पुरुष का मन विन-अचित्त, इष्ट अनिष्ट रूप पदार्थों के द्वारा मोह को प्राप्त नहीं होता, उस पुरुष के ही साम्यभाव में स्थिति होती है १। जिस पुरुष के साम्यभाव की भावना है उसकी आशाएँ तत्काल नष्ट हो जाती हैं, चित्तरूपी सर्प मर जाता है २। और ऐसा व्यक्ति नेत्र के टिमकार मात्र में कर्मों का जीतने के योग्य हो जाता है ३। इस साम्यभाव का शुभचन्द्र पर इतना प्रभाव है कि उन्होंने साम्यभाव को ही ध्यान की मंज्रा दे डाली है ४।

ध्यान की पद्धति—

योगी अपने उत्तमान स्वरूप और शुद्ध स्वरूप में तुलना प्रारम्भ करे। और यह विचारे कि वह न तो नारक है, न तिर्यच, न मनुष्य न देव ही, किन्तु वह तो सिद्ध स्वरूप है। फिर वह द्रव्यों के स्वरूप का विचार करे। तत्पश्चात् अपने मन के स्वरूप रूपा समुद्र में मग्न करे। फिर परम आत्मा के गुणों पर ध्यान एकाग्र करे। और उसमें इतना लीन हो जाये कि ध्यान ध्याता और ध्येय का भेद समाप्त हो जाये। यह समरपी भाव है और आत्मा और परमात्मा का समीकरण है ५। इस प्रकार के ध्यान को सर्वोप ध्यान कहा गया है ६।

शुभचन्द्र ने ध्यान की एक दूसरी पद्धति भी बताई है। योगी बहिरात्मा को छोड़ कर, अन्तरात्मा में स्थित

होकर अविनाशी परमात्मा का ध्यान करे ७। वह आत्मा को वचन और काय से भिन्न करके मन को आत्मा में लगावे और अन्य कार्यों को केवल वचन और काय से करे ८। 'वही मैं हूँ' 'वहीं मैं हूँ' इस प्रकार अभ्यास करता हुआ आत्मा में अवस्थित हो जाये ९। ध्यान में लगा हुआ योग, क्या, कैसा, किसका, क्यों, कहाँ इत्यादि विकल्पों को न करने हुए शरीर को भी नहीं जानता १०।

शुभचन्द्र ने ध्यान के भेद भी किये हैं। (१) पिण्डस्थ (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ और (४) रूपातीत ११। ये भी ध्यान की चार पद्धतियाँ हैं। ये मन को एकाग्र करने की सामग्री प्रस्तुत करती हैं। पिण्डस्थ ध्यान में पाँच धार-नायें सम्मिलित हैं। (क) सर्व प्रथम योगी एक शान्त और गम्भीर समुद्र की कल्पना करे। उस समुद्र के मध्य एक बृहत् हजार पंखड़ी वाले कमल का चिन्तन करे। कमल के मध्य एक ऊँचे सिंहासन का विचार करे। उस सिंहासन पर योगी अपने आपको स्थित अनुभव करे। वहाँ बैठ कर यह विश्वास प्रकट करे कि उसकी आत्मा कषायों को नष्ट करने में समर्थ है। इस प्रकार के विचार को पार्थिव धारणा कहते हैं १। (ख) सिंहासन पर स्थित योगी नाभि मण्डल में स्थित कमल के मध्य से अग्नि को निकलता हुआ सोचे। तत्पश्चात् यह विचारे कि वह अग्नि हृदयस्थ आठ कर्मों का सूचित करने वाले आठ पत्रों वाले कमल को जला रही है। आठ कर्मों के जलने के बाद शरीर को जलता हुआ सोचे और फिर अग्नि को शान्त अनुभव करे। इस प्रकार विचार करने को आग्नेयी धारणा कहा गया है २। (ग) तत्पश्चात् योगी शरीरादि की भस्म को प्रचण्ड वायु द्वारा उड़ा हुआ सोचे। यह विचार स्वप्ना धारणा कहलाती है ३। (घ) इस धारणा के पश्चात् वायु धारणा आती है जिसमें शरीरादि की बची हुई भस्म वर्षा के जल से साफ होती हुई विचारी जाती है ४। (च) अन्तिम धारणा तत्त्वरूपवती कहलाती है। इसमें योगी अपनी आत्मा को अर्हत सदृश कल्पना करता

१- ज्ञाना० २८-२२

१- ज्ञाना० २४।२ २- ज्ञाना० २४।११
३- ज्ञाना० २४।१२ ४- ज्ञाना० २४।१३
५- तत्त्वानु० १३७ ६- ज्ञाना० ३१

७- ज्ञाना० ३२।१० ८- ज्ञाना० ३२।११

९- ज्ञाना० ३२।४२ १०- इष्टो० ४२

११- ज्ञाना ३७।१

(१) ज्ञान० ३७/४-६ (२) ज्ञाना० ३७/१०-१६

(३) ज्ञाना० ३७/२०-२३ (४) ज्ञाना० ३७/२१-२७

है। हम पितृव्य ध्यान में हम देखते हैं कि योगी अपने चारों ओर एक ऐसे वातावरण का निर्माण करता है जो सार्वत्रिक विषय वामनाओं से कोमों दूर है। मन के ऊपर धारणाओं की कई तहें जम जाती हैं जहाँ से मन अपने अनादि स्थित कुसंस्कारों को छेदने में समर्थ होता है। (२) दूर पदस्थ ध्यान में योगी पवित्र पदों का अवलंबन लेकर चित्तवन करते हैं, जैसे—ओम्, अरिहन्त आदि। शुभचंद्र ने मंत्र पदों की बड़े ही विस्तार से व्याख्या की है ६। (३) रूपस्थ ध्यान में अरिहन्त के गुणों व अरिहन्त की शक्तियों का चिन्तन किया जाता है जिससे आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त होती है। (४) रूपातीत ध्यान में सिद्धों के स्वरूप पर चिन्तन किया जाता है।

रामसेनाचार्य ने १ ध्यान पद्धति की दृष्टि से ध्येय के चार भेद किये हैं। (१) नामधेय, (२) स्थापनाधेय, (३) द्रव्य ध्येय और, (४) भाव ध्येय। (१) अरिहन्त का नाम पंच परमेष्ठी वाचक 'अ मि. आ. उ. मा.' तथा शांतिंकार मंत्र का ध्यान 'नाम' नामक ध्येय है १०। (२) कृत्रिम और अकृत्रिम जिन प्रतिमाओं का आगम अनुसार ध्यान स्थापना नामक ध्येय है ११। (३) जिस प्रकार एक द्रव्य एक समय में उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य वाला है वैसे ही समस्त वस्तु हमेशा उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य वाले हैं ऐसा चिन्तन 'द्रव्य नामक ध्येय है १२। (४) अर्थ तथा व्यंजन पर्याये और मूर्तिक तथा अमूर्तिक गुण जिस द्रव्य में जैसे अवस्थित हैं उनको उसी रूप में चित्तवन करना भाव नामक ध्येय है १।

ध्यान का यह उद्युक्त वर्णन आगमिक परंपरा से बाहर है। आगमिक परंपरा के अनुसार धर्म व शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं। सर्व प्रथम हम धर्म ध्यान को लेते हैं। स्थानांग २ सूत्र में धर्म ध्यान का चार दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। (१) इसका विषय, (२) इसका लक्षण, (३) इसका आलम्बन, (४) इसकी अनुप्रेक्षा।

- (४) ज्ञाना० ३७/२८-३० (६) ज्ञाना० ३८/१-१६
 (७) ज्ञाना० ३९-१-४६ (८) ज्ञाना० ४०/१५-२३
 (९) तत्त्वानु० ६६ (१०) तत्त्वानु १०१, १०२ १०३
 (११) तत्त्वानु० १०६ (१२) तत्त्वानु० ११०

(१) तत्त्वानु० ११६, (२) स्था० स० ४१-२४७

(१) धर्मध्यान चार प्रकार का है ३। (क) आगत विचय (ख) अपाय विचय, (ग) त्रिपाक विचय, और (घ) संस्थान विचय, पूज्यपाद ४ ने सर्वार्थमिद्धि में इनका विशद विवेचन किया है। (क) उपदेश देने वाले का अभाव होने से, स्वयं मन्दबुद्धि होने में, कर्मों का उदय होने से, पदार्थों के सूक्ष्म होने पर सर्वज्ञप्रज्ञात आगम को प्रमाण मानना आज्ञा विचय धर्म ध्यान है। अथवा जो स्वयं पदार्थों को रहस्य को जानता है, और उनके प्रतिपादन करने का इच्छुक है, उसके लिए नय और प्रमाण का चिन्तन करता है, वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञा विचय धर्म-ध्यान का करने वाला है। (ख) जीवों को सांसारिक दुःखों से छुटकारे के उपाय का विचार अपाय विचय धर्म-ध्यान है। मूलाचार्य में कहा है जीवों के शुभ अशुभ कर्मों का नाश कैसे हो ऐसा विचारना अपाय विचय धर्मध्यान है १ ज्ञानार्णव ६ में इस ध्यान के अन्तर्गत ये विचार भी सम्मिलित हैं। मैं कौन हूँ? मेरे कर्मों का आस्त्रव क्यों है? कर्मों का बंध क्यों है? किस कारण से निर्जग होता है? मुक्ति क्या वस्तु है? एवं मुक्त होने पर आत्मा का क्या स्वरूप होता है? यहाँ यह कहा जा सकता है कि आज्ञा विचय धर्मध्यान व्यक्ति को सत्य का ज्ञान कराना है और अपाय विचय धर्मध्यान सत्य प्राप्ति का मार्ग प्रस्तुत करता है। (ग) त्रिपाक विचय धर्मध्यान में कर्मों के फलों का चिन्तन होता है। (घ) और संस्थान विचय धर्मध्यान में लोक के स्वभाव का व आकार का निरन्तर चिन्तन होता है। तत्त्वानुमाशन ७ में कहा गया है कि (१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य मय धर्म का जो चिन्तन है वही धर्मध्यान है। (२) मोह लोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम है वह धर्म है। उस धर्म से युक्त जो चिन्तन है वही धर्मध्यान है। (३) वस्तु स्वरूप को धर्म कहते हैं। उस वस्तु स्वरूप से युक्त जो ज्ञान है उसे धर्मध्यान कहा है। (४) दश धर्म से युक्त जो चिन्तन है उसे धर्मध्यान कहते हैं। कार्तिकेयानुप्रां १ के अनुसार सकल विकल्पों को छोड़ कर आत्म स्वरूप में मन को गंकर आनन्द सहित चिन्तन होता है वही उत्तम धर्मध्यान है।

(Gatia, Studies in Jaina Philosophy के आधार से २५३ (३) (४) सर्वार्थ० ६/३६ (५) मूल० ४०० (६) ज्ञाना० ३४/११ (७) तत्त्वानु ५१ ५५ (१) कीर्ति० ४८०

(२) इस ध्यान के लिए चार लक्षण कर्ता में होते हैं ।
(१) जिन मार्ग में रुचि (आज्ञा रुचि) (२) स्वाभाविक तत्त्वरुचि (निर्मग्न रुचि) (३) आगम में रुचि और (सूत्र रुचि) (४) आगमों के गहरे अध्ययन की रुचि (अवगाह रुचि) ।

(३) इस ध्यान के लिए चार आलम्बन हैं । (१) अध्ययन (वाचना) (२) विचार विमर्श (प्रतिपृच्छा), (३) बारंबार पठन (परिद्वर्तन) और (४) गहरा चिंतन (अनुप्रेक्षा)।

(४) इस ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं । (१) अनित्य (२) अशरण, (३) एकत्व और (४) संसार ।

शुक्ल ध्यान के भी चार भेद हैं—(१) पृथक्त्व-वितर्क विचार, (२) एकत्व-वितर्क अविचार, (३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपत्ति, (४) व्युत्पन्न क्रिया निर्वृति । इनमें से प्रथम दो १२ वे गुणस्थान तक होते हैं और अन्तिम दो केवल ज्ञानियों के होते हैं । जिस स्थान में पृथक्त्व (नाना-पन) वितर्क (श्रुतज्ञान) और विचार (अर्थ, व्यंजन और योगों का संक्रमण) होते हैं वह प्रथम शुक्ल ध्यान है ३ । जिस ध्यान में योगी खेद रहित होकर एक द्रव्य को, एक

(२) सर्वार्थ, ६/३६ (३) सर्वार्थ, ६/४४

अशु को अथवा एक पर्याय को एक योग से चिन्तन करता है उसको एकत्व ध्यान कहते हैं । इसमें पृथक्त्व के स्थान पर एकत्व होता है, विचार के स्थान पर अविचार होता है और वितर्क वर्तमान है । इस ध्यान से योगी चार घातिया कर्मों का नाश कर देता है और केवल ज्ञान का स्वामी हो जाता है । जब केवली की आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण रह जाती है तब तीसरा शुक्लध्यान होता है । इसमें मन और वचन योग दोनों का निग्रह हो जाता है और केवल सूक्ष्मकाययोग उपस्थित रहता है । चौथे शुक्ल ध्यान में सूक्ष्मकाययोग भी समाप्त हो जाता है योगी अब अयोग केवली होता है । इस ध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं २ । भय का अभाव (अव्यथा), मोह का अभाव (असंमोह) विवेक और व्युत्पन्न । इस ध्यान के चार आलम्बन हैं ३ । ज्ञान, निर्लोभता, सरलता और निरभिमानता । इस ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं ४ । दुःख के कारणों का विचार, संसार के अशुभ होने का चिंतन, जन्म मरण की अनन्तता का चिंतन और वस्तुओं के निरन्तर परिणामन का चिंतन ।

(१) सर्वार्थ ० ६/४४ (२-४) नवपदार्थ ० पेज ० ६७१

कावड़ : एक चलता फिरता मंदिर

महेन्द्र भनावत

रंगरूपों की जितनी विशाल परतें हमें राजस्थान में देखने को मिलती हैं उतनी कहीं नहीं । मच तो यह है कि सद्यो से साहित्य, संस्कृति, कला और सभ्यता का शतशः भारीयें इसकी विशाल भित्ति को अभिसिंचित करती रही हैं । यही कारण है कि राजस्थान आज भी उतना ही रंगीन और रमणीय बना हुआ है । कला की अनुपम कृतियों के साथ धार्मिक अभिव्यक्ति के ऐसे कई उदाहरण हमें मिलते हैं जो आज भी लोकधर्म के प्रति अत्यन्त-विनात एवं श्रद्धाभाव बनाये हुए हैं ।

कावड़िया भाटों की कावड़ एक इसी प्रकार की अन्ध-

तम धरोहर है जो कला की अनुपम कृति के साथ-साथ धार्मिक अभिव्यक्ति की चरम है । राजस्थान में चित्तौड़ के पास बभी की काष्ठ कला अत्यन्त प्रसिद्ध रही है । यहां के खेरादियों ने काष्ठकला के कई रूपों को प्रश्रय देकर अपनी विशिष्ट परम्परा कायम की है । कावड़ भी उन्हीं की विशेष धाती है । बसी में जहां नाना प्रकार के खिलौने, बाजोट, तोरण, थंभ, बेवाण, झूले, चौपड़े, पाये, गणगीर ईश्वर पुतलियां तथा कठपुतलियां आदि के बेजोड़ रूप हमें देखने को मिलते हैं वहां कभी-कभी आम, अड़ुमा, सेमला आदि को लकड़ी के बने छोटे-छोटे पाटों (कपाटों) पर नाना

प्रकार की चित्रकारी करते हुए भी यहाँ के खेरादी परिवार देखे जा सकते हैं। संपूर्ण कावड़ छोटे बक्म की होती हैं जिसमें आठ अथवा दस पाट बन्द रहते हैं। कावड़िया भाट इसे अपनी बगल में दबाये गांव-गाव अपनी यजमान वृत्ति के लिये घूमता रहता है। मारवाड़ में कावड़िया भाटों के पास ये कावड़ भली प्रकार देखी जा सकती हैं।

इन कावड़ों के दो रूप देखने को मिलते हैं। (१) आठ पाट वाली कावड़ तथा (२) दस पाट वाली कावड़। पाटों के दोनों ओर लोकशैली में चित्रित घने गहरे रंगों में चित्तीड़ की कलमकारी के सुन्दर चित्र दृष्टिगोचर होते हैं। नाना प्रकार के रंग खेरादी स्वर्य ही पत्थरों से तैयार कर लेते हैं। सर्व प्रथम कवेलू के महीन टुकड़े बना कर उसे घट्टी में पीस कर उसमें गोंद मिला दिया जाता है फिर उसे खुब घोटा जाता है। घोटने का काम औरतें करती हैं। इस क्रिया को ये लोग 'इं'टाला' कहते हैं। पाटों पर पहले पहल इसी का लेप कर दिया जाता है। इसके सूखने पर बड़ल्यास गांव के लाल पत्थर को बारीक घिस कर उस में गूँद मिलाकर इन पाटों पर लगा दिया जाता है। एक बार सूखने पर दूसरी बार, और इस प्रकार कुल पांच बार लेपन करने पर उन पाटों पर फिर लाल रंग लगाया जाता है और तब उन पर चित्रकार का जाती है। बमी में छगन लाल जी, छोगा लाल जी भूरा जी तथा कजोड़ जी आदि के घराने अपनी काष्ठकला के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रहे हैं।

कावड़ में चित्रित चित्रों की विविध भाँकियाँ कावड़ के ऊपर ही ऊपर एक टिकट लगा रहता है जिस पर ठिकाने (पत्ते) के रूप में लिखा रहता है "यह कावड़ कायो पुरी अन्नपूर्णा देव के मन्दिर पर बनती व मिलती है। दः कुंदणाबाई बामणी।" इससे यह लगता है कि इसकी प्रमुख स्वामिनी काशी के अन्नपूर्णा मन्दिर की कुन्दणाबाई ब्राह्मणी हैं। इसके बाद दो द्वार खुलते हैं जिन पर दोनों ओर नर-नारायण अंकित रहते हैं। उन शेरों के नीचे दोनों ओर दो हिदायतें लिखी मिलती हैं जिनमें "इस कावड़ को धूप देकर खुलावो, धूप देकर खुलावे वह स्वर्ग में जाता है। सच मानो, झूठ मत मानो। दः कुंदणा बाई।" तथा दूसरी ओर—"सच मानो, झूठ मत मानो, जो कावड़ को नास करे वो नरक में जाता है। आधी कावड़

खुलावे तो १।) आखी का २॥ २००। दः कुंदणाबाई।" लिखा रहता है। इसके पीछे की ओर सूर्य-रथ, सीता-हरण, राम-लखन-वनगमन, मृग-शिकार, चन्द्र-रथ, राम-लखन तथा शबरी एवं शबरी तथा उसकी सहेलियाँ चित्रित की हुई मिलती हैं।

दूसरा पाट—शेषनाग पर विष्णु-शयन तथा उनके पाँव दबाती हुई कमला। चौथे माता-जिमके दोनों ओर उसकी पूजा करने वाले दो पुजारी होते हैं।

पीछे की ओर—ऊंट पर यात्रा करते हुए रेबारी दंपति। तंदूरे पर भजन करता हुआ भक्त। राजा भरथरी, गोपीचन्द्र, पूजा करने जाते हुए दंपति तथा हाथी-रथ।

तीसरा पाट—साधु तथा दो औरतें, जल भरने जाती नानी बाई का राधा कृष्ण क दर्शन करना तथा दम्पति।

पाँछे की ओर—डोली ले जाते हुए दो मिपाही, दरजी तथा कृषि करना हुआ भक्त धन्ना।

चौथा पाट—अपनी तीनों रानियों के साथ राजा दश-रथ, बनिये की परीक्षा लेते हुए भगवान।

पीछे की ओर—शेष नाग पर नृत्य करने हुए भगवान विष्णु, गणेश, दम्पति, रथ तथा वजरंगबलि हनुमान।

पाँचवां पाट—सत्यनाशयण-कथा-भाँकी, नारद जी तथा प्रमाद लेने आया हुआ राजा लीलावती, कमलावती कन्याएं, तुंग ध्वज।

पीछे की ओर—यशोदा तथा दही चुगते हुए कृष्ण। रथ, ऊंट सवार तथा दो दम्पति।

छठा पाट—ऊंट, पीपल के पत्ते में कृष्ण अपने पुत्र को आरी से चीरता हुआ मोर ध्वज राजा। सिंह को ले जाते हुए कृष्ण अर्जुन तथा पांडवों को शिक्षा देने हुए कृष्ण।

पीछे की ओर—मेघनाथ शयनावस्था में, वन-बिहार करता हुआ हाथी, मन्दोदरी, सीता को समझाती हुई राक्षसिनियाँ, सुन्दर डालते हुए हनुमान, राम रावण युद्ध, राम-लखन को ले जाते हुए हनुमान। राम-रावण की कौजें।

सातवां पाट—जगदीश भाँकी, गंगा को लाता हुआ राजा भागीरथ, दम्पति।

पाँछे की ओर—उड़लपंख जो पाँच हाथी लेकर उड़ सकता है। कृष्ण को दूध पिलाती राक्षसनी, बांसुरी बजाने

हुए, कृष्ण, सुधार, अपने अन्धे माता पिता को ले जाता श्रवण, सुनार, तोता पढ़ाती हुई बेरया, तैली छीपा, बुनकर कुम्हार तथा दम्पति ।

आठवां पाट—दो दरवाजे जिन पर घोड़ा, बाणी में पिलता हुआ राजस, सूली पर लटकता पुरुष ।

पीछे की ओर—सरस्वती, कृष्ण सुदामा भिन्न, राजा बलि की छाती पर पांच धरते कृष्ण, राम लखन तथा सीता की मनमोहक भांकी ।

नवां पाट—भक्त कबीर रोहिद्राम चमार, रामाधीर नाले घोड़े पर पीछे हरजी चंवर ढोरने हुए, आगे डाली बाई आरती करती हुई, पास में खड़ा भांजे हाथ जोड़े । रथ-हार्था, देवर, भौजाई के कांटा निकालता हुआ ।

पीछे की ओर—तुलछामाना, पंथवारी, रामदेव जी के पगल्ये, जोड़े, नारसिंही शेर पर, कालाजी—गोराजी ।

दसवां पाट — रेवारी दम्पति-पीछे औरत तीर चलानी हुई, आगे मन्दर जाता हुआ दम्पति, कृष्ण की राजलीला, कृष्ण, गोपियों के कपड़े चुराने हुए । कृष्ण नायिका वेश धारण कर राजा रतन के बाल बनाते हुए । बाकी जोड़े ।

पीछे की ओर—सीतवर रामेश्वर, राजा गन्धर्व सेन इन्द्र का लड़का, जोड़े, दूध पीता हुआ सांप ।

आठ पाट वाली कावड १२' लम्बी ६' चौड़ी तथा ६' ऊंची होनी है । दस पाट वाली कावड १४' लम्बी ८-६' चौड़ी तथा ७-८' ऊंची होनी है । इसके एक ओर गौशाला की पेटी बनी हुई होती है । दरवाजे पर गाय का

चित्र अंकित रहता है जिस पर लिखा रहता है—“इस पेटी के अन्दर जो पैसे ढाले वो मेरे पास आते हैं । काशीपुरी में अन्नपूर्णा देवी के मन्दिर पर मेरे पास आते हैं जिससे गायों को घाम डालते हैं और मेरे एक हजार कावडें फिरती हैं । द. कुंदणाबाई बामर्या ।”

गौशाला की पेटी के एक ओर चांदे पर रेवारी देव तथा दूसरी ओर अन्दर की तरफ पावुजी अपनी कला बोर्डी पर बैठे हुए दिखाये जाते हैं । अन्दर की ओर गुप्त बाई होती है जिस पर लिखा रहता है—“यह गुप्त की बाई है जो दान करो वह मेरे पास आता है । द. कुंदणाबाई बामर्या ।”

कावडिया भाट को जब कभी कावड बनवाना होती है, वह खेरादी को लिख देता है । कावड को भाट चौखुले चौरस कपड़े में लपेटे रखता है । अपने साथ वह मयूर पंख का छोटा सा झंड भी रखता है जिससे वह कावड माफ़ करता रहता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कावड एक छोटा सा चलता फिरता बगल में दबा कावडिया भाटों का बगल मन्दिर है जिसके कपाटों पर चित्रित नाना प्रकार की धार्मिक भांकियों के दर्शन कर भक्तजन परम कल्याण एवं अनन्त सुख की गंगा में मराबोर होकर नाना पापों से मुक्ति पा अपना जन्म सार्थक करते हैं ।

१. कावड सम्बन्धी हम जानकारी के लिए लेखक बम्सी के लोक चित्रकार श्री मांगीलाल मिश्री के अत्यन्त आभारी हैं ।

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना ख्याति प्राप्त शोध-पत्र है । अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे । ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है । हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-प्रेमियों, शिक्षा-संस्थानों, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों और जैनश्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे शीघ्र ही ‘अनेकान्त’ के ग्राहक बनें । इसमें समूचे जैन समाज में एक शोध-पत्र प्रतिष्ठा और गौरव के साथ चल सकेगा । भारत के अन्य शोध-पत्रों की तुलना में उसका समुन्नत होना आवश्यक है ।

व्यवस्थापक : “अनेकान्त”

कविवर रङ्गू रचित-सावय चरित

श्री अणवरचन्द नाहटा

अपभ्रंश भाषा में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों जैन सम्प्रदायों की छोटी-बड़ी मैकड़ों रचनायें प्राप्त हैं। ८ वीं ११ वीं शताब्दी से लेकर संवत् १७०० तक की इन रचनाओं में आख्यानक काव्य सबसे अधिक हैं, कुछ रचनायें जैन धर्म के संबंध में हैं कुछ रचनायें तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं महाकाव्य, प्रबंध काव्य, खण्डकाव्य, रूपक काव्य और मुक्तक काव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इधर कई वर्षों में राजस्थान आदि के जैन भण्डारों की सूचियाँ बनाने और प्रकाशित करने का काम ठीक से हुआ है और इससे बहुतसी नवीन रचनाओं की जानकारी प्रकाश में आई है। दिगम्बर कवियों की तो कुछ बड़ी बड़ी रचनायें प्रकाशित भी हुई हैं पर श्वेताम्बर रचनायें यद्यपि छोटे-छोटे रास आदि कई प्रकाशित हुये हैं पर नेमिनाह चरित, विलाम यह कहा आदि बड़ी और महत्वपूर्ण रचनायें अभी तक अप्रकाशित हैं। अपभ्रंश रचनाओं का क्षेत्र भी काफी बड़ा रहा। राजस्थान, गुजरात, एवं उत्तर-मध्य प्रदेश में सर्वाधिक अपभ्रंश रचनायें रची गई बहुत सी रचनाओं की प्रशस्तियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े ही महत्व की हैं अनेकों अज्ञात एवं महत्वपूर्ण तथा इन प्रशस्तियों से विदित होते हैं। अतः भाषा-विज्ञान एवं साहित्य की दृष्टि से मुख्यवान होने के साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन रचनाओं का बड़ा महत्व है।

अपभ्रंश साहित्य का ज्ञातव्य विवरण डा० हराजाल जैन ने करीब २० वर्ष पूर्व नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित किया था उसके बाद डा० हरिवंश कोल्हड़ ने शोध प्रबन्ध लिख कर अपभ्रंश साहित्य के महत्व को अच्छे रूप प्रकाशित किया, पाटण भण्डार सूची और Catalogue of Sanskrit and Prakrit manuscripts in the Central Provinces & Berar में तो सन् १९३६-१९३७ में कतिपय अपभ्रंश रचनाओं का आदि अन्त विवरण प्रकाशित हुआ था और पं० अभयचंद भग-

वानदास गार्गीने अपभ्रंश काव्यत्रयी तथा स्व० मोहनलाल दलीचंद देशाई ने 'जैन गुर्जर कवियों' भाग १ की विस्तृत भूमिका में अपभ्रंश साहित्य का ज्ञातव्य विवरण प्रकाशित किया था। सन् १९५० में दि० जैन अतिशय क्षेत्र, महावीर जी की ओर से प्रकाशित 'प्रशस्तिसंग्रह' नामक ग्रन्थ में करीब ५२ अपभ्रंश रचनाओं का आदिअन्त विवरण प्रकाशित हुआ और सन् १९४४ में पं० परमानन्द शास्त्री ने अनेकान्त की ८ वीं किरण में 'जयपुर में एक महाना' नामक लेख में अपभ्रंश के २६ ग्रन्थों के रचना काल आदि का विवरण दिया था, पश्चात् परचयात्मक लेख भी निकले। और सन् १९५६ में 'अनेकान्त में' पं० परमानन्दशास्त्री ने जैनग्रंथ प्रशस्ति संग्रह के नाम से ३९ दि० जैन अपभ्रंश रचनाओं का आदि अन्त के पद्यों सहित विस्तृत विवरण प्रकाशित किया। फिर इसके बाद अनेकान्त का प्रकाशन स्थगित हो गया। अतः उनका वह कार्य अधूरा ही पड़ा रहा। हर्ष की बात है कि अब वह ग्रंथ वीर-मेवा-मन्दिर से विस्तृत प्रस्तावना के साथ प्रकाशित हो गया है। इसमें १२२ ग्रंथों का प्रशस्तियाँ प्रकाशित हुई हैं। १४४ पृष्ठों की पं० परमानन्द जी की प्रस्तावना वास्तव में बड़े ही परिश्रम से लिखी गई है और अनेकों नवीन तथ्यों की जानकारी देती है। अपभ्रंश रचनाओं का इतना अधिक विवरण अन्य किसी भी ग्रंथ में प्रकाशित नहीं हुआ इसलिए इस ग्रंथ के सम्पादक परमानन्द जी और प्रकाशक वीर सेवा मंदिर की जितनी भी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी है।

यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रस्तावना बहुत साधारण सी लिखी गई है। पर किसी एक ही व्यक्ति को सभी बातों की जानकारी होना कम ही सम्भव है सामग्री के अभाव और कभी कभी कुछ असावधानी आदि से भी कुछ भूल-भ्रान्तियाँ हो जाती हैं। जिनका परिमार्जन जल्दी से जल्दी हो जाना चाहिये। ताकि उन भूल-भ्रान्तियों की परम्परा

अधिक आगे बढ़ने न पाये। उदाहरणार्थ इस लेख में जिस रचना का परिचय दिया जा रहा है उसका नाम असावधानी से पं० परमानन्द जी ने सावयचरित की जगह सम्यक्त्व कौमुदी लिख दिया तो प्रो० राजाराम जैन ने भी इसी के अनुकरण में आचार्य भिच्चू स्मृति ग्रन्थ में प्रकाशित अपभ्रंश भाषा सन्धिकालीन महाकवि रङ्गू नामक लेख में भी उस भूल की पुनरावृत्ति कर दी। मेरे अवलोकन में ऐसी जो कतिपय भूल आंतिथां आई हैं उनके संबंध में संक्षिप्त लेख भेजा गया था पर वह डाक की गड़बड़ से कहीं इधर-उधर हो गया अतः फिर कभी प्रकाश डाला जायेगा। प्रस्तुत लेख में उक्त ग्रन्थ में अपूर्ण रूप से प्रकाशित प्रशस्ति नं० १०५ को पूर्ण रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। चूंकि पं० परमानन्द जी इस ग्रन्थ को पूरा ठीक से नहीं देख पाये इस लिए उन्होंने ग्रन्थ का नाम सम्यक्त्व कौमुदी और ग्रंथ रचना की प्रेरणा करने वाले सेउ साहु का नाम दिया है, पर ये दोनों ठीक नहीं हैं। वास्तव में इस ग्रन्थ का नाम सावय चरित है और प्रेरक सेउ साहु के पुत्र कुमराज है। प्रस्तुत ग्रन्थ की एक प्रति कलकत्ता के स्व० पूरणचन्द नाहर के संग्रह में प्राप्त हुई। ५८ पत्रों की यह प्रति संवत् १६१४ की लिखी हुई है। ग्रंथ का छठा सन्धा में 'सम्यक्त्व

कौमुदी' का नाम आता है उसीसे परमानन्द जी ने इस ग्रंथ का नाम सम्यक्त्वकौमुदी लिख दिया है पर वास्तव में ग्रन्थ के प्रारम्भ और प्रत्येक सन्धि के अन्त में 'सावय चरिय' ही नाम दिया है। परमानन्दजी के द्वारा उद्धृत प्रशस्ति में भी सेउसाह के पुत्र कुमराज का उल्लेख है और वास्तव में उन्हीं के लिये इस ग्रन्थ की रचना हुई है। यह ग्रन्थ की प्रत्येक सन्धि के अन्त में दिये हुये पद और प्रशस्ति से स्पष्ट है। परमानन्द जी ने ग्रन्थ के आदि भाग को भी त्रुटित होना लिखा है, पता नहीं नागौर की प्रति का प्रथम पत्र खण्डित था या उन्होंने नकल नहीं की। अन्तिम प्रशस्ति तो उन्हें पूरी उतारने नहीं दी गई इसका उल्लेख तो उन्होंने स्वयं किया है—“प्रस्तुत प्रशस्ति अधूरी है, इसे नागौर के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने पूरी नहीं उतारने दी थी प्रस्तावना के पृष्ठ १०२ में इस ग्रन्थ के संबंध में उन्होंने निम्नोक्त विवरण दिया है—“१०६ वीं प्रशस्ति' सम्यक्त्व कौमुदी की है। इसमें सम्यक्त्व की उत्पादक कथाओं का बड़ा ही रोचक कथन दिया हुआ है, इसे कवि ने ग्वालियर के राजा डूंगरसिंह के पुत्र राजा कीर्तिसिंह के राज्यकाल में रचा है, इसकी आदि अन्त प्रशस्ति से मालूम होता है कि यह ग्रन्थ गोपाचल नामी गोचालारीय जाति के भूषण सेउसाहु की प्रेरणा से बनाया है। इसकी ७१ पद्यात्मक एक प्रति नागौर के भट्टारकीय ज्ञान भण्डार में मौजूद है उक्त अपूर्ण प्रशस्ति उसी प्रति पर से दी गई है। उस ग्रन्थ की पूरी प्रशस्ति वहां के पंचों तथा भट्टारकजी ने सन् ४४ में नोट नहीं करने दी थी, इस लिये वह अपूर्ण प्रशस्ति ही यहां दी गई है।”

१ सन् १९४४ में जब मैंने और पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने नागौर का भंडार देखा, तो उस समय जो ग्रंथ सामने आये, उनको देखते हुए सम्यक्त्वकौमुदी नाम का ग्रंथ भी मिला जो कवि रङ्गू की रचना था। उस ग्रंथ का मैं एक पत्र पढ़ने लगा, एक पत्र पं० महेन्द्रकुमार जी ने लिया और शेष भ० देवेन्द्रकीर्ति जी देखने लगे। इसी समय मैंने उसे आवश्यक समझकर उस पत्र को नोट कर लिया कुछ शेष रहा वह नोट न कर सका, नोट करने की भनाही कर दी। अतएव प्रशस्ति अधूरी ही रही। पं० महेन्द्रकुमार जी वाले पत्र में से भी १० पंक्तियां लिखी गईं फिर वह पत्र भी उन से ले लिया। प्रशस्ति पूरा करने के लिये कहा गया किन्तु व्यर्थ। उस प्रति पर ग्रंथ का नाम सम्यक्त्व कौमुदी लिखा था, सारा ग्रंथ देखकर नोट किया जाता, तब फिर उस पर ग्रंथ के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला जाता, ग्रंथ पूरा न देखने की बात लेख में लेखक ने स्वयं स्वीकृत की है, ऐसी स्थिति में असावधानी की बात कैसे कही जा सकती है? सं०

प्रस्तुत प्रशस्ति में कई महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख है प्रारम्भ में आचार्य नामावली के बाद टेकसि साहु का उल्लेख है और इसके बाद ग्रन्थ कार के या कवि द्वारा रचित कतिपय पूर्ववर्ती रचनाओं का नाम दिये हैं। उनमें से महापुराण अनुपलब्ध है। इस तरह रङ्गू का करकंडु चरित और सुदंमण चरित के अनुपलब्ध होने का उल्लेख परमानन्द जी ने किया है प्रो० राजाराम ने कुथुनाथ स्तुति का भी उल्लेख किया है।

प्रस्तुत सावय चरित की रचना ग्वालियर के राजा कीर्ति सिंह के समय में हुई इसलिये संवत् १२१०-१२३६ के बीच

की रचना है। इस ग्रन्थ की ६ सन्धियों या परिच्छेद हैं। ग्रन्थ रचना के प्रेरक कुसराज के वंश का भी प्रशस्ति में अच्छा परिचय दिया है। और अन्त में ऋषि कमलकीर्ति और संघाधिप हरिसिंह साहु का उल्लेख है परमानन्दजी के प्रकाशित पाठ से प्रस्तुत प्रति के पाठ में कुछ भिन्नता है। प्रकाशित प्रशस्ति के बाद थोड़ा ही पाठ ऐसा है जो नहीं छुप सका। ग्रन्थ का परिमाण करीब १॥ हजार श्लोकों का है। कवि रङ्गू के मंत्रांध में आरा के प्रो० राजाराम जैन शोध

ग्रन्थ लिख रहे हैं। रङ्गू १२वीं शताब्दी के महान अपभ्रंशसाहित्यकार हैं। उनकी २४ अपभ्रंशरचनाओं का पता मिल चुका है। इतनी रचनायें अन्य किसी अपभ्रंश कवि की नहीं मिलती। इनमें से ८ अनुपलब्ध हैं जिनकी खोज की जानी चाहिये। ग्वालियर हिसार आदि के जैन भण्डारोंमें सम्भव है ये प्राप्त हो जाय, वहाँ और भी कोई अज्ञात रचना मिल जाय। अब प्रस्तुत सावय चरित के आदि अन्त के पद्य नीचे दिये जा रहे हैं—

सावय—चरिय

पणविवि णाहेयहु, भव-भय-हेयहु, पयडिय रोयहु पय जु यलं ।

सुह गई रोयारं, दुह अवहारं, भणमि उवमय विहि विमलं ॥ १ ॥

जय जिण रिमह परम सुह कारण
जय जय अजिय भवंतुहितारण
जय संभव संभव णिरणामण
जय अहिणं दण णं दिय सामण
जय जिण सुमइ सुमइ विथारण
जय पउमप्पह कलिमल वारण
जय सुपास पेमिय परमप्पय
जय चंदप्पह समिणुय सप्पय
जय जय सुविहि सुविहि विहि भूमण
जय सीयल इंदिय सुह दूमण
जय सेयंस सेय मर णव घण
जय जय वाम पूज कय सम मण

जय जय विमल विमल गुण मंदिर
जय अणंत लोयत्तय वंदिर
जय जय धम्म धम्म भायापिय
जय मंताय मंति जिण सामिय
जय जय कुंथु कुणय करि केसरि
जय अर चरिय मग्गु दंसण करि
जय जय मल्लिणाह मामंडिय
जय सुणिमुच्चय मीला खंडिय
जय णमि सुद्ध बुद्ध अजरामर
जय रोमीयर रायमई वर
जय सिरिपाम फणीम कयासण
जय जय वीर पवटिय मायण

घत्ता—एदे तिथंकर, मिवमंपयवर, वड्डमाण मिच्छत्त हर,

पउमप्पह पमुह जि होसहि पंथु जि तह अतीत पणवेवि पर ॥ १ ॥

जिण मुह कमलह पण भडारी
वाणसरि तिल्लोय — पियारी
माय-वाय--विहि--पयडण सारा
मिच्छावाय वाय अवहारी
सव्व भाम गुण उणणह धारी
पणवेप्पिणु सामिणि सुहयारी
चउदह मय तेवरण तवोणिहि
णिच्च भव्व मग्गु उप्पाहय दिहि
कम्मंधण पज्जालण खरसिहि
भोयण काल भमिय सावय गिहि

वमहमेण पुरि अंति जि गोयमु
ते अहि वंदिवि पयडिय गोयमु
ताह अणुक्कम पट्ट पयायणु
मिरि पुं गमुणिंदिय जिणमायणु
मूलमंध उज्जोयण दिणयरु
पोमणंदिरिसि बुहयण सुरतरु
तासु पट्टि रयणत्तय धारउ
मंजायउ सुहचंदु भडारउ
पुणु उवणणु सिहासण मंडणु
मिच्छावाह वाय-भड-खंडणु

जिण सासण काणण पंचाणण
णंदिमंच णंदिय तव माणण
सह बंभ रयणोह पयोणिहि
दिण्य वाणि उप्पाइय जणदिहि
सरसइ गच्छे गच्छ सत्थाहिउ
बाल बंभयारा मज माहिउ
मिरि जिणचंदु भट्टाउ मुणिवइ
तहु पय-पयरुह चंदिवि कहवइ

जा सत्थस्थुपचितइ पावणु
जिणहरि अज्जतउ सुह भावणु
ता तत्थाइण सुह जोणं
भय चित्त उप्पाइय मोणं
आयम चरिय पुराण वियाणं
ऐककणि साहु गुणेण पहाणं
पंडितत्थ तेण विण्णत्तउ
करमउ लेप्पिणु वियमिय वत्तउ

धत्ता—भो भो कह्यण वर, दुक्किय रय-हर, पइ कहत्त भरुवहिउ मिरि

णिमुण्हि णिम्मल मण, रजिय बुहअण, मव्वसुहायरमच्चगिरि ॥ २ ॥

जिह पइइह रयउ महापुराण
नेप्पट्टि महा पुरिमाहिट्टाण
जह पुण गाहा वंधेण सारु
विरइया पयडु मिद्धंतमारु
पुण्णासउ मेहेमरुचरित्तु
जमहरचरियउ पुणु दयणिमित्तु
अवर वि जिह णाणा भेय तत्थ
नह सावयचरित्तु भणेहु इत्थ
त्त कणा पडिउ उत्तरु पउत्तु
तुह कहिउ करमि हंड तुह गिरुत्तु
परणिण मिय मोय । णर पहाणु
जो सत्थ भातु उव्वहइ जाणु
जा वहिणउ कोवि महंतु हाइ
ता किम वित्थरइ मसत्थु लोइ
पुणु ट्ठेक्कणि जंपइ वियसियासु

एत्थु जि गोवमिगिरि सुह पयासु
तोमर कुल कमल वियास-मित्तु
दुव्वार-वैरिसंगरअतित्तु
हुंगर निव रज्जधरा समत्थु
बदियण समप्पिय भूरि अत्थु
चउराय विज्ज पालण अतंदु
णिम्मल जमवली भवण-कंदु
कलि चक्कवट्टि पायड णिहाणु
सिरि कित्तिसिधु महिवइ पहाणु
तहु रज्जि वर्णा सु-महाणुभाउ
गोलाराइय अण्णइ अपाउ
सेअो सेयाहिउ विदिय णामु
बुहयण कुवलय पालेय थामु
सुहग्गापिय मम राण्ण रत्तु
सग वमसा पाव वासण विरत्तु

धत्ता—तहु हुव वर खंडण, दुरिय णिकदण चारिदाणणं दुरिय हरा

कइ चित्त पऊसण गोत्ताहो तोमगिरुवम गुण-गण-रयण-धरा ॥ ३ ॥

पढमिल्लु धम्म धुरि दिन खंधु (?)
साहम्मिय णर कय पणय-बंधु
नवयरण पमुह गुणरयण-मेहु
णिव्वाहिउ चउविह मंच-मेहु
माणिक्क साहु मणि मुणिय तच्चु
कह मविण पयंपइ गिरि अ सच्चु
बीयउ पुणु परउवयारलीणु
जिण गुण परिणय उद्धरिय दीणु

जिण काराविउ जिणहरु समेठ
धयवडपत्तिहि रह-सुरतेउ
णिण मंतत्तणि रजियउ राउ
सावय-विहाण कम्मणु राउ
परणारि-परमुहु-विणय-लोहु
असपत्ति साहुजण जणिण मोहु
दुत्थिय (वित्थय ?) जण पोसण कामधेणु
वरदाण पूर पूरण करेण

सासण सुपहावण पह पवण
कुसराज कुसलु तीयउ पसण
पुण तुरिउ सगुर पय-पोम-रत्तु
पण वण जेण मणि निविहु पत्तु
जाणय जण पूरण कप्प वत्थु [च्छु]
इंदीवर दल सारिच्छु अच्छु
सारं यर पवियारण पवित्त
जगि पायडु जो जि पसण कित्त
प्याह मज्झ कुल भवण-दीउ
कुसराज महामइ शिरु विणीउ
तुहु पुरु मंठिउ विणणवइ णहु

घत्ता—इय वयणाणंतंरि, सुख शिरंतंरि, कर जोडि विवियसिय वयण

कुसराउ पर्यपइ, मुहिउ समपइ, भव भमणहु भव-भीय-मणु ॥ ४ ॥

भो रइधू पंडिय दुरिय-मंथ
सुद्धायमपरमपुराणगंथ
पह विरइय ण्णु अण्येय भव
ते अहह आयणियइ मव
णहु भाविउ मइ माणसमि
अइ दुल्लहु गरभउ भव-वणमि
तम थावराइ जम्मइ गहतु
चुलसीदिलक्क जोणहि भमंतु
जरमरणभूर दुक्कवइ सहंतु
अच्छियउ जीउ कालु जि अणंतु
महंसण मज्जुय वय पवित्त

घत्ता—ज णउ शिसुणिज्जइ मणि ण मुणिज्जइ णवि पेछिज्जइ पुण्यणि,

तं भासइ दुज्जणु असमंजस मणु अघउ वयण पावमइ खणि ॥ ५ ॥

प्रथम सन्धि पत्र ७ B

घत्ता—तुहु ति बहिरभंतवि अरि मइ जिता भंति णउ

रइधर धिय सुलगणेम इय मल वरधम्मं कुसराज धुओ ॥ १३ ॥

इय मिरि गवइ चरिण, महंसण पमुह सुद्ध गण भरिण मिरि पंडिय रइधू वणिण. मिरि महाभवसेउ, साह सुय
कुसराज अणु मणिण, अहिम समम पिच्छा करणं पटमो संधी पग्निच्छेओ ॥ संधिः ॥ १ ॥

द्वितीय सन्धि प्रान्ते पत्र १८ A

घत्ता—रइधर इण सच्च कहंतंरि कुसराज पमुह भावण पउरे

किं किज्जइ रयणिहि ण्णु मइ मिर कामिउ इय इयि दिवसयरे ॥ २ ॥

इयसिरि सावयचरिण, महंसण पमुह सुद्ध गण भरिण मिरि पंडिय रइधू वणिण. मिरि महाभवसेउ साह सुय
कुसराज गंधाहिचइ अणुमणिण, अहिम समम सेट्ठि भज तुह कहंतंरि णाणं णाम धीओ संधि परिच्छेउ सन्धि ॥ २ ॥

सत्यथ जाणु किणणउ मुणेहु
इहु गिवाहइ मकहत्त भार
इय मुणिवि करहि किण चरिउचारु
इहु कवियण जण भत्तउ पहाणु
तुहह कारेमइ अहिउमाणु
तं शिसुणि विवुहु पडि चवइ तस्स
हुउ किण वियाण मि—र अम्म
इहु सच्चु कहत्तहु मरु वहेइ
णिम्मलु जस पसरुवि इह लहेइ
साहम्मिय वच्छुलु गुण पवित्तु
किं किं ण करमि प्यटु पउत्तु

एण जि जीवे कह मविणपत्त
दंसण पुव्वइ सयलाइं ताइ
वळमि सोओ विहु गिय रयाइ
जिण भणिय सत्य कंठण गिरिंद
बहु णाम ठवहि सेविय मुरिदि
ता तुहु जंपइ यणि कुल ललाम
भो विणयमुत्त कुसराज णाम
लडउ संस वर पह मयंक
दुव्वारवटि—वारणा-असंक
तुहु वयणे करमि कहत्त विवि
पर दुज्ज (ग) जण भउ वह मि चिचि

तृतीय सन्धि प्रान्ते पत्र ३१ A

धत्ता—कुसराय वणिग्दु अखंडु महु तइया दंसणुजायउ

रइ धूणउ सुणिवि तं महु पियहि सेउ सुणहु चिरु आयउ ॥ २६ ॥

सिरि पंडिय रइधू वणिग्णु मिरिमहा भव सेउ माहु सुय कुसराज संघाहिवइ अणुमणिग्णु अहिगमण सम्मत्त
स्वाण वण्णणं नाम तीउ सन्धि परिच्छेद ॥ सन्धि ३ ॥

चतुर्थ सन्धि प्रान्ते पत्र ३८ B

धत्ता - सम्मत्त कहंतर हिय सुणिवि भावं तेज ध रजइ

हेलय सामय पउ पाविजइ जि भबिउ वहित्तिरिजइ ॥ १६ ॥

इय मिरि सावयचरिणु मइंसण पमुह सुह गुण भरिणु मिरिमहायाधु सेउ सुय संघाहिवइ कुसराज अणुमणिग्णु
अधिगम सम्मत्त वण्णणे तुरिउ संधि परिच्छेद ॥ संधि ॥ ४ ॥

पंचम सन्धि प्रान्ते पत्र ४५ B

धत्ता—इय पत्तापराह, सुणि विय चिराह, जो कुसुगउ दाण करइ

यो दंसणु रइधू, सुणिवि परमुपरु, भवसागर लालई तरइ ॥ १६ ॥

इयमिरि सावयचरिणु मइंसण पमुह सुह गुण भरिणु मिरिपंडिय रइधू वणिग्णु मिरि महा भव्य सेउ माहु सुय
संघाहिवइ कुसराज अणुमणिग्णु पोमह परिमावण्णो णाम पंचमो संधि परिच्छेदो सम्मत्तो ॥ संधि ॥ ५ ॥

अन्त्य प्रशस्ति :—

धत्ता—तहि अधम्म द्वायहु, सुद्ध महायहु, ठिदि पावेप्पिणु मिद्धु वरु

णिववरुइ रइधू हुउ, अप्पमिद गुण तुउ, कुसराजहु संपत्तियरु ॥ २४ ॥

इय धण कण रयण गुणोह पुग्गु
विजयच्छु गिरि व जिणहर रवणण
वहु विवुहामिउ णंतिय सवामु
गोवग्गिरि दुग्गु महीपयामु
तहि महिवइ णामं कित्तिमिधु
अरि वर गय वड णिहलण मिधु
तस्सेव रज्जि पायहु वणिहु
गोलाराडिय कुल कुमयचन्दु
चिरु हूवउ महरु णाम माहु
गुण मंदिरु सीया भज्ज णाहु

तहु रांदणु जिण पय पयय भाणु
विहडिय जणाण अप्पार ठाणु
लडउहिहाण पालिय अधम्म
रूपाणिय यम तुहु रुव रम्म
तह जि सुओ विस्सुओ सुक्खयारि
डूंगरणिव भंडाराहियारि
मिरि सेउयाहु पमिद्ध माहु
संजाउ जासु वर अधम्मलाहु
मुहग्ग तहु पिययम सुह पवित्ति
मल हारिणि रां जिणयाइ कित्ति

धत्ता—हुय चारि वि रांदण, जय आरांदण, अधम्मकज्ज धुर धरण वर

भवियण मनुंदर, पुज्ज पुरंदर मग्गण जग दाजिद हरु ॥ २५ ॥

गुणहि गरिहु, जेहु, सुहभवणु
सुहि महयरु अरियण संतावणु
मिरिमाणिक्कयाहु विक्खायउ
तिय लक्खणमिरि सुह अणुरायउ

तहु रांदणु चउक्कु गुणभूमिउ
पढम वणु कइ पणहि पमंसिउ
हरिमिधु हरिसु पायणु अण्णो
पहरु रुच पहाण्य मग्गो

कुमय चंदु चंदु व सुकलालउ
जिण पय पुरउ णमिय णियभालउ
पुणु बीयउ रांदणु सकियर्थे
रज्ज-कज्ज-धुर-धरण-समर्थे
संघाहिउ असपत्ति असंकित
सप्ति पहकर णिम्मल जस अंकित
णिरसिय-पाव-पडल णिरु रुंभइ
जेण पइट्ठाविय जिणबिबइ
तहु धिरुमा संजाया भज्जा
जिण सपहावणंग सुमणेज्जा
तहु सुय माघउ अरियण गंजणु
संजाया बे पुत्ता वियक्खणु
उवरण देवचन्द सल्लक्खण

घत्ता—जो जिहु भियरइ सो पाण पिय सुय मंडण मंडिय अणह

रांदउ मिरि सुक्ख अडखंजुया इय चउ भायर वंस कहा ॥ २६ ॥

इय चिरु रांदउ सुह लच्छि गेहु
मिरि बीयराय जिण समउ एहु
रांदहु णिग्गंथ रिसिंद विंद
ये दुविह महातव पह दिण्णिद
रांदउ महिवइ मिरि कित्तिमिधु
समरंगण पंगण अरि अलंघु
जे धम्म कम्म णिरु मावहाण
सम्महंसण--भावण--पहाण
गोवालय--वामिय सावयावि
रांदउ चिरु ते अणएवि नयावि
रांदउ गोलाराडयहुवंसु

घत्ता—महु सरमह जणणी इय पिय भणणी मयलु ग्वमिज्जउ दोसु परा

पढियंतु लिहंतउ रवि वरिज्जंतउ रांदउ मत्थु पसुत्थ धरा ॥ २७ ॥

इयमिरि सावयचरिण, सद्दंसण पमुह सुद्ध गुण भरिण मिरि पंडित रयधू वणिण, मिरि महाभव्व सुय साहु
संघाहिव कुमराज अणुमणिण । सम्मत्त कौमइ नाम छट्ठो मंत्रि परिच्छेओ सम्मत्तो ।

शुभं भवत् संवत् १६१४ वर्षे आषाढ वदि ३

प्रति:- गुलाबकुमारी लायब्रेरी पत्र २८ पंक्ति १० अक्षर ४० प्रति पंक्ति आदि पत्र १ और सेरिक्त अंतिम १॥

पंक्ति, नं. २ १८७ ।

सेऊ साहु हु रांदणु तीयउ
मिरि कुमराजु मयम्मि विणीयउ
तस्य पिया मुणिदाणकयायर
लोहट णामे सुह-भावणपर
वीई वीरा जिणगुण मरणइ
रूवे रई मिलेण जाणइ
रांदणु शेमिदासु सुह पायणु
परउवयार रयण-गुण भरिउ
पावणु परियणु जण मण तोमणु
पुणु सेऊ मातहु सुह तुरिउ
जुंजिय जुत्ताजुत्ता वियारो
णामे जे जिम हिम जिण यारो

जत्थ जि उवरणु कुमराज हंसु
जसुभत्ति वमे मइ पंडयेण
सकइत्त महा गुण मंडिण
मिरि कमलकिरि रिसि सीसण
हरिमिह साहुसंघाहिवेण
सुय उदयारय जणेण एहु
कइणा वि रइउ सुह सहहेहु
सावय चरित्तु जं अत्थवंतु
मत्ता विहिसि वज्जिउ पुणुत्तु
तं वुहयण मोहिवि करहु सुद्ध
केडिप्पिण पउ आयम विकइ

भगवान महावीर के जीवन प्रसंग

मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रयम'

भारतवर्ष की महान विभूतियों में भगवान श्री महावीर का नाम अप्रणी है। वे इसलिए नहीं पूजे गये कि वे एक राजकुमार थे और न केवल इसलिए भी स्मरणीय बने हैं कि उन्होंने उत्कट साधना की थी। क्योंकि साधना के द्वारा जीवन को निखारने वाले करोड़ों मानव हो चुके हैं, जिनमें से कुछ तो इतिहास के गर्भ में समा चुके हैं और कुछ एक इतिहास के केवल उभरने हुए पृष्ठों तक ही सीमित हैं। किन्तु जन-जन के मुख पर उनका कोई विशेष नाम नहीं है। जनता उन पुरुषों को विशेष याद करती है, जिन्होंने अपनी साधना के साथ जन बल्याण के लिए भी भगवत् प्रयत्न किया हो। भगवान महावीर एक ऐसी ही विभूति थे, जिन्होंने जितना प्रयत्न अपनी साधना के लिए किया था, उतना ही प्रयत्न जनता के सुसुप्त मानस में विवेक का अलम्ब जगाने के लिए। जनता अपने उपकारी का हाँ युगयुगान्त तक स्मरण करती है और उसके ही पावन चरणों में श्रद्धा के कौमल कुसुम चरा कर उल्लेखना का अनुभव करती है।

भगवान श्री महावीर का बाल्य व यौवन राजकीय वैभव के बीच बीता। उभरता हुआ यौवन जहाँ मनुष्य में अन्हड़ता व उन्माद जागृत करता है, वहाँ भगवान् महावीर को उसने अनुग्रह से विरक्ति की ओर मोड़ा। तीस वर्ष की अवस्था में वे परिग्रजक बने। साढ़े बारह वर्ष तक वे एकान्त स्थान में गिरि-कन्दराओं या सूने घरों में, सघन जंगलों में या टूटे-फूटे देवालियों में अपनी आत्मा को तपस्या व ध्यान के द्वारा निखारते रहे उनका ध्यान केवल जाप तक ही सीमित नहीं था, अपितु उसमें सृष्टि के प्रत्येक पहलु पर, चाहे वह जड़ हो या चेतन, सामाजिक हो या आध्यात्मिक, चिन्तन चलता था, जो सिद्धि प्राप्त करने के अनन्तर वाणी द्वारा लाखों व्यक्तियों के हृदय में उतरा व उनका आलोक बना। उनकी दृष्टि में जड़ और चेतन का समवायी रूप। सामाजिकता और आध्यात्मिकता का संबलित रूप व्यक्ति के तब तक साथ रहेगा, जब तक वह साधना की कठिनतम मंजिल पार नहीं कर लेता।

साढ़े बारह वर्ष की उत्कट साधना के बाद वे सत्य और अहिंसा के उपासक के रूप में नहीं, अपितु सत्य व

अहिंसामय ही बन गये थे। आत्मा की परम पवित्रता अहिंसा व सत्य के द्वारा होती है, यह स्थूल कथन है। वस्तुतः तो अहिंसा या सत्य से व्यतिरिक्त कोई भी आत्मा ही भी नहीं सकती जितना आवरण इन पर पड़ा होता है उतना ही अवरोध रहता है, जिसका परिणाम अज्ञान या जड़ता होता है और उसकी अभिव्यक्ति भी साधना शब्द में की जाती है।

कोई भी आदर्श प्रेरणा का रूप तब लेता है जबकि वह व्यवहार में उतरता है। भगवान् श्री महावीर अहिंसा व सत्य की प्रतिमूर्ति थे। अतः जनता के दिल में उनकी उन घटनाओं ने अधिक स्थान पाया जबकि उन्होंने अपने प्रथम साधु शिष्य गौतम स्वामी व सम्राट् श्रेणिक जैसे श्रावक को स्पष्ट शब्दों में एक को क्षमा मागने का निर्देश दिया तथा दूसरे को उसकी अपनी नरक-गमन की भवितव्यता जतला दी। साधक सत्य का अवलम्बन करे, यह स्थूलता है, पर वह आत्मगान करे, यह प्रथम अपेक्षा है। जो सत्य को आत्ममान कर लेता है, उसके समक्ष दूसरों की आत्मा भी निखरती है। गणधर इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) एक बार गौचरी के लिए वाणिज्य ग्राम में पधारे। शहर में उन्होंने आनन्द श्रावक की पौषधशाला में आप। आनन्द ने शरीरिक असामर्थ्य के कारण लेटे-लेटे ही वन्दना की और चरण स्पर्श किया। आनन्द ने कहा—भगवान गौतम ! क्या गृहस्थ को आमरण अनशन में अवधि-ज्ञान उत्पन्न हो सकता है।

गौतम—हां, हो सकता है।

आनन्द—मुझे अवधि-ज्ञान प्राप्त हुआ है और उससे मैं उत्तर में चलूँ हेमवन्त पर्वत तक, दक्षिण, पश्चिम और पूर्व में पांच सौ योजन लक्षण समुद्र तक, ऊपर सौधर्म देव-लोक तक और नीचे प्रथम नरक के लोलुप नरकवास तक देवने व जानने लगा हूँ।

गौतम-आनन्द गृहस्थ को इतना विशाल अवधि-ज्ञान नहीं मिल सकता। अनशन में तेरे से यह मिथ्या सम्भाषण हुआ है, अतः तू इसकी आलोचना या प्रायश्चित्त कर।

आनन्द—प्रभो ! महावीर प्रभु के शासन में मत्वाचरण का प्रायश्चित्त होता है या असत्वाचरण का ?

गौतम—असत्याचरण का ।

आनन्द—प्रभो ! आप ही प्रायश्चित्त करें । आप ही से असत्याचरण हुआ है ।

आनन्द की इस दृढ़ता पूर्ण वार्ता को सुन कर गौतम स्वामी सम्भ्रान्त हुए । वहां से चल कर महावीर प्रभु के पास आए और वह सारा वार्तालाप उन्हें कह सुनाया । भगवान् महावीर ने कहा-गौतम तुम्हारे से ही अत्याचरण हुआ है । तू आनन्द के पास जा और उनसे क्षमा याचना कर ।

गौतम स्वामी तत्काल आनन्द के घर आये और कहा-आनन्द ! भगवान् महावीर ने तूम्हें ही सत्य कहा है । मैं वृथा विवाद के लिए नेरे से क्षमा चाहता हूँ ।

‘हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्’ स्वर्ण पात्र से सत्य का मुख ढका रहता है ।’ किन्तु भगवान् श्री महावीर इस उक्ति के विरोधी थे । वे सत्य को आत्मा का महाभावी गुण मानते थे, अतः वस्तु सत्य हमारी अपेक्षा में चाहे वह कितना भी कटु क्यों न हो, वे मृदु ही समझते थे और उसके उद्घाटन में कभी सकुचाते नहीं थे । एक बार भगवान् श्री महावीर बृहत्-श्रमणा समुदाय के साथ राजगृह नगर में पधारे । राजा श्रेणिक राज-परिवार और सेना के साथ बड़े ठाठ से वन्दन करने के लिए आया । विशाल परिषद् में धर्मोपदेश हुआ । देशना के अन्तर श्रेणिक राजा ने खड़े होकर विनम्रभाव से भगवान् से पूछा—भगवन् ! आपके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा है । अतः बताएं, मैं यहां से काल धर्म को प्राप्त होकर किम योनि को प्राप्त करूंगा ? सारी परिषद् जानने को उत्सुक हो उठी थी । श्रेणिक के मन में अपूर्व उत्साह था और निश्चय था, भगवान् मेरे लिए विशिष्ट गति का ही निरूपण करेंगे ।

भगवान् ने उत्तर दिया श्रेणिक ? यहां से आयुष्य पूर्ण कर तू पहले नरक में पैदा होगा ।

श्रेणिक स्तब्ध रह गया । सारी परिषद् विस्मित हो उठी । भगवान् ने कहा-श्रेणिक ! उरो मत ! विराट् सुखों की ओर जाने हुए तुम्हारा यह नरकावास बहुत ही लघु है । उस नरक योनि को पार कर तू फिर मनुष्य योनि प्राप्त करेगा और मेरे ही जैसा भावी चौबीसी का प्रथम तीर्थंकर होगा ।

श्रेणिक-भगवान् ! किस कर्मों के परिणाम स्वरूप मुझे यह नरक का भोग मिला ? भगवान्—तूने आर्हत-धर्म

१ यह कथा श्वेताम्बर परम्परा सम्मत है ।

प्राप्त करने से पूर्व शिकार खेलने समय एक गर्भवती मृगी को अपने बाण से मारा था और उस हिंसा-कृत्य पर गर्वित हुआ था, मैंने कैसा लक्ष्य साधा है कि एक बाण से हिरणी और उसके गर्भस्थ बच्चे बीध गए । उस अकृत्य की अतिशय शलाघा से यह निष्काचित (नहीं टूटने वाला) कर्मबन्ध हुआ और वह तुम्हें अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ेगा ।

वृद्धावस्था में वही श्रेणिक राजा राज्यलोलुप पुत्र कोणिक के द्वारा कारावास में डाला गया माना चलना के द्वारा कोणिक दुःकारा गया तो उसे अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ और वह पिता को मुक्त करने के लिए कारावास की ओर गया । श्रेणिक ने समझा, यह दुष्ट पुत्र मेरी और भी विडम्बना करना चाहता होगा । अच्छा है, मैं अपने आप मर जाऊं । राजा के हाथ में विष मुद्रिका थी और वह उस माध्यम से आत्म हत्या कर मर गया और नरकगामी हुआ ।

साधक का आत्म-बल असीम होता है, किन्तु शरीर कभी कभी उसे तिरोहित कर स्वयं उसपर छा जाता है । साधक जब अपनी अभिलषित मंजिल पर पहुँच जाता है, आत्म-पक्ष गौण हो जाता है । साधक से मित्र बन जाता है । शरीर व्यतिरिक्त आत्मा का उस समय स्पष्ट आभास होने लगता है । भगवान् महावीर को अपनी साधनाकाल में अनेक भयंकरतम उपसर्ग भेलने पड़े थे । उनमें वे अम्लान रहे किन्तु जब उन्होंने कैवल्य प्राप्त कर लिया था । और जनता को आत्म—कल्याण का आदर्श मार्ग बतलाया । उन्होंने अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त किया, जिससे उनके समस्त जाति विरोधी जीवों का दैर भाव मिट गया उनकी अहिंसा के दिव्य आलोक में हिंसा रूप तिमिर विलीन हो गया और जनता में सुख शान्ति का साम्राज्य हो गया । इसी कारण जनता आज भी अपने उपकारी का भक्ति पूर्वक स्मरण करती है ।

भगवान् श्री महावीर का जीवन अहिंसा व सत्यमय था । उनका आत्म-बल अक्षुण्ण था । अतः शरीर बल भी उसके अधीन ही रहता था । उनके जन्म दिवस के उपलक्ष में करोड़ों व्यक्ति जहां श्रद्धा का अर्घ्य समर्पित करें, वहां अहिंसा, सत्य व आत्म-बल की पुनीत प्रेरणा भी अपने में संजोये ।

★ ★ ★

महावीर का गृह त्याग

डा० कस्तूर चंद कासलीवाल एम. ए. पी. एच. डी.

दिन बीतते देर नहीं लगती। राजकुमार महावीर पूरे युवा हो चुके थे। सुन्दरता में वे कामदेव को भी लज्जित करने लगे थे। उनके प्रत्येक अंग की शोभा निराली थी। जब वे हाथी पर चढ़ कर वन विहार अथवा नगर दर्शन को निकलते तो प्रजा जन महावीर जैसे सुन्दर एवं योग्य राजकुमार को देख फूली नहीं समार्ता। अनेक सुन्दरियां उनके दर्शन मात्र से ही पुलकित हो उठतीं और उन्हीं के समान सुन्दर वर पाने की कामना करतीं। कभी वे उस राजकुमारी के भाग्य की भी सराहना करतीं जिसके भाग्य में महावीर जैसा पति पाना लिखा था। बड़े बड़े राजा महाराजा महावीर के विवाह के लिये अपनी कन्या देने का प्रस्ताव रखते। इस तरह के प्रस्ताव आये दिन आते लेकिन महावीर विवाह के प्रश्न को सदा टालते रहे। राज्य कार्य में भी वे बहुत कम समय दे पाने लेकिन जब भी थोड़ा समय वे देते राज्य की बारीक से बारीक गुंथियों को सहज ही वे सुलभ देते। न्याय करने में निष्पक्ष रहते और अपने विशिष्ट ज्ञान से दूध का दूध और पानी का पानी करते। इसलिये झूठे लोग तो उनके पास जाने में भी संकोच करते। महावीर दिन प्रति दिन बड़े होने लगे। माता पिता को चिन्ता बड़ने लगी। प्रजा में विवाह प्रश्न पर विभिन्न प्रकार की चर्चा होने लगती। प्रजा के प्रतिनिधि उनसे विवाह के प्रश्न को लेकर मिलते और विवाह के पश्चात् राज्य कार्य सहालने की प्रार्थना करते। लेकिन महावीर का मन्त्र को एक ही उधार होता कि अभी उन्हें इस प्रश्न पर विचार करने का समय ही नहीं मिला है। जनपद सभाओं में विवाह करने का अनुरोध के प्रस्ताव पास होते और उन्हें महावीर की सेवा में भेजा जाता। उनके विचारों में परिवर्तन करने के लिये अनेक प्रकार के आयोजन किये जाते। नाच गान होते। वन विहार के आयोजन होते तथा सुन्दर से सुन्दर चित्र उनकी सेवा में भेजे जाते लेकिन किसी को भी सफलता नहीं मिलती। अन्त में एक दिन महाराज सिद्धार्थ ने महारानी त्रिशला के आग्रह से महावीर

को बुलाया और लगे करने बात इस विषय पर। महावीर वहां आये और मौन होकर बैठे रहे। वे माता पिता के भावों को ताड़ गये थे इसलिये स्वयं ने इस विषय पर मौन रहना उचित समझा। उम्र समय वहां केवल छह सप्तम्य थे—महाराज सिद्धार्थ, महारानी त्रिशला, महावीर, प्रधान मंत्री, सेनाध्यक्ष तथा प्रजा की ओर से एक प्रतिनिधि।

मौन को भंग करने हुये महाराज सिद्धार्थ ने कहा—“युवराज, अब तुम पूर्ण युवा हो चुके हो। गत १२ वर्षों से राज्य कार्य में भी कभी कभी हाथ बटाते रहे हो। तुम्हारी बुद्धि, शासन योग्यता एवं न्यायप्रियता की सभी ओर से प्रशंसा हो रही है। प्रजाजन एवं राज्य कर्मचारी तुम्हें अपने शासक के रूप में देखना चाहते हैं। इसलिये आज हम सबने यह निश्चय किया है कि तुम्हें युवराज घोषित कर दिया जाये और शीघ्र ही तुम्हारा विवाह कलिंग देश की सुन्दर राजकुमारी यशोधरा से कर दिया जावे। हमारी इस इच्छा को तुम बहुत दिनों से टालते रहे हो, लेकिन अब उसे भविष्य के लिये स्थगित नहीं किया जा सकता।”

महाराज के इस आदेश के पश्चात् महारानी त्रिशला ने कहा “राजकुमार माँ बाप की इस एक मात्र इच्छा को पूर्ण करना पुत्र का कर्तव्य होता है। मैं और स्वयं महाराज तुम्हारे जन्म से ही उम्र दिन की आशा लगाये बैठे हैं जिस दिन तुम अपनी बधू के साथ राज महल में प्रवेश करोगे। इस सुनसान महल में फिर से आकर्षण कर दोगे और तुम जानते हो कि महाराज की शक्ति दिन प्रति दिन घट रही है। इस लिये वे शासन का सारा भार तुम्हें सौंपने लिये आतुर हो रहे हैं।

प्रधान मंत्री ने अपने आयन से खड़े होकर एवं तीन बार सादर अभिवादन करने के पश्चात् निवेदन किया “राजकुमार। सारी प्रजा आपको युवराज के रूप में देखना चाहती है और उसकी हार्दिक इच्छा है कि आप पूर्ण रूप से

राज्य कार्य संभाले। श्रीमान के निर्देशन में सारी शासन व्यवस्था चले। वह अपनी भारी महारानी को भी देखना चाहती है और उसके लिये जितना भी त्याग वह कर सकती है करने को तैयार है।

जन प्रतिनिधि ने हाथ जोड़ कर पहिले अभिवादन किया और बड़ी नम्रता से कहा कि आपके सारे राज्य की जनता ने मुझे प्रतिनिधि नियुक्त कर इसीलिये आप की सेवा में भेजा है कि मैं राजकुमार से शासन की बागडोर अपने हाथ में लेने एवं विवाह करने के लिये उनकी ओर से निवेदन करूँ। राजकुमार ! सारी प्रजा विवाहोत्सव में सम्मिलित होने को अधीर हो रही है। सब प्रकार से विवाह की तैयारी हो चुकी है केवल आपकी स्वीकृति मात्र की देरी है।

महाराज मिहार्थ ने फिर कहा, “राजकुमार ! मैं तुम्हारी भावनाओं का सम्मान करता हूँ। मुझे बड़ा गर्व है कि राजकुमार के हृदय में पीडित, दलित एवं अपमानित व्यक्तियों के लिये दर्द है। उनकी सेवा के भाव हैं। मैं भी चाहता हूँ कि उनका जीवन स्तर उंचा हो। भेदभाव, छुआ छूत, एवं उंच नीच की गन्ध समाप्त हो। लेकिन ये बुराईयां तुम्हारे शासन भार सभालने से जल्दी दूर हो सकती हैं। शासन के बल पर जो मुधार हो सकते हैं वे केवल उपदेश एवं प्रचार से नहीं हो सकते। विवाह जीवन का आवश्यक अंग है। शांत एवं सरल जीवन के लिये उसका होना आवश्यक है। नारी को विलासता की दृष्टि से ही नहीं देखना चाहिये किन्तु नारी में मनुष्य जीवन को अच्छाई की ओर मोड़ने की जो शक्ति है उसका भी हमें सम्मान करना चाहिए। मनुष्य के उच्छ्रंखल विचारों पर रोक लगाने के लिये नारी का होना आवश्यक है।”

माता त्रिशला उदास बैठी हुई थी। उसकी आँखें मजल थी और स्नेह वश अपने पुत्र के मुँह के भावों को बार बार जानने का प्रयास कर रही थी। वे पुनः कहने लगी, “राजकुमार ! माता पिता की इच्छापूर्ति करना सन्तान का प्रथम कर्तव्य है। पुत्र ही वृद्धावस्था का एक मात्र सहारा होता है। यदि वही उनकी इच्छाओं का पालन नहीं करेगा तो फिर किससे आशा की जा सकती है। तुम्हें हमारी ओर भी देखना चाहिए।

महावीर इतनी देर से मौन थे। वे सारी बातों को बड़े ध्यान से सुन रहे थे और स्थिति का गम्भीरता को भी समझ रहे थे। उनके चहरे पर न तो प्रसन्नता थी और न विषाद। वे अपनी सहज मुद्रा में थे। जब सब चुप हो गये तो वे उस अप्रिय एवं अगह्य शान्ति को भग करते हुये बोले—

महाराज, माता जी, प्रधान मंत्री एवं जन प्रतिनिधि, मैं आप सब का आभारी हूँ जिन्होंने अपने विचारों के प्रकट करने के पश्चात् मुझे भी कुछ कहने का अवसर दिया। महाराज चाहते तो वे मुझे आदेश भी दे सकते थे। माता का प्यार मुझे सदा स्मरण रहेगा। संसार में ऐसी माताएं मिलना कठिन है। आपने जो कुछ भी कहा वह अद्भुतः सत्य है लेकिन इसी से समस्या नहीं सुलभ सकती। महाराज एवं माता जी को मुझे पुत्रराज बनाने की जो चिन्ता है उसे भी मैं खूब जानता हूँ। विवाह करके घर गृहस्थी एवं राज्य कार्य चलाने का उपयोगिता में भी मुझे कम विश्वास नहीं है। फिर भी मैं ही तो आपका एक मात्र पुत्र नहीं हूँ। सारी प्रजा ही राजा की सन्तान मानी जाती है। यदि वह दुःखी है तो एक मात्र मेरे सुखी होने से क्या हो सकता है। आप सब जानते हैं कि आज देश की क्या स्थिति है। लोगों की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ कितनी विषम होती जा रही है। धर्म के नाम पर पाखण्ड एवं विवेक हीन क्रिया काण्डों का बोल बाला है। शुद्रों एवं स्त्रियों के लिए धर्म के द्वार ही बन्द कर दिये गये हैं। चारों ओर अज्ञान पैर फैलाये बैठे हैं। शिक्षा का पचार नहीं है। स्त्रियों की समाज में जो दयनीय स्थिति है वह आप से छिपी नहीं है। आज चारों ओर निराशा एवं उदासीनता के भाव दिखलाई देते हैं। लोगों में न उत्साह है और न प्रसन्नता। वे अपने आपको बेबश एवं असहाय अनुभव करते हैं। यह स्थिति केवल अपने प्रदेश ही तक सीमित हो ऐसी बात नहीं है। बल्कि सारे भारत की ही ऐसी दशा है। ऐसी स्थिति में मुझे राज्य के प्रति कोई आकर्षण नहीं है और न मैं विवाह को जीवन विकास के लिए आवश्यक समझता हूँ। मैं आज से सातवें दिन गृह-त्याग करूँगा और एकान्त में बैठ कर निरन्तर चिन्तन एवं मनन में अपना समय व्यतीत करूँगा। इससे सास्वत सुख

का मार्ग खोज कर दुखी एवं पीड़ित जन समूह तक उसे पहुँचाने का प्रयत्न करूँगा। मुझे हृदय विश्वास है कि बिना श्रमण-मार्ग अपनाये न तो आत्मिक सुख प्राप्त किया जा सकता है और न संसारी प्राणियों का अज्ञान ही हटाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में विवाह करने एवं राज्य-भार सम्हालने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

साधु बनने का नाम सुनते ही माता त्रिशला रोने लगी और पिता का दिल भाँव बैठ गया। प्रधान मंत्री एवं जन प्रतिनिधि के मुँह पर भी उदासी छा गई। वे नहीं चाहते थे कि उनका सुकुमार जिनकी सेवा को सैकड़ों दासी दाम थे, साधु बन कर गांव २ में भ्रमण करता रहे।

माँ की ममता उमड़ आई तथा रोते हुए कहने लगी, पुत्र, तुमने अभी केवल सुख ही सुख देखा है। राज महलों में रहे हो। दुःख क्या चीज है इसका तुम्हें अनुभव नहीं है। गर्मी, सर्दी, एवं बरसात के कष्टों को कभी देखा नहीं। नग्न रहते हुए जंगलों में रहना तथा वहाँ प्राकृतिक प्रकाश एवं मानवीय उपसर्गों को सहना अति दुष्कर है। मेरा तो हृदय इनका नाम सुनते ही धर २ कांपने लगता है। मैं ऐसे कठिन मार्ग पर अपने हृदय के टुकड़े को नहीं जाने दूँगी।

माता की कठण कथा को सुन कर महावीर माता से बड़े प्रेम एवं विनय से कहने लगे, माँ तुम इसकी चिन्ता न करो। यद्यपि मैंने अभी कोई कष्ट नहीं देखा लेकिन मैं इसमें उठने वाला व्यक्ति नहीं हूँ। जीवन में यही आगे बढ़ सकता है जिसे कष्टों एवं आपत्तियों की परवाह नहीं। संसार में सभी प्राणी अभाव एवं अभियोगों से पीड़ित हैं। तथा अधिकांश लोगों को सामान्य जीवन की सुविधाएँ भी प्राप्त नहीं हैं। ऐसी स्थिति में मैं विवाह कर राज्य-सुख भोगूँ यह कैसे संभव हो सकता है ?

महाराज सिद्धार्थ ने कहा, राजकुमार यह मैं जानता हूँ कि तुम्हारा जन्म जगत के दुखी प्राणियों के उद्धार के लिए हुआ है। लोक कल्याण ही तुम्हारे जीवन का ध्येय है। हम लोग तुम्हें कितना ही प्रलोभन दें, समझाएँ एवं आग्रह करें लेकिन तुम अपने विचारों में आडिग रहोगे। इसलिए मैंने अब निश्चय किया है कि राज दरबार किया जाय तथा सभी प्रजाजनो के समक्ष तुम्हारे निश्चय को प्रगट किया

जाय जिससे प्रजा भी अपने प्रिय राजकुमार का एक बार फिर से दर्शन कर सके।

माता त्रिशला ने महाराज सिद्धार्थ की बातें सुनी तो मुग्धित हो गईं किन्तु महाराज के निर्णय को न बदल सकी।

X X X
२

चार बजे का समय। सभा-मण्डप खचा खच भरा हुआ था। दूर तक दृष्टि डालने पर भी कहीं तिल धरने का जगह नहीं थी। स्त्री पुरुष रंग विरंगी पोषाकों में वेष्टित थे। सभास्थल की बायीं ओर संभ्रान्त कुल की नारियाँ बैठी थीं तथा दाहिनी ओर संभ्रान्त नागरिक। सरदार, उमराव, सामन्तगण, मंत्री परिषद् के सदस्य अपनी-२ पोशाकों में सजधज कर यथा योग्य स्थान पर सुशोभित थे। महाराज ने सभी संभ्रान्त नागरिकों को सभा भवन में उपस्थित होने के लिए आमन्त्रित किया था। सबको आने का खुर्ची छुट थी। नगर रक्षक भी काफी संख्या में थे। सभा-भवन में अपेक्षाकृत शान्ति थी। भवन तोरणद्वारों पताकाओं एवं बन्दनवारों से सजाया गया था। भवन के मध्य में एक बहुत बड़ा काँच का झाल था जिस पर मोम-वर्तियाँ रखी हुई थी। सभा के बीचों बीच लाल पट्टी बिछी हुई थी। सामने ही ऊँचा मंच था तथा उस पर तीन मखमली कुर्नियाँ पड़ी हुई थी। सभी की आँखें प्रवेश द्वार पर लगी थी। इतने में ही एक अंग रक्षक ने महाराज, महारानी एवं राजकुमार के आने की सूचना दी सब अपने-२ आसन पर खड़े हो गए तथा ज्योंहि उपस्थित जन समूह ने महाराज को करबन्द हो तीन बार नमस्कार किया त्योंहि महाराज सिद्धार्थ महारानी त्रिशला एवं राजकुमार महावीर की जयघोषणा से सारा आकाश गूँज उठा।

महाराज आमन पर विराजमान हुए तथा महारानी एवं राजकुमार भी अपने आमन पर बैठे। सिद्धार्थ अपने राजकाय वेष भूषा में थे तथा सदा की भाँति आज भी उनके चेहरे पर उल्लास एवं प्रसन्नता थी। महारानी अवश्य उदास मालूम पड़ती थी। जब उन्होंने अपने चारों ओर अपनी प्रिय प्रजा को देखा तो महारानी की आँखों से आँसू ढलक गये। महावीर अपेक्षाकृत गम्भीर थे यद्यपि उनका मुख अपने निश्चय की सफलता के कारण प्रदीप्त था।

सभा में कुछ समय के लिए सन्नाटा रहा। महाराज अपने आमन से उठे और कहने लगे, प्रजाजनो मैंने आप लोगों को यहां आज किम कारण से उपस्थित होने का निमन्त्रण दिया है यह जानने के लिए आप उत्सुक हो रहे होंगे। बात भी ऐसी ही है। आपके हृदयों में तरह-२ की आशाएँ अथवा आकांक्षाएँ होंगी इस लिए उसे दूर करने के लिए ही आप लोगों को बता रहा हूँ कि राजकुमार महावीर जो गत ३० वर्षों से हमारी आशाओं के केन्द्र बने हुए हैं, ज्ञान साहस एवं बुद्धि में जिनका गणना सर्व प्रथम होती है, अब तक जिन्होंने राज्यकार्य में मेरा हाथ बटाया है तथा इससे ही जो जनता के सर्व प्रिय बन चुके हैं, जिन के विवाह के दिन को देखने के लिए मेरी ही प्रजा नहीं किन्तु आस-पास एवं दूर के सभी देशों की प्रजा आशा लगाए हुए है, जिनके युवराज पद अभिषेक की प्रतीक्षा में सारी प्रजा झंखें लगाये हुए है उन राजकुमार महावीर का आग्रह है कि उन्हें साधु जीवन स्वीकार करने दिया जावे।

महाराज के इस वचन से सभा में एक दम सन्नाटा छा गया। सारी आँखें महाराज की ओर लग गई और प्रत्येक के हृदय में गहरी वेदना का अनुभव हुआ। लेकिन इसके पहिले कि उपस्थित जन समूह में से कोई आपत्ति आवे, महाराज ने फिर कहना आरम्भ किया, मुझे यह सूचित करते हुए हर्ष होता है कि हमने उनके इस आग्रह को स्वीकार भी कर लिया है। आज से चौथे दिन मंगसिर शुक्ला १० के दिन राजकुमार महावीर जिन दीक्षा लेंगे। वे श्रमण बन जायेंगे और सामाजिक धार्मिक एवं आर्थिक बोझ से उत्पीड़ित समाज की सेवा में लग जावेंगे। यद्यपि हमने यह फैसला हृदय पर पत्थर रख कर किया है लेकिन आप लोगों को मालूम होगा कि राजकुमार महावीर एक साधारण मानव नहीं हैं वे तीर्थंकर हैं और उनका जन्म स्वपर कल्याण के लिए हुआ है। वे नहीं चाहते कि देश तथा समाज में किसी भी मानव को जाति विशेष अथवा धर्म विशेष के कारण पटदलित किया जावे तथा उससे घृणा की जावे। यद्यपि साधु जीवन अत्यधिक कठिन है। पद पद पर अनेक बाधाएँ हैं लेकिन राजकुमार ने इन सब की परवाह किये बिना ही इस जीवन को अपनाया स्वीकार किया है। हमारे लिए यह गौरव की बात है कि कुण्डलपुर का राजकुमार श्रमण

संस्कृति के २४ वें तीर्थंकर हैं और जगत-कल्याण के लिए अवतरित हुए हैं। इस लिए मेरा आप लोगों से आग्रह है कि महावीर का दीक्षा कल्याण सारे देश में बड़ा धूम-धाम से मनाया जावे। इस दिन सामूहिक प्रतीक्षा की जावे कि हम भविष्य में किसी को हीन दृष्टि से नहीं देखेंगे। न धर्म साधन में बाधा डालेंगे और न किसी की उन्नति में बाधक बनेंगे।

III

मार्गशीर्ष सुदी दशमी का दिन था। आकाश स्वच्छ एवं निर्मल था। सूर्य की किरणें न अधिक तेज थी। राजकुमार महावीर के दीक्षा कल्याण का पावन उत्सव देखने के लिए कुण्डलपुरी के बाहर अपार जन मेदनी उमड़ रही थी। भुण्ड के भुण्ड स्त्री पुरुष महावीर की शोभा यात्रा में सम्मिलित होने के लिए गीत गाते हुए जा रहे थे। किसी को कुछ चिन्ता न थी। सारा नगर तोरण वन्दनवार एवं ध्वजा पताकाओं से सजाया गया था। रंग विरंगी कागज की मालाओं से सारा मार्ग सुसज्जित था। गुलाब, मोगरा आदि विविध फूलों की मालाओं की पंक्तियों से सारा शोभा मार्ग सुगन्धित हो उठा था। बाजार के छड़ों पर महलों की खिड़कियों पर बच्चे एवं नियाँ हाथ में फूलमाला लिये हुये महावीर के दर्शनार्थ खड़े थे। सारे नगर में एक अभूत-पूर्व चहल पहल थी। वृद्धों के मुख में सुना जा रहा था कि इस प्रकार का स्वागत अर्थात् तक इसके पहले किसी का हुआ न देखा और सुना था। नगर के प्रत्येक चौराहे पर नगारे शहनाई एवं तुरी बज रही थी। सबको अपने प्रिय राजकुमार के दर्शनों की उत्कंठा थी। जनता पलक पावड़े बिछाये हुए थी। सन्मान्त एवं कुलीन स्त्रियाँ रथों एवं पालकियों में बैठ कर जा रही थी।

प्रातः काल के दश बजे होंगे। महाराज सिद्धार्थ एवं माता विशाला ने अपने लाडले राजकुमार को आज अपने सजल नेत्रों से खूब आभूषित किया। नवीन एवं बहुमूल्य कपड़े अपने ही हाथों से पहनाये। विविध प्रकार के आभूषण पहनाये गये। माथे पर सुन्दर तिलक लगाया गया। माता ने स्वयं अपने पुत्र की आरती उतारी। आँखों में कज्जल डाला। पूरा श्रृंगार करते भी क्यों नहीं। वे तीर्थंकर थे और अर्हत् बनने जा रहे थे। मोक्ष रूपी तरुणा का उन्हें वरन जो करना था।

माता पिता का चरण स्पर्श कर महावीर पालकी में विराजमान हुए। महाराज मित्रार्थ की आंगवों से आंसू टपक पड़े। माता त्रिशला के स्मनों से दूध भरने लगा। जिस लाडले पुत्र को उन्होंने प्राणों से भी अधिक समझ कर पाला था उसे वे ही आज श्रमण बनने के लिए विदा दे रहे थे। राजमहल के चारों ओर गम्भीर एवं करुण बाता-वरण बन गया था। महावीर ने सबको अभिवादन किया। राजमहल के दाम्नी दाम एवं परिचारिकाओं से हाथ जोड़ कर क्षमा मांगी। सभी के नेत्र सजल थे।

तुरही, भेरी, घन्टा एवं भाँकर की जय घोष के साथ महावीर राजमहल से रवाना हुए। चारों ओर जय-जयकार होने लगी। राजकुमार महावीर की जयघोष से आकाश गूँज उठा। चारों ओर से पुष्प वर्षा होने लगी। महावीर सबसे अन्तिम विदा मांग रहे थे। स्थान स्थान पर उनकी आरती उतारी जा रही थी। फूल मालायें पहनायी जाती थी। तिलक किया जाता था और चरण स्पर्श से मानव

अपने जीवन को पवित्र कर रहा था। आचानक आकाश से भी पुष्प वृष्टि होने लगी। देव भी उनके दीक्षा में जो मग्नमग्न थे। एक छोटी सी बदली आई और लगी फुहार बरसाने मानों वह भी महावीर के गृह त्याग के कारण नेत्रों से आंसू बरसा रहा हो।

कुछ दूरी पर पालकी में चले ही थे कि देवों ने भी पालकी को अपने कंधों पर उठा लिया। महावीर स्तब्ध बन पहुँचे। वह सघन बन था। भँवर गुंजार कर रहे थे। कायल कूक रही थी। वे सब महावीर का स्वागत कर रहे थे। फूल खिल रहे थे और पत्ते लाल हो गये थे। महावीर पालकी से उतरे। अपने साथ आने वाले विशाल जन समूह से अन्तिम विदा ली। महाश्रमण महावीर की जयघोष से मारा धरातल एवं आकाश गूँज उठा। शीघ्र ही उन्होंने वस्त्र आभरण उतार कर फेंक दिए और दिगम्बर हो गए। सिद्धों को नमस्कार कर अपने हाथों से अपने केशों को उत्तार कर फेंक दिया और वे पूरे निर्गन्ध हो गये। ★

आचार्य भावसेन के प्रमाणविषयक विशिष्ट मत

(डा० विद्याधर जोहरा पुरकर, जावरा)

प्रास्ताविक—

तेरहवीं सदी के सेनगण के आचार्य भावसेन त्रैविद्यदेव के विषय में एक टिप्पण हमने अनेकान्त के पिछले अंक (दिसम्बर ६३) में प्रकाशित करवाया है। इनके विरचित-प्रकाश का प्रथम संस्करण जीयराज जैन ग्रन्थमाला, शोला-पुर द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। इसके सम्पादन के सिलसिले में आचार्य भावसेन के दूसरे ग्रन्थ प्रमाप्रमेय की की एक ताड़ पत्रीय प्रति हुस्मच के श्री देवेन्द्रकीर्ति-मठ में हमने देखी। यह कसब लिपि में है। मैसूर के श्री पद्मनाभ शर्मा के सहयोग से इसकी देवनागरी प्रतिलिपि हमें प्राप्त हुई। इसी पर से इस ग्रन्थ का सम्पादन करने का प्रयास हमने किया है। ग्रन्थ का नाम प्रमाप्रमेय सूचित किया है।

श्री वर्धमान सुरराजपूज्य साक्षात्कृताशेषपदार्थतत्त्वम्।

सौख्याकरं सुकितपतिं प्रणम्य प्रमाप्रमेयं प्रकटं प्रवक्ष्ये ॥

किन्तु अन्तिम पुष्पिका में इसे विद्वान्तसार-मोक्षशास्त्र का प्रमाण निरूपण नामक पहला परिच्छेद बताया है। इति परवादिगिरिसुरेश्वर श्रीमद्भावसेन — त्रैविद्यदेवावरचिन्ते

विद्वान्तसार मोक्षशास्त्रे। प्रमाणनिरूपण नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥

शायद इसीलिए इस पूरे ग्रंथ में आचार्य ने कोई उप-विभाग या प्रकरण नहीं किए हैं। अध्ययन तथा अनुवाद की सुविधा के लिए हमने १३० परिच्छेदों में इसे विभाजित किया है। इसमें आचार्य भावसेन ने प्रमाओं के विषय में कई वैशिष्ट्यपूर्ण मत व्यक्त किये हैं। अतः यहाँ कुछ विस्तार से इस ग्रन्थ का परिचय दे रहे हैं।

प्रमाण का लक्षण—

पहले परिच्छेद में मंगलाचरण तथा ग्रन्थ का विषय-निर्देशक करके दूसरे परिच्छेद में लेखक ने प्रमाण का सामान्य लक्षण सम्यक ज्ञान अथवा पदार्थ याथात्म्यनिरचय यह बतलाया है। इस विषय में उन्होंने स्वापूर्वार्थव्यवसाय अथवा अनभिज्ञतार्थग्रहण जैसे विशेषण का प्रयोग नहीं किया है।

प्रत्यक्ष प्रमाण—

प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण में लेखक ने स्पष्ट या विशद शब्द के स्थान पर साक्षात् शब्द का प्रयोग किया है तथा

प्रतीत्यन्तराव्यवधान (दूसरे किसी ज्ञानका व्यवधान न होना) यह साक्षात् शब्द का स्पष्टीकरण दिया है। परिच्छेद ३ से १० तक प्रत्यक्ष के भेदों तथा आभासों का वर्णन है। लेखक ने प्रत्यक्ष के चार भेद किये हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, योगीप्रत्यक्ष तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिए सांख्यव्यवहारिक जैसे किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया है। अपने आपके बुद्धि, मुख, दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न आदि के बारे में मन द्वारा होने वाले ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष कहा है। योगि प्रत्यक्ष में केवलज्ञान, मन-पर्ययज्ञान तथा अवधिज्ञान का समावेश किया है। ज्ञान को अपने स्वरूप का जो ज्ञान होता है उसे स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष कहा है। प्रत्यक्ष प्रमाण का यह चार प्रकार का विभाग आचार्य की मीलिक सूक्त प्रस्ताव होता है। हमारे अध्ययन में अन्य किसी जैन आचार्य का इस तरह का विभाजन ज्ञात नहीं हुआ। प्रत्यक्ष के आभास में लेखक ने संशय विपर्यास इन दो भेदों का ही समावेश किया है। अनध्यवसाय को व ज्ञान का अभाव मानते हैं और इसलिए ज्ञान के आभास में उसे समाविष्ट नहीं करते।

परोक्ष प्रमाण के भेद—

परोक्ष प्रमाण के भेदों में भी आचार्य ने एक नई बात जोड़ी है। स्मृति, प्रत्यभिमान, तर्क, अनुमान और आगम इन पांच पूर्व प्रचलित भेदों के साथ ऊहापोह यह नया भेद उन्होंने जोड़ा है। इससे यह होता है, इसके बिना यह नहीं होता इस तरह के साधारण ज्ञान को ऊहापोह कहा है, जैसे-इच्छा पूर्ण होने पर सब को प्रसन्नता होती है, इच्छा अधूरी रहने पर सबको खेद होता है आदि। स्मृति से तर्क तक का वर्णन परिच्छेद ११ से १४ तक है।

अनुमान के भेद—

परिच्छेद १६ से २१ तक अनुमान के छह अवयवों का पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त उपनय तथा निगमन का वर्णन है। हेतु के लक्षण के बारे में विशेष विचार परि० २२ से २५ तक है। इसके अनुसार व्याप्तिमान पक्षधर्म ही हेतु होता है। अन्यथानुपपत्ति को हेतु के लक्षण में आचार्य ने स्थान नहीं दिया है। परि० २६ २८ तक अनुमान के तीन भेद-केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वय-व्यतिरेक बताये हैं तथा परि० २९ में दृष्ट, सामान्यतोदृष्ट

एवं अदृष्ट ये तीन भेद बताये हैं। जिसकी व्याप्ति प्रत्यक्ष से जानी जाती हो तथा जिसका साध्य भी प्रत्यक्ष से जाना जा सके वह दृष्ट अनुमान है, जिसकी व्याप्ति सामान्यतः प्रत्यक्ष से जानी जाये किन्तु साध्य अतीन्द्रिय हो वह सामान्यतोदृष्ट अनुमान है, जिसकी व्याप्ति तथा साध्य दोनों अतीन्द्रिय हैं (केवल आगम में जाने जाते हैं) वह अदृष्ट अनुमान है।

अनुमानाभास—

परि० ३० से ४२ तक अनुमान के आभास का वर्णन है। इसमें अमिद, विरुद्ध, अनेकान्तिक, अनध्यवसित, कालात्यायापदिष्ट तथा प्रकरणमम ये छह हेत्याभास तथा उनके उपभेद समाविष्ट हैं एवं बारह दृष्टान्ताभास समाविष्ट हैं।

तर्क—

परोक्ष प्रमाण के भेदों में तर्क का समावेश किया है यथा व्याप्ति का ज्ञान यह उसका स्वरूप बताया है। परि० ४३-४४ में इससे भिन्न अर्थ में तर्क शब्द का प्रयोग किया है, व्याप्ति के बल से प्रतिपक्षों को अनिष्ट बात सिद्ध करना यह तर्क का लक्षण बतलाया है। आत्माश्रय, इतरतराश्रय चक्रकाश्रय, अनवस्था तथा अतिप्रमंग ये तर्क के भेद हैं तथा मूल में शिथिलता, परस्पर विरोध, प्रतिवादी का दृष्ट बात मानना तथा उसकी विरुद्ध बात को सिद्ध न करना ये चार तर्क के दोष बतलाये हैं।

छल, जाती व निग्रहस्थान—

परि० ४७ से ४८ तक छल के तीन प्रकारों का—वाकछल, सामान्य छल तथा उपचारछल का परंपरागत वर्णन है। परि० ४९ से ६९ तक चौबीस जातियों का वर्णन है। आचार्य के मतानुसार जातियों की संख्या बीस होनी चाहिए क्योंकि वर्यसमा, प्रतिदृष्टान्तसमा अर्थापत्ति-समा व उपपत्ति-समा तथा अनित्यसमा ये जातियाँ क्रमशः साध्यसमा, साधर्म्यसमा, प्रकरणसमा, तथा अविशेषसमा जातियों से अभिन्न हैं, इस प्रकार पांच जातियाँ कम करके वे असिद्धादिसमा जाति का अधिक समावेश करते हैं। परि० ७० से ८४ तक बाईस निग्रह स्थानों का परंपरागत वर्णन है। परि० ८५ में छल आदि के प्रयोग के बारे में निर्देश दिये हैं। (शेष पृष्ठ ३४ पर)

दिग्विजय

आनन्द प्रकाश जैन, जम्बूप्रसाद जैन

वैजयंती नरेश अपनी पुत्री को अपने डेरे में ले आए। वह अपनी बेटी की उड़ता से बहुत अधिक कुपित थे। उन्होंने राजनंदिनी का हम स्वेच्छाचारिता की अवहेलना करते हुए कहा, 'हमने तुम्हें बाहुबली के पास जाने की अनुमति दी थी न की चक्रवर्ती के पास जाकर उनका अपमान करने की।'।

राजनंदिनी पिता की ताड़ना चुपचाप पी गई। उसका हृदय क्रोध, लज्जा, और प्रतारणा की भावना से अंदर-ही अंदर जल रहा था। वह बहुत देर तक नीचे की ओर दंगवती रही, कुछ देर बाद उसने कहा। 'मैं जाने की आज्ञा चाहती हूँ, पिता जी।'।

वैजयंती नरेश ने कहा। 'हमारी बहुत हंसी उड़ चुकी है। अब हम तुम्हें कहाँ जाने की आज्ञा नहीं दे सकते।'।

राजनंदिनी बिलम्ब उठी। 'मैं उनसे एक भेंट तो अवश्य ही करूँगी, पिता जी।'।

वैजयंती नरेश ठक् से खड़े रह गए। 'लेकिन, बेटी, अब तुम कहाँ जाना चाहती हो?'

'महाराज बाहुबली के पास।' राजनंदिनी का संक्षिप्त सा उत्तर था।

'महाराज बाहुबली के पास जाने से अब क्या होगा? यह रातके समप्त होने ही युद्ध का आरंभ हो जाएगा। जब तक युद्ध समाप्त न हो, तुम यहाँ कटक में रहो।'।

'नहीं, पिता जी, यह मेरे जीवन की पहली और अंतिम साध है।' राजनंदिनी ने निश्चय के स्वर में कहा। 'यदि यह पूरी न हुई, तो मैं मर जाऊँगी।'।

वैजयंती नरेश ने हताश दृष्टि से पुत्री के मुख की ओर देखा, कुछ सोचा, फिर शान्त स्वर में उन्होंने कहा, 'अच्छा अगर तुम जाना ही चाहती हो, और अभी जाना चाहती हो, तो हम प्रबंध कराए देते हैं।' और बिना राजनंदिनी की ओर देखे ही वह शिविर से बाहर निकल गए।

कुछ देर बाद दस अंग रत्नों के अश्व राजनंदिनी के रथ के पास कसे कसाए अपने सवारों को पीठ पर लिए खड़े थे। राजनंदिनी ने पिता के पांव छुए और एक दीर्घ आशीर्वाद लेकर वह रथ पर चढ़ गई। रथ गतिवान होकर कटक से बाहर निकला, और क्षण भर में ही उसके अश्व हवा से बातें करने लगे।

सुबह हो गई, किन्तु रथ का चलना नहीं रुका, राजनंदिनी ने उनींदा आँखों से सारथी की ओर देखा, उस दृष्टि में अविश्वास और संदेह का पुट था। उसने चिन्ता कर कहा। 'सारथी, अभी बाहुबली का कटक नहीं आया।'।

वायु का तीव्र वेग उसके स्वर का अधिकांश अपने साथ उड़ा ले गया। किन्तु सारथी ने उसका स्वर सुन लिया था। उसने रथ रोक लिया और अत्यन्त विनीत वाणी में बोला। 'देवी, अपराध क्षमा करें, अब महाराज बाहुबली का कटक कभी नहीं आएगा, हमें तो महाराज ने आपको वैजयंती ले जाने का आदेश दिया है।'।

राजकुमारी की आँखों में लाल डोरे खिंच गए, क्षोभ और परिताप से वह कांपने लगी। 'वैजयंती... नहीं, नहीं मैं वैजयंती नहीं जा सकती, हा पिता जी...' यह आपने क्या किया।'।

किन्तु पिता ने वही किया था, जो उन्होंने अपनी पुत्री के लिए शुभ समझा था।

राजनंदिनी रथ से कूद पड़ी, उसने कुपित स्वर में कहा, 'जाओ रथ को लौटा ले जाओ, पिता जी से कहना कि राजकुमारी हमें अकेला छोड़ कर अपने आप भाग्य के भरोसे चली गई है।'।

अंगरक्षक घोड़ों से उतर पड़े। सारथी हाथ बांध कर पृथ्वी पर गिर पड़ा, 'महाराज हमें कभी जीता न छोड़ेंगे। राजकुमारी, हम पर दया कीजिए, वैजयंती चलिए।'।

राजकुमारी ने दृढ़ स्वर में अपने आंसू पोंछते हुए कहा, 'नहीं, सारथी, इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं माना जाएगा महाराज तुम्हें कुछ नहीं कहेंगे, जो भी हो, मैं वैजयंती नहीं जाऊंगी।'।

राजनंदिनी को अपनी जिद पर अटल जान कर सारथी ने उसे फिर वापस कटक में ले चलने का प्रस्ताव किया। राजकुमारी ने यह सोचा कि जंगल में भटक कर भी वह बाहुबली के पास नहीं पहुँच सकती, यदि पिता जी का कहना सही था, तो अगला दिन हो गया है और अब तक भरत और बाहुबली की सेना का संग्राम छिड़ चुका होगा, यदि वह बाहुबली से जीते जी मिलना चाहती है, तो उसके लिए यही शुभ होगा कि वह उन लोगों के साथ वापस चल पड़े, और युद्ध भूमि के पास पहुँचने पर अपना कर्तव्य फिर से निश्चित करे, उसने सारथी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, और रथ तुरन्त ही उसे लेकर वापस लौट चला।

रथ के पहियों के घरड़-घरड़ के साथ राजनंदिनी के विचारों के धौंसे उसके मस्तिष्क में बजने लगे। अब क्या होगा यही संशय उसके मन में बार बार रह रह कर उठने लगा। उसके पिता ने उसे धोखा दिया था, किन्तु पिता का दिया हुआ धोखा कभी धोखा नहीं कहलाता, संसार यही समझता है कि उन्होंने जो कुछ किया अपनी बेटी की भलाई के लिए किया। बाहुबली के प्राण जाएँ चाहे रहें, किन्तु राजनंदिनी के प्राण वचाना उनका पहला कर्तव्य था, इस कर्तव्य पालन में उन्होंने राजनंदिनी के मन को कितना दुःख पहुँचाया था इसका लेखा जोखा आसानी से लगने वाला नहीं था।

क्या जब तक रथ युद्ध भूमि में पहुँचेगा बाहुबली अपने नन्हें से बल से चक्रवर्ती का सामना करते रह सकेगा? यदि रथ रात के समय वहाँ पहुँचा, तो क्या युद्ध समाप्त न हो चुका होगा? क्या चक्रवर्ती के साथ किया हुआ किसी छोटे मोटे राजा का रण एक दिवस के पश्चात् भी अनिर्णय की दशा में रह सकता है? आह, क्या वह इसी जीवन में इन्हीं आंखों से फिर एक बार बाहुबली को देख सकेगी?

राजनंदिनी के हृदय में ये सब प्रश्न उठ कर भयानक आंदोलन का सूत्रपात कर रहे थे एक ओर से उसे हाँ में

उत्तर मिलता था। किन्तु साथ ही दूसरी ओर से जाने तो कैसा असंतोष उसके मन में शूल की तरह चुभ चुभ जाता था।

कब राजनंदिनी इन्हीं विचारों से थक कर रथ के हिच-कोलों में सो गई कुछ पता नहीं चला, किन्तु जब उसके आंखें खुलीं रात हो चुकी थी और रथ खड़ा था। उस दिन युद्ध भूमि में भी सुबह हुई थी।

दोनों पक्षों की सेनाएं एक दूसरे के सामने सामने आ खड़ी हुई, एक ओर भरत की विशाल वाहिनी थी। दूर तक सजे हुए हाथियों की अमंग्य कतारें दिखाई देती थीं। अनगिनत रथों पर बालरवि की चमचमाहट से आंखें चौंधिया जाती थीं। अश्वों पर शस्त्रों से सुसज्जित योद्धा-गण साक्षात् कालदूत से प्रतीत हो रहे थे, और जहाँ तक दृष्टि जाती थी पैदल सिपाहियों के व्यवस्थित समूह दृष्टि-गोचर हो रहे थे। यह थी भरत की वह चतुरंगिनी, जो कभी अयोध्या से सरिणी बन कर निकली थी, और आज सागर हो गई थी।

दूसरी ओर बाहुबली की सेना थी, जो चक्रवर्ती की चतुरंगी के सामने बड़ाई छुटाई का एक अपूर्व दृश्य उपस्थित कर रही थी। सब से आगे अश्वारोही दल का एक लम्बी पंक्ति थी। उसके पीछे एक ही पंक्ति हाथियों की थी। रथ यत्र-तत्र ही नजर आते थे और पैदल सेनाएं हाथियों के दीर्घ शरीरों की ओट से दिखाई ही नहीं दे रही थीं। किन्तु चक्रवर्ती की सेनाओं के सामने बाहुबली ने अपनी छोटी सी सेना का अद्भुत व्यूह रचा था।

उसी समय चक्रवर्ती का विशाल और बलिष्ठ हाथी उन्मत्त पगों से भरत को एक ही नजर में अपनी तथा बाहुबली की सारी सेनाओं का निरीक्षण करता हुआ चतुरंगिनी के आगे आया, बीच में आकर चक्रवर्ती ने रणभेरी बजाने का इशारा किया।

जोरों से रणसिंघे की आवाज चारों दिशाओं में गूँज गई। साथ ही भरत के महारथी उसके चारों ओर आकर एकत्र हो गये, दोनों पक्षों से हाथियों के समूह उन्नत शिखर पर्वतों की नाईं तेजी से आगे बढ़े। रण कौशल से बाहुबली की अश्व पंक्ति दोनों किनारों की ओर फैल गई और साथ ही आधा आधा भाग दोनों किनारों पर समेटा दिखाई दिया।

हम दृश्य को ले कर भरत के मन में भीषण उथल-पुथल का सूत्रपात हुआ, बचपन की स्मृतियों ने एक बार फिर उसके मानस पटल पर अंकित हो कर उज्ज्वल कूद मचाना आरंभ कर दी, कहाँ वह बाहुबली को खेल खिलाता था, उसका हाथ पकड़ पकड़ कर उद्यान की सैर कराता था। पौद्गलपुर की विजय के बाद किस प्रकार दोनों भाई मिले थे। कैसे उसने बाहुबली को पिता के साथ ही वैराग्य लेने से हठपूर्वक रोका था। स्नेह, स्नेह, स्नेह, हम रक्त प्लावित हो जाने वाली भूमि में इस एक शब्द से बोध होने वाले महान् सांसारिक तत्व का सर्वथा अभाव दिखाई दे रहा था। उसके साथ ही राजनंदिनी के अद्भुत प्रभावकारी शब्दों ने ठीक उसकी आँखों के सामने उसके कृत्यों की कालिमा का नग्न चित्र उद्घाटित करना आरम्भ कर दिया, क्या कहा था उसने। 'संसार क्या कहेगा, आने वाली मंतिन क्या कहेगी - भरत असंख्य सेना लेकर भाई पर टूट पड़ा जो स्वयं मिटने को तैयार है उसका अहंकार मिटता नहीं पूजा जाता है भरत अपने अहंकार से बाहुबली का अहंकार मिटाने चला है एक कभी न मिटने वाला ध्वजा सम्राट् की कुल कीर्ति पर लग जाएगा।' राजनंदिनी के साथ हुआ समस्त वार्तालाप वातावरण में सर्जीव ध्वनि बन कर छा गया।

क्षण क्षण में एक दूसरे के रक्त की प्यासी सेनाएं समाप्त होती जा रही थीं और भरत का मानसिक कल्पनाओं में युगों-युग का संचिन्तन स्मृतियाँ वृहदाकार रूप धर कर तांडव नृत्य का आयोजन कर रही थीं। अद्भुत है मानव का मन जिसमें युग वंशों के समान लगते हैं और एक क्षण से काल की ओर छुट्टा जाता है थोड़ी ही देर में बाहुबली की यह नन्हीं सी सेना अपना सर्जीव और सज्जित रूप त्याग कर पृथ्वी पर बिछ जाएगी। चारों ओर खून ही खून दिखाई देता होगा, सुन्दर और शांत जीवन कैसा एक घृणास्पद और बीभत्स सृष्टि के रूप में परिवर्तित हो जाएगा, तब भरत किससे कहेगा तू मेरी आज्ञा मान ? भरत किससे कहेगा तू मेरे आधीन हो, तू मुझे नमस्कार कर ? सब कुछ ही तो समाप्त हो जाएगा, हाँ बच रहेगा भरत के लिए अपयश और पश्चाताप की ज्वाला, भरत के जल मरने को।

सहसा भरत का हाथ ऊँचे उठा। 'ठहरो।'।

क्षण मात्र में बढ़ती हुई सेनाएं जहाँ की तहाँ जब हो गईं। खड्ग जहाँ उठे थे वहाँ रुक गए, चारों ओर आदेश यंत्रों की तरह पालन किया गया। चक्रवर्ती के सामने आ कर महासेनापति ने पूछा। 'आज्ञा, सम्राट् ?'

चक्रवर्ती ने आज्ञा दी। 'महासेनापति, युद्ध बन्द करो, महावत, हमें बाहुबली के सम्मुख ले चलो।'

कुछ ही समय के भीतर भरत का हाथी रणभूमि के बीचों बीच पहुँच गया। उधर से जब बाहुबली ने भरत को आने देखा, तो उसका हाथी भी सेना की पंक्तियों के बीच में से निकला और दोनों भाई आमने सामने आ गए।

बाहुबली ने कहा। 'भैया को प्रणाम।'।

भरत ने प्रसन्नता से फूँक कर कहा। 'चिरायु हो, बाहुबली, तुमने हमें प्रणाम किया। हमें तुमसे यही आशा थी। आओ, गले मिलें, युद्ध किस बात का ?' भरत ने बाँहें फैला दीं।

'यहाँ भूल गये, भैया। यह छोटे भाई को प्रणाम है, राजा बाहुबली का भरत चक्रवर्ती को नहीं।' बाहुबली ने साभिमान कहा।

'क्यों ?' भरत ने कहा। 'क्या तुम्हें हमारे चक्रवर्ती होने की खुशी नहीं है ? क्या भाई को भाई का वैभव नहीं सुहाता ?'

'भैया, तुम्हारे भाई की दृष्टि में वैभव का कोई मूल्य नहीं है मैं वैभव को मिर नहीं झुकाता विनय को मिर झुकाता हूँ।'।

'तो क्या तुम चाहते हो कि संसार हमारी हंसी उड़ाए और कहे कि भरत से जगत का मन तो जीता गया, किन्तु भाई का मन नहीं जीता गया ?'

'सेनाओं के मन नहीं जीते जाने, भैया, सिर जीते जाते हैं।'।

'क्या तुम पसंद करोगे कि तुम्हारी एक भावना के लिए इतने जीते जागते मनुष्यों के सिर कट जायें ? भरत ने बाहुबली की सेनाओं को हंगिन किया।

'दिग्विजय की दीवार जीते जागते मनुष्यों के रक्त और मांस से ही खड़ी होती है। इतने मनुष्यों की भेंट तो सागर में बूँद के समान होगी। फिर भी अपने भैया जैसे देवता को मैं यह बलि देने के लिए प्रस्तुत हूँ।'।

किसी तरह भी बाहुबली को मानने न देख कर भरत चितामग्न हो गया। अंत में उसने कहा, 'हम सागर में अब और बूढ़ नहीं गिरेंगी, बाहुबली। जो गिर चुकी हैं उन्हीं में हम डूब गए हैं। हमने सोचा था कि दिग्विजय से रोज रोज के रक्त पात बन्द हो जाएंगे, किन्तु स्वयं तुम ही हमारा विरोध करोगे इसकी आशा तो स्वप्न में भी न थी।'

बाहुबली अविश्वास के कारण चुप रहा, कुछ क्षण बाद भरत ने विचार पूर्वक प्रस्ताव किया। 'हम चाहते हैं कि इक्ष्वाकु वंश को जो गौरव मिला है वह इक्ष्वाकु वंश में ही रहे और रक्त भी न बहे।'

'इसका अर्थ क्या है, भैया ? मैं नहीं समझा।'

'यह भगवांदा हमारा आपस का है।' भरत ने उन्नत मस्तक हो कर कहा। 'हम आपस में भी लड़ कर उसकी हार जीत का निर्णय कर लें।'

'और उस चतुरंगिनी का क्या होगा ? बाहुबली ने असीम आश्चर्य से पूछा।'

चतुरंगिनी तुम्हारे ऊपर प्रहार नहीं करेगी। वह हम दोनों भाईयों की लड़ाई का तमाशा देखेगी, और हम में से जो जीतेगा वही उसका स्वामी होगा, वही चक्रवर्ती होगा। पराजित भाई विजेता भाई को उसका मान देगा।'

'भैया।' बाहुबली हर्ष और विस्मय से लगभग चीख उठा। मन ही मन उसने भरत की उच्चता की सराहना की।

जब दोनों ओर की सेनाओं ने उपर्युक्त निर्णय सुना, तो वे हर्ष और उत्साह में डूब गईं। चक्रवर्ती भरत का जय, महाराज बाहुबली की जय के नारों से आकाश गूँज उठा।

द्वंद्व युद्ध तीन प्रकार से होना निश्चित हुआ : दृष्टि युद्ध, मल युद्ध, और खड्ग युद्ध। सेनाओं में इसकी घोषणा हो गई। एक छोटे से मैदान को घेर कर दोनों ओर की सेनाओं का जमघट लग गया। सामने ही चक्रवर्ती का सिंहासन था, जिसके दोनों ओर आमंत्रित राजाओं का आसन देकर सम्मानित किया गया था, दूसरी ओर बाहुबली का सिंहासन ठीक चक्रवर्ती के सिंहासन के सामने था, और उसके समीप ही महाराज वज्रबाहु का आसन रखा हुआ था।

जय पराजय का निर्णय करने के लिए तीन बड़े राजाओं की एक मंडली चुनी गई, रणभेरी फिर एक बार बजा, दोनों भाई एक साथ अपने २ सिंहासनों से उठे और बीच मैदान में आ गए। फिर एक बार जयघोष के नारों से आकाश गूँज उठा, दोनों महाबलियों ने अपनी २ तलवारें खींच लीं एक साथ आकाश में दो बिजलियाँ सी तड़क उठीं, और लोहे पर लोहे का प्रहार हुआ। फिर निरंतर आक्रमणों का एक तांता बंधा, यहां तक तलवारों का आकार तक दिखाई देना बंद हो गया। सूर्य आकाश में और ऊंचे चढ़ता गया ताकि ठीक बीच में आकर वह अपूर्व संघर्ष को देख सके। भरत और बाहुबली पसीने पसीने हो गए कब किसका मिर पृथ्वी पर आ गिरेगा कुछ पता नहीं लगता था, चारों दिशाएं स्तंभित हो गई थीं।

सूर्य ने फिर एक बार झुकना आरम्भ कर दिया था। इतनी देर के युद्ध के बाद भी जब हार जीत का कुछ निर्णय नहीं हुआ, तो पंचों ने एकमत होकर दोनों वीरों को बराबर ठहराया।

युद्ध बंद करने का डंका बजा और दोनों भाईयों ने तलवारें भ्यानों में कर लीं, भरत और बाहुबली एक दूसरे से कुछ दूरी पर खड़े हांफने लगे सहसा बाहुबली ने दृष्टि उठाई। भरत उसकी ओर प्रेममयी दृष्टि से देख रहा था। भरत अपने हाथ बटा कर स्वयं दो पग आगे आया और भाई भाई के गले से लिपट गया। दोनों की बाहुओं के यत्र तत्र बिखरे धावों के रक्त ने दो पतली सी धाराएं निकलीं और एक दूसरे से मिल कर पृथ्वी पर चू गईं।

कुछ समय बाद दृष्टि युद्ध का आरम्भ हुआ। सूर्य को बाएं रुख कर दो बराबर ऊंचाई की स्वर्ण चौकियों पर भरत और बाहुबली आसीन हो गए। धीरे-धीरे दोनों भाईयों की दृष्टियां उठी और एक दूसरे में उलझ गईं, सूर्य झुकता गया, झुकता गया, किन्तु पलकें जो एक बार उठीं, तो फिर नहीं झुकीं। देखने देखते भरत की आंखों में पानी आगया, दो बूंद आंसू उसकी आंखों से गालों पर टुकक गये। भरत इस बार हार गया।

पंचों ने इशारा किया, युद्ध समाप्त होने का डंका बजा और भरत पलक झपका कर उठ गया। किन्तु बाहुबली, बाहुबली अब भी दृष्टि सीधी किए ज्यों का त्यों स्थिर बैठा

था, भरत उसके पास तक आया, उसके कंधे पर हाथ रखा और दूसरे हाथ की हथेली उसके मुँह पर फेर उसकी पलकें बन्द कर दीं।

बाहुबली की सेना ने 'महाराज बाहुबली की जै' का घोष किया, किन्तु भरत की चतुरंगिनी चुप थी। भरत ने कहा, 'हमारी सेना चुप क्यों है? कहो 'महाराज बाहुबली की जय' और महाराज बाहुबली की जय' के घोष से मानों समस्त वायुमंडल व्याप्त हो गया।

मल्लबल युद्ध का समय आ गया अखाड़ा तैयार था। भरत और बाहुबली लंगोट कसे अखाड़े में खड़े थे, मारू बाजा बजना आरम्भ हुआ और दो मस्त गजों की तरह वे एक दूसरे से भिड़गए दोनों मल्ल युद्ध की कला में पारंगत थे। दाव चल रहे थे, लेकिन लग कोई नहीं रहा था। शरीरों से स्वेद कण फूटने लगे थे और मिट्टी उन से चिपट गई थी।

अचानक बाहुबली ने पैतरा बदला, और उसने फुरती से भरत को अपनी हथेलियों पर रख कर ऊँचे आकार में उठा लिया। बस, भरत पृथ्वी पर गिरा और सब कुछ समाप्त हो जाएगा। किन्तु कितनी ही देर तक भरत बाहुबली के हाथों पर रहा, लेकिन बाहुबली ने उसे भूमि पर नहीं पटका। इस बीच में बाहुबली के सामने विचारों की दुनिया बस गई।

जिस भाई ने उसे पकड़ कर खलना सिखाया, जिस भाई की गोदों में पल कर वह बड़ा हुआ, जिस भाई ने उसके प्रेम के वश होकर अपनी अजेय और विशाल सेना को एक ओर खड़े होकर तमाशा देखने के लिए छोड़ दिया क्या वह उसी भाई को पृथ्वी पर पटकेंगा?

कितनी चंचला है यह लक्ष्मी। भरत ने इसके लिए लाखों का खून बहाया, लाखों को बे घर बार किया, वर्षों गर्मी सर्दी मही, किन्तु अभी उसके उपभोग करने का समय भी नहीं आया था कि वह उसे नगर नारी की तरह छोड़ कर चला जाने के लिए तैयार है। धिक्कार है ऐसी धन सम्पदा पर, एक दिन आएगा, जब न भरत रहेगा न बाहुबली, केवल उनकी अस्थिरता और निःसारता पर हंसती हुई यह दुनिया रह जाएगी और उनके किए हुए कर्मों का एक ऐसा लेखा उनके साथ बंधा चला जाएगा, जिसका

सारा आधार और जिनके द्वारा कमाई माल संपदा सब इसी दुनिया में छूट जाएगी।

बाहुबली भरत को लिए अखाड़े से बाहर आया चारों ओर 'महाराज बाहुबली की जै' का स्वर सुखरित हो उठा, किन्तु बाहुबली इस से विचलित नहीं हुआ। उसने चक्रवर्ती के मिहामन के पास जाकर भरत को उस पर प्रतिविबत करते हुए प्रतिष्ठित कर दिया। बाहुबली के जयघोस से फिर वानावरण ध्वनित हो गया।

भरत तुरन्त सिंहासन से उतर आया। 'अब यह सिंहासन हमारा नहीं रहा। बाहुबली, तुम जीते हो इस पर तुम्हारा अधिकार है।'

'बाहुबली तो उसी समय हार गया था, जब भैया ने चतुरंगिनी के बढ़ते हुए कदम रोक दिए थे।' बाहुबली ने शांत वाणी में उत्तर दिया।

भरत ने कहा। 'हार को जीत कहने से हार जीत नहीं हो जाती। अब आओ, बाहुबली, यह राज्यलक्ष्मी तुम्हारी है, इसे सम्भालो।'

'जो तुम्हें छोड़ कर मुझ से लिपटना चाहती है उसे मैं संभालूँ, ना भैया, यह वेश्या तुम्हें ही सुवारक हो।' बाहुबली ने दृढ़ स्वर में कहा।

भरत द्रवित हो गया। 'बाहुबली, इससे तो अच्छा था कि तुम मुझे भूमि पर ही पटक देते। तुमने इस मिहामन पर बैठा कर मुझे भूमि के भी नीचे गाढ़ दिया है, अब मुझे उबारो, बाहुबली, आओ, अपनी चीज ले लो।'

'भैया' बाहुबली ने एक और महत्वपूर्ण और चौंका देने वाली घोषणा की, 'मुझे अब अपना ही राज्य नहीं चाहिए, तुम्हारा ले कर मैं क्या करूँगा? मैंने अपना भूला पथ पकड़ने का निश्चय किया है, भैया, मैंने पिता जी का पथ पकड़ने का निश्चय किया है।

बाहुबली की बात सुन कर भरत चौंक पड़ा, वैराग्य यही वह शब्द था, जिसने उसके प्रत्येक इरादे के साथ, बाहुबली के सम्बन्ध में प्रत्येक विचार के साथ, और उसकी भावनाओं के साथ भीषण द्वन्द्व किया था। बाहुबली अपनी भावनाओं में मग्न होते हुए बोल रहा था।

'यह कुटुम्ब एक वृत्त है। मंथ्या होते ही इस पर तरह तरह के पक्षी आकर बैठ जाते हैं। रात भर वे एक दूसरे

की भावनाओं में बसे रहने हैं। सवेरा होता है और पत्नी उड़ जाने हैं। अब सवेरा हो गया है, भैया, अब मैं जा रहा हूँ। और मैं तुम्हारी समस्त भावनाओं के लिए, तुम्हारी स्नेहमयी भावनाओं के लिए तुम्हें धन्यवाद देता हूँ।'

भाववेश में भरत चिल्ला उठा। 'बाहुबली, बाहुबली।'

बाहुबली ने शांत स्वर में कहा। 'भरत, भैया, हम और तुम एक ही राह के दो मुसाफिर थे। हम भाई-भाई थे, अब दोराह आ गया है। हमारी मंजिलें एक दूसरे से अलग अलग हैं, दूर है, आओ हम गले मिल कर सम्मान से विदा लें। हमारा साथ यहीं तक था।'

स्वप्नचारी की तरह भरत भावतिरेक से बोला, 'नहीं, बाहुबली, ऐसा न कहो, अभी दोराहा दूर है, तुम नहीं मानते, तो हम तुम साथ एक ही सिंहासन पर बैठेंगे, मिल कर राज्य करेंगे, मिल कर उसका त्याग करेंगे, हम दोनों साथ-साथ तप करेंगे, और एक ही साथ २ संसार बंधन को काट कर वहां जाएंगे, जहां से फिर आने का कष्ट उठाना नहीं पड़ता।'

बाहुबली ने कहा 'भैया, तुम दुःखित क्यों होतے हो ? इस संसार में कब किसी का ऐसा साथ हुआ है ? अपना शरीर ही अपना साथ नहीं देता। रोग आता है, तन ढह जाता है, बुढ़ापा आता है भुक जाता है, यह पानी का बुल-बुला है, हवा आती है यह फूट जाता है।'

भरत ने बाहुबली के सामने घुटने टेक दिए। 'बाहुबली अब तक मैं तुम्हें एक अभिमानी राजा ही समझता था। तुम कितने महान् हो यह आज ही जाना, तुम मेरे छोटे भाई नहीं हो, मुझसे कहीं बड़े हो, संसार से बड़े हो। मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ।'

बाहुबली एक हाथ से अपनी आंखों के अंतिम स्नेहाश्रु पोंछते हुए भरत को उठा रहे थे। सारा रणक्षेत्र बाहुबली की जय के नारों से गुंजायमान हो रहा था। क्षण भर में पाया ऐसा पलट गया था, जिसकी ओर किसी का अनुमान भी न जा सकता था। बाहुबली ने अपने वस्त्र उतार दिए थे।

वज्रबाहु मित्र का अकस्मान् परिवर्तन देख कर विस्मय हो गए थे। इसलिए अब तक उनकी जवान से एक भी शब्द नहीं निकला था। किन्तु अब उन से न रहा गया,

'जरा सोचो तो तुम क्या क्या छोड़ कर जा रहे हो, बाहुबली, तुम्हारे पास क्या नहीं है ? दुनिया में सब से प्यारा भाई तुम्हारे पास है। संसार के सारे सुख जिम संपदा से खरीदे जाते हैं वह लक्ष्मी आज तुम्हारे चरणों की दाम्नी है। तुम्हारे पसीने पर अपना खून बहा देने वाले मित्र तुम्हारे इशारों की राह देखते हैं। संसार का श्रेष्ठ नारी रत्न तुम्हारे पीछे दीवाना है, और तुम क्या चाहते हो, बाहुबली ?'

बाहुबली ने हंस कर कहा, 'वज्रबाहु, मित्र, मैं संतोष चाहता हूँ।'

इस एक उत्तर में क्या क्या निहित था उसे वज्रबाहु ने समझा, भरत ने समझा, किन्तु विशाल कीर्ति का तरुण हृदय उसे न समझ सका, उसने कहा, 'संतोष भी तो इसी संपदा से मिलता है, चाचा जी।'

बाहुबली उसकी ओर देख कर मुस्कराए, 'नहीं, संतोष इन वस्तुओं से नहीं मिलता, पुत्र। भरत ने पृथ्वी जीती, वह अपने दिल पर हाथ रखे और उससे पूछे क्या उसे संतोष मिला है, तुम उसके युवराज हो, बताओ तो, क्या तुम्हारा मन कभी एक क्षण को भी व्याकुल नहीं हुआ है ? यच्चा संतोष तो त्याग में है, विशाल, राग में नहीं।'

फिर विशालकीर्ति के कंधे पर एक हाथ रख कर दूसरा हाथ वज्रबाहु के कंधे पर रखते हुए बाहुबली ने वज्रबाहु को लक्ष्य करते हुए कहा, 'महाराज वज्रबाहु, हो सके तो मान का त्याग करना, इस से तुम्हें सुख होगा, सबको सुख होता है।' और उन्होंने वज्रबाहु के हाथ में विशालकीर्ति का हाथ दे दिया।

भरत इस व्यवहार को कुछ भी न समझ सका, बाहुबली ने उसका हाथ पकड़ कर इस बंधे हुए एक जोड़ी हाथों पर रखते हुए कहा, 'भरत, तुम संरक्षक हो, विशाल को बहू मिलेगी और तुम्हें पुत्र वधू मिलेगी, अयोध्या को उसकी युवराज्ञी मिलेगी।

भरत, वज्रबाहु और विशाल कीर्ति के नेत्र हर्ष, विशाद और आकस्मिक चमत्कार से प्रभावित होकर स्थिर हुए सब कुछ देख रहे थे, किन्तु जो कुछ भी हो रहा था उसका अर्थ किसी की भी समझ में भली प्रकार नहीं आ रहा था, जैसे नियति अपने पास में भविष्य को बांध कर पलायन कर रही हो, इस प्रकार सब ने बाहुबली के सामने सिर

शुकाया और उसके बचनों के जो भी अर्थ निकलने थे उन्हें हृदयंगम करने की चेष्टा करते हुए मन ही मन उन्हें भविष्य में पालन करने की प्रतिज्ञा की।

सांयकाल हो रहा था। सूर्य अपनी किरणों समेट कर कहीं और उदित होने जा रहा था, उसने इस दुनिया का तमाशा देख लिया था, अब वह दूसरी दुनिया का तमाशा देखेगा, किन्तु संभवतः उसे संदेह था कि वह इतना हृदय-ग्राही मनोरंजन कहीं और भी प्राप्त कर सकेगा या नहीं।

मैंनों की आंखों से आंसुओं की धारें वह कर सूख गई थीं। कुछ लोगों ने बाहुबली के साथ ही वस्त्र त्याग किया था, कुछ लोग भविष्य में करने की प्रतिज्ञा ले रहे थे, पूजा के उपकरण मजागू जा रहे थे। और कुछ लोग महा-बली बाहुबली की आरती उतार रहे थे।

एक और बाहुबली वन गमन कर रहे थे, दूसरी और लाखों मनुष्य एक आंख से हमने एक आंख से रोते उन्हें अन्तिम विदा दे रहे थे। विशाल की आंखों का पार्श्व श्रमने में ही नहीं आ रहा था और वज्रबाहु उसके कंधे पर हाथ रखे उसे दिलासा देने का निष्फल प्रयत्न कर रहे थे।

राजनंदिनी जब वापस कटक में पहुँची, आकाश पर चंद्रमा का आधिपत्य हो गया था, और तारागण उसके भाग्य पर एक विशाल सम्मेलन कर रहे थे।

पुत्री को वापस देख कर वैजयंती नरेश ठक से रह गए, राह में कितनी दूर जाकर क्या हुआ होगा यह सहज ही कल्पना कर लेने की बात थी, क्यों राजनंदिनी वैजयंती न पहुँच कर वापस आ गई थी यह भी कोई नितान्त छिपी हुई बात नहीं थी, और जो बात इतनी स्पष्ट थी उसका सुखद परिणाम मनुष्य के हाथों से कितनी दूर निकल गया था यह भी साफ ही था, उनके मुँह से केवल इतना निकला : बेटी।

राजनंदिनी को पिता पर क्रोध था, यह क्रोध केवल मान का क्रोध नहीं था, इसमें झल्लाहट और प्रवंचना के शिकार का लोभ भरा हुआ था। किन्तु रथ से नीचे उतरते ही बाप ने बेटी को गले लगा लिया और फूट-फूट कर रो पड़े, सारे दिन का संचित संघर्ष इस रुदन में साकार हो कर मिल गया था। राजनंदिनी ने भी अपना भाव व्यक्त कर पाकर उसे आंखों की राह बहा दिया। किन्तु यह

उसकी भूल थी, इसके बाद जो समाचार वह सुनने जा रही थी उसके लिए उसके पास और आंसुओं का पानी कहाँ से आएगा ? नहीं आएगा, तो किस प्रकार उसके आने वाले दुःख का निवारण होगा ?

अंत में वैजयंती नरेश ने कहा, 'महाराज भगत को चक्रवर्ती पद दे कर विजेता बाहुबली ने वैराग्य ले लिया है, बेटी।'

पिता के ये शब्द सुन कर राजनंदिनी जहाँ की तहाँ जड़ हो गई, कुछ समय में नहीं आया कि वह क्या सुन रही है, कुछ समय तक आंखें फाड़े शून्य में ताकती रही फिर सहसा वह चिल्लाती हुई भागी : 'नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, मैंने सपने में भी तुम्हारी पूजा की है, मैंने तुम्हें सदा अपने हृदय में संजो कर रखा है... एक क्षण भी मैंने अपने मन को कहीं भटकने नहीं दिया है... संसार में सबको अपनी अर्चना का फल मिलता है... मुझे भी मिलेगा... हाँ... तुम इतने निर्मोही नहीं हो सकते...' और उसके साथ २ उसका स्वर भी लोप होने लगा।

राजनंदिनी की दशा जितने देखी उसने एक बार अपनी आंखों की कोरों को पोंछा, उसके पिता कि कर्तव्य-विमूढ़ हुए अपने दुर्भाग्य का तमाशा फटी आंखों देखते रहे, ज्योतिषी के शब्द उनके कानों में शीश की तरह पिघलने लगे राजकुमारी के भाग्य में पति सुख नहीं है... राजकुमारी के भाग्य में पति सुख नहीं है...

राजनंदिनी को इस समय बंधु-बंधव किसी का विचार नहीं रह गया था। उसके अचेतन मन में केवल एक बात घूम रही थी। उसने अपने समस्त मनको एकाग्र करके जिसका चाहता है उस में उसे त्यागने की शक्ति नहीं हो सकती, अभी कुछ देर पहले उसने वैराग्य का महान् स्वरूप देखा था, अब वह राग की प्रचंडता देख रहे थे। और फिर झुका रहे थे, क्या इस राग की आग में वैराग्य का तेज झुलस जाएगा ? यहाँ प्रश्न सबके समितक में चक्कर काट रहा था।

सेना, कटक, बंधु और पिता को छोड़ कर राजनंदिनी पागलों की तरह बनों में भटकती हुई बाहुबली को ढूँढ़ने लगी 'तुम अपनी नंदिनी को इतनी सरलता से भूल गए,

सर्वोदय का अर्थ

विनोबा भावे

सर्वोदय एक ऐसा अर्थघन शब्द है कि उसका जितना अधिक चिन्तन और प्रयोग हम करते जाएंगे, उतना ही अधिक अर्थ उसमें से पाते जाएंगे।

लेकिन उसका एक अर्थ स्पष्ट है कि जब भगवान ने इस दुनिया में मानव-समाज का निर्माण किया है तो मानव का एक दूसरे से विरोध हो या एक का हित दूसरे के हित के विरोध हो, यह उसकी मंशा कदापि नहीं हो सकती। कोई बाप यह नहीं चाहता कि एक लड़के का हित दूसरे लड़के के विरोध में हो। लड़कों में विचार भेद हो सकता है, हित-विरोध नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न विचार हों तो ऐसे अनेक विचार मिल कर एक पूर्ण विचार बन सकता है। इसलिए विचार-भेदों का होना जरूरी है। उसमें दोष नहीं, बल्कि गुण ही है, पर हित-विरोध नहीं होना चाहिए।

लेकिन हमने अपना जीवन ऐसा बनाया है कि एक के हित में दूसरे के हित का विरोध पैदा होता है। धन आदि जिन चीजों को हम लाभदायी मानते हैं, उनका

सामने वाले की परवा किये बगैर और कभी-कभी उससे छीन कर भी संग्रह करते हैं। प्रेम से भी अधिक कीमत धन को यानि सुवर्ण को हमने दे रखी है। ऐसी सुवर्णमाया दुनिया में फैल गई है। उसीका नतीजा है कि जो परस्पर या समन्वय आस्थान होना चाहिए था, वह मुश्किल हो गया है उस मेल की शोध में कई राजकीय, सामाजिक और आर्थिक शास्त्र बन गए हैं। फिर भी सब का हित नहीं सध रहा है।

पर एक सादी बात समझ लेंगे तो वह सधेगा। हरेक दूसरे की फिक्र रखे और अपनी फिक्र भी ऐसी न रखे कि दूसरे को तकलाफ हो। यही कुटुम्ब में होता है। कुटुम्ब का वह न्याय समाज को लागू करना कठिन नहीं होना चाहिए, बल्कि आस्थान होना चाहिए। इसी को सर्वोदय कहते हैं।

(‘सर्वोदय-संदेश से)

मेरे देवता। तुमने नंदिनी के आने का प्रतीक्षा भी नहीं की, कहां हो, नाथ, तुम किधर हो। ठहरो, मैं आ रही हूँ, मुझे देख कर तुम अपना सारा वैराग्य भूल जाओगे।’

किसी ने उसके पागलपन को रोकने की चेष्टा नहीं की उसके पैरों के पांखों से रक्त की धारें छूट रही थीं, और राह के पेड़ पौधों को हिलाहिला कर राज नंदिनी अपने प्रियतम का पता पूछ रही थी, ‘बताओ, मेरे नाथ कहां हैं बताओ, नहीं तो मैं तुम्हें जड़ से उखाड़ डालूंगी...’ नहीं नहीं, तुम भी पिया के त्यागो हणु हो और अपने परिताप की ज्वाला में झुलस कर तुम जड़ हो गए हो, ठहरो, मैं एक तपस्वी के पास जा रही हूँ, उसके तप प्रभाव से और उनके प्रति मेरे प्रेम के प्रभाव से तुम फिर हरेभरे हो जाओगे तुम्हें भी तुम्हारे प्रियतम मिलेंगे।’

राह में राजनंदिनीने जातिविरोधी जीवों को एक दूसरे के साथ क्रीडा में मोदमग्न देखा, सांप गरुड के साथ, हिरन सिंह के साथ न्यूले सर्प के साथ खेल रहे थे। चारों ओर वायु में सुगंधि छा रही थी और सभी मोह की इस प्रचंड ज्वाला को मीन नेत्रों से निरख रहे थे।

अंत में राजनंदिनी को बाहबली मिले, एकाम्र मुद्रा में ध्यानावास्थित, सीधे खड़े, आंखें बंद किए, मुनि साधना में रत, उनकी आंखें खुलने की प्रतीक्षा में किंकर्तव्य विमूढ़ राजनंदिनी अपने देवता के चरणों में आसन मार कर बैठ गई और समय के साथसाथ वह भी अचल हो गई।

आंधियां आईं, बरसात आई, गरमी से आसपास का घासफूस तक झुलस गया किंतु न ही बाहबली की आंखें खुली और नहीं राजनंदिनी में कंपन हुआ समय के प्रभाव ने उसके शरीर को परिवर्तित करके मिट्टी का ढेर बना दिया उस पर घासफूस उग आए, लताओं का निर्माण हुआ और कोई चारा न देख कर वे लताएं बाहबली के अचल शरीर पर लिपट गईं

मैसूर राज्य के श्रवणबेलगोला स्थान पर स्थित बाहबली गोम्मटेश्वर की ५७ फीट ऊंची वह वैराग्य की साकार पाषाण प्रतिमा आज भी वर्तमान है और उस पर लिपटी, अपने प्रीतम के रंग में रंग गई वे पाषाण लताएं आज भी राग और वैराग्य के अपूर्व समन्वय का इतिहास कह रही हैं।
सर्वाधिकार सुरक्षित (समाप्त)

जैनग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह पर मेरा अभिमत

जैन साहित्य और इतिहास की दिशा में अनेक वर्षों से ठोस एवं शोधपूर्ण कार्य करने वाला साहित्यिक संस्था वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। हाल में इस संस्था के द्वारा जिस महत्व के ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ वह है 'जैन ग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह का द्वितीय भाग'। इसका सम्पादन और संकलन इसी संस्था के चिरसंवा और समाज के बहु परिचित सुयोग्य विद्वान पण्डित परमानन्द जी शास्त्री ने बड़े परिश्रम, अध्यवसाय एवं योग्यता के साथ किया है।

इस द्वितीय भाग में राष्ट्रभाषा हिन्दी की जननी अपभ्रंश भाषा में जैन लेखकों द्वारा लिखे गए ११४ ग्रन्थों की प्रशस्तियों का संग्रह किया गया है। इन प्रशस्तियों का जहा सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा महत्व है वहां ऐतिहासिक दृष्टि से भी इनका उतना ही महत्व है। ग्रन्थों की प्रशस्ति में ग्रन्थ-रचयिता, उसकी रचने में प्रेरक, जहां वह रचा गया उस स्थान तथा जिस राजा के राज्य काल में वह बना उस का नामोल्लेख स्पष्टतया किया गया है, जिससे तत्कालीन धार्मिक स्थिति, राज्य का प्रभाव और सामाजिक वातावरण आदि ज्ञान की ही बातों का परिचय मिल जाता है। पण्डित परमानन्द जी ने अपनी १४० पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना में उन सब बातों का बड़ा सूक्ष्म और उदात्तपूर्ण विचार प्रस्तुत किया है। ग्रंथों और ग्रन्थ-कलाओं का तो उन्होंने परिचय कराया ही है। साथ में प्रशस्तियों में निहित उस ऐतिहासिक सामग्री पर से ग्रंथ-कारों के समकालीन राजाओं, धार्मिक आचार्य-आचार्यों की रचना-स्थानों, ग्रन्थ रचना समय और अनेक घटनाओं का भी उन्होंने संतुलित ढंग से सुन्दर विश्लेषण किया। वस्तुतः अकेली यह प्रस्तावना ही एक ऐसी ठोस ऐतिहासिक पुस्तक बन गई है जो शोधार्थियों के लिए पथ प्रदर्शन का कार्य करेगी।

इस संग्रह में कुल १२२ अपभ्रंश ग्रंथों की प्रशस्तियों तथा ३ पुष्पिकाओं का चयन किया गया है। भारतीय महा-विद्यालय हिन्दू विश्व विद्यालय काशी के आचार्य डा वासुदेव शरण अग्रवाल का आरम्भ में महत्वपूर्ण प्राक्कथन है। आपने प्राक्कथन में इस कृति का स्वागत करते हुए यह यथार्थ लिखा है कि—'पं० परमानन्द जी ने जिस-तिल सामग्री जोड़ कर ऐतिहासिक तथ्यों का मानों एक सुमेरु ही बनाया

है।' निःसंदेह पं० परमानन्द जी ने इस संग्रह में असाधारण परिश्रम किया है और सारी सामग्री के निष्कर्षों को विधिवत दिया है। डा० दशरथ शर्मा रीडर इतिहास विभाग दिल्ली यूनिवर्सिटी का अंग्रेजी में लिखा Preface भी ग्रंथ के महत्व पर अच्छा प्रकाश डालता है।

अपभ्रंश भाषा की अनुपलब्ध रचनाओं के उल्लेखों, प्रस्तावना में आये हुए विशेष नामों की सूची और विषय सूची के अनन्तर १३५ पृष्ठों में मूल प्रशस्तियां दी गई हैं। उसके बाद अन्त में विभिन्न परिशिष्ट दिए गये हैं जो बड़े ही महत्व के हैं और शोध-कार्य में बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे।

एक समय था, जब प्राकृत के बाद अपभ्रंश जन-साधारण का भाषा था और वह देश के विभिन्न भागों में बोली जाती थी। जैन लेखकों ने देखा कि इस समय धर्म का स्वरूप प्राकृत और संस्कृत के अलावा अपभ्रंश भाषा में भी कहा एवं समझाया जाय तो जन साधारण का बड़ा लाभ होगा। यथार्थ में जैन लेखकों का यह आरम्भ से ही प्रयत्न रहा है कि जनता की बोली में जनता को धर्म तत्त्व का स्वरूप समझाया जाय। अतः उस युग में इस भाषा में भी उनके द्वारा संख्या बद्ध प्रचुर ग्रंथ लिखे गये हैं और अपभ्रंश साहित्य को समृद्ध बनाया गया है। आज अपभ्रंश भाषा का साहित्य अपेक्षाकृत जैन लेखकों का ही लिखा हुआ उपलब्ध होता है। इस साहित्य का इसलिये भी महत्व है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का उसी से जन्म हुआ है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ का प्रकाशन जहां अपभ्रंश भाषा को जन सम्पर्क में लावेगा वहां राष्ट्र भाषा हिन्दी के भण्डारों को भी समृद्ध करेगा अतः वीर सेवा मन्दिर, उसके संचालकों और सम्पादक का प्रस्तुत प्रयत्न निश्चय ही धन्यवादार्ह है। इस अवसर पर वीर सेवा मन्दिर के प्राण वा० छोटे लाल जी जैन कलकत्ता को नहीं भुलाया जा सकता है, जिनका अद्भुत शक्ति सूक्त प्रेरणा साहित्य साधना की तीव्र लगन और निरपेक्ष मौन-सेवा उस प्रयत्न के पीछे निहित हैं। मैं तो समझता हूं कि उन्हीं की लगातार प्रेरणा से यह ग्रंथ आज प्रकाश में आ सका है।

३ दिसम्बर १९६३

दरबारीलाल जैन कोटिया
काशी हिन्दू विश्व विद्यालय

(पृष्ठ २४ का शेष)

वाद के भेद तथा ग्रं-

परि० ८६ से १८ तक वाद के भेदों तथा ग्रंथों का विचार है। आचार्य ने वाद का वर्गीकरण दो प्रकारों से किया है—पहले वाद के तीन प्रकार बतलाये हैं—व्याख्यवाद (गुरुशिष्यों की चर्चा), गोष्ठीवाद (विद्वानों की सत्र-पूर्ण चर्चा) तथा विवादवाद (वादी-प्रतिवादी का मार्मिकपूर्ण वाद) बाद में वाद के चार प्रकार बतलाते हैं—नायिक वाद (न्याय-विषयक चर्चा), प्रातिमवाद (कवि-प्रतिभा की परीक्षा की स्पर्धा), नियतार्थवाद (विशिष्ट नियमों पर आधारित वाद) तथा परार्थन वाद (प्रतिपक्षी के अनुरोध पर हानेवाला वाद)। वाद के चार अंग बतलाये हैं—समापति, समाप्ति, वादी तथा प्रतिवादी।

पत्र—

परि० ११ से १०२ तक पत्र का परंपरागत वर्णन है। अपने पक्ष के किये अनुमान को प्रस्तुत करने वाला किन्तु गूढ़ शब्दों के कारण जिसे समझना कठिन हो गया। कोई श्लोक एक पत्र पर लिख कर प्रतिपक्षियों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था—इसे पत्र यह विगिष्ट संज्ञा दी जाता थी। प्रतिपक्षी के लिए जरूरी था कि वह पत्र में लिखे श्लोक को समझ कर उस का उत्तर दे, अन्यथा वह पराजित समझा जाता था।

वाद और जल्प—

परि० १०३ से १२२ तक वाद और जल्प के बारे में चर्चा है। न्यायसूत्र में इन दोनों के लक्षण हैं उन का लेखक ने शब्दशः खण्डन किया है। न्यायसूत्र के अनुसार जल्प वह है जिसमें झूठ, जाति आदि का प्रयोग होता है तथा जिसे का मुख्य उद्देश विजय प्राप्त करना होता है। आचार्य के कथनानुसार झूठ, जाति आदि शलत साधनों का

प्रयोग निषिद्ध है १ तथा विजय प्राप्त करने का उद्देश वाद में भी होता है, अतः जैन प्रमाणशास्त्र की परम्परा के अनुसार वे वाद और जल्प में कोई भेद नहीं मानते।

आगम—

परि० १२३ तथा १२४ में आगम तथा आगमामास का वर्णन है। आगम के वर्णन में ग्रंथगत तथा अंगबाह्य आगमों की परम्परागत सूची दी है तथा आगमामास में वैदिक दर्शनों के ग्रन्थों के कुछ वाक्य उदाहरण के रूप में उद्धृत किये हैं।

करण प्रमाण—

प्रत्यक्ष तथा परोक्षप्रमाणों के उपर्युक्त भेदों को आचार्य ने भाव प्रमाण यह संज्ञा दी है। तथा परि० १२४ से १२८ तक करण प्रमाण के भेद बतलाये हैं। इस में द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र प्रमाण तथा कालप्रमाण सम्मिलित हैं। पदार्थों के नाप तौल का विभिन्न रीतियों को द्रव्यप्रमाण कहा है। लम्बाई-चौड़ाई की गणना की रीतियाँ क्षेत्रप्रमाण में दी हैं तथा कालप्रमाण में समय-गणना की रीतियाँ बतलाई है।

उपसंहार—

परि० १२९ में अन्य दर्शनों में वर्णित प्रमाणों का जैन प्रमाणव्यवस्था में अन्तर्भाव करने की रीति विधि से बतलाई है तथा परि० १३० में अन्तिम प्रस्तावित है।

उपर्युक्त सारांश से स्पष्ट होगा कि आचार्य भावमेव का प्रमाणपूर्ण परंपरागत जैन दर्शनों से कुछ दृष्टियों से भिन्न है। अतः इसका विशेष अध्ययन होना उचित है। हमें आशा है कि उनकी यह कृति हम हिन्दी अनुवाद के साथ शास्त्र वा विद्वानों के अप्रत्यक्षानुभव प्रस्तुत कर सकेगी।

अनेकान्त की पुरानी फाइलें

अनेकान्त की कुछ पुरानी फाइलें अवगिष्ट है जिनमें इतिहास पुरातत्त्व, दर्शन और साहित्य के सम्बन्ध में खोजपूर्ण लेख लिखे गए हैं। जो पठनीय तथा संग्रहीय है। फाइलें अनेकान्त के लगेद मूल्य पर दी जावेगी, पोस्टेज खर्च अलग होगा।

फाइलें वर्ष ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६ की है अगर आपने अभी तक नहीं मंगाई है तो शीघ्र ही मगवा लीजिये, क्योंकि प्रतियाँ थोड़ी ही अवगिष्ट है। मैनेजर 'अनेकान्त'

बीर सेवामन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली

नन्दिसंघ बलात्कारगण पट्टावली

(परमानन्द जैन शास्त्री)

प्रस्तुत पट्टावली नन्दि संघ की है, जो मूल संघका ही एक भेद माना जाता है। आचार्य अर्हदाली द्वारा पंच वर्षीय युगप्रतिक्रमण के समय जो संघ स्थापित किए गए थे, उन में गुहा निवासियों संघ ही 'नन्दी' नाम से उल्लेखित किया गया है। जिस तरह अशोकवाट कुल देवसंघ से अभिन्न है उसी तरह नन्दिसंघ भी गुहानिवासियों कुल से अभिन्न है। इन संघों के अनेक गण-गच्छ हैं। नन्दिसंघ भी उत्तर और दक्षिण के भेद से दो भागों में विभक्त मिलता है। पापनियों में भी नन्दिसंघ का उल्लेख तथा नंदिगण मिलता है। जैन लेख संग्रह भाग ३ में प्रकाशित अनेक लेखों—(२४७, ३७३, ३७५, ३७६, ३८०) आदि में द्रामिल संधान्तर्गत नन्दिसंघ का उल्लेख किया गया है।

दक्षिणापथ के नन्दिसंघ में 'बलहारि या बलगार' गण के नाम पाये जाते हैं, किन्तु उत्तरापथ के नन्दिसंघ में सरस्वतीगच्छ और बलात्कार गण ये दो ही नाम मिलते हैं। 'बलगार' शब्द स्थान विशेष का द्योतक है। लगता है बलगार नामक स्थान से निकलने के कारण 'बलगार' नाम ख्यात हुआ होगा। बलगार नाम का एक ग्राम भी दक्षिण भारत में है। बलात्कार शब्द स्थान वाची नहीं है किन्तु जबरदस्ती क्रियाओं में अनुरक्त होने या लगाने आदि के कारण इसका नाम बलात्कार हुआ जान पड़ता है। भट्टारक पद्मनंद ने जो इस गण के नायक थे सरस्वती को बलात्कार से बलवाया था, इस कारण उसे बलात्कार कहा जाता है, और पच्छिम 'मारभवत' नाम से ख्यात हुआ है। परन्तु यह बात भी

जो को नहीं लगती, क्योंकि यह बात अर्बाचीन है। ये पद्मनंदी विक्रम का १४-१५ वीं शताब्दी के विद्वान हैं। और बलात्कार गण का उल्लेख विक्रम का ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध (१०८७ में मूलसंघ के साथ सम्बद्ध मिलता है। इससे बलात्कारगण का सम्बन्ध भट्टारक पद्मनंदी की घटना से प्रचलित दृष्टा नहीं माना जा सकता। किन्तु उस का अर्थ जबरदस्ती किया करने से जान पड़ता है। अभी बलात्कार गण का वास्तविक इतिहास प्रकाश में नहीं आ पाया है जिसे लाने का जशरत है।

पट्टावलियों में परस्पर विभिन्नता दृष्टि गोचर होती है। नन्दिसंघ का इस समय दो पट्टावलियां उपलब्ध हैं। एक संस्कृत पट्टावली, दूसरी मारवाड़ी भाषा की संकलित पट्टावली। मारवाड़ी भाषा की पट्टावली में जन्म वर्ष, दीक्षा वर्ष, पट्ट वर्ष और पूर्ण आयु का व्योरा अंकित है। और उनसे जातियों का नाम भी उल्लिखित है। किन्तु प्रति अशुद्ध है, इसकी शुद्ध प्रति मेरे देखने में नहीं आई।

संस्कृत पट्टावली में माघनंदी को पूर्वपदांशवेदी और नरदेव वंश बतलाया है। श्रुतावतार के कर्त्ता इन्द्रनंदी अर्हद वली के अनन्तर अनन्तर माघनंदी का उल्लेख करते हैं। जो अंगो और प्रदेशों का एक देश प्रकाशित कर समाधि द्वारा स्वर्गवास्य हुए थे। अजमेर की पट्टावली में 'नंदी वृत्त-मूल वपा योगो धृतः स माघनंदी' और उन्हीं के द्वारा नंदी संघ की स्थापना हुई ऐसा बतलाया है परन्तु उसमें पट्ट का प्रारम्भ माघनंदी से न कर भद्रबाहु से किया है। यदि प्रस्तुत माघनंदी, प्राकृत पट्टावली में अभिहित माघनंदी सैद्धान्तिक हों, जिनका पट्ट काल २१ वर्ष बतलाया गया है। और हो सकता है कि ये वही माघनंदी सैद्धान्तिक हों, जिनके सम्बन्ध में कुम्हार की पुत्री से विवाह करने की कथा प्रचलित है, बाद में जो प्रायश्चित्त लेकर सुनि संघ में सम्मिलित हो गए थे। वर्तमान में माघनंदी का चतुर्विंशतितीर्थंकर जयमाला उपलब्ध है, जो बड़ी सुन्दर है और उसके १४ पद्या का स्वर संगति मटक पर थाप लगात हुए गाने में मधुर

१ श्री मद् द्रविलसंघे ऽस्मिन् नन्दिसंघे ऽस्यैककुलः
जैन शिला सं० भा० ३

२ देखो मिडियावल जैनज्म प० ३२७

३ पद्मनंदी गुरुजातो बलात्कारगणाग्र्याः।

पापाणघटिता येन वार्दिता श्रासरस्वती ॥

उज्जयाति गिरौतेन गच्छःसारस्वतो ऽभवत्।

अतस्तस्मै सुनान्द्राय नमः श्री पद्मनंदिने ॥

नन्दिसंघ गुयावली

प्रतीत होती है। हो सकता है कि वह उन्हीं की कृति हो अथवा अन्य किसी माघनंदी की। यह बात भी विचारणीय है।

इसी पट्टावली में भद्रबाहु और उनके शिष्य 'गुप्ति गुप्त' का उल्लेख किया गया है। अजमेर की पट्टावली में भद्रबाहु के उक्त शिष्य गुप्तिगुप्त के दो नाम अर्हद्वली और विशाखाचार्य दिये हैं। किन्तु पट्ट का प्ररम्भ करने समय इनका नाम नहीं दिया, किन्तु जिनचन्द्र का नाम दिया है। प्राकृत पट्टावली में अर्हद् वली का समय वि० सं० ६५ बतलाया है किन्तु संस्कृत पट्टावली में जिनचन्द्र का समय वि० सं० २६ दिया है। पंडितप्रवर आशाधर जी ने महर्षि पयुषामनमें कुन्दकुन्द के पूर्व जिनचन्द्र का नामो ल्लेख किया है। श्रुतसागर ने भी उन्हीं का अनुकरण किया है। परन्तु इस सम्बंध में सर्माचीन प्रमाणों की आवश्यकता है। और गुरुपरम्परा का ज्ञान भी आवश्यक है।

पट्टावली में जिनचंद्र के पश्चात् पद्मनंदी का नामो-ल्लेख किया है उनके पांचनामों में एक नाम कुन्दकुन्द भी दिया है। परन्तु पांचनामों में से वक्त्रधीव, एलाचार्य, और गृध्रपिच्छ ये तीन नाम तो भिन्न भिन्न आचार्यों के हैं कुन्द कुन्द और उनके समयादि के सम्बंध में किसी अन्य लेख में विचार किया जायगा। आचार्य कुन्दकुन्द अपने समय के आध्यात्मिक विद्वान थे। आपकी कृतियां बहुमूल्य और वस्तु तत्व की प्रतिपादक हैं। इन का समय अभी सुनिश्चित नहीं हो सका। पद्मनंदी नाम के अनेक विद्वान हुए हैं। कुन्दकुन्द का प्रथम नाम पद्मनंदी था यह मान्यता कितनी पुरानी है। दशम शताब्दी से पूर्व के शिलालेखों और ग्रंथों में पद्मनंदिका उल्लेख किस रूप में हुआ, यह विचारणीय है।

इसके बाद तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वाति का नाम दिया हुआ है। फिर लोहाचार्य हुए, जो यथाज्ञात रूपधारा और देवों के द्वारा सेवनीय तथा समस्तार्थ के बोध करने में विशारद थे। लोहाचार्य के बाद उक्त नंदिसंघ दो पट्टों में विभक्त हो गया। एक प्राच्यपट्ट (पूर्वीपट्ट) और दूसरा उदीची उत्तर पट्ट। उन यतीश्वरों के नाम इस प्रकार हैं—यश कीर्ति १ यशोनंदी १० देवनंदी (पूज्यपाद) ११ गुण नंदी १२ वज्रनंदी १३ कुमारनंदी १४ लोकचंद्र १५ प्रभा-चंद्र १६ नेमिचंद्र १७ भानुनंदी १८ सिंहनंदी १९

वपुनंदी २० वीरनंदी २१ रत्ननंदी २२ माणिक्यनंदी २३ मेघचंद्र २४ शांतिकीर्ति २५ मेरुकीर्ति २६ महाकीर्ति २७ विश्वनंदी २८ श्री भूषण २९ शीलचंद्र ३० देशभूषण ३१ अनन्तकीर्ति ३२ धर्मनंदी ३३ विद्यानंदी ३४ रामचंद्र ३५ रामकीर्ति ३६ अभयचंद्र ३७ नरचंद्र ३८ नागचंद्र ३९ नयनंदी ४० हरिचरचंद्र ४१ महीचंद्र ४२ माधवचंद्र ४३ लक्ष्मीचंद्र ४४ गुणकीर्ति ४५ गुणचंद्र ४६ वामचंद्र ४७ लोकचंद्र ४८ श्रुतकीर्ति ४९ भानुचंद्र ५० महाचंद्र ५१ माघचंद्र ५२ ब्रह्मनंदी ५३ शिवनंदी ५४ विश्वचंद्र ५५ हरिनंदी ५६ भावनंदी ५७ सुरकीर्ति ५८ विद्याचंद्र ५९ सुरचंद्र ६० माघनंदी ६१ ज्ञाननंदी ६२ गंगनंदी ६३ भिहकीर्ति ६४ नरेन्द्रकीर्ति हेमकीर्ति ६५ चारुनंदी ६६ नेमिनंदी ६७ नाभिकीर्ति ६८ नरेन्द्र कीर्ति ६९ श्रीचंद्र ७० पद्मकीर्ति ७१ वर्धमान ७२ अकलंकचंद्र ७३ ललितकीर्ति ७४ केशवचंद्र ७५ चारुकीर्ति ७६ अभयकीर्ति ७७ वसंतकीर्ति ७८ प्रग्यातकीर्ति ७९ विशालकीर्ति ८० शुभकीर्ति ८१ धर्मचंद्र ८२ रत्नकीर्ति ८३ विद्यातकीर्ति ८४ प्रभाचंद्र ८५ पद्मनंदी ८६ शुभचंद्र ८७ जिनचंद्र ८८ प्रभाचंद्र ८९ चंद्रकीर्ति ९० देवचंद्रकीर्ति ९१ और नरेन्द्रकीर्ति। अजमेर पट्टावली में देवनंदी और पूज्यपाद के दो पट्ट अलग अलग दिखाए गए हैं। उनमें देवनंदी को पोरवाल, और पूज्यपाद को पद्मावति पोरवाल बतलाया गया है जो विचारणीय है।

इन आचार्यों, विद्वानों या भट्टारकों में से कुछ विद्वान आचार्यों का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जा रहा है। देव-नंदी, वज्रनंदी, प्रभाचंद्र, माणिक्यनंदी, वीरनंदी मेघचंद्र विद्यानंदी आदि विद्वानों का तो परिचय ज्ञात है। यहां ७८ वें नम्बर से कुछ विचार किया जाता है, अवशेष का फिर कभी अवकाश मिलने पर विचार हो सकेगा।

वसंत कीर्ति—यह अभयकीर्ति के पट्टधर थे, अभय-कीर्ति स्वयं वनवासी तपस्वी थे, वनों में व्याघ्रों और सर्पों द्वारा सेवित थे। शील के सागर थे। पट्टावली में इन दोनों का समय सं० १२६४ दिया गया है। इससे यह थोड़े समय पट्ट पर रहे हैं। इनके सम्बंध में अपवाद मार्ग का उल्लेख करते हुए श्रुतसागरसूरि ने षट् प्राभृत् की टीका में लिखा है कि मंडपदुर्ग (मांडलगढ़) में वसंतकीर्ति

ने चर्यादि के समय चटाई आदि से शरीर ढके और बाद में उसे छोड़ दे ऐसा उपदेश दिया था। जैसा कि उनके निम्न वाक्यों से प्रकट है—कश्मपवादवेषः कलौ किं म्लेच्छादयो नगं दृष्ट्वा उद्गमं यतीनां कुर्वन्ति तेन मंडपदुर्गे वसंत-कीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसारादिकेन शरीर-माच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुच्यतीत्युपदेशः कृतः संयमिनां इत्यपवादवेषः कृतः। षट्पा. टी. १.२१।^१ श्रुत-सागर सूरि द्वारा उल्लिखित वसंतकीर्ति वही ज्ञात होते हैं जिनका पट्टावली में उल्लेख किया गया है। दूसरे अन्य वसंतकीर्ति का उल्लेख देखने में नहीं आया।

प्रख्यातकीर्ति—उक्त वसंतकीर्ति के पट्टधर थे। यह भी वनवासी थे और त्रिभुवन में ख्यात थे। अनेक गुणों के आलय थे, शम-यम और ध्यान के सागर थे। वादियों से इन्द्र के तुल्य और परवादि रूप हाथियों के मद को चूर करने के लिए सिंह के समान थे त्रैविद्यविद्या के आस्पद थे और प्रसिद्ध मंडपदुर्गे में निवास करते थे। पट्टावली में इनकी आयु २८ वर्ष ३ मास और २३ दिन बतलाई गई है पर वे पट्ट पर २ वर्ष ३ मास २३ दिन ही रहे थे, ११ वर्ष गृहस्थ अवस्था में और १२ वर्ष दीक्षावस्था में व्यतीत हुए थे।

विशालकीर्ति—यह प्रख्यातकीर्ति के पट्टधर थे। यह उक्त ऋतों की मूर्ति और तपोमहात्मा थे।

अजमेर पट्टावली और नागौर पट्टावली में प्रख्यातकीर्ति के बाद शांतिकीर्ति का नामोल्लेख किया गया है। और शांतकीर्ति के पश्चात् धर्मकीर्ति का नाम दिया है। किन्तु अजमेर और सूरत की पट्टावलियों में शांतिकीर्ति का कोई उल्लेख नहीं है, शुभकीर्ति के बाद धर्मचंद्र का नाम दिया गया है।

भट्टारक विद्यानन्द ने भी सुदर्शनचरित में विशालकीर्ति का उल्लेख किया है और उन्हें कुन्दकुन्द की संतान परम्परा में शुद्ध ज्ञान के धारक, योगत्रय में निष्णात और मुनियों में प्रशस्ततम बतलाया है जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है—

योगत्रयेण निष्णातः विशालकीर्ति शुद्ध धीः।

श्रीकुन्दकुन्दसंताने बभूव मुनिसत्तमः ॥६८॥

और दूसरे पद्य में शुभकीर्ति का उल्लेख किया है,

इससे पट्टावली वाली परम्परा भी ठीक जान पड़ती है।

शुभकीर्ति—यह विशालकीर्ति के पट्टधर थे। इनकी बुद्धि पंचाचारकेपालन से पवित्र थी, एकान्तर आदि उग्रतपों के करने वाले तथा सन्मार्ग के विधि विधान में ब्रह्मा के तुल्य थे। यह मुनियों में श्रेष्ठ थे और शुभ प्रदाता थे।

शुभकीर्ति नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं। उनमें से यह शुभकीर्ति कौन थे यह जानना कठिन है। अपभ्रंश शांतिनाथचरित के कर्ता भी एक शुभकीर्ति हैं यह ग्रंथ नागौर भंडार में सुरक्षित है। जो सं० १५५१ का प्रतिलिपि किया हुआ है। ग्रंथ सामने न होने से इनकी गुरुपरम्परा ज्ञात नहीं हो सकी। एक शुभकीर्ति कुंदकुंद वंश में प्रभाष-शाली रामचन्द्र के शिष्य थे जो बड़े तपस्वी थे इस समय उनके पट्ट को अपनी विद्या के प्रभाव से विशालकीर्ति शोभित कर रहे हैं। जिनके अनेक शिष्य हैं जो एकान्तवादियों को पराजित करने वाले हैं। इनके शिष्य विजयसिंह हैं जिनके कण्ठ में जिन गुणों की मणिमाला सदैव शोभा देती है।

धर्मचंद्र—यह शुभकीर्ति के पट्टधर थे। अच्छे सिद्धान्त वेत्ता, और संयमरूप मसुद्र को वृद्धिगत करने में चंद्रमा के तुल्य थे। इन्होंने अपने प्रख्यात माहात्म्य से अपना जन्म कृतार्थ किया था। और हम्मीर भूपाल के द्वारा सम्माननीय थे।

पट्टावली में उल्लिखित हम्मीर भूपाल कौन है, यह बात विचारणीय है। जिन्हें धर्मचंद्र का सम्मानकर्ता बतलाया गया है। यदि पट्टावली गत समय ठीक है, तब तो रण-

१ तरपट्टेजनि विख्यातः पंचाचारपवित्रधीः।

शुभकीर्तिमुनिश्रेष्ठः शुभकीर्तिः शुभप्रदः ॥६९॥

—सुदर्शनचरित

२ श्री कुंदकुन्दस्य बभूव वंशे श्री रामचंद्रः प्रथितप्रभावः।

शिष्यस्तदीयः शुभकीर्तिनामा तपोगनावलसि हारभूतः ॥७॥

प्रद्योतने मंप्रति तम्यपट्टं विद्याप्रभावेण विशालकीर्तिः।

शिष्यैरनेकै रूपेभ्यमान एकान्तवादादिविनाशवज्रम् ॥८॥

जयति विजयसिंहः श्रीविशालम्य शिष्यो,

जिनगुण-मणिमाला यस्य कंठे सदैव।

अमितमहिमराशेर्धर्मनाथस्य काव्यं,

निजसुकृतनिमित्तं तेन तस्मै वितीर्णम् ॥९॥

—धर्मशर्माभ्युदय लिपिप्रशस्ति

धम्मोर के चौहानवंशी राजा हम्मिर वीर नहीं हो सकते । क्योंकि उनका राज्य सन् १२८३ से १३०१ ईस्वी तक रहा है । महोबा के चन्देलवंश में भी हम्मिरवर्गन् नामका एक राजा हुआ है जो वीरवर्मन् का पुत्र था । ग्वालियर के प्रतिहार वंश के राजाओं की सूची में तीसरे नं० पर एक हम्मिरदेव का उल्लेख है जिसका राज्य सं० १२१२ से १२२५ तक बतलाया है और उसी १२२५ में कुेरदेव का शासन था । (देखो मध्य भारत के प्राचीन जैन स्मारक पृ० ६७) हम्मिर शब्द उपाधि सूचक भी हो सकता है । उसका प्रयोग हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये भी हो सकता है, संस्कृत में हम्मिर शब्द 'मुसलमान' शासक के लिए प्रयुक्त हुआ है । अतएव 'हम्मिरभूपालसमर्चनीयः' वाक्य त्रिधा-स्थीय है वह उस काल के किसी मुसलमान बादशाह के अति-रिक्त उक्त नाम वाला अभ्य कौन सा राजा हम्मिर पदवी का धारक है । 'अणुवयरयणपद्म' की प्रशस्ति भी वि० की चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ की है । अतएव उसकाल का ही कोई राजा होना चाहिए । पट्टावली में धर्मचंद्र का पट्टकाल सं० १२७१ से १२९६ तक बतलाया है । जो हम्मिर भूपाल के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं करता । हो सकता है कि उक्त प्रशस्ति गत 'हम्मिर' शब्द किसी मुसलमान शासक की ओर इंगित करता हो । अस्तु कुछ भी हो, इस सम्बन्ध में कुछ प्रामाणिक सामग्री का अन्वेषण कर उक्त तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न होना चाहिये ।

रत्नकीर्ति—यह धर्मचंद्र के पट्टधर थे । इन्हें पट्टावली में स्याद्वादविद्या के अध्याह समुद्र, तथा जिनके चरण नाना देशों में निवास करने वाले शिष्यों के द्वारा पूजित बतलाये गये हैं । धर्म-अधर्म भेद प्रस्थापक कथाओं के व्याख्यान में अनुरक्त वित्त, पाप विनाशक, और बाल ब्रह्म रूप तप के प्रभाव से साहाय्य प्रकट किया है । अजमेर पट्टावली में इनका समय सं० १२९६ से १३१० तक दिया है यह दिल्ली पट्ट के पट्टधर थे ।

इनके पट्टधर प्रभाचंद्र थे, जो अपने समय के प्रभाव-शाली विद्वान् थे । प्रभाचंद्र ने मुहम्मदशाह के मन को अनु-रंजित किया था । मुहम्मदशाह का राज्य वि० सं० १३८१

१ तर्हि भव्यहि सुमहोच्छ्रुत विहिउड, सरि रयणकि त-
पट्टै विहिउड ।

महमंद साहि मशुरंजियउ, विजहि वाह्य मणु भंजियउ ॥

बाहुबलिचरिउ प्र०

से १४०८ पाया जाता है । भट्टारक प्रभाचंद्र का भट्टारक रत्न कीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समर्थन सं० १५७० की लिखित भगवती आराधना पंजिका की उस लेखक प्रश-स्ति से भी होता है जिसे सं० १४१६ में इन्हीं प्रभाचन्द्र के शिष्य ब्रह्म नाथूराम ने अपने पढ़ने के लिए दिल्ली के बादशाह फिरोजशाह तुगलक के शासन काल में लिखवाया था । उसमें भ. रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का स्पष्ट उल्लेख है । फिरोजशाह तुगलक ने सं० १४०८ से १४४५ तक राज्य किया है । इससे स्पष्ट है कि भट्टारक प्रभाचंद्र १४१६ में कुछ समय पूर्व भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित हुए थे । उस समय दिल्ली में एक महोत्सव हुआ था, परंतु हिन्दी की पट्टावली में पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समय सं० १३१० दिया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से विचारणीय है ; क्योंकि उसमें १०० वर्ष का अन्तर हो रहा है जयपुर से प्रकाशित होने वाली 'महावीर जयन्ती स्मारिका' के पृष्ठ १२७ पर अमेरगाढ़ी के भट्टारकों की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सेवा नामक लेख में "सं० १३१६ सालि दिल्ली में भट्टारक प्रभाचंद्र जी रावो चेतन ग्यु' वाद कियो तब जीत्या । तब हुरमां पातिस्याह परोजशाही ने कही जु हम वम अतीत का दरसन करें तब खाया खावेंगे । तब पातिस्याह अरज करि अर गूजर चांदों पिता पापड़ीवाल नखै अरज कराई तब कपड़ा १३१६ के सालि पहरया भट्टारक प्रभाचंद्र जी कलंकी अखावदी के पाछें १२ पाटि सारंग साह घोसवाल के चरवादार परो ज्यों सिकरा का बैठिया कार पारि बंटो २७ लाख घोड़ा को धर्या हुवा ।" (गुटका नं० १५२ पाटीदी मन्दिर जयपुर)

इसी संबंध के कुछ पद्य भी गुटका नं० ६२ से उद्धृत किए हैं । पर इस घटना क्रम पर विचार करने से यह घटना

२ रावत् १४१६ वर्षे चैत्र सुदि पंचम्यां सोमवासरे सकलराज्य शिरोमुकुटमाणिक्यमरीचिपिंजरीकृतचरण कमल पादपिंडस्थ श्री बेरोजसाहेः सकल साम्राज्य धुरी विभाणस्य समये श्री दिल्ली श्री कुंदकुंदाचार्यान्वये सरस्वतीभक्त्ये बलात्कारगच्छे भट्टारक श्री रत्नकीर्तिदेव पट्टोदयाद्रि तरुण तरुणित्वमुर्वीकुर्वाणः भट्टारक श्री प्रभाचंद्रदेव शिष्याणां ब्रह्म नाथूराम । इत्याराधना पंजिकायां ग्रंथधारमपठनार्थं लिखापितम् । (व्यावर भवन प्रति)

अलाउद्दीन और राघोचेलन के समय घटित हुई है। फीरोज साह तुगलक के समय नहीं। लेखक ने उसे भूल से फीरोज साह तुगलक के साथ जोड़ दिया है। क्योंकि राघोचेलन अलाउद्दीन के समय हुए हैं। वे मंत्र तंत्रवादि थे और नास्तिक भी, उन्हें धर्म पर कोई आस्था नहीं थी, अजाउद्दीन भी उन्हीं के विचारों से सहमत था। उस समय माहबसेन से इनका वाद हुआ था ऐसा उल्लेख मिलता है भ० प्रभाचंद्र ने तो मुहम्मद शाह जिसे महमूदसाह भी कहते हैं उसके राज्य में वाद की घटना घटित हुई थी और प्रभाचंद्र ने उस पर विजय पाई थी। धनपाल के बाहुबली चरित में भी उक्त घटना का उल्लेख निम्न वाक्यों में 'महमूद साहि मणुरंजियउ, विजहि वाह्य मणु भंजियउ' दिया है प्रभाचंद्र अलाउद्दीन खिलजी के समय नहीं हुए। अतएव प्रभाचंद्र का रत्नकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समय सं० १४०८ के बाद होना चाहिए। भ० प्रभाचंद्र फीरोज साह तुगलक के आग्रह से अन्तःपुर में धर्मोपदेशार्थ पधारे थे। तब शरीर को वस्त्र से अच्छादित करना पड़ा था। बाद में उसे अलग कर देने पर भट्टारकों में वस्त्र की परम्परा प्रचलित हो गई थी। इस घटना क्रम पर विचार करने से पट्टावली का समय भी संदिग्ध प्रतीत होता है। इस पर अगर कभी विशेष विचार किया जायगा। अनेक टाका प्रथम भाइन्हीं प्रभाचंद्र की रचना है।

पद्मनन्दि—यह भ० प्रभाचंद्र के पट्टर थे, पहले मंडलाचार्य थे। बाद में गुजरात में भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित हुए थे। यह उस समय के योग्य विद्वान और प्रभावशाली थे। इनके अनेक शिष्य थे। इनसे मूलमंथ बलात्कार गण की तीन परम्परा प्रचलित हुई हैं। यह मंत्र तंत्र में निपुण और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इन की बनाई हुई अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं। पद्मनन्दि श्रावकाचार (श्रावकाचार सारोद्धार) वर्द्धमान चरित, कथाएँ वीतरागस्तोत्र, शान्ति जिनस्तोत्र, रावण पार्श्वनाथस्तोत्र, जीरावली पार्श्वनाथ स्तवन और भावना पद्धति। इनके और इनके शिष्यों के द्वारा अनेक प्रतिष्ठित मूर्तियां यत्र-तत्र मिलती हैं। गिरनार पर्वत पर इन्होंने सरस्वति की वाचावलि किया था, और आद्य दिग्म्बर कहलाया था। इनकी शिष्य परम्परा में भ० सकलकीर्ति ने खूब साहित्यिक कार्य किया।

इनके तीन प्रधान शिष्यों से तीन शाखाएँ प्रसृत हुई जयपुर शाखा, ईडर शाखा और सूरत शाखा।

शुभकीर्ति—पद्मनन्दि के पट्टधर थे। वे भी अपने समय के अच्छे विद्वान थे। इनका समय १५ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। आपकी क्या कुछ रचनाएँ हैं। यह अन्वेषण से सम्बन्ध रखता है, अभी हमें इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं हो सकी।

जिनचंद्र—यह भट्टारक शुभचंद्र के पट्टधर थे। इनके पट्ट पर प्रतिष्ठित होने का समय सं० १५०७ पाया जाता है। पट्टावली के अनुसार यह उस पर १२ वर्ष तक अवस्थित रहे। यह प्राकृत संस्कृत के विद्वान थे और अत्यंत प्रभावशाली थे। आपके द्वारा प्रतिष्ठित सं० १५४८ की तीर्थंकर मूर्तियां भारतीय जैन मन्दिरों में पाई जाती हैं। ऐसा कोई भी प्रांत नहीं, जहाँ उनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियां न हों। इनके द्वारा प्रतिष्ठित एक मूर्ति सं० १५०७ की भी उपलब्ध है। आपके अनेक विद्वान् शिष्य थे। उनमें पंडित मेधावी और कवि दामोदर आदि हैं। इनकी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। जिनचंद्र की इस समय दो कृतियां उपलब्ध हैं, मिहान्तसारोद्धार संग्रह, चतुर्विंशति जिनस्तवन। इनके समय में जैन संस्कृति का अच्छा कार्य हुआ है, इनके शिष्यों ने भी उसे प्रवर्धित किया। उक्त शिष्यों में मेधावी प्रधान थे और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। उनकी सं० १५१८ से १५४१ तक की अनेक पद्यात्मक प्रशस्तियां देखी जाती हैं, जो हिसार में लिखी गई हैं। सं० १५४१ में धर्मसंग्रह श्रावकाचार की रचना भी इन्होंने नागौर में पूर्ण की थी इस तरह जिनचंद्र भट्टारक की महत्ता का सहज ही आभास हो जाता है।

प्रभाचंद्र—प्रस्तुत प्रभाचंद्र अपने समय के एक बहुश्रुत विद्वान थे। अपनी तर्कणा से इन्होंने वादियों को विजित किया था। इनका पट्टाभिषेक सं० १५७१ में फाल्गुण कृष्ण २ को सम्मेल शिखर पर सुवर्ण कलशों से हुआ था। इन्होंने सं० १५७३ में फा० कृ० ३ दशलक्षायत्र की स्थापना की थी। इनके मंडलाचार्य धर्मचंद्र का भी अनेक प्रशस्तियों में उल्लेख मिलता है। एक पट्टावली में भी धर्मचंद्र का नामोल्लेख हुआ है। उसके बाद चंद्रकीर्ति का।

चंद्रकीर्ति—यह भ० प्रभाचंद्र के पट्टधर थे। इनका पट्टाभिषेक भी सम्भेदशिखर पर किया गया था। इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियां राजस्थान में मिलती हैं। पट्टावली में पट्ट पर आसीन होने का समय सं० १६२२ वैशाख सुदी २ दिया हुआ है।

देवेन्द्रकीर्ति—यह भ० चंद्रकीर्ति के पट्टधर थे। इनके पट्ट पर बैठने का समय सं० १६२२ फाल्गुन वदी १५ दिया है। यह चाटसू में पट्टस्थ हुए थे।

नरेन्द्रकीर्ति—यह भ० देवेन्द्रकीर्ति के पट्टधर थे। देवेन्द्रकीर्ति नामके अनेक विद्वान् हो गए हैं। पट्टावली में नरेन्द्रकीर्ति से पहले ललितकीर्तिका नामोल्लेख और मिलता है। इसमें उसका उल्लेख नहीं है। यह खंडेलवाल थे और गोत्र योगाणा था। यह सांगानेर में पट्टस्थ हुए थे। आमेर के संवत् १७१६ के शिलालेख में इन्हें मूलसंघ बलात्कार-गण का भट्टारक सूचित किया है। इन्हीं का आम्नाय में जयसिंह राजा के महामंत्री मोहनदास ने अंबावती में विमल नाथ चैत्यालय की प्रतिष्ठा नरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से कराई थी। प्रस्तुत पट्टावली इन्हीं के द्वारा संकलित की गई है।

श्रीमानशेषनरनायकवान्दितांघ्रिः ।

श्रीगुप्तिगुप्त इतिविश्रुतनामधेयः ॥

यो भद्रबाहुमुनिपुङ्गवपादपद्म,

सूर्यः स वो दिशतु निर्मल संघवृद्धिम् ॥१

श्रीमूलसंघेऽजनिनन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः ।

तत्रात्रभौ पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्धः ॥२

पट्टे तदाये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रःस्समभृदतन्द्रः ।

ततोऽभवत्पञ्चमुनामधामा, श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ॥३

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रप्रोवो महामतिः ।

एलाचार्यो गृच्छपिच्छः पद्मनन्दीति सन्नुतः ॥४

तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वात् प्रकटीकृतसन्मतः ।

उमास्वातिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान् ॥५

लोहाचार्यस्ततो जातो जातरूपधरो ऽमरैः ।

सेवनीयः समस्तार्थविबोधनविशारदः ॥६

ततः पट्टद्वयी जाता प्राच्युर्दाच्युपलक्षणा ।

तेषां यतीश्वराणां म्युर्नामानामानि तत्त्वतः ॥७

यशःकीर्तियशोनन्दी देवनन्दी महामतिः ।

पूज्यपादापराख्येयो गुणनन्दी गुणाकरः ॥८

वज्रनन्दी वज्रवृत्तिमार्किकाणां महेश्वरः ।

कुमारनन्दी लोकेन्दुः प्रभाचन्द्रो वचोनिधिः ॥९

नेमिचन्द्रो भानुनन्दी मिहनन्दी जटाधरः ।

वसुनन्दी वीरनन्दी रत्ननन्दी रतीशमित् ॥१०

माणिक्यनन्दी मेघेन्दुः शान्तिकीर्तिर्महायशः ।

मेरुकीर्तिर्महाकीर्तिविष्णुनन्दी विदांवरः ॥११

श्रीभूषणः शीलचन्द्रः श्रीनन्दी देशभूषणः ।

अनन्तकीर्तिर्महादिनन्दी नन्दितशासनः ॥१२

विद्यानन्दी रामचन्द्रो रामकीर्तिरनिघवाक् ।

अभयेन्दुर्नराचन्द्रो नागचन्द्रः स्थिरव्रतः ॥१३

नयनन्दी हरिश्चन्द्रो महीचन्द्रो मलोद्भूतः ।

माघेन्दुर्लक्ष्मीचन्द्रो गुणकीर्तिगुणाश्रयः ॥१४

गणचन्द्रो वामेन्दुलोकचन्द्रः मुनस्त्ववित् ।

त्रैविद्यः श्रुतकीर्त्याख्यो वैयाकरणभास्करः ॥१५

भावचन्द्रो महाचन्द्रो माघचन्द्रः क्रियागणी ।

ब्रह्मनन्दी शिवनन्दी विश्वचन्द्रस्तपोधनः ॥१६

मैदान्तिको हरिनन्दी भावनन्दी मुनीश्वरः ।

सुरकीर्तिः विद्याचन्द्रः सूरचन्द्रः श्रियानिधिः ॥१७

माघनन्दी ज्ञाननन्दी गङ्गकीर्ति महातपाः ।

विहकीर्ति हेमकीर्तिश्चारुनन्दी मनोज्ञधीः ॥१८

नेमिनन्दी नाभिकीर्तिः नरेन्द्रादि यशः परम ।

श्रीचन्द्रः पद्मकीर्तिश्च वर्धमान मुनीश्वरः ॥१९

अकलंक चन्द्रगुरु-ललितकीर्तिरुत्तमः ।

त्रैविद्यः केशवाचन्द्रश्चारुकीर्तिमुधर्मणः ॥२०

मैदान्तिकोऽभयकीर्ति व्रनवामी महातपाः ।

वसन्तकीर्ति व्याघ्रादि सेवितः शीलसागरः ॥२१

तस्य श्रीवनवासिनस्त्रिभुवनप्रख्यातकीर्तिरभूत्—

चिद्ध्योनेकगुणालयः शम-यमध्यानापगा सागरः ।

वादीन्दुः परवादिवारणगणप्रागलभ्यविद्रावणे ।

सिंहः श्रीमति मंडपेति विदितस्त्रैविद्यविद्यास्पदम् ॥२२

विशालकीर्ति वरवृत्तमूर्तिस्ततो महात्मा शुभकीर्तिदेवः ।
 एकान्तराद्यप्रतपोविधाता धाता च सन्मार्ग विधेर्विधाने ॥२३
 श्रीधर्मचंद्रोऽजनि तस्य पट्टे हस्मीरभूपालसमर्चनीयः ।
 सौद्धांतिकः संयमसिधुचंद्रः प्रख्यात माहात्म्यकृतावतारः ॥२४
 तपट्टेऽजनि रत्नकीर्तिरनघः स्याद्वादविद्याभुवि—
 नानादेशविवर्तिशिष्यनिवह प्राच्यद्विप्र युग्मो गुरुः ।
 धर्माधर्मकथानुरक्तधिषणः पापप्रभावाधिका,
 बालग्रह्य तपः प्रभावमहितः, कारुण्य पूरणशायः ॥२५
 पट्टे श्री रत्नकीर्तिरनुपमतपसः पूज्यपादीय शास्त्र—
 व्याख्या विख्यातकीर्तिगुणगुणनिलयः सत्क्रियाचारचंचुः ।
 श्रीमानानन्दधामा प्रतिषुषविनुतः मानसंदायवादो,
 जीयादाचंद्रतारं नरपति विदितः श्रीप्रभाचंद्रदेवः ॥२६
 हंसो ज्ञानमरालिका समसमाश्लेषप्रभूताद्भुतो,
 नन्दः क्रीडति मानसेति विशदे यस्या निशं सर्वतः ।
 स्याद्वादामृतमिधुवर्धनविधोः श्रीमत्प्रभेन्दु प्रभो १;
 पट्टे सूरमतल्लिका स जयतात् श्रीपद्मनन्दी मुनिः ॥२७
 महाव्रतिपुरन्दरः प्रशमदग्धरोषांकुरः ।
 स्फुरत्परमपौरुषस्थितिरशेषशास्त्रार्थवित् ।
 यशोभरमनोहरी कृतममस्तविश्वंभरः ।
 परोपकृतितपरो जयति पद्मनन्दीश्वरः २ ॥२८
 स्याद्वादामृतमिधुवर्धनकरः सौम्यैर्गुणैर्वल्लभः,
 षट् तर्कागमजैनशासन महालब्धप्रतिष्ठोत्सवः ।
 पट्टे श्री मुनिपद्मनन्दि विदुषः कल्याणलक्ष्मीकरः
 सोऽयं श्री शुभचन्द्रदेवमुनिपो भव्यैर्जनैर्वदितः ॥२९
 पट्टे श्री शुभचन्द्रदेव गणिनः श्री पद्मनन्दीश्वरः ।
 तर्कव्याकरणदिग्रन्थकुशलो विख्यातकीर्तिर्गणी ।
 श्रीमान् श्रीजिनचन्द्रसूरिरभवद्रजत्रयालंकृतो,

हेयादेयविचारमार्गचतुरश्चारित्रचूडामणिः ॥३०
 प्रकटितजिनमार्गो ध्वस्तमोहांधकारो,
 जिननयपरवादी सप्तभंगेद्वबोधः ।
 विधुतविषयसंगः श्रीकृताध्यप्रसंगो ।
 जयति सततधामा श्रीजिनेन्दुर्यतीन्द्रः ॥३१
 तत्पट्टोदयभूधरेऽजनिमुनिः श्रीमत्प्रभेन्दुर्वशी ।
 हेयादेयविचारण कचतुरो देवागमालंकृतः ।
 भव्यांभोजदिवाकरादिविषये तर्कचंचुस्वचो,
 जैनेन्द्रादिकलक्षणप्रणयने दत्तोऽनुयोगेषु च ॥३२
 त्यक्त्वा सांसारिकी भूतिं किंपाकफलसन्निभाम् ।
 चिन्तारत्ननिर्भाजिनीं दीप्तां संप्राप तत्त्ववित् ॥३३
 शब्दग्रह्यसरिर्पति स्मृतिबलादुत्तीर्य यो लीलया ।
 षट्कर्तावगमार्ककङ्कशगिरा जिह्वाऽखिलान् वादिनः ।
 प्राच्यां दिग्विजयीभवन्निभविभु जैनीं प्रतिष्ठाकृते ।
 श्री सम्मेदगिरौ सुवर्णकजशैः पट्टाभिषेकः कृतः ॥३४
 श्रीमत्प्रभाचन्द्रगणीन्द्र पट्टे भट्टारकश्रीमुनिचन्द्रकीर्तिः ।
 संस्नापितो योऽवनिनाथवृन्दैः सम्मेदनाम्नीहगिरीन्द्रमूर्ध्नि ॥३५
 जीयाच्छ्रीविधुकीर्तिपट्टसुधरः प्रोद्यद्महः सन्मणिः
 सर्वजेष्वंशशुद्धजलधौ चन्द्रश्चिरं चित्रमान् (?)
 तर्कव्याकरणादिनीतिनिपुणो देवेन्द्रकीर्तिः कृत्ती,
 सद्भट्टारक एष सर्वागुणभृद् भूपाललब्धाशकः ॥ ३६
 श्रीचंद्रकीर्तिः पद् संवराधो कंजः कलापी सकलाहरिस्सू
 देवेन्द्रकीर्ति धृतकीर्तिकीर्ति भट्टारको भट्ट विवृत्तवादः ॥३७
 पट्टे श्री दिविजेन्द्रकीर्तिगणिनो निष्कापि कुंभांभुभिः ।
 स्नातः सूरिनरेन्द्रकीर्तिरमितस्त्रीगीतकीर्त्यकितः ।
 स्वस्तिव्याप्तसमस्तशास्त्रकुशलोऽहंद्भक्रिशक्नोऽनिशं,
 जीव्याद् ब्रह्मयुगं जगद्गुरुमतांभोराशिशीतांशुकः ॥३८
 क्षोणीमण्डलमण्डनाऽमलगुणालङ्कारहीरस्य च ।
 चारित्रादियशोहिमांशुकिंशोस्तस्य क्षमा शोभने
 शश्वत् सौगतशीर्षात्रादिदमनं विद्याविनोदं दधत् ।
 जीयात्सूरिनरेन्द्रकीर्तिरिह सो नंदादिसंघेऽनघः ॥३९

१ 'निधौ' इति पाठः पंचायती मंदिर दिल्ली प्रती

२ 'तर' इति पाठः उक्त पंचायती मंदिर प्रती

२८ वें पृष्ठ के बाद शुभचन्द्र पट्टावली में दूसरी
 गुरु-परम्परा का उल्लेख है, २८ पृष्ठों तक समानता है ।

शान्ति और सौम्यता का तीर्थ-कुण्डलपुर

(श्री नीरज जैन)

उत्तर भारत के जैन तीर्थ क्षेत्रों की कतिपय विशाल और मनोज्ञ मूर्तियों का उल्लेख करते समय कुण्डलपुर के बड़े बाबा का नाम प्रमुख रूप से आता है। सचमुच इतनी अद्भुत प्रतिमा है यह कि जिसके दर्शन मात्र से—
“मन शान्त भयो मिट सकल द्वन्द्व चाख्यो स्वात्मरस दुख निकन्द ।” रूपमाधना की सार्थकता अनुभूत होती है यह क्षेत्र मध्य प्रदेश के दमोह जिले में (बीना-कटनी रेलपथ पर) दमोह स्टेशन से बीस मील दूर है दमोह से मोटर बसें चलती हैं और क्षेत्र पर सुन्दर तालाब एवं अन्य धर्मशालाओं की व्यवस्था होने से यात्रियों की यात्रा सुविधा पूर्ण एवं सुखद होती है।

इस क्षेत्र की प्राकृतिक सुषमा भी नयनाकर्षक है और वातावरण को तीर्थानुकूल बनाने में सहायक होता है। गोल-कुण्डलाकार पर्वत माला के बीचों बीच निर्मल जल से भरा “वर्धमान सागर” नामका तरंगित सरोवर है। संभवतः पर्वत की कुण्डलाकार गोलाई ने ही क्षेत्र को कुण्डलपुर नाम दिया है। वर्तमान में यहाँ कुल अष्टावन जिनालय हैं जिनका निर्माण पिछली दो शताब्दियों के भीतर हुआ है परन्तु उनके भीतर पुरातत्त्व की महत्त्व पूर्ण प्राचीन सामग्री उपलब्ध है।

वर्तमान क्षेत्र से जुगा हुआ रुक्मिणी मठ नाम का एक प्राचीन मंदिर है जो अब प्रायः गिरा तथा ध्वस्त प्राय हो चुका है पर्वत के पीछे लगभग दस मील दूर बरंट नामक ग्राम है जहाँ तालाब पर एवं यत्र-तत्र-सर्वत्र प्राचीनता के चिह्न पाये जाते हैं तथा विश्वास किया जाता है कि यही प्राचीन प्रतिमण्ड तथा अन्य ध्वंसावशेष उपलब्ध हैं वे प्रायः सभी इन्हीं दो स्थानों से लाकर यहाँ लगाए गए हैं यहाँ तक कि बड़े बाबा की विशाल प्रतिमा को स्वप्न द्वारा खोजकर एक वयस्क द्वारा लाये जाने की जो किंवदन्ती इस स्थान के सम्बंध में प्रचलित है, उससे भी इसी बरंट ग्राम की सम्बद्धता सिद्ध होती है।

बड़े बाबा के नाम से ख्यात यही अतिशय युक्त विशाल जिन बिम्ब इस क्षेत्र की मूल-प्रतिमा है। यह मूर्ति पर्वत

पर बीचों बीच बने एक विशाल जिन मंदिर में अवस्थित दो हाथ ऊँचे सिंहासन पर विराजमान आठ हाथ ऊँची पद्मासनस्थ भव्य प्रतिमा है। मूर्ति का निर्माण लाल बलुआ पत्थर की स्वतंत्र शिला पर हुआ है तथा उसका सिंहासन दो पत्थरों को जोड़कर अलग से बनाया गया है। इस मूर्ति पर मूर्तिलेख अथवा चिन्ह का अभाव होने से इसका निर्माण आज भी विवादस्पद बना हुआ है कि यह मूर्ति किस तीर्थंकर की है ?

सर्व प्रथम इस मूर्ति को प्रकाश में लाकर तथा इस मंदिर आदिका निर्माता कराकर उसे महत्त्व प्रदान करने वाले भक्तों द्वारा विक्रमा सं० १७५७ (सन् १७०० ईस्वी) में इस स्थान पर एक शिलालेख लगाया गया जिसमें इसे भगवान महावीर की मूर्ति कहा गया है। संभवतः सिंहासन के दो सिंहों को देखकर उनकी इस मान्यता को बल मिला होगा इस क्षेत्र के अनन्य प्रचारक श्री रूपचंद बजाज, तिलोयपरगणती के आधार से इस मूर्ति को अंतिम केवली श्रीधरम्बामी की मूर्ति मानकर इस क्षेत्र को भिन्न क्षेत्र मानते हैं। एक अन्य लेखक श्री रूपचन्द “रतन” ने अपने लेख (नव भारत जबलपुर दिनांक ७-७-६३) में उसी महावीर की मान्यता का पोषण किया है। मैने स्वयं आज से पंद्रह वर्ष पूर्व उसे प्रचलित मान्यता के अनुसार सन्मति की छवि मान कर ही लिखा था—

साधारण पत्थर नहीं,

यहाँ अशररा की एक शरण है यह,

इन्द्रादि बंध, देवाधिदेव,

सन्मति का समवशरण, है यह।

सन् १९४५ में अखिल भारतवर्षीय विद्वत्परिषद् के कटनी अधिवेशन में इस मतान्तर के निर्णय हेतु एक उपसमिति गठित की गई थी। इस समिति के विद्वान सदस्य तथा समाज के उद्भट विद्वान आदरणीय पं० वरबारी लाल कोठिया ने इस प्रश्न पर अपना शास्त्र सम्मत मत देते हुए अनेकान्त वर्ष ८ के पृष्ठ ११५ पर एक लेख प्रकाशित कराकर यह सिद्ध किया था कि अन्तिम केवली श्रीधर

स्वामी का निर्वाण स्थल यह क्षेत्र नहीं है। इस प्रकार एक मत का समाधान हो जाता है, परन्तु प्रतिमा के सही परिचय की ओर कोई प्रयास विद्वानों द्वारा नहीं किया गया सिंहासन के सिद्ध, पार्श्व स्थित पारमनाथ की खड्गामन मूर्तियां एवं शिलालेख में महावीर के नाम से इस मूर्ति का उल्लेख ये सब आधार बड़े बाबा को सन्मति की प्रतिमा मानने वालों को इतने निश्चित लगे कि इस प्रकार के शोध की आवश्यकता ही नहीं समझी गई।

अपनी पिछली कुण्डल पुर यात्रा में मैंने जिज्ञासा वश शोध की दृष्टि से इस अतिशय मनोज्ञ मूर्ति का निरीक्षण किया तब कुछ नवीन तथ्य सामने आए हैं, जिनके आधार पर यह मूर्ति निर्विवाद ही प्रथम तीर्थंकर, युगादि देव, भगवान आदि नाथ की प्रतिमा निर्धारित होती है। इस सम्बन्ध में मेरे आधार इस प्रकार हैं—

३. प्रतिमा केवल चौबीस तीर्थंकरों की ही बनाए जानेकी परम्परा रही है। भगवान आदिनाथ के तीर्थ में, उनसे भी पूर्व, कठोर तपश्चरण करके बाहुबली स्वामी ने मुक्ति लाभ लिया था, इस कारण उनकी मूर्ति बनाने की परम्परा भी चली परन्तु यह एक अपवाद रहा। इन पश्चिम के अतिरिक्त किम्बा भी मोक्षगामिनी की मूर्ति बनने की परम्परा या विधान का कहीं कोई उल्लेख या प्रमाण प्राप्त नहीं होता इस प्रकार आधार स्वामी का कल्पना निराधार सिद्ध होती है। दूसरे ऋद्धि, सिद्धि और पण्डित की उत्कृष्टता के अनुपात से भी मूलनायक की स्थिति में आधारस्वामी को विराजमान करके पार्श्व में पारमनाथ की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित कराना संगत नहीं कहा जा सकता।

४ बड़े बाबा के आसन के चिन्ह सिंहासन के प्रतीक है, वे मूर्ति के लांछन नहीं हैं, इसका प्रमाण तो उमा कृत में विराजमान अन्य तीर्थंकरों की चिन्ह युक्त मूर्तियों में ऐसे ही सिंहासनों का अस्तित्व है, अतः इन आधार पर इसे सन्मति की मूर्ति मानना भी साकार मान्यता नहीं कही जा सकती।

३. वर्धमान की प्रतिमा के परिकर में उनके शासन देवता गजारूढ़ मातङ्ग यक्ष और शासन देवी सिद्धायिका का अस्तित्व अवश्यंभावी है। पं० प्रवर आशाधरजी के प्रतिष्ठा सारोद्धार के अनुसार मातङ्ग का स्वरूप इस प्रकार है—

मुद्गप्रभो मूर्धनि धर्मचक्रम्,
बिभ्रत्फलम् वाम करेय यच्छृणु ।
वरं करिस्थो हरिकेतु भक्तो,
मातङ्ग यक्षो गतु तुष्टिमिष्टया ॥ १५२

इसी ग्रंथ में देवी सिद्धाविनी का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

सिद्धायिकां सप्त करोद्धिताङ्ग,
जिनाश्रयां पुस्तक दान हस्तम् ।
श्रितां सुभद्रासनमत्र यजे,
हेमच्युतिं सिंहगतिं यजेहम् ॥ १७८ ॥

चूँकि इस वर्णन से युक्त शासन यक्ष और यक्षी का अंकन इस प्रतिमा के परिकर में नहीं है इसलिये भी यह मूर्ति भगवान महावीर की नहीं मानी जा सकती। श्री रूपचंद 'रतन' ने अपने उक्त लेख में एक और आधार इस प्रकार लिया है।

‘मंदिर के शीर्ष मुकुट भाल पर अवस्थित पाषाण कृत सिंह अंकित है जो दर्शकों को दूर से ही सूचित करता है कि यह जिनालय श्रावद्धमान स्वामी का है’ इस सम्बन्ध में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि मंदिर के शीर्ष भाग पर शुक्र नासा बिम्ब की स्थापना नागर और नाग वेपर शैली के मन्दिरों की विशिष्टता रही है तथा उनमें सर्वत्र—न केवल जनों में—बन शैवों और वैष्णवों में भी केवल सिंह की मूर्ति स्थापित करने की प्रणाली रही है। शुक्र नासा बिम्ब से मन्दिर के देवता का कोई संकेत नहीं मिलता। इसी प्राणाली के अंतर्गत इस मन्दिर के निर्माताओं ने वह सिंह यहाँ स्थापित किया होगा। मूर्ति का चिन्ह उसके आसन में होता है। मन्दिर के शीर्ष पर उसके पाये जाने का कोई प्रमाण कहीं प्राप्त नहीं हुआ।

इसी लेख में मातङ्ग यक्ष को बन्दर मुखाकृति लिखा गया है पर ऐसा कोई शास्त्रोक्त प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया। आशुन के इस यक्ष को देख कर स्पष्ट ही जाना जा सकता है कि प्रस्तुत अंकन वृषभ मुखाकृति गोमुख यक्ष का है मर्कट मुखाकृति नहीं है।

४. इस प्रतिमा के कांधे पर जटाओं का स्पष्ट अंकन है। भगवान आदिनाथ के दीर्घ कालीन, दुर्द्धर तपश्चरण के कारण उनकी प्रतिमा में जटाएं बनाने की परम्परा मध्य

काल तक प्रचलित रही है। जटाओं के अंकन के इस रहस्य का उल्लेख आदिपुराण में इस प्रकार वर्णित है—

चिरं तपस्यतो यस्प जटा मूर्ध्नि बभूवतराम् ।

ध्यानाग्नि दग्ध कर्मन्ध निर्मद धूम शिखा इव ॥

आदिपुराण पर्व १. श्लोक ६.

बड़े बाबा के नाम से प्रख्यात इस प्रतिमा में जटाओं का अस्तित्व हमें ज्ञात रहा हो चाहे नहीं; परन्तु लोक रार्ति की परम्परा का पहरा, आर्माण गीतकार बहुत प्राचीन काल से इस तथ्य से अवगत रहा है क्षेत्र पर छोटे बालकों का मुन्डन संस्कार कराने की प्रथा है और उम्र अवसर पर यह गीत न जाने कब से कुण्डल पूर में गाया जाता रहा है—

कुण्डलपुर बाबा जटाधारी,

मोड़ा की चुटइया मुड़ा डारी ॥

इसके अतिरिक्त स्वयं “बड़े बाबा” “महादेव” ‘युगादि देव’ आदि नाम भी आदिनाथ के लिए ही प्रयुक्त होते हैं।

५. मेरी इस धारणा का अंतिम और महत्वपूर्ण आधार इस मूर्ति के आसन के पार्श्व में आदिनाथ के यक्ष गोमुख और यक्षी चक्रेश्वरी का सहज, सायुध अंकन है। पंडित प्रवर आशाधर जी के अनुसार गोमुख यक्ष का स्वरूप

सव्येतरौ ध्वंकरदोप्र परश्वधाक्ष सूत्रं,

तथाधरकरांकफलेष्ट दानम् ।

प्राग्गोमुखं, वृष मुखं वृषगं वृषांकं,

भक्तं यजे कनकभं वृषचक्र शीर्षम् ॥१२६

तथा देवी चक्रेश्वरी का स्वरूप—

भर्माभाद्य करद्वयाल कुलिशा, चक्रांक हस्ताष्टका,
सव्या सव्य शयोल्लसत्फलवरा, यन्मूर्तिरास्तेम्बुजे ।
ताक्ष्ये वा सह चक्र युग्म रुचक त्यागेश्चतुभिः करैः,
पंचेषास शतोन्नत प्रभुनतां, चक्रेश्वरी तां यजे ॥१५६

वर्णन किया गया है और इसी वर्णन के अनुरूप इस मूर्ति के आसन में सींग सहित गोमुख यक्ष तथा नर यक्ष पर आसीन चक्र युक्त देवी चक्रेश्वरी की एक हाथ अवगाहना की मूर्तियां अंकित हैं।

गोमुख के दोनों सींग और अपेक्षाकृत लम्बी आँखें तथा कान एवं मुकुट पर धर्मचक्र दृष्टव्य हैं। गले में माला तथा यज्ञोपवीत और दाहिने हाथ में मातु लिंग एवं बाएं में परम अंकित हैं। इसी प्रकार ललितामनस्य चक्रेश्वरी की चार भुजाओं में से ऊपर की दो भुजाओं में चक्र तथा नीचे शंख एवं वरद मुद्रा हैं। शरीर पर वक्त्रहार, मणि माला, मोहन माला, कंगन, कुण्डल, मुकुट आदि अलंकार यथा स्थान शोभित हैं।

इन्हीं आधारों के बल पर मैं इस अद्भुत जिन बिम्ब को भगवान् आदिनाथ के नाम से स्मरण कर रहा हूँ। पार्श्वस्थ चामरधारी सौधर्म एवं ऐशान इन्द्रों एवं पुष्पमाल्य सहित उड़ते हुए विद्याधरों की अंकन शैली एवं प्रतिमा की कला के आधार पर इसका निर्माण काल भी मेरे अनुमान से उत्तर गुप्त और पूर्व मध्य काल (छठवीं से आठवीं शताब्दि) के बीच का ज्ञात होता है। कोई पुराविद् विद्वान यदि इस पर शोध पूर्वक सप्रमाण कोई मत व्यक्त करेंगे तो मैं उनका आभार मानूँगा।

★ ★ ★

सम्बोधक-पद

किशन चन्द

यो संसार निहार जिया परलोक सुधारो ॥ टेक ॥

तू पोषत यह नित छोड़ै, नाना जतन विचारो ।

जो पुद्गल कूँ अपणो जाणै, सो तन नाहि तिहारो ॥ जिया० ॥ १ ॥

मात तात सुत भात सुहृद जन, सो सब जाणो न्यारो ।

मरती विरियां संग न चालै, पाप पुन्य सग सारो ॥ जिया० ॥ २ ॥

जो चेत सतसंगति पाई तजि मिथ्यामत खारो ।

‘चद किशन’ बुध इम भाषत है आतम रूप निहारो ॥ जिया० ॥ ३ ॥



आकस्मिक

वियोग

बाबू जयभगवान जी एडवोकेट पानीपत, एक उच्चकोटि के तुलनात्मक अध्येता थे। सरल स्वभावी मिष्टभाषी और उदार विद्वान् थे। उनका क्षेत्र सार्वजनिक था, वे इतिहास और साहित्य के मर्मज्ञ थे। यद्यपि वकासत का कार्य करते हुए उन्हें शोध-खोज के कार्यों के लिये बहुत कम अवकाश मिलपाता था, परन्तु साहित्यिक प्रति उनकी प्रबल अन्तर्भावना उन्हें बराबर प्रेरित करती रहती थी। अतएव समय निकाल कर वे अध्ययन तथा मनन करते हुए अनेक तथ्यों का उद्-भवन करसकें थे। उनकी शोध-खोज और तुलनात्मक साहित्यिक अध्ययन की विंशा भगवान महावीर से पूर्ववर्ती थी, उनके अनेक महत्वपूर्ण लेख अनेकान्त में हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं। और 'वाङ्मय आफ अहिंसा' में अंग्रेजी में वे कला और पुरातत्व का अन्वेषण तथा अध्ययन करते रहते थे। और जब उन्हें किसी वस्तु का कुछ संकेत मिलता था तो वे अन्य लेखकों की बातों को जानने के लिए प्रमाण ढूँढ़ते थे और उस पर अपने अनुभव के साथ निर्णय कर स्वीकृत करते थे। वे किसी की कही हुई किसी वस्तु पर से अपना अभिमत नहीं बदलते थे; किन्तु उसका यथार्थ विश्लेषण करते हुए तथा उस पर विशेष प्रकाश डाल कर आगम, युक्ति और अनुभव के आधार पर मान्य करते थे। वेद और उपनिषदादि ग्रन्थों पर से उन्होंने भगवान ऋषभ-देव की संस्कृति का अच्छा अध्ययन किया था।

वीर-सेवा-मन्दिर और परिषद् के कार्यों से तो अनुराग रखते ही थे किन्तु अनेक सामाजिक कार्यों में भी अपनी शक्ति लगाते थे। वीर-सेवा-मन्दिर के वे प्रारम्भ से ही प्रधानमंत्री रहे हैं।

देहली के नये मंदिर जी में भी आपने दशलक्षपर्व में तत्त्वार्थसूत्र पर अच्छा प्रवचन किया था और समाज ने

उनका अभिनन्दन भी किया था। उनके तुलनात्मक निष्कर्ष बड़े महत्त्व के होते थे। वे अत्यन्त उदार और भावुक हृदय थे। और दूसरे की करुण कहानी सुनकर द्रवित हो जाते थे। और उनकी यथाशक्ति सहायता भी करते थे। वे सभी का हित चाहते थे और सभी से मिलते जुलते रहते थे।

आज वे संसार में नहीं हैं। उनका भौतिक शरीर पंच भूतों में मिल गया है; परन्तु उनका यशः काय सदा विद्यमान रहेगा। वीरसेवामंदिर और दूसरी संस्थाएं जो उनकी सेवा का क्षेत्र बनी हुई थीं वे उनकी स्मृति की रेखाएं बनाये रखेंगी, उनके विचार सुधारवादी और दृढ़ थे; पर वे अपने विचारों से समाज में कभी कोई संघर्ष पैदा करना नहीं चाहते थे। वे जो कुछ भी कहते थे उसके पुष्ट पोषक प्रमाणों का संकलन और युक्तिबल रखते थे। उनके बहुत से नोट्स पड़े हुए हैं। और कई अपूरे लेख भी। उनका शुक्राव दिन पर दिन अध्यात्म की ओर हो रहा था। वे मृत्यु से पहले जब दिल्ली आये थे तब वे कहते थे कि ऋषभदेव की संस्कृति अध्यात्म से आत-प्रात थी। भारतीय ग्रन्थों में उनकी संस्कृति के जो बीज पाये जाते हैं। उनका सम्बन्ध आदि ब्रह्मादिनाथ से था। क्योंकि वह संसार में सबसे पहले योगी थे।

बाबू जी के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे रोम हुए व्यक्ति को भी हंसा देने थे। उनकी भद्रता विनय-शीलता को देखकर आश्चर्य होता है।

लेख है कि बाबू जयभगवान जी आज हमारे मध्य नहीं रहें। परन्तु उनके गुणों की स्मृति उनकी बार बार याद दिलाती है। हमारी हार्दिक भावना है कि बाबू जी परलोक में सुख-शान्ति का अनुभव करें। और कुटुम्बी जनों को धैर्यबलम्बन की क्षमता मिले। —अनेकान्त परिवार

वीर-सेवा-मंदिर के अध्यक्ष का संयुक्त मंत्री (बा० प्रेमचन्दजी) के नाम पत्र

आपके पत्र से बाबू जयभगवानजी के निधन का समाचार जानकर बहुत दुःख हुआ, विश्वास नहीं हो रहा है कि वे चले गये..... ।

वकील साहब जैन समाज के गौरव थे और वीर-सेवा मन्दिरके तो वे प्रारंभ से ही मंत्री रहे। साहित्यिक अनुसंधान में वे बहुत दक्ष थे। वीर सेवा मन्दिर में उनके स्थान की पूर्ति होना कठिन है। मुझे तो उनके वियोग से बहुत ही व्यथा हुई है। मेरा सदा वे बहुत आदर करते थे। उनकी आत्मीयता और स्नेह कभी भुलाये नहीं जा सकते। मैं तो उनसे निवेदन करने वाला था कि अब आप वकालत से retier होकर वीर सेवा मन्दिर में रहें और अपनी सेवा समाज को प्रदान करें। किन्तु मेरे विचार कुछ भी काम न आये। बहुत दुःख है।

—छोटेला लज्जन

डा० प्रेमसागर का अध्यक्ष के नाम पत्र

मैंने बाबू जयभगवानजी को एक बार बडौत और तीन बार दिल्ली में देखा था। अभी अनेकान्त के सम्बन्ध में बात चीत होनी थी, न हो सकी। दैव-दुर्विपाक से ही ऐसा हुआ।

मैंने बाबू जयभगवान जी को एक मही इन्सान के रूप में देखा। उन्होंने जैनधर्म की अहिंसा को समझा ही नहीं अपने जीवन में उतारा भी था। वे विद्वान थे, प्रतिभाशाली थे और अत्यधिक उदार थे।

वीर सेवा मंदिर के विकास में उनके योगदान से सभी परिचित हैं। सतत अस्वस्थ रहने के कारण अनेक कार्य ऐसे थे जिन्हें दिल होते हुए भी वे न कर सके, इस विषय में मुझ से दो बार चर्चा की। उनकी गहरी वेदना और विवशता में समझाता था उनके आकस्मिक निधन से वीर सेवा मंदिर को जो क्षति पहुँची है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। सन्निकट भविष्य में पूरी हो सकेगी मैं ऐसी आशा नहीं

करता। उनके स्वर्गवास से आपके एक सच्चे सहयोगी का बिछोह हुआ है। आशा है आर सन्तोष धारण करेंगे।

मैं और मेरा परिवार उनकी आत्मा की सद्गति की कामना करते हैं।

प्रेम सागर जैन

दि० जैन कालेज बडौत (मेरठ)

आकांक्षिक निधन

श्री बाबू जयभगवानजी एडवोकेट पानीपत का ५ अप्रैल को आकस्मिक निधन जानकर वित्त को बड़ा आघात पहुँचा। आप उस दिन वीरसेवामन्दिर में आने वाले थे। मिलन के स्थान पर वियोग का दुःसह समाचार पाकर किसे कष्ट नहीं होता। आप एक अछूते अनुसंधानप्रिय योग्य विद्वान थे, सुलेखक थे और साथ ही वक्ता भी थे। समाजके उत्थान—कार्यों में बराबर भाग लेते थे। वीर—सेवामन्दिर—से आप को बड़ा प्रेम था। सन् १९४२ के शुरू में मेरे अनुरोध पर आपने वकालत छोड़कर उसे अपनी सेवाएं अर्पित की थीं। दुर्भाग्य से अपनी कुछ परिस्थितियों के वश वे कुछ महीने बाद फिर से वकालत करने के लिये बाध्य हुए और अन्त को वकालत करने हुए ही उनका निधन हुआ है। सन् १९५१ में मेरे द्वारा वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट की स्थापना हो जाने पर ट्रस्ट ने उन्हें अपना उपमंत्री चुना था, बाद को वे मंत्री चुने गए और सोसाइटी की रजिस्टरी के अवसर पर सोसाइटी के भी मंत्री नियुक्त हुए और अन्त तक उसके मंत्री बने रहे। इस तरह वीर-सेवा-मन्दिर के साथ आपका बहुत वर्षों से गहरा सम्बन्ध रहा है। आपके इस वियोग से जहाँ वीर-सेवा-मन्दिर को भारी क्षति पहुँची है वहाँ समाज की भी काफी हानि हुई है, जिसकी सहज पूर्ति संभव नहीं। हार्दिक भावना है कि सद्गति आत्मा को परलोक में सुख शान्ति की प्राप्ति होवे और कुटुम्बीजनों को धैर्य मिले।

—जुगलकिशोर सुख्तार

स्व० श्री जयभगवानजी जैन एडवोकेट पानीपत की अन्तिम भावना—

(जो अपने स्वर्गारोहण समय में एक दिन पूर्व ३ अप्रैल १९६४ को उनके द्वारा रचित निम्न कविता से अभिव्यक्त होती है ।)

समर्पण

—:ॐ:—

पंच भूत भूतों, को अर्पित । वायु वायु को रज रज अर्पित ॥
अग्नि अग्नि को जल जल अर्पित । भूमि खण्ड हो भूमि समर्पित ॥१॥
निज जन पग्जिन तन पत्नी मुत । स्वार्थ बुद्धि से है मम कल्पित ॥
जरा मृत्यु सं ये आवरणीत । जरा मृत्यु को हों ये अर्पित ॥२॥
इनमें कुछ भी सार 'अह' ना । ये सब पर है पर को अर्पित ॥
अहम् अस्मि मै, ब्रह्म अस्मि मै । अहम् अस्मि को होऊ अर्पित ॥३॥
काम क्रोध मद लोभ अहकृति । पशु हृदयों की वृत्ति कल्पित ॥
मुझे न वाञ्छित अशुचि अधम ये । हो पशुओं को ही ये अर्पित ॥४॥
मुग्ध मुन्दगी मुग्धपति अर्पित । धन वैभव हो धनपति अर्पित ॥
दान दक्षिणा द्विज जन अर्पित । राज साज राजन को अर्पित ॥५॥
जहाँ जहाँ ये तृष्णा तर्पित । वहाँ वहाँ सर्वम्ब समर्पित ॥
शिव सुन्दर प्रिय शान्त 'अह' मै । शिव सुन्दर को हूँ मै अर्पित ॥६॥
मित्र वरुण तू सविता यम तू । सब भुवनो का धाम परम तू ॥
विश्व-मैत्री उत्सव उत्सुक मै । विश्व-मैत्री को हूँ मै अर्पित ॥७॥
परमेष्ठी परमार्थ पुरुष तू । परम परम हो इष्ट मुझे है ॥
विनति यही नैवेद्य यही है । परम परम को हूँ मै अर्पित ॥८॥

प्रेषक—रूपचन्द गागीय जैन पानीपत

साहित्य-समीक्षा

अभिनव प्राकृत व्याकरण

लेखक:—डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, आरा, प्रकाशक, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, सन् १९६३ ई०, पृ० ४३३ मुख्य १५ रु० ।

इसके पूर्व और भी अनेक प्राकृत व्याकरण बन चुके हैं। किन्तु यहाँ 'अभिनव' शब्द कतिपय नवीन विशेषताओं की ओर इशारा करता है। उनमें सबसे पहली विशेषता भाषा वैज्ञानिक दृष्टि का अपनाया जाना है। व्याकरण और उसके शब्दों की ऐतिहासिक व्युत्पत्ति भाषा विज्ञान है। वह व्याकरण का व्याकरण कहलाता है। डा० नेमिचन्द्र ने उसका भी अच्छा अध्ययन किया है। दूसरी विशेषता है सभी प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक विवेचन। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने अनेक प्राकृत-व्याकरण पढ़े हैं, समझे हैं, तभी वे उनकी तुलना सफलता पूर्वक कर सके हैं। उन्होंने अपने इस अध्ययन को आसान और वैज्ञानिक शैली में अभिव्यक्त किया है। यहाँ उन उल्लेखों के दर्शन नहीं होते, जो प्रायः व्याकरण ग्रन्थों में प्राप्त होती हैं।

तीसरी विशेषता है: अन्त में १६ परिशिष्टों का निबद्ध किया जाना। इनमें भाषा और विषय-क्रम से शब्द-सूचिका प्रस्तुत की गई हैं। उनके बिना ग्रन्थ व्यर्थ ही था। यह सब कुछ परिश्रम साध्य तो है ही, लेखक का मंजी हुई दृष्टि से भी अपेक्षित है। ग्रन्थ प्राचीन और नवीन के ताने-बाने से बुना गया है। इसमें ग्यारह अध्याय हैं। 'अन्तिम दो' महत्वपूर्ण हैं। उनमें अन्य प्राकृत भाषाओं और अपभ्रंश का व्याकरण निबद्ध है। ऐतिहासिक विवेचन उसकी अपनी विशेषता है।

ग्रन्थ की बाह्य सज-सज्जा सन्तोषप्रद है, किन्तु शब्दा-नुशासन जैसी नहीं। इमें विश्वास है कि प्राकृत भाषा के जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ पठनीय होगा।

अमर यशोविजय जी

लेखक:—रंजन परमाह, प्रस्तुतना—लेखक:—पं सुखलाल जी संघवी, प्रकाशक: राजविराज प्रकाशन, ३११ रविवार फेड, पना २, सन् १९५६ ई०, पृ० ५६, मुख्य ७५ न. पैं.

श्रीमद् यशोविजय जी महाराज का जन्म गुजरात के कनोडा गांव में आज से ३५० वर्ष पूर्व हुआ था। यह स्थान आज भी महाराणा से पाटण जाने वाली रेलवे-लाइन पर स्थित, दूसरे स्टेशन धीगोज से, पश्चिम में चार मील दूर रूपेण नदी के किनारे पर बसा हुआ है। अब तो उसमें कनौडिया ब्राह्मण ही अधिक रहते हैं, किसी समय बनियां भी बड़ी संख्या में रहते थे।

यशोविजय जी प्रारम्भ से ही प्रतिभाशाली थे। उन्होंने आठ वर्ष की उम्र में दीक्षा ले ली। पूज्य गुरु नयविजय जी के पास शिक्षा-दीक्षा हुई। उच्च अध्ययन के लिए बनारस गये। वहाँ से तीन वर्ष उपरान्त ही लौट कर उन्होंने आगरे में किसी जैन विद्वान के पास कर्कश तर्क ग्रन्थों का पारायण किया। गुजरात में उनका विशिष्ट सम्मान था। उन्होंने ३०० ग्रन्थों का निर्माण किया। वे एक महान् विद्वान थे।

प्रस्तुत पुस्तक में उनके जीवन और कृतित्व का परिचय है। लेखक ने गुरुभक्ति से अनुप्राणित होकर इसका निर्माण किया है। यशोविजय जी अपने युग के अप्रतिम विद्वान थे, यह निर्विवाद है। कतिपय स्थल ऐसे रह गये हैं, जहाँ लेखक न स्पष्ट है, न प्रामाणिक। आगरे में किस विद्वान के पास यशोविजय जी ने तर्क ग्रन्थ पढ़े? आज भी अविदित है। दिगम्बर मान्यताओं का खण्डन करते २ वे कड़वे क्यों हो उठे? समझ में नहीं आया। इसी प्रकार महात्मा आनन्दघन से उनकी मुलाकात का विशद विवेचन नहीं है। यह भी समझ में नहीं आता कि एक ओर तो उन्होंने 'अध्यात्मियां' लोगों का खण्डन किया और दूसरी ओर महात्मा आनन्दघन से प्रभावित होकर 'अष्टपदा' और 'वाकीशी' का निर्माण किया, मेरी दृष्टि में उस समय आनन्दघन से बड़ा कोई 'अध्यात्मियां' नहीं था। सदैव आत्मानुभूति में लीन रहने वाले उस महात्मा से यशोविजय जैसे तर्क प्रथम विद्वान का अन्तस्तल हिल उठा था।

मैं आशा करता हूँ कि श्रीमद् यशोविजय जी पर एक महत्वपूर्ण शोध ग्रन्थ प्रकाशित होगा। उन पर लिखे गये अभिनन्दन ग्रन्थ से भी उत्तम और श्रेष्ठ।

शोक सभा

वीर सेवा मन्दिर भवन २१ दरियागंज में ७॥ बजे रात्रि को बाबू जयभगवान जी एडवोकेट पानीपत के आकस्मिक निधन पर शोक सभा की गई, जिसमें वीर सेवा मन्दिर की सेवाओं के साथ सामाजिक सेवाओं का उल्लेख करते हुए उनके उदार स्वभाव की महती प्रशंसा की गई। और उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की गई। सबने खड़े होकर नो बार नमस्कार मंत्र का जाप्य किया। तथा निम्न प्रस्ताव पारित हुआ।

प्रस्ताव

वीर सेवा मन्दिर के सदस्यों की यह सभा बाबू जयभगवान जी एडवोकेट पानीपत के आकस्मिक निधन पर हार्दिक शोक प्रकट करती है। जयभगवान जी वीर सेवा-मन्दिर के सन् १९४२ से अब तक प्रधान मंत्री थे। वीर

सेवा मन्दिर के अनुसंधान कार्य से उनकी बहुत रुचि थी उनकी सेवाओं का क्षेत्र केवल वीर सेवा मन्दिर तक सीमित नहीं था बल्कि उन्होंने समूचे जैन समाज की खगन एवं निःस्वार्थ भाव से सेवा की थी। वे एक उत्कृष्ट कोटि के विद्वान वक्ता और लेखक भी थे।

उनके निधन से वीर सेवामन्दिर की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना संभव नहीं।

प्रभु से प्रार्थना है कि उनके जीवन के आदर्श और उनकी सेवाएँ जैन समाज तथा वीर सेवामन्दिर को सदा अनुप्राणित करती रहेंगी।

यह सभा दिवंगत आत्मा को परलोक में सुख-शान्ति की हार्दिक कामना करती हुई उनके कुटुम्बी जनों के प्रति अपनी समवेदना प्रकट करती है।

प्रेमचन्द जैन

सं० मंत्री, वीर सेवा मन्दिर

वीर-सेवा-मन्दिर और “अनेकान्त” के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता

१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन ट्रस्ट,

श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता

५००) श्री रामजीवनदास जी सरावगी, कलकत्ता

५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता

५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता

५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता

५००) श्री रतनलाल जी भाभगी, कलकत्ता

२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची

२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता

२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी

२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,

मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता

२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद

२५०) श्री बन्सीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता

२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता

२५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी

२५०) श्री महावीर प्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता

२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता

२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता

१५०) श्री वज्रगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता

१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता

१५०) श्री जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता

१५०) श्री कस्तूरचन्द जी आनदीलाल, कलकत्ता

१५०) श्री कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता

१५०) श्री प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता

१५०) श्री मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता

१५०) श्री प्रतापमलजी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता

१५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता

१५०) श्री शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता

१५०) श्री मुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता

१००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता

१००) श्री बद्रीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना

१०१) श्री मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर

१०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी

१०१) श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २

१०१) श्री लाला शान्तिलाल कागजी,

दरियागंज, दिल्ली।

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

मभी ग्रन्थ पौनः मूल्य में

- (१) युगान्त-जैनशास्त्र-सूत्र—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल्य-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थ में उद्धृत नद्वेरे पद्यों की भी अनुक्रमणिका लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुक्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना में अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा. ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बदा, साहज सजिल्द १५)
- (२) आप्त पगजा—श्री विद्यालन्दाचार्य की स्वोपज मटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद में युक्त, सजिल्द । ८)
- (३) स्वयम्भूतोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुक्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना में सुशोभित । २)
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, मटीक, मानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुक्तार का महत्त्व की प्रस्तावनादि में अलंकृत सुन्दर सजिल्द-सहित । १॥)
- (५) आध्यात्मकमलमार्गद्व—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दीअनुवाद-सहित १॥)
- (६) युक्थनुगासन—तत्त्वज्ञान में परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था । मुक्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि में अलंकृत, सजिल्द । १॥)
- (७) श्रोतुरपाश्वनाथश्रोत्र—आचार्य विद्यालन्दा रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादसहित । १॥)
- (८) शासनचतुर्विंशति—(तत्त्वपरिचय) मुनि मदनक रिकी १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित ॥)
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुक्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना में युक्त, सजिल्द । ३)
- (१०) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका संग्रहाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और ५ परमानन्दशास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना में अलंकृत, सजिल्द । ४)
- (११) अनन्यभावना—आ० पदमनन्दी की महत्त्व की रचना, मुक्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित । १)
- (१२) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्राय)—मुक्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या में युक्त । १)
- (१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतार्थ । १)
- (१४) महावीर का सर्वोदय तार्थ (३), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका (३) । (१६) महावीर पूजा । १)
- (१७) बाहुबली पूजा जुगलकिशोर मुक्तार कृत १)
- (१८) आध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुक्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित १)
- (१९) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपूर्वशके १२२ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका महत्त्वपूर्ण संग्रह ४५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और उनके परिशिष्टों सहित । सम्पादक पं० परमानन्द शास्त्री मूल्य सजिल्द १२)
- (२०) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ५५)
- (२१) कसायपाहुड सूत्र—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चृणिसूत्र लिखे । सम्पादक पं० हारालाल जी विद्वान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साहज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पृष्ठ कागज, और कपड़े की पक्की जिल्द । २०)
- (२२) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजीमें अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० (६)

प्रकाशक—प्रेमचन्द, वीर सेवा मन्दिर के लिए नया हिन्दुस्तान प्रेस, दिल्ली में मुद्रित

द्वै मासिक

जून १९६४

अनेकान्त



अहिंसा और विश्व शांति के अग्रदूत, लोकप्रिय नेता
स्व० प० जवाहरलाल नेहरू

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

श्रद्धाञ्जलि

बुद्धवार, दिनांक २७ मई १९६४ को, दिन के २ बज कर २० मिनट पर हृदय की धमनी फट जाने से, भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू का नई दिल्ली में स्वर्गवास हो गया। वे केवल उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ ही नहीं, अपितु एक महामानव भी थे। कोरी राजनीति विश्व के विनाश पथ पर ले जाती है तो कोरी मानवता एक आदर्श भर है, जिसका मनुष्य जाति की जीवन समस्याओं से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। नेहरू जी के मानवीय पहलू ने समूचे विश्व को छुआ था। उनके निधन का समाचार 'करुण' की तरह व्याप्त हो गया। और कोई देश ऐसा नहीं जो शोक-मन्तप न बना हो उनके दिवंगत होने से भारत के ही नहीं संसार के दिल को एक धक्का लगा है, जिसके सम्भलने में समय लगेगा। विश्व को ऐसा शक्ति-पुत्र शताब्दियों में उपलब्ध हुआ था, और अब शायद फिर शताब्दियाँ ही लगेगीं।

उनकी शव यात्रा में २० लाख मनुष्य शामिल हुए। राजपथ पर जन समुद्र हिलोरे ले उठा। अपने प्यारे नेता को भरे दिल और गीली आँखों से अन्तिम विदा देने वे आये थे। उनके हृदय वेदना संकुल थे किन्तु उन्होंने अडिग धैर्य और मजबूत कदमों से विदा दी। ऐसा प्रतीत होता था जैसे जवाहरलाल की प्रेरणा प्रसूत मूर्ति अब भी सहस्र वर्षों की दाम्पत्य से दुर्बल भारतीयों को अदम्य प्रेरणा दे रही हो और इसी कारण उनके कॉपते दिलों ने भी जिस दृढ़ता का परिचय दिया वह सदैव प्रशंसनीय है। एक विदेशी का यह कथन कि नेहरू ने एक मजबूत भारत छोड़ा है, मेरे कथन का यह साक्षी है।

नेहरू जी अहिंसा और शान्ति के प्रतीक ही थे। उनके प्रयत्नों से ही यह संसार तीसरे युद्ध से बच सका, इसे सभी देश और उनके कूटनीतिज्ञ स्वीकार करते हैं। उन्होंने एटमबम परीक्षण और शस्त्रास्त्रों की होड़ को नितान्त त्यागने का आग्रह किया तो बड़े देशों की जनता ने प्रसन्नता पूर्वक स्वागत किया। अमेरिका और रूस का भयंकर शीत युद्ध अल्पादिवस ही सका इस पृष्ठभूमि में भी नेहरू जी विद्यमान थे। आज प्रेजीडेण्ट जोन्सन और खुश्चेव दोनों ही शान्ति प्रयत्नों का स्मरण करते हैं। उनके न रहने से एक और राजनीति का विशाल स्तम्भ टूट गया तो दूसरी ओर जन जन का हृदय भवन सूना हो गया। जब प्रेमी ही न रहा तो प्रिय के दिल को कहीं सहलन प्राप्त हो। विश्व ने एक बारगी जिस वैधव्य का अनुभव किया है, वह झूठा नहीं है। विभिन्न प्रवृत्तियों, रंग-रूप और धर्मों के राष्ट्रों का प्रेम एक नेहरू में समाहित हो सका, यह भारत के लिए गौरव का विषय है। उनमें वह समन्वयात्मक तत्त्व था, जिसकी आधार शिला पर अनेकान्त का चिन्तन चला था और अद्वैत की तह में भी जो सदैव विद्यमान रहता आया है। ऐसे महामानव के चरणों में 'अनेकान्त'-परिवार के सदस्य अपनी भाव भीनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं। वह सही तभी होगी जब उनके बनाये पथ पर हमारे कदम अन्तिम सांस तक चलते रहेंगे।

—अनेकान्त परिवार

ग्रोम ग्रहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १७

किरगा, २

वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, देहली-६.

वीर निर्वाण स० २४८०, वि० सं० २००१

जून

सन् १९६४

जिनवर स्तवनम्

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सहलीहूआइं मज्झ गायणाइं ।
चित्तं गत्तं च लहुं अमिण्ण व सिंचियं जायं ॥
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिट्ठिहगसेममाहतिमिरेण ।
तह गाट्ठं जइ दिट्ठं जहट्ठियं तं मए तच्चं ॥
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर पग्मागांदेण पूरियं हिययं ।
मज्झ तहा जह मग्गे मोक्खवं पिव पत्तमप्पाणं ॥

—श्री पद्मनंदाचार्य

अर्थ :—हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर मेरे नेत्र सफल हो गए तथा मन और शरीर शीघ्र ही अमृत से सींचे गए के समान शान्त हो गये हैं ॥१॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर दर्शन में बाधा पहुंचाने वाला समस्त मोह (दर्शन मोह) रूप अन्धकार इस प्रकार नष्ट हो गया कि जिससे मैंने यथावस्थित तत्त्व को देख लिया है—सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लिया है ॥२॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होने पर मेरा अन्तःकरण ऐसे उत्कृष्ट आनन्द से परिपूर्ण हो गया है कि जिससे मैं अपने को मूर्ति को प्राप्त हुआ ही समझता हूं ॥३॥

पं० जवाहरलाल नेहरू क्या थे ?

Gandhi ji : "He is as pure as crystal; he is truthful beyond suspicion. He is knight sans peur, Sans reproche. The nation is safe in his hands."

गांधी जी : वह एक शुद्ध दर्पण की भांति पवित्र हैं। उनकी सत्यनिष्ठा सन्देह से परे हैं, वे निर्भीक हैं और उनका प्रत्येक कार्य गौरवपूर्ण होता है। देश उनके हाथों में सुरक्षित है।

Dr. Rajendra Prasad : "Here is a man the like of whom treads this Earth but rarely and only in a crisis. He has been born and has lived in a critical period in Indian history and has played his part nobly and well"

डा० राजेन्द्रप्रसाद : यहां एक ऐसा व्यक्ति है, जिस-जैसा, इस पृथ्वी पर कभी-कभी ही विकट विपत्ति के समय में चलता हुआ देखा जाता है। वे भारतीय इतिहास के समस्यात्मक युग में उत्पन्न हुए और जीवित रहे तथा उन्होंने अपना भाग शानदार और उत्तम ढंग से पूरा किया।

Dr. S. Radha Krishnan : "He has sought to bridge chasms that separate races, nations and systems. That is why his name has such a great international appeal and become a legend in his own lifetime."

डा० एस. राधाकृष्णन : उन्होंने उस खाई को पाटने का सदैव प्रयत्न किया, जो एक जाति, देश और रिवाज को भागों में बांट कर पृथक-पृथक कर देता है। यह ही कारण है कि समूचे विश्व में उनका नाम है और जो उनके जीवन काल में ही एक परम्परागत कहानी की भांति प्रसिद्ध हो गया है।

C. Rajagopalachari : There is no greater religious person in India than Mr. Nehru, only he does not express his religious sentiments."

सी. राजगोपालाचारी : भारतवर्ष में नेहरू जी से बड़ा कोई धार्मिक व्यक्ति नहीं है, केवल इतना है कि वे अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों को प्रकट नहीं करते।

Lal Bahadur Shastri : He has functioned so remarkably and in so many fields and capacities that his position today is unique not only in his own country but in the whole world "

लाल बहादुर शास्त्री : नेहरू जी ने अनेक क्षेत्रों और विविध रूपों में इतना उत्तम ढंग से कार्य सम्पन्न किया है कि इस समय उनका स्थान केवल अपने देश में ही नहीं, अपितु समूचे विश्व में सर्वोत्तम है।

Lord Bertrand Russel : "Nehru is known to stand for sanity and peace in this critical moment of human history. Perhaps it will be he who will lead us out of the dark night of fear into a happier day."

लॉर्ड बर्टरेण्ड रसेल : मानवीय इतिहास के इन समस्यात्मक क्षणों में नेहरू जी पवित्रता और शांति के प्रतीक माने जाते हैं। शायद यह वे ही होंगे जो हम सब को भय की तमसाच्छन्न रात्रि से प्रसन्नता रूपी दिन के प्रकाश की ओर ले जायेंगे।

Lord Atlee : "Nehru today is the doyen of the Prime Ministers of the free world. As leader of a great nation what he says and does is of supreme importance to others. It seems to me that Nehru is a synthesis of the ideas of the East and the West."

लॉर्ड एटली : आज नेहरू जी स्वतन्त्र विश्व के प्रधान-मन्त्रियों में सब से बड़े हैं एक महान देश के नेता होने के कारण वे जो कुछ कहते और करते हैं, उसकी दूसरों के लिए महत्ता होती है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वे पूर्व और पश्चिम के समन्वयात्मक विन्दु हैं।

युग पुरुष की भाग्यशालिता

(काका साहब कालेलकर)

सर्वों के मुह से एक ही बात निकल सकती है कि श्री जवाहरलाल जी के साथ एक युग का अन्त होता है। सब यह भी कहते हैं कि जवाहरलाल जी ने शुरु से आज तक जो नीति दृढ़ता से चलाई, वही भारत के लिये हितकर है। क्योंकि वह नीति भारत के समूचे इतिहास में फलित हुई है वह नीति भारत की संस्कृति के अनुसार ही है। और सबसे बड़ी बात तो जवाहरलाल जी की नीति हम लोगों के स्वभाव के साथ पूरा-पूरा मेल खाती है।

जब जवाहरलाल जी की नीति इस तरह हितकर और स्थिर है, और वही आगे चलाना है, तो उनके साथ किम चीज का अन्त होकर नये युग का प्रारंभ हो रहा है।

एक बात स्पष्ट है। गांधी जी के दिनों में हालांकि वे हमेशा सब माथियों की राय लेते थे, और सब को संभाल कर वे ही अपना काम चलाते थे, तब भी उनके सब मार्ग गांधी जी की राय समझकर अपना मन अक्सर उसी के अनुकूल बना देते थे। जवाहरलाल जी का मानस ही हर राष्ट्र का मानस होने के कारण उन्हीं की बात सब को मान्य रहती थी। चन्द बातें बिलकुल नहीं हों, राष्ट्र को पसंद न हों, तो भी जवाहरलाल जी की ओर से उनकी सूचना आई है, इसलिये लोग मान जाते थे इस विरवाम से कि उसी में राष्ट्र का हित है।

एक के पीछे एक और से दो महापुरुषों का नेतृत्व राष्ट्र को मिला। यह भारत का परम सौभाग्य है। अब जब तक ऐसा ही कोटिका राष्ट्र पुरुष समूचे देश की वाग-डोर अपने हाथ में न ले। तब तक सबको मिलकर सोचना होगा और कयमत राय से बातें तय करनी होंगी। अब किसी एक का नहीं चलेगा। सबका मिलकर चलेगा।

समूचे राष्ट्र की तैयारी के लिये यही साधना अब अच्छी है। इसलिये सब कहते हैं कि एक युग पूरा हुआ।

मैं मानता हूँ कि भारत में जो क्रांति शुरु हुई है, और जो अपने ढंग की है। अब जोरों से चलेगी। उसे संभाल

संभालकर आगे देने के दिन अब नहीं रहे, क्रांति की पूर्ण तयारी का काम गांधी जी ने किया। आर्थिक और युग-नुकूल नया मोड़ देने का काम जवाहरलाल जी ने किया। दोनों ने एक तरह से क्रांति की रफ्तार बढ़ाई। दूसरी ओर से राष्ट्र का मानस उस रफ्तार को सहन कर सके इसलिये उसे कुछ रोका भी। अब परिस्थिति परिपक्व हुई है। क्रांति की रफ्तार में अपना निजी वेग आ गया है। अब राष्ट्र के अधिकारियों का समुदाय उसे रोकने की कोशिश करेगा तो भी उसका चलेगा नहीं। बाहर की दुनियाँ कोशिश करेगी कि भारत की नीति विशिष्ट गुट के लिये अनुकूल हो। उन ग्रहों का प्रभाव हम पर हुए बिना रहेगा नहीं, लेकिन भारत का और दुनिया का भला इसी में है कि सबका प्रभाव मंजूर करते हुए, व्यक्ति किसी एक तत्त्व के चंगुल में फँस न जाय।

श्री जवाहरलाल जी ने गांधी जी से शान्ति, विश्वमैत्री और अलिप्तता की दीक्षा ली थी। थोड़े ही दिनों में उन्होंने वह अपनी ही बना ली। और दुनिया की राजनैतिक परिस्थिति से वाकिफ होने के कारण उन्होंने वह नीति दुनिया के संदर्भ के लिये अनुकूल बनाई।

बड़े-बड़े राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योग भारत में शुरु किये बिना भारत का आर्थिक सामर्थ्य बढ़ेगा नहीं। दुनिया के साथ चलने के लिये जो आधुनिकता जरूरी है, वह भारत में आयेगी ही। यह देखकर गांधी जी के जीते जी उन्होंने वह नयी नीति चलाई। उसमें उनकी हिम्मत और उनका स्वतंत्र-दर्शन प्रगट हुआ। गांधी जी ने भी देख लिया कि देशको उसी रास्ते जाना है। इसलिये अपना आग्रह छोड़कर जवाहरलाल जी को उन्हीं की पसंद की हुई दिशा में राष्ट्र को ले जाते उन्होंने रोका नहीं, अपने आशावाद ही दिये।

गांधी जी की रचनात्मक नीति को और सर्वोदयी अर्थ नीति को व्यापक बनाने का काम श्री विनोबाभावे ने चलाया। और शुरु में भूदान, ग्रामदान और शान्तिसेना के कार्य-क्रम बढ़ा के नई जान डालने का मौलिक-प्रयत्न भी उन्होंने

चलाया है। इन दो गांधी भक्तों ने एक दूसरे की विरोध कहीं भी नहीं किया, तनिक भी होने नहीं दिया। इससे गांधी जी की उदार शिज्ञाका माहात्म्य सिद्ध होता है। तर्क दृष्टि से परस्पर विरोध दीख पढ़ने वाली नीतियाँ समन्वय वृत्ति से परस्पर पोषक हो सकती हैं, यह बात राष्ट्र और दुनिया देख सके हैं। आगे जाकर इन दो नीतियों में समझौता हो सकेगा। और राष्ट्र के लिये एक सार्वभौम नीति फलित होगी।

दूसरे विचारों में भी काफी तथ्य हो सकता है और उस रास्ते जाने भी देश का थोड़ा बहुत हित ही हो सकता है। ऐसा समझने की उदारता और नम्रता ही आस्तिकता का एक स्वरूप है। यही समन्वय युग अब अपना काम करेगा।

जवाहरलाल जी की तुलना मिजाजी सब जानते थे। वह क्षण जीवी होती है, यह भी सब जानते थे। और इसीलिये थोड़ा समय उसका बुरा लगा तो भी सब साथी भूल जाते थे। काफी आग्रह करने के बाद अपनी बात छोड़ देना और राष्ट्र को स्वतंत्र विचार करने का मौका देना, यह था जवाहरलाल जी की नीति का एक विशेष रूप। ऐसी नीति ये ही चला सकते हैं, जिनका व्यक्तित्व विशाल है। और जिनका अपने देश पर पूरा पूरा विश्वास है।

जवाहरलाल जी के मन में किसी के प्रति द्वेषभाव भी घर नहीं कर सकता था। यह भी उनकी एक विशेषता थी। महानता का यह भी एक विरला लक्षण है। और जवाहरलाल जी परमभाग्यशाली तो थे ही। मोतीलाल जी जैसे पिता का पुत्र होना, गांधी जी जैसे महात्मा के विश्वास का पात्र बनना और चार्लोम करोड़ जनता की भक्ति का भाजन बनना मामूली भाग्य नहीं है। अशोक, अकबर और औरंगजेब और लार्ड कर्जन, ये सब भव्यभाग के अधिकारी माने जाते हैं। जवाहरलाल जी का अधिकार और प्रभाव इन लोगों से कम नहीं था, और सारे विश्व के साथ साधे हुए संपर्क की दृष्टि ने तो जवाहरलाल जी का स्थान इनसे कुछ अधिक ऊँचा ही हो गया था। एशिया

और अफ्रिका के उदीयमान राष्ट्रों का वे प्रेरणा स्थान बने थे। यूरोप अमरीका के वैभव सम्पन्न देशों के कर्णधारों को जवाहरलाल जी की सलाह की कदर करनी पड़ती थी। पक्षपात रहित विश्व हित की, उनकी कामना, युद्ध टालकर शान्ति की स्थापना करने का उनका आग्रह, छोटे बड़े सब व्यक्ति और राष्ट्रों का स्वातंत्र्य भी रक्षा करने का उनका निश्चय और विश्व मांगल्य के सर्वोच्च आदर्श पर भी उनकी निष्ठा यह सब कुछ भारतीय संस्कृति के जैसा ही भव्य था।

लोग कहते हैं कि जवाहरलाल जी को मनुष्य की परख कम थी। लोगों पर विश्वास रखने में थोखा खा सकते थे। यह बात सही हो तो भी क्या मनुष्य अपने हृदय गिरे जैसा दुनिया हो, उसी से काम ले सकता है। विश्व में काम करने वाली सर्वशक्तियों का अगर सच्चा परिचय है और अपने पर पूरा पूरा विश्वास है। तो जैसे भी मनुष्य मिले उनसे काम लेने की हिम्मत भाग्यशाली मनुष्यों में आ जाती है। सफलता और विफलता दोनों को मंजूर रख के उनमें से अपना रास्ता निकालने की तैयारी जिनकी है, उन्हीं के लिये यह दुनिया है।

आविष्कार व्यक्ति का पुरुषार्थ और परिस्थिति का जोर इन दोनों के बीच कभी संघर्ष और कभी सहयोग चलता रहता है। यही तो विश्व का नाटक है। ऐसे नाटक में महान् कार्य करके दिखाना और एक महान् संस्कृति समृद्ध राष्ट्र को उन्नति के रास्ते ले जाना यही तो भाग्यशाली व्यक्ति के पुरुषार्थ का लक्षण है।

सचमुच जवाहरलाल जी ने अपने जमाने पर अपने व्यक्तित्व की मुहर लगायी। और इतिहास विधाता की सोची हुई क्रान्ति का रास्ता खुला कर दिया। महात्मा जी ने सत्य और अहिंसा मूलक जो जीवन साधना राष्ट्रीय पैमाने पर शुरू की, उस साधना का व्यापक स्वरूप जवाहरलाल जी ने विश्व के सामने खड़ा किया और एक नास्तिक दुनिया को आस्तिकता की भाँकी करवाई। इसी कारण राष्ट्र पुरुष जवाहरलाल जी काफी हद तक विश्व पुरुष हो सके।

जो देता है वही पाता है

(श्री आचार्य तुलसी गणी)

जो देता है वही पाता है । जो देना नहीं जानता वह पा भी नहीं सकता । जो देने को अवसर की तुला पर तोलकर देना है वह व्यवसायी भले ही हो सकता है व्यापक नहीं बन सकता । जवाहरलाल जी व्यापक इसीलिए बने कि उन्होंने मुक्त हृदय से अपनत्व को बांटा और यही कारण था कि उन्होंने इतना पाया जिसकी कल्पना भी बड़ी अगोचर लाती है ।

धार्मिक जीवन

उनके बारे में प्रायः कहा जाता है कि वे धार्मिक व्यक्ति नहीं थे, पर उनमें बड़े बार मिलने के बाद ऐसा लगा कि स्थिति ऐसी नहीं है । यह सच है कि उन्हें क्रिया-कांड पर ज्यादा विश्वास नहीं था । और यह संभव भी नहीं था । राष्ट्र के जिस सर्वोच्च स्थान पर थे वहाँ से किसी धर्म विशेष की ध्वनि आए, यह जनतन्त्र के लिए बड़ी कठिन बात होती है । और सच तो यह है कि धर्म का क्रिया-कांडों से उतना सम्बन्ध ही नहीं जितना कि जीवन की पवित्रता से है ।

धर्म-निरपेक्ष

उनके धर्म-निरपेक्ष राज्य (Secular State) को भी ठीक तरह से नहीं समझा गया । उसका धर्महीन राज्य कहकर मजाक उड़ाया गया । पर वास्तव में उसका यह अर्थ ही नहीं । धर्म निरपेक्ष का अर्थ है—किसी धर्म विशेष का नहीं । इसीलिए वह सब धर्मों का हो जाता है । अणुव्रत आन्दोलन के प्रति उनका झुकाव इसीलिए था कि यह सर्व धर्म समन्वय या दूसरे शब्दों में धर्म निरपेक्षता को मानकर चलता है ।

चरित्र के समर्थक

देश में चरित्र को वे बड़ा ऊँचा स्थान देने थे । अणुव्रत-आन्दोलन का भी यही लक्ष्य था । इसीलिए उन्होंने कहा था—‘हमें अपने देश का मकान बनाना है । उसका बुनियाद गहरी होनी चाहिए । रेत की होगी तो ज्यों ही रेत ढह जाएगी, मकान भी ढह जाएगा । गहरी बुनियाद चरित्र की होती है । देश में जो काम हमें करने हैं वे बहुत लम्बे चौड़े हैं । इन सबका बुनियाद चरित्र है । इसे लेकर बहुत अच्छा काम अणुव्रत-आन्दोलन में हो रहा है । मैं मानता हूँ—इस काम की जितनी तरबूती हो उतना

ही अच्छा है । इसीलिए मैं अणुव्रत-आन्दोलन की पूरी तरबूती चाहता हूँ ।’

वे एक अत्यन्त विनम्र व्यक्ति थे । इसीलिए प्रत्येक के विचारों का सम्मान करते थे । प्रथम बार जब उनसे मिलना हुआ तो एक कमरे में हमारे बैठने की व्यवस्था की गई थी । पर अपनी आचार परम्परा के कारण हम उसमें नहीं बैठ सकते थे । मैंने उनसे कहा—हम तो बाहर बैठेंगे । उन्होंने बिना किसी ननूनच के स्वयं अपने हाथ में एक गव्डी ली और बाहर बरामदे में आ गए, बरामदे में एक स्थान पर जहाँ वे बैठने को हुए यहाँ कुछ चीटियाँ थीं । मैंने कहा—‘‘हम थोड़े हटकर बैठेंगे तो अच्छा रहेगा । तत्क्षण वे दूसरे स्थान पर चले आए । फिर हमारी लगभग घंटे भर तक बातचीत हुई । उन्होंने बड़े ध्यान से हमारी बातों को सुना । उसके बाद यो कई बार अपने कार्यक्रमों में आए । शिष्य संतो से भी मिले । शुरू से लेकर आखिर तक उन्होंने अणुव्रत-आन्दोलन को काफी महत्व दिया ।

हम बार जब कि वे अस्वस्थ थे तो मैंने तकलीफ देना अच्छा नहीं समझा, तो मैं उनके निवास स्थान पर गया, इस अवस्था में भी उन्होंने लगभग ४५ मिनट तक बड़े ध्यान से मेरी बातें सुनी । मैंने उन्हें काफी स्पष्टता से देश की परिस्थितियों से परिचित कराया । कुछ बातें उनके मानस के प्रतिकूल भी, पर उन्होंने बड़े धैर्यपूर्वक उन्हें सुना । जब मैंने उन्हें उनके भावाँ उत्तरधिकारी की बात कही तो उन्होंने कहा—‘‘मैं सोचता तो हूँ, पर इसमें कठिनाइयाँ बहुत हैं ?’’ मैंने कहा—‘‘अब जो कठिनाइयाँ हैं, उन्हें तो आप सुलझा भी देंगे, पर आगे वे भारी पड़ जाएंगी ।’’ इसी मिलमिले में उन्होंने कहा था कि मैं श्री लालबहादुर शास्त्री को उप-प्रधान बनाना चाहता हूँ । कांग्रेस संगठन ने भी उनकी इच्छा को बड़े सुन्दर और जनतान्त्रिक ढंग से पूरा कर दिया है । जो काम वे स्वयं करने में कठिनाई अनुभव करते थे उसे कांग्रेस ने कर दिवाया । पर अभी तो कांग्रेस को उनके बहुत सारे अधूरे कामों को करना है । इसके लिए उन्हें हर बड़े से बड़े त्याग के लिए तैयार रहना होगा और इस बात को ध्यान में रखना होगा कि जो देता है वही पाता है ।

दिल्ली पट्ट के मूलसंघी भट्टारकों का समय क्रम

(डा० ज्योति प्रसाद जैन एम० ए० एल एल० बी०, पी० एच० डी०, लखनऊ)

मूलसंघान्तर्गत नन्दिसंघ-सरस्वतीगच्छ-बलाकारगण-कुन्द कुन्दान्वय की उत्तर भारतीय शाखा के दिल्ली पट्ट की स्थापना का श्रेय भट्टारक प्रभाचन्द्र को है। इस परम्परा की पट्टावली के यह ८४ वें गुरु थे। इनके उपरान्त क्रमशः पद्मनन्दि, शुभचन्द्र एवं जिनचन्द्र इस पट्ट पर बैठे। प्रभाचन्द्र के समय तक उत्तर भारत में इस संघ का एक ही अखंड पट्ट था। सर्व प्रथम उनके समय से ही शाखा पट्ट स्थापित होने प्रारम्भ हुए, किन्तु उनके पट्टधर पद्मनन्दि के पट्टकाल के अन्त तक जो भी शाखापट्ट बने, वे प्रधान या केन्द्रीय पट्ट के ही अधीन रहे। पद्मनन्दि के उपरान्त सागवाड़ा, सूरत, ईदर मालवा आदि के जो कई शाखापट्ट स्थापित हुए वे केन्द्रीय पट्ट से प्रायः स्वतन्त्र हो चले। पद्मनन्दि के प्रपट्टधर जिनचन्द्र के उपरान्त तो स्वयं दिल्ली पट्ट भी चित्तौड़ एवं नागौर नामके दो शाखा पट्टों में विभक्त होकर दिल्ली से स्थानांतरित हो गया—दिल्ली में संभवतया एक छोटा सा उपपट्ट कुछ काल तक बना रहा।

इस मूलसंघ की जितनी भी पट्टावलियां एवं गुर्वलियां उपलब्ध हैं वे सब अनेकों शाखापट्टों में से ही किसी न किसी पट्टपरंपरा की हैं और अधिकांशतः १६ वीं से १९ वां शताब्दी ईस्वी के बीच निर्मित हुई हैं। अतएव उनमें प्राप्त उक्त शाखा पट्टों के पट्टक्रम, गुरुनाम आदि तथा जहाँ कहीं पट्टकाल भी सूचित कर दिये गये हैं वे भी प्रायः विश्वगनाय प्रतीत होते हैं। किन्तु जितना जितना पीछे की ओर चलते हैं वे मन्दिग्ध होते जाते हैं।

मूल पट्टावली के अनुसार १ भद्रवाहू द्वि० से लेकर अभयकीर्ति पर्यन्त ७७ गुरुओं का काल १२६४ वर्ष है जिसके अनुसार औसत पट्टकाल लगभग १३ वर्ष आता है इन गुरुओं में से अधिकांश की ऐतिहासिकता, पूर्वापर एवं समयादि के सम्बंध में पट्टावलियों की छोड़कर प्रायः कोई अन्य आधार नहीं है। किन्तु ७८ वें गुरु—अजमेर पट्ट स्थापक वसन्तकीर्ति से लेकर ८७ वें गुरु जिनचन्द्र पर्यन्त उत्तरोत्तर ऐसे ऐतिहासिक निर्देश तथा

साहित्यिक एवं शिलालेखीय प्रमाण अधिकाधिक प्राप्त होने लगते हैं जिनके आधार पर उक्त गुरुओं के पट्टावली प्रतिपादित समयादिक की जाँच की जा सकती है।

पट्टावली में अभयकीर्ति से जिनचन्द्र पर्यन्त प्रत्येक भट्टारक का पट्टारोहण वर्ष विक्रम संवत् में निम्नोक्त दिया गया है:—

अभयकीर्ति — १२६४

वसन्तकीर्ति — १२६४

प्रख्यातकीर्ति — १२६६

विशालकीर्ति २—

शुभकीर्ति — १२६८

धर्मचन्द्र — १२७१

रत्नकीर्ति — १२६६

प्रभाचन्द्र — १३१०

पद्मनन्दि — १३८५

शुभचन्द्र — १४५०

जिनचन्द्र—१५०७ इनका पूर्ण पट्टकाल १५०७ से १५७१ तक।

यह आश्चर्य की बात है कि इनमें से प्रथम पांच भट्टारक केवल छः वर्ष में ही समाप्त हो जाते हैं जबकि उनसे आगे के छः भट्टारकों का काल पूरे ३०० वर्ष है। ऐसा होना नितान्त असंभव तो नहीं है, तथापि ये तिथियां कुछ मन्दिग्ध प्रतीत होती हैं। इन गुरुओं का समय निर्णय उत्तरभारत के मध्यकालीन इतिहास के लिये परमावश्यक है। अतएव इनमें से प्रत्येक के समय को उनके स्वयं के सम्बन्ध में उपलब्ध साहित्यिक एवं शिलालेखीय निर्देशों एवं ऐतिहासिक अनुश्रुतियों आदि के संदर्भ में जाँच करके निर्णीत करना उचित होगा और इसके लिये यह सुविधाजनक होगा कि अन्तिम गुरु, जिनचन्द्र, से प्रारंभ करके पीछे की ओर चला जाय।

भट्टारक जिनचन्द्र अपने समय के ही नहीं वरन् सम्पूर्ण इतिहास काल के संभवतया सबसे बड़े जिनबिंब

२. इनका नाम उपरोक्त पट्टावली में नहीं है किन्तु इस संघ की प्रायः अन्य सब पट्टावलियों में पाया जाता है। देखिए बही, पृ० ८१ ८४

प्रतिष्ठाकार हैं। जितनी विग्रहप्रतिष्ठाएँ और किसी किसी प्रतिष्ठा में जितनी अनगिनत जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा इन के द्वारा सम्पन्न हुई उननी शायद इनके पहिले या पीछे अन्य किसी एक प्रतिष्ठाचार्य द्वारा नहीं हुई। पट्टावली में उनका स्मरण 'तर्क-व्याकरणादि-ग्रन्थ-कुशलों' 'चारित्र चूडामणि', 'मार्गप्रभावक' आदि विशेषणों के साथ किया गया है। इसमें विदित होता है कि यह श्रेष्ठ विद्वान एवं चारित्रवान् मन्त्र थे, इनके द्वारा का गड़े महती मार्गप्रभावना तो इसी तथ्य से प्रमाणित है कि इनके द्वारा प्रतिष्ठित जैन प्रतिमाएँ सम्पूर्ण उत्तरभारत के प्रायः प्रत्येक जैन मन्दिर में आज भी विद्यमान हैं। अनेक मुनि, ब्रह्मचारी एवं गृहस्थ विद्वान् इनके शिष्य थे। बीकानेर प्रदेश में वि० सं० १५०२ में प्रतिष्ठित एक तथैकर प्रतिमा पर प्रतिष्ठाता के रूप में जिन भ० जिनचन्द्र का नाम अंकित है वह यही प्रतीत होते हैं, और इसी वर्ष प्रतिष्ठित एक धातुमयी पारश्वप्रतिमा भी जो मैनपुरी (उत्तरप्रदेश) में विद्यमान है वह इन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठित हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार भ० जिनचन्द्र की सर्व प्रथम ज्ञात तिथि वि० सं० १५०२ है। वि० सं० १५०५ में इनकी आम्नाय के पं० देवपाल खडेलवाल ने अजितनाथ चारित्र अपभ्रंश) का प्रति लिखाई थी। वि० सं० १५०६, १५१५, १५२०, १५२५ और १५२८ की इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक धातु प्रतिमाएँ यन्त्र आदि मैनपुरी पट्टा आदि के मन्दिरों में प्राप्त हैं, तथा वि० सं० १५०६, १५१०, १५११, १५४२, १५४८ और १५४९ की अनेक मूर्तियाँ बीकानेर प्रदेश में प्राप्त हुई हैं। वि० सं० १५१० में नामर नरेश दुर्गरविह के राज्य के अन्तर्गत टोंकनगर में भ० जिनचन्द्र ने अनेक जिनप्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की थीं।

३. बीकानेर जैन लेख संग्रह (वि०. छगरचन्द्र नाहटा), न० ८२८

४. कामता प्रसाद-जैन प्रतिमा लेख संग्रह

५. जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० २२, कि० २, पृ० ७

६. कामता प्रसाद-वही

७. देखिए बीकानेर जैन लेख संग्रह

८. जैन शिला लेख संग्रह, भा० ३, न० ६३६-इन लेखों में राजा का नाम लुङ्गरदेव पढ़ा या लिखा गया है जिसके कारण इस संग्रह के विद्वान संपादक इस नरेश को चान नहीं सके।

वि० सं० १५४८ में मुझामा नगर में राजा शिवसिंह के शासनकाल में इन भ० जिनचन्द्र ने शाहजीबराज पापकी-वाल के लिए एक अभूतपूर्व विग्रह प्रतिष्ठा की थी। उसके एक वर्ष पूर्व (सं० १५४७ में) तथा एक वर्ष पश्चात् (सं० १५४९ में) भी संभवतया उसी नगर उसी ध्रावक श्रेष्ठ के इन्होंने दो अन्य प्रतिष्ठायें की थीं उत्तरभारत के कौनों कौनों में प्राप्त इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनगिनत पाषाण प्रतिमाओं पर अधिकतर सं० १५४८ या फिर १५४७ अथवा १५४९ के वर्ष ही बहुधा अंकित पाये जाते हैं। अमरावती नगर में विद्यमान कई प्रतिमाओं पर प्रतिष्ठाचार्य के रूप में जिनचन्द्र का नाम तथा तत्कालीन शासक के रूप में शिव सिंह (स्योसिंह, स्योसिंह) का नाम प्राप्त होते हैं, किंतु उन पर अंकित प्रतिष्ठा वर्ष १११३ है तथा कुछ पर ११६३ १६ ऐसा लगता है कि ये वर्ष ग्रेग (अथवा बल्लभा) संवत् के हैं जिसके अनुसार ये प्रतिष्ठाएँ वि० सं० १५४० और १५७० में हुई होनी चाहिए। अब यदि किसी भूल से इन संस्थाओं में ११६३ और ११६३ नहीं हो गया हो तो इन भ० जिनचन्द्र को अन्तिम ज्ञात तिथि वि० सं० १५७० प्राप्त होती है। प्रतिमा लेखों के अतिरिक्त, वि० सं० १५१२ की श्रीपालचारित्र की लिपि प्रशस्ति में, १५१६ की अपने विद्वान शिष्य पं० मेधावी की ग्रन्थ प्रशस्ति में तथा सं० १५१८ ए० १५४५ की दो अन्य ग्रन्थ प्रशस्तियों में भी इनके समकालीन उल्लेख पाये जाते हैं। उनके जीवन काल में इनके अनेक मुनि शिष्यों, प्रशिष्यों ने भी जो प्रतिष्ठाएँ कराईं उनका मूर्तिलेखों में भी इनका अपना नाम प्राप्त होता है। सं० १५७५ से आगे जितनी प्रशस्तियाँ, लेखादि मिलते हैं उनमें जिनचन्द्र का उल्लेख पूर्व पुरुष के रूप में ही हुआ है-उनमें उनके समय में इनकी विद्यमानता सूचित नहीं होती। इनके एक शिष्य-नागौर पट्ट के प्रथम भट्टारक, रत्नकीर्ति, का पट्टकाल सं० १५८१-१५८६ है, किन्तु इनके प्रधान शिष्य ए० पट्टधर, अभिनव प्रभावचन्द्र (जो कि चित्तौड़-अजमेर पट्ट के प्रथम भट्टारक थे) का पट्टकाल वि० सं० १५७१-१५८१ है। संभव है कि रत्न कीर्ति ने अपने ज्येष्ठ गुरुभाई प्रभावचन्द्र के अवसान के बाद ही अपने (नागौर) पट्ट का स्वतन्त्र धारण किया हो।

९. जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० २१, कि० २ पृ० ४७-५५

इस प्रकार उपरोक्त शिलालेखीय, साहित्यिक एवं अनुश्रुत सभी प्राधारों से दिल्लीपट्टाधीश भ० जिनचन्द्र की अन्तिम तिथि वि. सं. १२७०-७१ ही निर्णीत होती है, किन्तु जबकि पट्टावली के अनुसार उनका पट्टारोहण वि सं १२०७ में हुआ, अन्य आधारों से मुनिरूप में उनका अस्तित्व वि. सं. १२०२ से पाया जाता है। इससे यहाँ निष्कर्ष निकलता है कि उनका मुनिजीवन वि. सं. १२०१-१२७१, लगभग ७० वर्ष रहा और पट्टकाल संभवतया वि. सं. १२०७-१२७१ (सन् १४२०-१४१४ ई०) लगभग ६४ वर्ष का था।

उनके गुरु एवं पूर्व पट्टधर भ० शुभचन्द्र के अपने समकालीन उल्लेख अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। वि० सं० १४६४ में काण्डामंथ माधुर गच्छ के मुनि देवकीर्ति ने राव अमराजी के लिये, संभवतया आगरा प्रदेश में, धातुमयी अर्हत प्रतिमा की प्रतिष्ठा जिन मूलमंथी भ० शुभचन्द्र के उपदेश से की थी। वह यही शुभचन्द्र प्रतीत होते हैं। सं० १४६२ में बीकानेर राज्य के मूडली ग्राम निवासी हूमड़ श्रावकों के लिये अपने द्वारा प्रतिष्ठित पार्श्वनाथ प्रतिमा पर अंकित लेख में भ० सकलकीर्ति ने अपना परिचय—‘मूलमंथ-सरस्वती गच्छ-बलाकारगण के भट्टारक श्री पद्मनन्दि देव के भ्राता (सधर्मा ?) के रूप में दिया है। ११ शुभचन्द्र की भांति सकलकीर्ति भी भ० पद्मनन्दि के ही शिष्य थे और स० १४५१ में उन्होंने सागबाड़ा (वाग्घर) पट्ट की स्थापना की थी। ईडर पट्ट के भी प्रथम भट्टारक वही माने जाते हैं। क्योंकि शुभचन्द्र प्रधान पट्ट पर आसीन थे और इसीलिये संभवतया उनके ज्येष्ठ गुरु भ्राता भी थे, सकलकीर्ति ने उनका उल्लेख अपने लेख में इस प्रकार सम्मान पूर्वक किया। सं० १४६० में भ० शुभचन्द्र की गुरु भगिनी आर्या रत्न श्री की शिष्या आर्या मलयश्री ने अष्टमहर्षी की एक प्रति गजराज नामक व्यक्ति से लिखाकर ‘भावि भट्टारक वर्द्धमान (?) को भेंट की थी। इस प्रशस्ति में शुभचन्द्र का विशेषण

‘राजाधिराज कृतपादपयोजसेवः’ दिया है। १२ ‘भावि-भट्टारक वर्द्धमान’ से आशय शुभचन्द्र के पट्टधर जिनचन्द्र का ही है अथवा शुभचन्द्र के तत्कालीन उस पट्टशिष्य का है जिसकी मृत्यु संभवतया उनके जीवन काल में ही हो गई थी और फलस्वरूप द्वितीय शिष्य जिनचन्द्र को पट्टाधिकार मिला—यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। यह अवश्य है कि पहली मूर्त में जिनचन्द्र के मुनि जीवन के ७० वर्षों में कम से कम १२ वर्ष की और वृद्धि करनी पड़ेगी। यह भी निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि कौन सा ‘राजा धिराज’ उनका भक्त था। उनकी गद्दी दिल्ली में ही थी और दिल्ली के राज्य सिंहासन पर उस समय सैयद सुबारकशाह आसीन था। संभव है इस सुलतान ने गुरु शुभचन्द्र का कुछ सम्मान किया हो, अथवा उनका भक्त नरेश राजस्थान आदि का कोई बड़ा राजपूत राजा हो। वि० सं० १४८१ (शाके १३४५) में भ० शुभचन्द्र ने संधपति होलिचन्द्र आदि अपने भक्त श्रावकों से देवगढ़ (जिला भांसी) में वर्द्धमान जिनचन्द्र की अपने गुरु भ० पद्मनन्दि की तथा परम्परा गुरु बमन्त कीर्ति की प्रतिमाएं प्रतिष्ठापित कराई थीं। उस समय वहां मालवा के सुल्तान शाह आलमक (अलप खां उर्फ हुशंगशाह गोरी) का शासन था १३। इस लेख में जो गुरु परम्परा (धर्मचन्द्र-रत्नकीर्ति-प्रभाचन्द्र-पद्मनन्दि-शुभचन्द्र) ही है वह पट्टावलियों से भी समर्थित है। वि० सं० १४७६ में इन्हीं शुभचन्द्र के पट्टकाल में बुध अमवाल ने कुशार्त देशस्थ करहल (जिला हटावा) में चौहान नरेश भोजराज के मन्त्री अमरसिंह के पुत्र लोणायाहु की प्रेरणा से पार्श्वनाथ चरित (अपभ्रंश) की रचना की थी। आद्य प्रशस्ति में पद्माचार्य (पद्मनन्दि) का स्मरण करते हुए, जो संभवतया कनि के गुरु रहे थे, उन्हें उन प्रभाचन्द्र का पट्टधर बताया है जो स्वयं धर्म रूपीचन्द्रमा थे, अथवा, धर्मचन्द्र के शिष्य रत्नकीर्ति के पट्टधर (आयरिय रयणजय पट्टधरिओ) थे। और यह कि पद्मनन्दि के पट्टरूपी अंबर

१०. जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० १६, कि० १,

पृ० ६१-६३

११. बीकानेर जैन लेख संग्रह, नं० १८७२

१२. अनेकान्त, वर्ष १३, कि० २, पृ० ४६

१३. जैन शिला लेख संग्रह, भा० ३, न० ६१७

पल्लू ग्राम की प्रतिमा व अन्य जैन सरस्वती प्रतिमाएँ

(श्री धीरेन्द्र जैन)

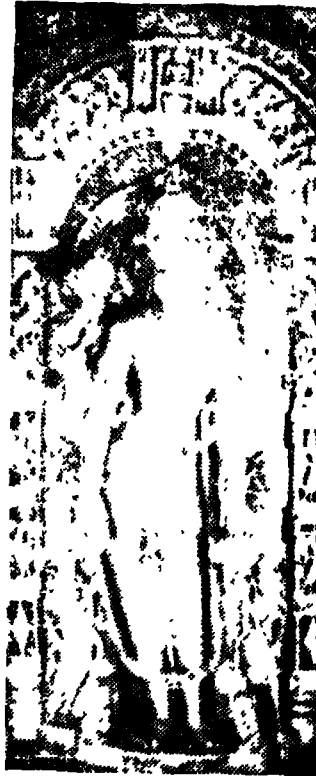
सरस्वती का

अनेकों नामों से स्मरण

भारतवर्ष की प्राचीन एवं अर्वाचीन विचारधाराओं के अनुसार भगवती सरस्वती सागोपाग विज्ञान एवं समस्त कलाओं की देवी मानी गई है, जिसे कुछ विद्वान शक्ति नाम से भी व्यवहृत करते हैं। हिन्दू धर्म में सरस्वती देवी का तो यद्यपि पूर्ण स्थान है ही, परन्तु वह बौद्ध तथा जैन धर्म की भी उपास्य देवी रही है। यद्यपि जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुसार इनमें विभिन्न नामों से सुशोभित किया गया तथापि हममें कोई विरोध अन्तर नहीं है। बौद्ध साहित्य में महासरस्वती, आर्य वज्र सरस्वती वज्र शारदा, वज्रवाणी आदि भगवती सरस्वती के प्रमुख नाम हैं। हिन्दू धर्म में भी हमें शारदा वाग्देवी वाणीवादिनी आदि अनेकों नामों से स्मरण किया गया है।

जन्म के बारे में मान्यताएँ

पौराणिक गाथाओं के अनुसार सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा के मन्त्रिक (बुद्धि विचार जन्य कल्पना) से उत्पन्न मानस, कन्या के रूप में सरस्वती का जन्म हुआ था। कुछ पौराणिक हमें उनकी पत्नी बतलाते हैं, पर वास्तव में यह उन की शक्ति है। सरस्वती का वर्ण श्वेत है, सदा श्वेत वस्त्र ही पहनती है, वाहन हंस भी श्वेत माना गया है। श्वेत कमल पर आसन लगाये हुये शुभ्रयश का प्रसार करती हुई श्वेत गंध का अनुलेपन एवं श्वेत ही वस्तुओं को कार्य में ग्रहण करती है। इनकी वेशभूषा, रूप सौन्दर्य शरीर की



आकृत आदि सभी विभिन्न नाम आदि से संबधित हैं, जेमे जब भगवती सरस्वती का शारदा रूप में चित्रण किया जाता है तो वहाँ उसे श्वेत वर्ण युक्त दिखलाना आवश्यक नहीं। वहाँ विशेषता हम बात की हो जाती है कि उसका प्रमुख दम् भुजाये चित्रित होता है। यही रूप चतुर्षष्टि-कलाओं की अध्यक्षा शारदा देवी का माना गया है।

प्रतिमा का प्रादुर्भाव

लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में सरस्वती की सबसे प्राचीन पाषाण निर्मित खगडित प्रतिमा सुरक्षित है। हम प्रतिमा के घुटने ऊपर की है, बायें हाथ में धारो से बंधी तारपत्रीय पुस्तक है तथा दाहिने हाथ में अक्षमाला है। दोनों सेवक उपस्थित हैं। चरण चौकी पर ६ पंक्तियों का कुषान कालीन एक लेख अंकित है। हम द्वितीय शताब्दी की प्रतिमा को विद्वानों ने जैन सरस्वती की प्रतिमा

माना है। हमें ज्ञात होता है कि ईसा की द्वितीय शताब्दी में ही जैन सरस्वती प्रतिमा का प्रादुर्भाव हो चुका था।

सुन्दर वन में प्राप्त प्रतिमा

सरस्वती की एक प्रतिमा सुन्दर वन में प्राप्त हुई है जो अब कलकत्ते के आशुतोष संग्रहालय में है। हमकी तिथि १२ वीं शताब्दी मानी गई है। यह पाषाण पट पर उभरी हुई अंकित है तथा वाणीवादिनी की मुद्रा में देवी खड़ी है। देवी ने अन्य वस्त्राभूषणों के साथ कटिमुत्र तथा

भुजबन्द आदि पहन रखे हैं। इस प्रतिमा के पैर के नीचे का भाग खण्डित है।

राजा भोज द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ

उत्तरी भारत की भाँति दक्षिणी भारत में भी सरस्वती प्रतिमा निर्मित की जाती थी, जो आज भी वहाँ के मन्दिरों के अन्दर बाहर तथा विभिन्न संग्रहालयों में पायी जाती है। बम्बई के प्रिन्स आफ वेल्स म्यूजियम में रबी कुछ मध्य-कालीन सरस्वती प्रतिमाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। नालन्दा से एक कांस्य निर्मित सरस्वती प्रतिमा प्राप्त हुई है जो वीणा बजा रही है। लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में भी सरस्वती की प्रतिमा सुरक्षित है। ये प्रतिमाएँ संगमरमर, भूरे बलुआ पत्थर आदि से निर्मित हैं। इनके आधार पर एक लेख से ज्ञात होता है कि ई० १०३४ में परमार राजा भोज ने प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना की थी।

पल्लू ग्राम की प्रतिमा

सन् १९१६ में प्रसिद्ध पुरातत्व-वेत्ता डा० एल० पी० टेरिलटोरी को बीकानेर के दक्षिण पश्चिम में पल्लू नामक ग्राम में दो अत्यन्त सुन्दर जैन सरस्वती प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थी। ये दोनों प्रतिमाएँ संकेत संगमरमर पत्थर से निर्मित हैं। इन दोनों में से एक प्रतिमा बीकानेर के राजकीय संग्रहालय में तथा दूसरी नई दिल्ली के संग्रहालय में है।

प्रतिमाओं का आकार-प्रकार

ये दोनों प्रतिमाएँ लगभग १२वीं शताब्दी की हैं। इनमें से प्रथम प्रतिमा की ऊँचाई ३ फुट ५ इंच है। और सपरिकर ४ फुट ३ इंच है। भगवती सरस्वती की इस सर्वांग सुन्दर मूर्ति के लावण्य भरे मुख मण्डल पर गंभीर शान्त एवं स्थिर भाव है। देवी के नेत्र विशाल हैं, जिनमें नेत्र-बिन्दु स्पष्ट है। कानों में मणिमुक्ता की ४ लड़ी का कर्णमूल शोभित हो रहा है। केश संवार के तथा मस्तक पर जटाजूट सा दिखला कर उस पर सुन्दर किरीट सुशोभित है। कुन्दनों से युक्त चोटी पीछे वाई और चली गई है। देवी की नाभिका आभूषण विहीन है। गले में पड़ी सलवटें अत्यन्त मुहावनी प्रतीत होती है। गले में हंसली धारण किये है, जिनके नीचे आलरा पहिने हैं जो कि दोनों कन्धों तक गयी है। इसके बाद ३ लड़ियों वाला हार पहना हुआ है जो नाभि तक आ रहा है। उदर, नाभि और

कमर का लचीला और सुन्दर विन्यास प्रशंसनीय है। यह प्रतिमा चतुर्दन्त है। सामने वाले हाथ की कलाइयों में गोल, बड़े बड़े मणियुक्त, लटकते हुए तिलहे, एवं मध्य में त्रिकोण भुजबन्ध पहना हुआ है। हाथों में मांकल से लटकता हुआ गृधरा दिग्वाई देग है। कलाई में चूड़ियाँ पहने हैं, उसके आगे गुजरी और तीखी बंगड़ी जैसे कंकन पहिने हैं। हाथों में हथमांकला उस समय की प्रथा को द्योतित करने हैं। इनका प्रचलन आज कल नहीं है। हाथ के अंगुष्ठ एवं मध्य अंगुलियों में अंगुठियाँ स्पष्ट है। अंगुलिया लम्बी व तीक्ष्ण हैं, जिनके नाखून बड़े हुए हैं। इन्हें देवने से लगता है उस समय नाखून बढ़ाना सुन्दरता में शामिल था। हथेली पर वा. चिह्न व अन्य सामुद्रिक चिह्न स्पष्ट दिग्वाई देने हैं। दायें हाथ में माला व बायें हाथ में कमण्डलु है। दूसरे दोनों हाथ पीछे से ऊपर की ओर गये हैं, जिनमें चूड़े के अतिरिक्त अन्य आभूषण भी है। दाहिने हाथ में अत्यन्त सुन्दर कमल-नाल है जिस पर घोडम दल कमल है। बायें हाथ में ९ इंच लम्बी ताडपत्राय पुनक है। तीन जगह काष्ठ फल लगा कर डोरी से ग्रंथ को बांधा है। कमर में कटिमूत्र है जो खूब भारी है इसमें आलर लटकने हुवे हैं। कमर एवं नीचे की ओर वस्त्र परिधान स्पष्ट है। नीचे धाधरे की कामदार मगजी भी है। वस्त्र को मध्य में एकत्र कर दिया है। पैरों में केवल पाजिब है। पैर अत्यन्त सुन्दर हैं। इनकी अंगुलियाँ कुछ लम्बी व छुरहरी है। यह प्रतिमा कमलासन पर खड़ी है। प्रतिमा के पृष्ठ भाग में प्रभा मण्डल बना हुआ है। इसके ऊपर के भाग में जिनेश्वर भगवान की पद्मासनस्थ प्रतिमा विराजमान है। सरस्वती के स्कन्ध प्रदेश के पास दो पुष्पाचारी देव अभिवादन कर रहे हैं। ये भी हार कंकड़ भुजबन्द आदि आभूषणों से युक्त हैं। मूर्ति के उभय पक्ष में वीणाधारिणी देवियों हैं जिनका अंग विन्यास सुन्दर व भावपूर्ण है तथा ये भी समस्त आभूषणों से अलंकृत हैं।

विभिन्न प्रतिमाओं में अन्तर

इस सौन्दर्यमय सरस्वती प्रतिमा के लिए निर्मित प्रभा तोरण अत्यन्त सुन्दर है। ये दो स्तम्भ तथा उस पर स्थित एक उलटे अर्धचन्द्र के योग से बने हैं। सम्पूर्ण तोरण देवी

मानवी, शार्दूलमिहों, मकरों, पूर्ण कनक तथा त्रिरत्न की कलापूर्ण आकृतियों से अलंकृत है। नोरण के प्रत्येक स्तम्भ में तीन श्रेणियों में विभाजित है। मध्यवर्ती स्तम्भ में चार द्वार देवियों विराजमान हैं। इन सबके दो हाथ हैं। मुद्रा समान हैं। इनके वाहन व आयुध भिन्न भिन्न हैं। बायाँ पैर बाँधे पैर की पिरगुत्ता पर रख दृष्टि अपने वाहन पर बैठी है। केशपाश संघान दृष्टि है तथा बायाँ ओर जुड़ा है। दाहिने से प्रथम मूर्ति का वाहन सूर्य है, बायें हाथ में छत्रिका व दायें हाथ में सर्प है। दूसरी मूर्ति दाहिने हाथ में अम्पट बाय तथा बायें हाथ में गोल ढाल सदृश्य कुछ लिये है। तीसरी मूर्ति का वाहन वृषभ है, उसने दाहिने हाथ में गदा, बाण हाथ में अम्पट ढक्कनदार पात्र धारण किये हैं। चतुर्थ मूर्ति का वाहन भैंसा है और हाथ में वज्र धारण किये हैं। इन प्रतिमाओं के दोनों ओर बैठी स्त्री प्रतिमाओं के दायाँ हाथ में नाल युक्त कमल है। इसी तोरण के बाँधे ओर के मध्य भाग में सुस्वायन पर बैठी प्रथम स्त्री के दायें हाथ में त्रिशूल तथा घट है। इसका वाहन मृग है। द्वितीय प्रतिमा के दायें माथ में खड्ग व बाण हाथ में घट है। इनका वाहन सिंह है। तृतीय प्रतिमा के दाण हाथ में अंकुश व बाण हाथ में चकले जैसा गोल पदार्थ लिए हैं। इनका वाहन अम्पट है। चतुर्थ प्रतिमा का वाहन सर्प है। दाहिने हाथ में नाल

युक्त कमल पुष्प व बाण हाथ में घट धारण किये हैं।

इन दोनों स्तम्भों के ऊपर मुख्य घृत खण्ड पर मन्दिर जैसे तीन छोटे छोटे देवालय बने हैं। जिनमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित भवान्म अर्हन्तद्विब खड़े हैं। जिन की पहनी हुई धोती अत्यन्त स्पष्ट है। कबाणों के ऊपर दोनों तरफ चार चार पुरुष खड़े हैं तथा एक एक स्त्री खड़ी है। इनका एक पैर स्पष्ट दिखाई देता है, दूसरा पैर जंघा तक है, बाकी कबाणों के पीछे की ओर है। पहला पुरुष दाण की दो अंगुलियाँ दिखा रहा है, बाकी कबाणों के पीछे ओर ही पहला पुरुष दायें हाथ की दो अंगुलियाँ दिखा रहा है, बायाँ हाथ ऊँचा किये हैं। दूसरा व्यक्ति हाथ की अंगुलियाँ जमान से स्पर्श कर रहा है, तीसरे के हाथ में प्याले जैसा पांव है। चौथी स्त्री के हाथ में लम्बा दण्ड है। पाँचवा पुरुष दोनों हाथों में पुष्पमाला लिये है। बाकी के हाथ भक्त के पांव हैं। कबाणों के बाँधी ओर भी इसी प्रकार की मूर्तियाँ हैं। उनमें पहला पुरुष लम्बी दाढ़ी धारण किये हैं।

दूसरी सरस्वती प्रतिमा भी इससे मिलती जुलती है। यह भी सँगमरमर की बनी है। राजस्थान के जिस बाम्नु शिल्पी ने अपनी यह आदर्श माधना जनता को दी वह अपना अज्ञात नाम सदा के लिए अमर कर गया।

सम्यग्दृष्टि का विवेक

सती सीता को रामचन्द्र ने जब लोकापवाद के भय से कृतांतवक्र सेनापति के साथ तीर्थ यात्रा के बहाने भीषण वनमें छुड़वा दिया। कृतान्तवक्र जब उस भीषण वनमें पहुँचा तो रथ रोक दिया। सीता ने रथ रोकने का कारण पूछा—तब सेनापति ने अत्यन्त दुःखित होकर सारा हाल सुना दिया। और सीता को अकेली वहाँ छोड़ कर जब वापिस अयोध्या जाने लगा। तब सीता से कहने लगा माता जी कुछ सन्देश तो नहीं कहना है। सीता ने कहा, तुम क्यों

दुर्ग्राहने हो। मेरा अशुभ कर्म उदय में आया है उसका फल मुझे भोगना ही पड़ेगा। तुम रामचन्द्र से मेरा एक सन्देश कह देना कि जिस लोकापवाद के भय से आपने मुझे जंगल में निर्वासित किया है। उस तरह भ्रमवश वहकिये में आकर अपने धर्म का परिभ्याग न कर देना। देखा मनी सीता का विवेक, माहम और रचना। सम्यग्दृष्टि जीव विपत्ति में भी अपने सन्तुलन को नहीं खोते, प्रत्युन अपने स्वरूप में सदा मावधान होने का प्रयत्न करते हैं।

भट्टारक विजयकीर्ति

(डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल)

विजयकीर्ति भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे। इन की अलौकिक प्रतिभा एवं पांडित्य को देखकर ज्ञानभूषण इन पर मुग्ध हो गये और अपने जीवन काल में ही सन् १५६० के पूर्व इन्हें भट्टारक पद पर बिठा दिया। विजयकीर्ति पहिले गृहस्थ थे। कुछ ही वर्ष पूर्व इनका विवाह हुआ था कि ज्ञानभूषण से इनकी भेंट हो गयी। ज्ञानभूषण उस समय भट्टारक थे और धर्म एवं साहित्य प्रचार के लिये स्थान स्थान पर भ्रमण करते रहते थे। एक दिन इन्हें विजयकीर्ति मिले। आपस में बातचीत होने के पश्चात् ज्ञानभूषण ने उन्हें अपना शिष्य बनाना चाहा। इसके लिये इनकी स्त्री को समझाया गया। संसार की असारता को कितनी ही तरह पति-पत्नी के सामने रखा गया और अन्त में ज्ञानभूषण को सफलता मिल गयी। भ० शुभचन्द्र ने एक रचना में इसी प्रसंग का अच्छा वर्णन किया है उसी के दो छन्द देखिये:—

वयस्य सुनि नव कामरुणी दुख धरिइ महत ।
कही वि मासण मभ हवी नवि वारयो रहि कत ॥
रे रे कामरुणि म करि तू दुखह इन्द्र नरेन्द्र मगाव्या
भिवह ।

हरि हर बंभमि कीया रंकह लोय सव्व मम वसी
हुँ निसंकह ॥

विजयकीर्ति शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता थे। लब्धिमार, गोम्मटसार, त्रैलोक्यसार के मर्मज्ञ विद्वान थे। न्यायशास्त्र पर उनका पूरा अधिकार था एवं कठिन काव्यों को वह सहज ही समझ लिया करते थे भ० शुभचन्द्र ने इनके पांडित्य का 'विजयकीर्ति छन्द' में निम्न प्रकार उल्लेख किया है:—

लब्धि सु गुम्मटसार सार त्रैलोक्य मनोहर ।

कर्कश तर्क वितर्क काव्य कमलाकर दिगम्बर ।

एक अन्य गुरु छन्द में भट्टारक शुभचन्द्र ने अपने गुरु का स्तवन करते हुये लिखा है:—

ध्यानामृत पानं वसइरानं विहित सृहं ।

परवादीय मर्द्दन विहित सुवर्द्दन निहित कुहं ॥

वदित सुर चरगां भव्यह शरगां पट्टधरं ।
विजयादिहि कीर्ति सो महमुत्ति धम्मधुरं ॥
धरि संग्रह भारं मोह विदारं मुहय तट ।
परवादी छिद जागुइ छंदं कम्मवृट ॥
संगार मुपंथं लोह विगथ छाया वद ।
जिरिमन एह चग गुण उत्त गं दलिन भट ॥
उन्मूलित प प निहित धिताप उधरइ गठ ।
उद्धरइ जिन गेह यात्र समूह वषइ मठं ॥
वदित सुर चरगां भव्यह शरगां पट्ट धर ।
विजयादिहि कीर्ति सो मह मुत्ति धम्म धुरं ॥

विजयकीर्ति उत्कृष्ट तपस्वी थे। बाईस परीषदों के विजेता एवं चौबीस प्रकार के परिग्रहों के त्यागी थे। अपने चारित्र्य एवं तपोबल से वे सबके जनमानस को अपने वश कर लेते थे। वे साधुओं के शिरोमणि एवं दुःस्वानल के लिये मेघ के समान थे। अन्य छन्द में शुभचन्द्र ने ही इनकी निम्न शब्दों से प्रशंसा की है:—

अमल सकल पद कमल विमल लपि नेहु म मंडित ।
निर्मल कोमल काय...वरगांगु सु पंडित ॥
लोचन कमल दल लाभ, लाभ कलिकाल मृ कारण ।
अचला बलिका लुब्ध, सुजन समार वितारण ।
मु ज्ञानभूषण पटाभरण, विजय कीर्ति शामन प्रवल ।
कुंडलि खेल सूरि शुभचंद सेवित पद कमल ॥

शास्त्रार्थ करने में वे निपुण थे। जहाँ भी जाते अपने वादियों से भिड़ जाते। वे स्वच्छन्द धृमते और ललकारने पर भी उन्हें कोई शास्त्रार्थ करने वाला नहीं मिलता। वे वादियों के गर्व को सहज में चूर कर देते और अपने अमृत मय बचनों से सबकी ज्ञान पिपासा को शान्त कर देते। जनता उन्हें वादीन्द्र के रूप में जानती थी भट्टारक शुभचन्द्र ने अपने एक छन्द में इनके शास्त्रार्थ की निम्न शब्दों में प्रशंसा की है:—

वादीयवाद विटंब वादि मिगल मद गंजन ।

दिगम्बर कवियों के रचित वेलि साहित्य

‘श्री अग्ररचन्द नाट्य’

कुछ वर्षों पहले जब श्री नाथूराम जी प्रेमी के प्रकाशित दिगम्बर जैन साहित्य की सूचियाँ ही देखी थी तब तक ऐसी ही धारणा थी कि श्वेताम्बर कवियों की तरह दिगम्बर कवियों ने विविध प्रकार की फुटकर रचनाएँ नहीं बनाई हैं। पर जब दिल्ली नागौर और जयपुर के दि० शास्त्र भण्डारों की सूचियाँ बनी तथा उन भण्डारों के महत्वपूर्ण गुटकों को देखने का अवसर मिला तो वह पूर्व धारणा गलत सिद्ध हुई। यद्यपि श्वेताम्बर कवियों की तरह विविध प्रकार की फुटकर रचनाओं की इतनी प्रचुरता दि० कवियों की रचनाओं में नहीं पाई जाती, उदाहरणार्थ तीर्थों की

यात्राओं और इतिवृत्त के संबंध में जितना प्रचुर साहित्य श्वेताम्बर कवियों का मिलता है, उतना दि० कवियों का नहीं मिलता, फिर भी परिमाण में चाहे कम हो पर अनेक प्रकार की फुटकर रचनाएँ दिग० कवियों की रचित भी प्राप्त हो गई हैं। और भविष्य में उनकी जानकारी और भी अधिक प्रकाश में आना संभव है। नागौर के भट्टारकीय भण्डार आदि में जो सैकड़ों गुटके हैं उनकी अभी तक पूरी सूची ही नहीं बन पाई है इसी तरह अनेक शास्त्र भण्डार होंगे।

वादिय कुद कुदान वादिश्च वय मन रंजन ॥
वादि निमिर हर मूरि वादि नीरमहमुधाकर ॥
वादिप्रितवन वीर वादि निगण गुणमागर ॥
वादिद्र विवध मरगति गच्छि मून मवि दिगवरह ॥
कहि...जानभूषण सो पट्टि श्री विजयकीर्ति, जगपति
वरह ॥ ५ ॥

विजयकीर्ति केवल मानवों द्वारा ही पूजित नहीं थे किंतु देवता और पशु पक्षी भी उनसे शिक्षा प्राप्त करते थे। वे आत्म-भयान में लीन रहते और अपने जान को सभी मानवों में समान रूप से वितरण किया करते। वे शरीर से कमनीय एवं वाणी से कल्याणकारी थे। प्रकृति से शान्त थे तथा तत्त्व चिंतन में लगे रहते। इसी को शुभचन्द्र ने निम्न रूप से कहा है:—

मृगनर खगचर चाम्बुद्र चंचिन चरण द्वय ॥
समयमार कामार हंसचर चंचित चिन्मय ॥
दक्ष पक्ष शुभ मुक्ष लक्ष्य लक्षण यतिनायक ॥
ज्ञान दान जित गान भव्य चातक जलदायक ॥
कमनीय मूर्ति मुन्दर मुकर धर्म शर्म कल्पलकर ॥
जय विजयकीर्ति मृगेश वर श्री श्रीवर्द्ध नमोस्तु व-

॥७॥

विजयकीर्ति की अभी तक कोई रचना हमें प्राप्त नहीं पूर्वचार्यों की रचनाओं की प्रतिलिपि करवा कर शास्त्र-भण्डारों में विराजमान करने एवं उनके स्वाध्याय का प्रचार करने में अधिक रुचि दिखलाई थी। नैम वे अपने योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे और इनके शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र कितने ही ग्रन्थों के रचनाकार थे।

विजयकीर्ति शास्त्रार्थ करने एवं साहित्य का प्रचार करने के साथ साथ नव मन्दिर निर्माण एवं प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार भी करवाते थे। इन्होंने संवत् १२६० की माघ कृष्णा:१२ को तथा संवत् १२६० की वैशाख शुक्ला २ की शान्तिनाथ स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई। संवत् १२६१ चैत्र ३ बुदि: ८ को नेमिनाथ की मूर्ति की तथा इसी वर्ष के वैशाख शुक्ला ४ को रत्नत्रय की मूर्ति की स्थापना कराई। संवत् १२६८ की फाल्गुण शुक्ला:५ को श्री मय ने आपकी बहिन आयािका देवश्री के लिये पद्म-नंदि पंचविशतिका की प्रति लिखवाई थी।

विजयकीर्ति संवत् १२५७ से १२६८ तक भट्टारक रहे इन्होंने अपने जीवन में जो साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्य किये वे चिरस्मरणीय रहेंगे।

१.२.३.४.५- देखियेभट्टारक सम्प्रदाय पृष्ठ १२४ १२५

★★★

अबसे १५-२० वर्ष पहले जैन सत्यप्रकाश में पागु, विवाहला, निलोका, संवाद, आदि कई प्रकार रचनाओं संबंधी लेख प्रो० हीरालाल कापड़िया आदि के प्रकाशित होने लगे तो मैंने भी उनकी अधूरी जानकारी को कुछ अंश में पूरी करने का यत्न किया और एक-एक रचना प्रकार सम्बन्धी जितनी भी जैन, जैनतर राजस्थान, गुजराती, हिन्दी रचनाओं की जानकारी मुझे प्राप्त हो सकी उनकी सूची को अपने लेखों में देता रहा।

वेलि संज्ञक ज्ञात रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्रो० हीरालाल कापड़िया ने यथा स्मरण "जैन धर्म प्रकाश" नामक पत्रिका में प्रकाशित किया तो मैंने कल्पना में बहुत सी नवीन जानकारी के साथ वेलि संज्ञक रचनाओं की विस्तृत सूची प्रकाशित की। राजस्थानी साहित्य में 'राठौड़ पृथ्वीराज रचित कृष्ण रुक्मणि' की वेलि बहुत ही प्रसिद्ध है और कुछ चारण कवियों की अन्य भी कई वेलियों अल्प संस्कृत लायब्रेरी आदि में प्राप्त थीं। अतः मेरा लेख प्रकाशित होने पर राजस्थानी साहित्य के महान विद्वान श्री नरोत्तम दासजी श्यामा ने श्री नरेन्द्र भनावत को वेलियों संबंधी शोध-प्रबन्ध लिखने की प्रेरणा दी तब तक दिग० कवियों की वेलि संज्ञक रचनाओं की जानकारी बहुत कम प्रकाश में आ पाई थी पर उसके बाद जयपुर के शास्त्र-भण्डारों की सूचियों ज्यों ज्यों छपती गईं, नई नई जानकारी प्रकाशित होती रही, फलतः अब तक करीब २० दिग० कवियों के रचित वेलियों का पता लग चुका है। प्रो० नरेन्द्र भनावत को राजस्थानी वेलि साहित्य नामक अपने शोध प्रबन्ध पर डाक्टरेट मिल चुकी है। उनके इस शोध प्रबन्ध में करीब ८० वेलियों की रचना की गई है जिनमें से दिग० कवियों की १८ वेलियों का उपलब्ध होना अवश्य ही उल्लेखनीय है। मैंने उनसे दिग० वेलियों की सूची मांगी थी तो उन्होंने दिनांक २-१२-६३ के पत्र में निम्नोक्त १५ वेलियों की सूची लिख भेजी है।

नाम कर्ता समय

- १) कर्मचूर व्रत कथा वेलि, सकलकीर्ति, १६ वीं शताब्दी
- २) पंचेन्द्रिय वेलि, ठकुरसी, संवत् १५५०
- ३) नेमिश्वर वेलि, ठकुरसी, संवत् १५५०
- ४) वेलि, छीहल, संवत् १५७५-८४
- ५) क्रोध वेलि, मल्लिदास, संवत् १५८८

- ६) सुदर्शन वेलि, वीरचन्द्र, १६वीं शताब्दी
- ७) जम्बू स्वामीनी वेलि, " "
- ८) बाहुवलिनी वेलि, " "
- ९) भरत वेलि, देवानंद, "
- १०) गुणटाणा वेलि, जीवंधर, सं० १६१६
- ११) लघु बाहुवलि वेलि, ज्ञानिदास, सं० १६२५
- १२) गुरु वेलि, धर्मदास, सं० १६३८-३९ पूर्ण
- १३) पंचांगनी वेलि, हर्षकीर्ति
- १४) मल्लिदास की वेलि, ब्रह्म जयसागर, १७वीं शताब्दी
- १५) षड लेस्या वेलि, साहलोड, सं० १७३०

श्री भनावत ने इससे पहले जो उन्हें ज्ञात ८० वेलियों की पूरी सूची भेजा थी उसमें उरोक्त १५ नामों के अतिरिक्त ३ और वेलियों के नाम हैं।

- १६) आदित्यवारनी वेलि, तथा
- १७) आदिनाथ वेलि, भट्टारक धर्मचन्द्र,
- १८) जीव वेलि, देवदास,

जयपुर के दिगम्बर शास्त्र भण्डारों की सूचियों में कुछ ऐसी वेलियों के नाम हैं जो कि १८ नामों में ही नहीं हैं। कुछ नाम उपरोक्त नामावली में होने पर भी उनसे रचयिताओं के नाम सूचियों में नहीं होने से वे वेलियों के हो रहे या भिन्न हैं नहीं कहा जा सकता।

१ आमेर शाल भण्डार सूची में गुटके नं० १५ में कलि कुण्ड पार्श्वनाथ वेलि का नाम छपा है और गुटका नं० २४ में वेलि गीत नामक रचना है। इन दोनों के रचयिताओं का नाम सूचि में नहीं दिया गया है।

२ ग्रन्थ सूची भाग २ पृष्ठ ६८ में गुण वेलि, ठकुरसी रचित का नाम है सम्भव है वह पंचेन्द्र या नेमिश्वर वेलि ही हो पृ० ३६५ में पंचेन्द्र वेलि, पृष्ठ ३६६ नेमिनाथ वेलि पृष्ठ ३७१ भरत की वेलि के रचयिताओं के नाम भी नहीं छपे हैं।

३ ग्रन्थ सूची भाग ३ के पृष्ठ १६७ में ऋषभनाथ वेलि का नाम है वह आदिश्वर वेलि से भिन्न है या अभिन्न निर्णय करना आवश्यक है।

४ ग्रन्थ सूची भाग ४ के पृष्ठ ६३८ में पंचेन्द्रिय वेलि छीहल, पृष्ठ ६२३ में गुण वेलि (चन्दनबालागीत) पृष्ठ ६४३ गुण वेलि, पृ० ७७५ में षड लेस्या वेलि हर्षकीर्ति

बघेरवाल जाति

(डा० विद्याधर जोहरापुरकर, जावरा)

प्रस्ताविक—

द्विगन्धर्व जैन समाज की जातियों में बघेरवाल जाति का भी विशिष्ट स्थान है। इस जाति के लोग राजस्थान तथा मध्यप्रदेश में और मद्रास में भी निवास करने हैं। इन की संख्या ५ हजार तक आसपास है। इस जाति का नाम राजस्थान में बकाल के निकट स्थित बघेरा नामक ग्राम से लिया गया है। इस ग्राम में इस समय खेलेवाल तथा अगरवालों के घर हैं जिनमें बारहवीं-तेरहवीं सदी की कई स्तुतियां हैं (जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३४४)। भाटों की अनुश्रुति—

बघेरवाल जाति के प्रत्येक परिवार के सदस्यों के नामों की सूची तैयार करने का काम भाटों के कुछ परिवार वंश परम्परा से करने आये हैं। वि० सं० १८७३ में भाट हीरानन्द और कालराम कांरंता में थे उस वक्त उन्होंने बघेरवाल जाति की स्थापना के बारे में इन शब्दों में वर्णन किया था—‘प्रथम दुहाड देश में राजा विक्रम के समय से और कुन्दकुन्दाचार्य जी के अम्नाय में जन्म स्वामी हुआ। ये बघेरा गाँव में आये। उस गाँव का

राजा बलिभद्र, उसका बेटा बरणकुवर और इक्ष्वाकुन गोत्र के इक्ष्वाकुन ठाकुर को उपदेश देकर बघेरवाल जाति ५२ गोत्र की स्थापना करी। संवत् १११ माह बदी ११ रविवार को। कुछ कारन कर कुछ घर केलागढ़ देश तरफ आया सो उनका धरम छूट गया। वहाँ बिहार करते करते लोहाचार्य जी काष्ठासंध वाले आये सो उनसे उपदेश देकर धर्म में स्थापना करी, सो सत्तार्थीय गोत्र काष्ठासंधी हुये संवत् १४० आसोज सुदि १४ मंगलवार को। संवत् १२४१ अलिपदैन पातस्याह के समय में चित्तौड़ में राणा रतनसिंह चौहान का कामदार पुनाजी खटोड था उसने ३५० घर लेकर दक्षिण में आया।’ (इस वर्णन का हस्त-लिखित हमारे संग्रह में है)। वि० सं० १९८७ में भाट रामबद्राम नागपुर आये थे, उन्होंने इस बारे में थोड़ा भिन्न वर्णन किया था—बलिभद्र राजा का पिता बाग नामक था तथा बलिभद्र के पुत्र बरणकुवर के ५२ पुत्रों से ५२ गोत्र स्थापित हुये, बघेरा गाँव के पास इनकी सेना में मरी का प्रकोप हुआ, तब रामदाम भाट की सलाह से

शोधांश

सं० १९८३ के नाम छुपे हैं यदि रचनाओं और रचयिता के नाम गलत नहीं छुपे हों तो तो षट् लेख्या बेलि-द्वय कार्ति और पंचेन्द्रिय बेलि छुहाल ये २ नाम उग्रांक १८ नामों में और बह जायेंगे। जिन बेलियों के रचयिताओं के नाम सूचियों में नहीं हैं उनकी अच्छी तरह जांच कर लेना चाहिए। यदि उनमें कोई अज्ञात मिले तो ठीक।

कुछ मर्दाने पहले मैंने छापूर के स्व० मोहनलाल दुधेडिया के पास एक महत्वपूर्ण दिग० गुटका देखा था उसमें गुणठाणा बेलि से भिन्न होना ही सम्भव है। वैसे

द्विगन्धर्व शास्त्र भण्डारों में कई श्वेताम्बर रचनायें भी मिलती हैं अतः लेखके क गुटके से जिन नेमि राजिमती बेलि की नकल मैंने प्राप्त की है वह श्व० सीहा कवि की रचना लगती है। हमका २ प्रतियों १५ वीं और १६ वीं शताब्दी की श्व० भण्डारों में मुझे प्राप्त हुई है। सम्भवतः बेलि-संज्ञक रचनाओं में यह सबसे प्राचीन है।

और भी कोई दिग० बेलि डा० कस्तूरचन्द कामजीवाल परमानन्दजैन, कुन्दनलाल जैन आदि की ज्ञान हो तो उस की जानकारी शीघ्र ही प्रकाश में लाने का अनुरोध है।

वे लोग समीप ही निवास करते हुए मुनि उमास्वामी, लोहाचार्य, विद्यानन्द, रामसेन व नेमसेन की शरण में पहुँचे, उनके मन्त्रजल से रोग शान्त हुआ, तब वे सब लोग जैनधर्म में दीक्षित हुए तथा रामदास के वंशजों को उनका कुल वृत्तान्त संप्रहीत करने का काम सौंपा गया।

कुछ और अनुश्रुतियाँ

काष्ठामंघ के विभिन्न भट्टारकों की प्रशंसा में समय समय पर लिखे गये कई छप्पयों का संग्रह हमारे संग्रह के एक हस्तलिखित गुटके में है। इसमें बघेरवालों के सम्बन्ध में भी पाँच पद्य हैं जो इस प्रकार हैं—

- १ काष्ठामंघ तप तेज नयर बडेली माहे ।
बघेरवाल वर न्यात गोत बागडिया त्याहे ॥
साह सदाकल सरस नारि कनकादे सुन्दर ।
करे धर्म आलोच जिनेश्वर पूज पुरंदर ॥
संबत बार हक्कावने विव प्रतिष्ठा यम तिलक ।
पार्ष्णनायत्री थापया जय जय जय बोलइ खलक ॥
काष्ठामंघ विशाल लाडवागड गच्छ जाणो ।
बघेरवाल वर न्यात गोत बोरखंडया बग्याणो ॥
पामसाह कुलतिलक नाम मोहन वर मंडन ।
संबत त्रण पंचब्राम धर्मध्वज रची अखंडन ॥
वेई पुर पाटन सरस पार्ष्णनाथ जिन थप्पयन ।
वृषभदास कवियण कही सों जय जय जम थप्पयन ॥
- २ काष्ठामंघ सुजाण न्यात बघेरवाल बिराजित ।
खटबड गोत गयंद पुरणमल साह सुसोभित ॥
नयर बघेरा मोह सरस अति कीर्ती प्रतिष्ठा ।
शान्तिदेव पधराय भोजन बहु दिया मिष्ठा ॥
संबत त्रण हक्कावने माघ मास दशमी शुक्ल ।
वृषभदास कवियण कही धरणायुत गुण तो अकल ॥
- ३ काष्ठामंघ उदार लाडवागड गच्छ सोहे ।
बघेरवाल वर न्यात गोत बोरखंडया मोहे ॥
उग्रसेन वड वीर पामसुत देश बिख्यातह ।
पट्ट दर्शन माहि कीर्ति कनकदे सुन्दर मातह ॥
संबत त्रण पंचावने पाटन माहि फलमल कियो ।
सुमतिदेव हम उच्चरे मुनि सुप्रत जिन थप्पयो ॥
- ४ काष्ठामंघ गच्छ सफल नाम माधुर मनमोहन ।

न्यात बघेरवाल गोत पितलिया मोहन ॥
साह नाम श्रीपाल नगर उजेणी माई ।
कियो प्रतिष्ठारम्भ देवता विक्रम साही ॥
संबत त्रण पैतास मे सुरनरखेचरनुतचरण ।
जयउ अबन्ती पाम लोहसूरिमंगलकरण ॥

अनुश्रुतियों का विचार

भाटों की अनुश्रुतियों में तथा ऊपर के पद्यों में इस जाति के व्यक्तियों की जो प्रचीन तिथियाँ दी हैं वे कल्पित ही मालूम पड़ती हैं; क्योंकि अन्य साधनों से उनका कोई समर्थन नहीं होता। सं० १४२ में काष्ठामंघ का अस्तित्व इस में वतलाया है वह तो स्पष्ट रूप से इतिहास के विरुद्ध है; क्योंकि काष्ठामंघ की स्थापना सं० ७५३ में हुई ऐसा दर्शनमार में वर्णन है तथा इसके शिला लेखीय उल्लेख तो बारहवीं शदी से ही मिलते हैं। किन्तु इन अनुश्रुतियों में कुछ बातें वार्ताविक भी हैं। बघेरवाल जाति के २२ गोत्रों में २५ मूलमंघ के तथा २७ काष्ठामंघ के अनुयायी थे बस बात का समर्थन विक्रम की अठारहवीं सदी के लेखक नरेन्द्रकीर्ति के एक पद्य से होता है (भट्टारक सम्प्रदाय पृ० २८४)—

श्री काष्ठामंघ नाम प्रथम गोत्र पंचबीस ।

मूलमंघ उपदेश गोत्र अंते सत्ताबीस ॥

बघेरवाल बड ज्ञाति गोत्र बावणगुण पूरा ।
धर्म धुरंधर धीर परम जिन मारग सुरा ॥
महाप्रतधारक भट्टारक श्री लक्ष्मीमेनय जानिये ।
गुरु उन्द्रभूषण गंगसम सुगुण नरेन्द्रकीर्ति यखाणिये ॥

इस जाति के लोग मूलतः राजपूत क्षत्रिय थे तथा बाद में जैनधर्म में दीक्षित हुये थे इसका भी एक समर्थक प्रमाण है। इस जाति में प्रतिवर्ष चैत्र शु० ८ तथा आश्विन शु० ८ को कुलदेवी का पूजन किया जाता है (उत्तरी प्रदेशों में नेरापंथ के प्रभाव से यह रीति लुप्त हुई है किन्तु दक्षिण में अभी रूढ़ है) जिसे दिन्हाड़ी पूजन कहते हैं। इस समय यद्यपि साधारण बघेरवाल अपने कुलदेवता को पद्मावती, चक्रेश्वरी या अम्बिका यह नाम देता है तथापि भाटों के कथनानुसार इन देवियों के नाम अलग अलग हैं—

उनके कथनानुसार चवरिया गोत्र की देवी चंद्रसेन है, ठोल्या गोत्र की देवी खंडवा है, पिनजिया गोत्र की देवी रुखमा है, बागडिया गोत्र की देवी चामुण्डा है तथा सुरिया गोत्र की देवी महिकावती है। ये नाम जैनधर्म के स्वीकार के पहले के होने चाहिये यह स्पष्ट ही है; क्यों कि जैन शासन देवियों में ये नाम नहीं पाये जाते।

दक्षिण प्रवास—

उपयुक्त अनुश्रुति में वधेरवालों के दक्षिण-प्रवास का समय सं० १२४१ बताया है तथा इसके नेता पूनाजी खटोड बताये हैं। किन्तु पूनाजी का समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में निश्चित है क्यों कि वे कारंजा के भट्टारक सोमसेन के शिष्य थे। इनके साथ वधेरवालों के १७ गोत्रों के लोग दक्षिण आए थे। इस समय इनमें दो गोत्र नष्ट हो चुके हैं—१२ गोत्र अभी भी दक्षिण में हैं, इन की जनसंख्या १२०० है। महाराष्ट्र की रीति के अनुसार इन लोगों ने स्थान या व्यवसाय बदलाने वाले उपनाम धारण कर लिये हैं तथा गोत्र नामों का व्यवहार प्रायः छोड़ दिया है। प्रत्येक गोत्र के जो अलग अलग उपनाम इस प्रकार हुये हैं उनकी सूची इस प्रकार है—

गोत्रनाम	उपनाम
१ खटोड	जोहरापुरकर, महाजन(कारंजा)
२ खंडरिया	आमेकर, कलमकर (जितूर) खंडारे, खोरणे, खोखापुरे भीसीकर, रुईवाले।
३ गोवाळ	संगई (अंजनगाँव)।
४ चवरिया	खेडकर, चवरे, डोणगांवकर, जितूरकर, देऊलगाँवकर, देवलसी, रायबागकर।
५ जुगिया	जोगी, किस्नेदार।
६ ठोल्या	कलमकर (कारंजा), ठबळी, सबाईसंगई।
७ नंगोत्या	गरिबे।
८ पितलिया	नांदगांवकर, दर्यापूरकर।
९ बागडिया	मिथ्रीकोटकर।
१० बोरखंडया	नगरनाईक (कारंजा), महाजन (नागपुर), माळधी।

११ सुरिया	भोरे।
१२ मढया	पेंढारी।
१३ साबला	गहाणकरी, भोंगाडे।
१४ सेठया	मुधोलकर।
१५ हरसोरा	कस्तूरीबाळे, नगरनाईक(चौदूर), हरसुले (संगई)।

कुछ स्मरणीय व्यक्ति—

अब हम वधेरवाल जाति के उन स्मरणीय व्यक्तियों का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे जिन्होंने ग्रन्थलेखन, मूर्ति-मन्दिर निर्माण आदि कार्यों से ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त किया था।

(क) पंडित आशाधर—वधेरवाल जाति का सर्व-प्रथम उल्लेख पंडित आशाधर जी ने किया है। उन्होंने अपनी जाति के इस नाम का संस्कृतीकरण 'व्याघ्रे रवाक्षान्वय' इस रूप में किया है। सागर धर्माभूत, अनगर धर्माभूत, जिनयज्ञकल्प, त्रिषष्टिस्मृति शास्त्र इत्यादि ३० संस्कृत ग्रंथों के रचयिता पंडित आशाधर का विस्तृत परिचय पं० नाथूरामजी प्रेमी ने दिया है (जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३४२—३५८)। उनके ग्रंथों का रचनात्मक सं० १२८५ से सं० १३०० तक का है।

(ख) पंडित सोमदेव—श्रुतमुनि कृत त्रिभंगीसार की संस्कृत टीका के कर्ता पंडित सोमदेव भी वधेरवाल जाति के थे। ये अभिदेव तथा विजैणी के पुत्र थे। श्रुतमुनि का समय सं० १३६८ में ज्ञात है अतः सोमदेव उस समय के बाद के लेखक हैं (जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४१६—४१७)।

(ग) जीजासाह—ये चित्तौड़ के प्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ के निर्माता थे। इन के विषय में एक विस्तृत शिखालेख मुनि कान्तिसागर जी ने प्रकाशित किया था अनेकान्त वर्ष ८ पृ० १४२)। दुर्भाग्य से उस का समय निर्देश ठीक नहीं है। एन्थुअन रिपोर्ट आफ इन्डियन एपिग्राफी सन १९५४-५५ में उदयपुर म्युजियम से प्राप्त एक लेख का सार इस प्रकार दिया है—इस लेख में वधेरवाल जाति के जीजाक द्वारा एक स्तम्भ की स्थापना का उल्लेख है। इस लेख की मूल प्रति देखने पर हमें यह वाक्य इस प्रकार मिला—वधेरवाल साह जीजाकेन कारितः स्तंभः। चित्तौड़ के कीर्तिस्तम्भ का शिखर पिछली शताब्दी में राणा-

फतेहसिंह के समय में टूट कर गिर पड़ा था। हमारा अनुमान है कि वह शिलालेख तभी वहाँ से उदयपुर लाया गया होगा।

(घ) पूनासाह—दक्षिण में जाने वाले बघेरवाल परिवारों के ये प्रमुख थे। कारंजा में भटारक सोमसेन के ये शिष्य हुए। अतः उनका समय विक्रम की सोलहवीं सदी में निश्चित है। ये उपयुक्त जीजामाह के पुत्र थे।

(ङ) वीरसंघवी—जिन्तूर (जिला परभणी) के समीप नेमगिरि पहाड़ी पर भौरों में तीन मन्दिर हैं जिन में नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा शान्तिनाथ की विशाल मूर्तियाँ हैं। नेमिनाथ मूर्ति के पादपीठ पर इन मन्दिरों के संस्थापक वीर संघवी, उनके तीन पुत्र तथा इन चारों की पत्नियों की मूर्तियाँ भी अंकित हैं। ये मन्दिर कारंजा के भटारक कुमुदचन्द्र के उपदेश से शक १२३४ = वि० सं० १६७० में निर्मित हुए थे। इस आशय का लेख भी वहाँ है। वीरसंघवी के कुल का इस समय कलमकर उपनाम है।

(च) बापूसंघवी—काण्ठासंघ-नन्दीतटगच्छ के भटारक श्रीभूषण के शिष्य ब्रह्मज्ञानसागर ने अपनी रचना अक्षर बावनी में बघेरवाल संघपति बापू का उल्लेख किया है तथा उन्हें लघुवय-बहुगुणधारी ऐसे विशेषण दिये हैं। इनका समय विक्रम की सत्रहवीं सदी का मध्य है (भटारक सम्प्रदाय पृ० २७६)।

(छ) भोजसंघवी—ये बापूसंघवी के पुत्र थे। कारंजा में इनका बड़ा व्यापार चलता था। शीलविजय की तीर्थमाला में इनकी समृद्धि का विस्तृत वर्णन है। इन्होंने गिरनार की यात्रा के लिये संघ निकाला था, तथा इस कार्य में एक लाख रुपये खर्च किए थे। इनके लिये पामो कवि ने शक १६१४ वि० सं० १७५० में भरतभुजबलि-चरित्रनामक काव्य की रचना की थी। इनके द्वारा स्थापित हत्तेत्रय यन्त्र (सं० १७४७) नागपुर के सेनगण मन्दिर में है (भटारक सम्प्रदाय पृ० २८६)।

(ज) पूजासंघवी—ये कारंजा के प्रतिष्ठित सज्जन थे। इनकी प्रेरणा से काण्ठासंघ-नन्दीतटगच्छ के भटारक सुरेन्द्रकीर्ति के शिष्य धनसागर ने सं० १७५६ में 'पार्श्व-पुराण' की रचना की। यह काव्य हिन्दी छप्पयों में है (सं० सं० पृ० २८८)।

(झ) वर्धासावजी—जोगी गोत्र के वर्धासाव जी नागपुर निवासी थे। भोंसला राजा रघोजी (द्वितीय) के दरबार में इन्हें अच्छी मान्यता प्राप्त थी। इन्होंने सं० १८४५ में नागपुर में एक मन्दिर बनवाया जो इस समय सेनगढ़ मन्दिर कहलाता है। इस मन्दिर के निर्माण के समय रघु नामक कवि द्वारा लिखी गई विस्तृत मराठी कविता हमने 'सन्मति' में प्रकाशित की है। नागपुर से ३० मील दूर रामटेक अतिशय क्षेत्र है वहाँ भी वर्धासावजी ने कुछ निर्माण कार्य कराया था। नागपुर में प्रतिवर्ग क्षेत्र व० १ को पञ्चावती का रथयात्रा उत्सव होता है उस का प्रारम्भ वर्धासावजी ने किया था।

(ञ) लेंकुरसंघवी—ये कारंजा के तत्ताधीश सेठ थे। एक बार एक सौदागर साठ ऊँटों पर कस्तूरी लाद कर बेचने जा रहा था। कारंजा में यह कस्तूरी कोई नहीं खरीद सकता ऐसा उसका वाक्य सुन कर लेंकुरसंघवी क्रोधित हुए तथा वह सब कस्तूरी खरीद कर उन्होंने अपने नए बन रहे घर की जुड़ाई के लिये तैयार किए गये चने में मिला दी। उनके इस विशाल निवास स्थान के खंडहर अभी कारंजा में हैं तथा कस्तूरी की हबेली इस नाम से प्रसिद्ध है। लेंकुरसंघवी का समय विक्रम की अठारहवीं सदी का अन्तिम भाग है। इन्होंने भी रामटेक क्षेत्र पर कुछ निर्माण कार्य कराया था।

(ट) रतनसाह—कारंजा निवासी रतनसाह भटारक शांतिसेन के शिष्य थे। सं० १८२५ में रामटेक यात्रा के अवसर पर इन्होंने हिन्दी शान्तिनाथ विनती की रचना की थी। सं० १८२६ में शान्तिसेन के पद पर मिद्धसेन का पट्टाभिषेक हुआ उनकी आरती भी रतनसाह ने लिखी थी। 'अवहर श्री जिन विंघ मनोहर' इस पंक्ति से प्रारम्भ होने वाली चौबीस तीर्थकरों की आरती विदर्भ में सुप्रचलित है (भटारक सम्प्रदाय पृ० २२-२३)।

उपसंहार—

उपयुक्त वर्णन मुख्यतः दक्षिण प्रदेश के प्रमुख बघेर-वालों के विषय में है। राजस्थान तथा मध्यप्रदेश के बघेर-वालों के विषय में लेखक को उतनी जानकारी नहीं है। इस प्रदेश के कोई विद्वान इस विषय पर प्रकाश डालें तो बहुत ही अच्छा होगा।

महापंडित आशाधर - व्यक्तित्व एवं कृतित्व

(पं० अनूपचंद न्याय तौर 'साहित्य रत्न' जयपुर)

राजस्थान की वीर भूमि को जिस प्रकार युद्ध भूमि में अंतिम दम तक डटे रहने वाले बलवान योद्धाओं को जन्म देने का गौरव प्राप्त है उसी प्रकार जन्म भर अथक परिश्रम करने वाले सच्चे साहित्य रचयियों को जन्म देने का भी सौभाग्य प्राप्त है। प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा के अनेक विद्वानों ने इस प्रदेश की धरा पर जन्म लेकर तन मन धन से मां भारती की अमूल्य सेवा की है तथा अपनी मौलिक रचनाओं, भाषान्तर किये हुए ग्रन्थों तथा अन्य अन्य प्रकार से यहां के ज्ञान भण्डारों को समृद्ध बनाया है राजस्थान में ये ज्ञान भण्डार इतने अधिक महत्त्वपूर्ण हैं कि आज भी इनमें सब मिलाकर लक्षाधिक हस्तलिखित ग्रंथ संग्रहीत हैं। राजस्थानी साहित्यकारों ने पुराण, चरित्र, काव्य व्याकरण काव्य, नाटक, आयुर्वेद आदि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर अनेक भाषाओं में रचनाएँ की हैं जिस से भारतीय संस्कृति को जीवित रखने में पूर्ण योग मिला है। इन्हीं साहित्य रचयियों में १३ वीं शताब्दी के महा पं० आशाधर जी थे जिनकी साहित्यिक सेवाओं का सभी भारतीयों को गर्व होना चाहिए।

पं० आशाधर जी संस्कृत साहित्य के अपार दर्शी विद्वान थे। ये मेवाड़ गढ़ (मेवाड़) के मूल निवास थे किंतु मेवाड़ पर मुसलमान बादशाह शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमणों से त्रस्त होकर मालवा की राजधानी धारानगरी में अपने स्वयं एवं परिवार की रक्षा के निमित्त अन्य लोगों के साथ आकर बस गये थे। पं० आशाधर वंशवाल जाति के आवक थे। इन के पिता का नाम सखलक्ष एवं माता का नाम श्री रानी था। सरस्वती इनकी पत्नी थी जो बहुत सुशील एवं सुक्षिता थी। इनके एक पुत्र भी था जिसका नाम छाहड़ था। इनका जन्म किस संवत् में हुआ यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता किंतु ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर उनका जन्म वि० सं० १२३४-३५ के लगभग अनुमानित किया जाता है। शहाबुद्दीन गौरी ने वि० सं० १२४६ के आस पास जब दिल्ली पर आक्रमण किया

और महाराजा पृथ्वीराज चौहान पर विजय प्राप्त की उसी समय अजमेर पर भी गौरी ने अधिकार किया था। इस आक्रमण के फलस्वरूप देहली और अजमेर में तथा राजस्थान में चारों ओर अराजकता मच गयी। आगे दिन मुसलमानों के आक्रमण होते थे और जानमाल की सुरक्षा का कोई प्रबंध नहीं था। आशाधर ने जब यहां चारों ओर अराजकता देखी तो वे परिवार सहित धारानगरी चले गये। इन की प्रारंभिक शिक्षा पहिले माण्डलगढ़ तथा पीछे धारा में ही हुई। धारानगरी उस समय साहित्य एवं संस्कृतिक केन्द्र थी। और इसीलिए इन्होंने भी वहीं व्याकरण एवं न्याय शास्त्र का गंभीर अध्ययन किया।

धारानगरी से साहित्य एवं संस्कृतिका परिज्ञान एवं नलकच्छपुर (नालछा) से माधु जीवन प्राप्त हुआ था। उनके हृदय में धारा नगरी में ही जैन धर्म एवं साहित्य सेवा का उत्कृष्ट भाव पैदा हो गया था किंतु वहां का वातावरण उसके अनुपयुक्त देखे थे वहाँ नहीं रह सके और उन्हें विवश होकर नलकच्छपुर जाना पड़ा। वहाँ का नेमिनाथ चैत्यालय उनकी साहित्यिक गति विधियों का केन्द्र बन गया वे लगभग ३५ वर्ष तक नालछा में ही रहे और वहीं एकनिष्ठा से साहित्य सर्जना में लग गये। वे निर्भीक विद्वान् थे तथा क्रिया की कभी परवाह नहीं करते थे। और जैसा भी आगम साहित्य में लिखा है उसके अनुसार अपने इष्टमित्रों को चलने का आग्रह करते थे। यदि उन्होंने गृहस्थों के लिये सागर धर्माश्रम लिखा तो मुनियों के लिये भी आचार व्यवस्था उन्हें करनी पड़ी और उनके लिये अनगर धर्माश्रम लिखकर इस क्षेत्र में आने होने वाले आचार्यों मुनियों एवं श्रावकों को एक नवी दिशा दी। व्याकरण और न्याय शास्त्र के वे असाधारण विद्वान् थे तथा आयुर्वेद एवं ज्योतिष जैसे विषयों पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। काव्य रचना में तो वे अत्यधिक पारंगत थे। उन्हें जिस किसी विषय पर भी कोई रचना लिखनी होती वे लिख डालते और वह भी अद्वितीय रचना होती। वास्तव में आशाधर जैसा गंभीर

एवं उद्भट विद्वान् गत १००-७०० वर्षों में नहीं हुआ। वे अपनी धुन के पक्के थे, एक बार जिस कार्य को अपने हाथ में ले लिया उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। आगम साहित्य के अधिकारी विद्वान् होने के साथ वे सुधारवादी निष्पक्ष विचारक थे पंथ व्यामोह उन्हें छू तक नहीं गया था। मुनिनाम धारी लोगों में उन्हें कोई श्रद्धा नहीं था बल्कि शिथिलाचार देखकर उन्हें दुःख होता था। तथा वे उन्हें जिन शासन को मलिन करने वाले कहते थे।

‘अष्टांगहृदय’ जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ की टीका लिख कर उन्होंने अपने आयुर्वेद-ज्ञान की दुंदुभी चारों ओर बजा दी एवं ‘काव्यालंकार’ तथा ‘अमरकोष’ जैसे ग्रंथों की टीका लिखकर तत्कालीन भारतीय विद्वानों में अपना सर्वोच्च स्थान बनाया। वे दार्शनिक थे और अपने दार्शनिक ज्ञान को प्रकाशित करने के लिये ‘प्रमेय रत्नाकर’ नामक ग्रंथ की रचना की। उनका ‘भरतेश्वराभ्युदय’ एवं ‘राजी-मती विप्रलम्भ’ काव्य शास्त्र की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। आशाधर आगम साहित्य की तरह विधि विधान के भी पूरे जानकार थे। ‘जिनयज्ञकल्प’ अपर नामा ‘प्रतिष्ठा-सारोद्धार’ उनकी प्रतिष्ठा संबन्धी उत्कृष्ट रचना है। इस प्रकार यह कहना चाहिये कि आशाधर ने ऐसा कोई विषय नहीं छोड़ा जिस पर उनकी लेखनी न चली हो। वे सिद्धहस्त विद्वान् थे। और इसीलिये वे तत्कालीन युग में पंडित से बढ़ कर महा पंडित कहलाए। आशाधर द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या २१ होगी लेकिन दुःख है कि उन में से कुछ प्रमुख ग्रंथ अप्राप्य हैं।

आशाधर श्रद्धालु भक्त थे। भूपाल चतुर्विंशति पर उन्होंने संस्कृत में टीका लिखी है। उसमें विद्वत्ता के साथ २ उनका भक्ति भाव से सराबोर हृदय प्रदर्शित होता है। उन का जिनसहस्रनाम एक दृष्टि से और भी उल्लेखनीय ग्रंथ है जिसमें श्रीवीतराग प्रभु का एक हजार नामों से स्तवन किया गया है। इस पर तथा अन्य ग्रंथों पर स्वयं

उनकी लिखी हुई स्वोपज्ञ टीकाएँ भी हैं। नलकण्ठपुर उनकी साहित्यिक रचनाओं का केन्द्र था। यहीं से वे सारे जगत को अपना साहित्यिक सन्देश सुनाते थे। वे प्रतिभा-शाली विद्वान् थे उनके साम्निध्य में बड़े २ विद्वान् एवं साधु भी अध्ययन कर अपने को गौरवान्वित समझते थे। व जहाँ कहीं भी जाते अपनी रचनाओं का प्रचार किया करते थे और इसी का फल है कि प्रायः सभी ज्ञान भंडारों में उनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं।

आशाधर के अनेक मित्र एवं प्रशंसक थे। उनकी प्रेरणा से वे ग्रंथ रचना किया करते थे। पंडित ‘जजाक’ ने उन्हें ‘त्रिषष्टिस्मृति’ शास्त्र रचने को प्रेरित किया तथा महीचन्द्र साहु ने उनसे ‘सागर धम्मस्मृत की टीका’ लिखने का अनुरोध किया। अनंगार धर्माश्रित की टीका हरदेव शास्त्री की कृपा से हो सकी थी। पंडित जी लोक प्रिय विद्वान् थे। वे अनेक उपाधियों से विभूषित थे। उनकी रचनाएँ उस समय इतनी अधिक लोकप्रिय बन गई थी कि जनता उन्हें ‘आचार्य कल्प’ कहने लगी थी। उनकी काव्य शास्त्र की विद्वत्ता से मुग्ध होकर उन्हें ‘कलि-कालिदाम’ के नाम से पुकारने लगे थे। दर्शनशास्त्र के पूर्ण अधिकारी होने से उन्हें ‘नय विश्वचक्षु’ की उपाधि से सम्मानित किया गया था। वे अथाह ज्ञान के धारक थे। ज्ञान की कोई सीमा उनके पास नहीं थी अपरमित ज्ञान के भण्डार थे और इसी लिये उन्हें प्रज्ञा-पुंज भी कहा जाता था। उनकी विद्वत्ता का लोहा जैनेतर विद्वानों ने भी माना है। मालवाधिराज अर्जुन वर्मा के गुरु बालमरस्वनी महाकवि मदन उनके निकट अध्ययन करते एवं विध्यवर्मा के मंत्री कवीश विलहण सदा उनकी प्रशंसा किया करते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महा पं० आशाधर अपने समय के ही नहीं किंतु आज भी साहित्य जितिज के जग-मगाते नक्षत्र हैं और आशा है आगे भी सैकड़ों वर्षों तक इनका नाम गौरव के साथ लिया जायगा।

“अपने मानव जीवन का मुख्य आंकना प्रत्येक नर-नारी का कर्तव्य है। जीवन के असूख क्षणों को सांसारिक

भोगों में गमा देना बुद्धिमत्ता नहीं है। किन्तु आत्म-साधना के साथ देश धर्म और जाति के हित में लगा देना कहीं अच्छा है”

दूसरे जीवों के साथ अच्छा व्यवहार कीजिए

(शिवनारायण सक्सेना, एम० ए०)

व्यक्ति समाज में रहता है, बिना समाज के उसका काम नहीं चल सकता, साधू सन्यासियों तक को किसी न किसी प्रकार समाज पर निर्भर रहना पड़ता है। इसलिए मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है। समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार है जो राज्य का ही एक बदला हुआ रूप है, इसमें सभी एक दूसरे के दुःख सुख में सम्मिलित होते हुए अपने कर्तव्यों को सम्भरने, सेवा करना तथा सभी प्रकार की सहायता करना ही प्रत्येक सदस्य का लक्ष्य होता है। यदि छोटे होने पर माता-पिता-भाई बहिन की सेवाएँ, धन, और सहायता प्राप्त करते हैं तो उनकी सेवा करने का भार भी हम पर आता है इसलिए एक हाथ आदि लेने के लिये खुला रहता है तो दूसरे हाथ से देने भी हैं। आनन्द जो देने में है वह लेने में नहीं, बालक जब जन्म लेता है तो माता-पिता सुभाव ग्रस्त रहकर भी उसका पालन पोषण कर प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव करते हैं यदि माता-पिता जन्म देकर ही उसे छोड़ देते तो उसकी क्या स्थिति होती, इस कल्पना मात्र से ही हमारे हृदय में भय उत्पन्न हो जाता है। कहने का मतलब यह है कि परिवार के सम्बन्धियों के और पड़ोसियों के सहयोग, सेवा, और सहायता पर ही बड़े होते हैं। सम्बन्धों की आत्मीयता, तथा ममत्व की आवश्यकता ही माता को अपने पुत्र की पीड़ा अपनी पीड़ा अनुभव होनी है। पर हमारा यह प्रेम, यह ममत्व संकुचित शायरों में बन्धा हुआ है, ठीक है यहीं तो हमारे प्रेम का बीधा बढ़ा होता है, इसे स्वाद, जल, और प्रकाश देकर आगे भी बढ़ाना है, अपना दृष्टि कोण बदलना है, परिवार का जो प्रेम है उसे पड़ोसियों, गाँव, नगर, जिला, प्रान्त और राष्ट्र के स्तर तक बढ़ाना है, महापुरुषों के जीवन को गहराई से जब हम देखते हैं तो उन्हें भुल अपना परिवार जान पड़ता है, आत्मीयता को राष्ट्र तक लाकर भी हमें चुप नहीं बैठना है फिर तो 'जय जगत' या 'विश्व-शंभु' की भावनों को अपनाना होगा।

परिवार में जैसे एक व्यक्ति को दूसरे के दुःख में दुखी और सुख में प्रसन्न होने देखते हैं वैसे तत्त्वदर्शी और समाज सुधारक राष्ट्र की चिन्ता में व्याकुल रहते हैं वह किसी को भूखा, नंगा, अशिक्षित और बीमार देखना नहीं

चाहते। कहां तक इस देश के इतिहास की गौरव मयी गाथाएं बताएं, यहां के लोगों ने शत्रुओं की सेना तक को सहायता पहुँचाकर आदर्श उपस्थित किया है। सन् १८२८ की बात है गोदावरी नदी के किनारे बाजीराव पेशवा और निजामुल्मुल्क के बीच घमासान युद्ध चल रहा था, मुसलमानों की बुरी तरह हार हुई, खाने पीने तक का सामान समाप्त होने लगा जिससे अनेक सैनिक मौत के मुँह में जाने लगे, इसी बीच मुसलमानों का पर्व भी निकट आ गया, अन्न के अभाव से मुसलमानों की बुरी स्थिति होने लगी। निजाम ने पेशवा से अन्न समाप्त हो जाने और भूखे, मरने की खबर वृत्तों के हाथ मेजी। इस सूचना को पा पेशवा ने मंत्रियों से सलाह ली मंत्री बोले 'अच्छा अवसर आया है, इस समय आक्रमण करके शत्रुओं के दांत खट्टे किये जा सकते हैं, योग्य व्यक्ति तो ऐसे अवसरों में मोकों में रहते हैं। अतः श्रीमान, इस पुरण अवसर का लाभ हम लोगों को भी उठाना चाहिए। अन्न न भेजकर उनपर हमला करना चाहिए, पेशवा ने सुनने को तो बात मंत्रियों की सुनली, पर लगी बड़ी बुरी क्योंकि मंत्रियों की सलाह में स्वार्थ परता की गन्ध आरही थी, पेशवा ने यही कहा'' हमारी सबसे बड़ी कायरता होगी यदि भूख से मरती सेना को हम किसी प्रकार की सहायता न दें, इसलिए मंत्रियों ने नौकरों को बुलाकर शांति ही अन्न भण्डार से अन्न निकाल कर मुसलमान सैनिकों की रक्षा करो "इसका परिणाम जगतविदित है, निजाम ने कृतज्ञता प्रकट की और अन्न में पेशवा से सन्धि करली।

सभी को अपने समान मानने की भावना सब लड़ाई भगड़े, हिंसा, क्रोध, वैश और प्रतिशोध का अन्त कर देगी, अपने गोरख धन्धे में लगे रहने वाले व्यक्ति समाज में कभी श्रद्धा नहीं पाते, जो अपने लिये ही खाने, कमाने और जीवित रहते हैं वे तो निम्न कोटि के प्राणी हैं फिर उनमें पशुओं में अन्तर ही क्या रहता है? दूसरों को भूखा देखकर अपने सामने से जो भोजन की थाली हटा देता है वही तो सच्चा प्रेमी और दयालु कहलाता है, राजा रन्तिदेव स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों को दान देने और सहायता करने थे, ४८ दिन तक जल पीकर रहने वाले रन्तिदेव

कितने दुर्बल हो गये होंगे इसका आसानी से हम अनुमान लगा सकते हैं बाद को कोई सज्जन पकवान की थाली लेकर उसके सम्मुख आये, उसे भी ईश्वर की कृपा समझकर ४८ दिन के भूखे परिवार ने ईश्वर को भोग लगाकर प्रसाद समझकर पाने की तैयारी ही की थी, कि अचानक कोई ब्राह्मण देवता आ पहुँचे। उन्हें अतिथि समझकर उन्हें भोजन कराया और अपना सौभाग्य माना कि आज भी अतिथि को बिना गिलाये हमें न खाना पड़ा। अतिथि को विदा ही किया था, कि एक शूद्र आया, उसने भोजन की इच्छा प्रकट की, और तब तक एक चाँडाल कुत्तों को लेकर आ पहुँचा थोड़ा सा भोजन तो था ही वह भी उन सब में वितरित कर दिया। अब यही सोचा कि थोड़ा सा जल जो शेष है इसी को सब थोड़ा-थोड़ा बाँट कर पीले पर वह भी उनके लिये न था एक चाण्डाल जिसका गला प्यास से सूखा जा रहा था, दौड़ा-दौड़ा उधर आया और पानी की याचना करने लगा, धन्य है रन्तिदेव की उदारता और दयालुता जो बचा हुआ जल भी चाण्डाल को देकर प्यास बुझाई, और स्वयं परिवार क सभी सदस्य उम्र दिन भूखे और प्यासे ही रहे।

जिस व्यक्ति में हमारा समन्व होता है उसके दुःख को हम देख नहीं सकते उसे कोई पेशान करे, धमकी दे, तो हम बदला लेने के लिये अथवा रक्षा करने के लिए दौड़ पड़ते हैं जो व्यक्ति अपने हैं उनके दुःख, दरिद्रता तथा पेशानियों को दूर करना हमारा कर्तव्य हो ही जाता है जिन्हें पराया समझते हैं, उनके दुःख को हम देखने रहते हैं और कष्ट देने में भी कोई संकोच नहीं होता, इस तरह से अब यह बात सिद्ध हो गई कि समस्त बुराइयों की जड़ अपने और पराये के भेदभाव में है। यदि सबको अपना समझे, सबके साथ अपने प्रिय जनों जैसा व्यवहार करें तो समाज में सुखी जीवन सभी व्यतीत कर सकते हैं। महात्मा गान्धी ने कहा भी है 'तुम्हारे कार्य से किसी का दुःख न पहुँचे, इसका ध्यान रखना, एवं इसके अनुसार कार्य करना तुम्हारा कर्तव्य है।' पर आज के व्यक्ति में इतनी स्वार्थ परता आ गई है कि उसका कुछ कहना ही नहीं व्यवहार में योड़ी सी कमी आ जाने पर भा माता, पिता, भाई, बहिन और चाचा बूढ़ा इत्यादि से भी अथवा सम्बन्ध बिच्छेद कर लेते हैं, खेती,

मकान या अन्य किसी भी संपत्ति के मामले को मार पीट, हत्या और मुकदमें वाली तक हो जाती है, इसका तात्पर्य यही कि अपने भी अथ पराये हो गये, पर यदि पराये व्यक्तियों को अपना बनाने की कला हममें आजाये तो अनेक समस्याएँ सुलभ सकती हैं। महाभारत में दूसरे प्राणियों के साथ भी अच्छा व्यवहार करने की बात कहा गई है :—

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।

यद्यदात्मनि चेच्छेत् तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥

अर्थात्—जो स्वयं जीवित रहना चाहता है वह दूसरों की हिसा कैसे करे? मनुष्य अपने लिये जिन बातों की इच्छा करता है—वही दूसरों को भी प्राप्त हो—यही सोचना चाहिए।

दूसरों की सेवा और सहायता को तो अलग कीजिए, जान बूझकर दूसरे प्राणियों को मताना, कल करना, और मारना कितना बड़ा पाप है? इस तरह की कुम्भित भावना जैसे-जैसे मन में बढ़ती जाती है हमारा जीवन संकट में पड़ता जाता है, फिर उस संकट से बचना बड़ा कठिन होता है, इस हिंसक शक्ति से बचने का एक ही माध्यम है और वह है अहिंसा, प्रत्येक प्राणी से प्रेम रखने की भावना ही अहिंसा में छुपी है। देवर्षि नारद ने आठ पुण्यों की अर्चना से ईश्वर के प्रसन्न होने का संकेत किया है उनमें पहला पुण्य अहिंसा (अहिंसा प्रथम पुण्य) ही बताया है। यह पुण्य जहाँ भी चढ़ाया जाता है सफलता प्राप्त की जा सकती है। आज युद्ध की विभीषिकाओं, तथा सेना पर होने वाले व्यय से सभी राष्ट्र परेशान हैं फिर भी युद्ध की नैयारियों से अपना पिण्ड छुड़ाना नहीं चाहते, इमर्सन ने चेतावनी दी थी "पता नहीं युद्ध मनुष्यों को इतना प्रिय क्यों है जबकि उसे मनुष्य एक दम प्रिय नहीं है।" इसी सम्बन्ध में टालस्टाय का कथन भी रमण हो आता है "सेना हत्या करने का साधन है। सेना को बनाना या रखना हत्या करने की तैयारी करना है 'हिंसा' मारकाट से शान्ति नहीं मिल, सकती क्या खून से खूनधुल सकता है।"

संसार में अधिक से अधिक व्यक्ति तक अहिंसा की बात पहुँचे, और अहिंसा के साम्राज्य की स्थापना हो तो हिंसा की अंत्यकरता से बचा जा सकता है, क्योंकि विनाश की इस प्रकृति के सम्बन्ध में जार्ज नार्डशा ने बड़े जोर

दर शब्दों में कहा था हिंसा का अर्थ है अन्त में मानवता का सम्पूर्ण नाश। यही कारण है कि आत्मा उसे स्वरक्षणीय वस्तुओं को विनाशक समझती है। महावीर महात्मा बुद्ध, ईसा, टालस्टाय और गान्धी इसी आत्मा की पुकार हैं।" क्रोध, लोभ और मोह ही हिंसा की जड़ हैं, क्योंकि हमारे के द्वारा अपमानित होने, बुरा भला कहने अथवा किसी प्रकार अहं पर चोट पहुँचाने पर हम बदला लेने पर उत्तारु हो जाते हैं, स्वयं चारने हैं, पुलिस में रिपोर्ट कर देने हैं अथवा थोड़े बहुत रुपये खर्च करवा कर दूसरों से उसकी हत्या ही करवा देते हैं। हमारे ने द्वारा छोटी सी की गई बुराई प्राण घातक बन जाती है। क्रोध पर मित्राचार्य के और कोई सबूत पाही नहीं सकता, जयशंकर प्रसाद के अनुसार 'दमा से बढ़कर किसी बात से पाप को पुष्प बनाने का शक्ति नहीं है।'

अनेक व्यक्तियों ने हिंसा को अपनी जाविकोपाजन का साधन बना लिया है, कमाई का कार्य ठीक ऐसा ही है। मांस बेचकर पैसे प्राप्त करना और अपनी उदर पूर्ति करना कितना निम्न कोटि का कार्य है, चमड़े, हड्डी, मांस आदि के लिए ही पशुओं की हिंसा की जाती है, बहुत से तो दूसरों से हजार पाँचवों रुपया लेकर व्यक्तियों तक को मार देते हैं, बुरा विचार करिये। यह कितना घृष्टित कार्य है? मोर ने फँस में फँस अनेक मानव अपने धर्म कार्य को ठीक चलाने या मन्तान प्राप्त करने, मुकदमा जीतने और विवाह सूत्र में बन्धने की दृष्टि से पूर्व में ही देवी देवताओं के मन्दिर में पशु बलि की मनीनियों करते हैं, एक ओर मन्तान प्राप्त करने की इच्छा तो दूसरी ओर ईश्वर की एक मन्तान जो बकरी, भेड़, गाय, या भेन है उसकी बलि चढ़ाने की किसी मन्दिर में नैयारी। यह स्वार्थपरता की उदाहरण है। फिर याज्ञकल फैशन के नाम कितनी हिंसा हो रही है इसको कल्पना करते ही विवेकशील व्यक्ति का तो माथा टनकने लगता है। रेशमी कपड़ों का बढ़ता हुआ फैशन घर-घर में घुम चुका है, चमड़े के प्रयोग को ही लीजिए हाथ में वेगके रूप में, कलाई में घड़ी के फीते के रूप में, कमर में पेटी के रूप में जब में मनी वेग के रूप में और पैर में जूतों के रूप में चर्म का प्रयोग किया जा रहा है, याज्ञकल जो चमड़ा मिलता है उसमें ६५ प्रतिशत चमड़ा जीवित पशुओं को मारकाट कर तैयार किया गया होता है,

गाँवों में दीन, हीन, दुर्बल खूँटे पर बंधे अपनी मौत मरने वाले पशु बहुत कम होते हैं, हम तो थोड़े रुपयों के लिये कमाई या दलाल को अपने पशु दे देते हैं और क्षणिक लाभ उठाते हैं, पर वह दलाल उस बूढ़े या जवान पशु को कसाई के घर तक पहुँचा देता है, जहाँ उसकी हत्या की जाती, खराब चमड़े में फैशन की वस्तुएँ नहीं बन सकतीं, उस से प्रामीण प्रयोग की भी तथा काम की उपयोगी वस्तुएँ बनाई जाती हैं, सुन्दर तथा फैशन की वस्तुएँ जीवित पशु को मारकर ही बनाई जाती हैं।

हम लिए भाइयो! हिंसा को पूरी तरह से हटाना ही होगा। अज्ञान का काला पर्दा तो अब तो हटा ही देना चाहिए, किसी भी जीव का अस्तित्व समाप्त करना, मार पीट कर या हत्या करके उसे तबफाना, और दुःख देना जैसी अनेक बुराइयाँ हिंसा के पीछे काम करती हैं फिर हिंसक क्या सुख की नींद सो सकता है? उसकी शक्ति का हान होता है, नरक दुःख भोगता है और पापी कहलाता है। सर्वोदय नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा है "अपने पराये का भेद मिटाना ही सबसे ऊँचा धर्म है।" इस भेद भाव के मिटने ही अहिंसा की ज्योति हमारे मन में जलने लगती है जिससे हिंसा रूपी अन्धकार को पलायन करना पड़ता है, सभी दृष्टि काँधों से अपना कल्याण चाहने तथा मानव कल्याण की भावना को बढ़ाने के लिये हिंसा को पूरी तरह से छोड़ ही देना चाहिए। सर्व जीव जन्तुओं ने तो हमारा कुछ बिगाड़ा भी नहीं है फिर हम इनके साथ इतना बुरा व्यवहार क्यों करते हैं? इनके साथ तो प्रति शोध का प्रश्न ही नहीं उठता, हम तो बुद्धि जीवी तथा विवेक शील प्राणी हैं, अच्छा और बुरा सब कुछ सोचने की योग्यता सबसे अधिक है। अतः हमें जैनाचार्य श्री अमितिगति के उपदेश को गोंट में बाँधकर अपने आचरणों में अहिंसा अगुधन का समन्वय कर आगे बढ़ना चाहिये :—

निःजानेनाहिंसा माम्मा धारां निपायते नरके।

स्वधाणं नहिं शास्त्रं, विद्वानः किं पतति भूमी।।

अर्थात् :—अहिंसा, आत्मा का आधार है जो पुरुष इसका विनाश करते हैं वे नरक में जाते हैं, जो पुरुष जिस डाँकी पर बैठा है यदि उसे ही काटता है तो भूमि पर ही आकर गिरता है।

★ ★ ★

भगवान महावीर

(बसन्त कुमार जैन, कोल्हापुर)

—:०:—

हे वीतरागमय वीर प्रभो ! मैं भी तुम जैसा बन जाऊँ ॥

अति मृदुल दया के सागर तुम, सब से ही प्यार किया तुमने । ना वैर किसी भी प्राणी से समता यह दिखलायी तुमने ।
कुछ, जाति, धर्म, तनुके अतीत सबकोही स्नेह दिया तुमने ॥ हर आत्माका कल्याण-मार्ग सच-सच ही बतलाया तुमने ॥

हे समता के सुविशाल दीप ! मैं भी वह दीपक बन पाऊँ ॥१॥

था तेज अहिंसा-रविका जब हिंसा-मेघों से आच्छादित । ना कलह किसीका किससे भी ऐसा ही तत्व किया चोतित ।
तुम दया-ववन बन मेघों को कर दूर अहिंसा की प्रगटित ॥ जिस रत्न-अहिंसा की छविसे फिर विश्व-शांति होगीनिश्चित ॥

हे महा अहिंसा के सागर ! तुम भांति दयामय हो जाऊँ ॥२॥

वह समवशरण सम-समताका सबही लेते थे जहाँ शरण । सबकाही हित है स्थित जिसमें करने उस ध्वनिका आश्वादन ।
सब भेद, वैर को तजकरही आते थे तुम्हरे निकट चरण ॥ शत्रुत्व भूलकर सब प्राणी थे आत्मधर्म में लीन-मगन ॥

यों दिव्य प्रभाव तुम्हारा था ! मैं भी विशाल त्यों बन पाऊँ ॥३॥

तुममें न राग था किससे भी, तुममें न द्वेषभी था किससे । जो सही-सही जाना तुमने वह बतलाया निहंतुक्से ।
तुममें न मोह था रंचकभी, तुमको न चाहभी कुछ किससे ॥ सर्वोदयका पथ प्रशस्तसा दिखलाया केवल करुणासे ॥

हे जगतबन्धु ! समदर्शी हे ! मैं भी समदर्शी बन जाऊँ ॥४॥

कितना-क्या है हर आत्मामें यह यथार्थ तुमने दिखलाया । 'निज उन्नतिका हक सबको है' यह सत्य तत्त्वभी प्रकट किया ।
अरमोन्नति हो जब आत्माकी, परमात्म वही यह सिद्ध किया, मिथ्या का तम-पट हटवाकर सत्यत्व-प्रभाको स्पष्ट किया ॥

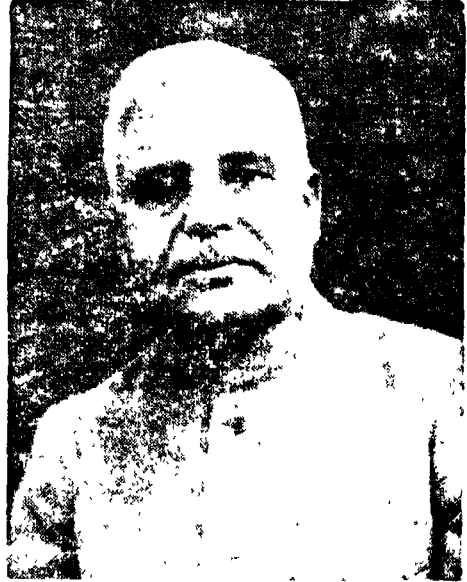
हे केवलशामी ! परमात्मा ! सद्गुण मैं तुम्हरे सब पाऊँ ॥५॥

तुमने जो धर्म दिया जग को है नाम उसीका आत्मधर्म । यह नहीं किसी कुछही जनका, यह सकल विश्वका विश्वधर्म ।
जो आत्मा इसे स्वीकार करें उन सबका है यह सार्वधर्म ॥ सर्वोदय इसमें रहा खुला, जग-हितकारी यह जगतधर्म ॥

हे त्रिभुवनके देवाधिदेव ! तुम जैसा मंगल बन जाऊँ ॥६॥

बाबू कामता प्रसाद जी

बाबू कामता प्रसाद जी जैन समाज के अच्छे सेवक उसाही कार्य कर्ता और साहित्य तथा इतिहास के विद्वान थे। आपने मैट्रिक के बाद कोई उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाई थी। किन्तु विद्याभिरुचि और अध्यवसाय से ही अपने ज्ञान की वृद्धि की थी। जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों के अध्ययन के साथ साथ आपने भारतीय वाङ्मय के अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। आपकी रुचि स्वभावतः इतिहास की ओर भी गई। और अनेक ऐतिहासिक अंग्रेजी ग्रन्थों का अध्ययन भी किया। और शोध—खोज के कार्यों में भी अपना समय लगाया। भा० दि० जैन परिषद् के मुख पत्र 'वीर' का आपने वर्षों तक सम्पादन कार्य किया। जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) की पत्रिका के भी आप सम्पादक थे। अनेक ग्रन्थों के लेखक अनुवादक तथा अखिल जैन विश्व मिशन के संचालक थे। अहिंसा यात्रा और वाइम आफ अहिंसा जैसे मासिक पत्रों के सम्पादक थे।



बा. कामता प्रसाद जी कहा करते थे कि मेरे हृदय पर स्वर्गीय वैरिष्टर चम्पतराय जी की छाप पड़ी है, उन्होंने अपने जीवन में महत्वपूर्ण कार्य किया है। उसी तरह मेरी भी इच्छा विदेशों में जैनधर्म के प्रचार की है। आपने इस दिशा में उचित परिश्रम भी किया। उनका यह कार्य अद्वितीय है। वे पत्र व्यवहार में निपुण थे। कोई भी पत्र वे उसका उत्तर तत्काल देते थे। वे समाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे, वे स्वयं मिशन थे और उसके प्रचार में लगे रहते थे, वे अपनी धुन के पकड़े थे। और विश्व में अहिंसा का प्रचार करना चाहते थे। यद्यपि यह बहुत कठिन तथा परिश्रम साध्य कार्य है, फिर भी वे उसमें अपनी शक्ति लगा कर लोक में जैनधर्म का प्रचार कर उसे विश्व धर्म बना देना चाहते थे। जो कुछ कार्य उन्होंने किया है, समाज को चाहिये कि उस कार्य को आगे बढ़ाने का यत्न करें यहाँ उनकी श्रद्धांजलि है।

आपकी रचनाओं में संक्षिप्त जैन इतिहास, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान महावीर, दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि आदि अनेक पुस्तकें आपकी लेखनी से प्रसृत हुई

हैं। लेखन कार्य करते हुए आपका समग्र जीवन ही व्यतीत हुआ है। अखिल जैन विश्वमिशन द्वारा जैनधर्म का प्रचार करने के लिये अनेक ट्रैक्टों का निर्माण और प्रकाशन कार्य किया। जैन धर्म प्रचार की आपकी उत्कट भावना थी। और उसी लगन का ही परिणाम था कि आप विदेशों में जैनधर्म का प्रचार कर सकें, और विदेशीय विद्वानों से जैनधर्म और अहिंसा पर साहित्य भी लिखवा सकें। आप अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में लिखते थे। यद्यपि आपका भौतिक शरीर अब यहाँ नहीं रहा। किन्तु आपका यशः शरीर सदा विद्यमान रहेगा। साथ ही आपकी कृतियाँ आपके जीवन को अमर बनाती रहेंगी। आपकी भद्र परिणति, और मिलन सारता जन साधारण को अपनी ओर आकृष्ट किये हुए है। आपने जैन धर्म और जैन समाज की अच्छी सेवा की है। आपके आकस्मिक निधन से जैन समाज की जो लुत्ति हुई है उसकी पूर्ति होना कठिन है। अनेकान्त परिवार दिवंगत आत्मा की परलोक में सुख-शान्ति की कामना करता हुआ कुटुम्बीजनों के प्रति हार्दिक समवेदना व्यक्त करता है।

जैनसाहित्यमें आर्य शब्दका व्यवहार

(साध्वी श्री मंजुलाजी)

मनुष्य की भांति शब्दों का भी अपना इतिहास होता है और उसे जानने के लिए शायद साहित्य से बढ़कर कोई पर्याप्त माध्यम नहीं होता। क्योंकि साहित्य में जो तथ्य अनायास और निरुद्देश्य उल्लिखित होता है वह अति रंजन और अरंजन दोनों से अनाविल रहकर अवतरित होता है। अतः सच्चाई के बहुत निकट होता है।

शब्द भावाभिष्यन्ति का साधन मात्र है, इसलिए शब्द का स्वयं में कोई अधिक मूल्य नहीं है। लेकिन एक

दूसरे के भाव शब्दों के सुकोमल यान पर पर्यारूढ़ होकर एक दूसरे की आत्मा का स्पर्श करते हैं, अतः शब्दों का कम मूल्य भी नहीं है।

यों तो मनुष्य की भांति शब्द भी अनादि कालीन ही है लेकिन व्यक्तिशः हर शब्द का क्षेत्रीय सीमा व काल-मान पृथक्-पृथक् होता है। तथा यह भी होता है कि एक शब्द उद्भव के समय चरम उत्कर्ष की स्थिति में होता है और कालान्तर में वही अपकर्ष की स्थिति में पहुँच जाता

(पृष्ठ २६ का शेष)

के चन्द्रमा (पट्टधर) सुहससि (शुभचन्द्र) ये १४ इसके आगे भोजराज का वंश आदि परिचय देते हुए उसके या उसके पुत्र संसारचन्द्र के राज्यकाल में सं० १४७१ में घटित एक धर्म प्रभावक घटना का उल्लेख हुआ है। १५ तदुपरान्त घत्ता-२ में संघाधिप ब्रह्मदेव (अमरसिंह मन्त्री के पिता) ने जिस गुरु के उपदेश से वह धर्मकार्य किया या उनका नाम दिया है—मुद्रित प्रशस्ति में यह नाम 'पहचन्द्र गुरु' प्राप्त होता है। १६ किन्तु ऐसा लगता है कि प्रतिलिपिक या मुद्रक के दोष से 'सु' का 'प', अर्थात् 'सुहचन्द्र' का 'पहचन्द्र' बन गया। यहाँ निश्चय ही इन्हीं भ० शुभचन्द्र से आशय रहा प्रतीत होता है, किन्हीं प्रभाचन्द्र से नहीं। १७ बीकानेर से प्राप्त एक प्रतिमा लेख

में भ० शुभचन्द्र की शिष्या डाहीवाई का तथा एक अन्य में केवल उनका अपना नामोल्लेख पाया जाता है, किन्तु इन अभिलेखों में समय निर्देश कोई नहीं है। १८

इस प्रकार भ. शुभचन्द्र का सुनिश्चित ज्ञात समय वि. सं. १४७१-१४८४ है। इनके पट्टधर भ. जिनचन्द्र की सर्व प्रथम ज्ञात तिथि वि. सं. १५०२ है। अतएव शुभचन्द्र का निधन सं. १४८४ और १५०२ के मध्य किसी समय हुआ हो सकता है। किन्तु यदि जिनचन्द्र की पट्टारोहण तिथि १५०७ ही हो और उससे पूर्वका उनका सामान्य मुनिजीवन गुरु के जीवन काल में ही बीता हो तो शुभचन्द्र की मृत्यु वि. सं. १५०६-७ में हुई होनी चाहिए भ. शुभचन्द्र के पट्टकाल का प्रारंभ वि. सं. १४७१ के पूर्व तो अवश्य ही हुआ किन्तु कितना पूर्व या कब हुआ यह उनके स्वयं के पूर्व पट्टधर भ. पद्मनन्दि की अन्तिम तिथि के निर्णायक निर्भर है।

क्रमशः

१४. जैन ग्रन्थ प्रशास्ति संग्रह, भा० २ पृ० न० १०१, पृ० १२८ इस पुस्तक के विद्वान सम्पादक पं० परमानन्द जी ने प्रशास्ति के इस अंश के जो अर्थ लगाये हैं वे ठीक मालूम नहीं होते देखिये उसी की भूमिका पृ० १७, ८६, १२६, १३०

१५. वही—१६. वही

१७. संभवतया 'सु' का 'प' हो जाने की भूल के कारण ही 'प' परमानन्द जी ने भूमिका (पृ० ८६) में यह लिख दिया कि 'उस समय

पद्मनन्दि के शिष्य भ० प्रभाचन्द्र पट्टधर थे'। वस्तुतः प्रभाचन्द्र तो पद्मनन्दि के गुरु थे। शिष्य नहीं। इस नाम के उनके किसी शिष्य का पता नहीं चलता।

१८. बीकानेर जैनलेखसंग्रह, न० १८६२ और २८३८

है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शब्द आता तो है अतिशय व्यापकता लिए और बाद में धीरे-धीरे संकीर्ण होता चला जाता है।

भारतीय संस्कृति के प्रतीक आर्य शब्द के साथ यही हुआ है। वह एक विराट् अर्थ लेकर आज भारतेतर देशों से आई हुई एक जाति विशेष के अर्थ में ही रूढ़ हो गया है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने आर्य जाति के बारे में जो लिखा है वह यों है—“भारतीय जातियों व संस्कृति की मूलधार ये ही चार जातियाँ थी - निषाद, द्रविड़, किरात व आर्य। इनमें आर्यों का स्थान सर्वोपरि रहा है, इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—“भारतवर्ष में अनेक जातियों के लोग समय-समय पर आकर बसने रहे हैं, और उन्होंने अपने ढंग से जीवन व्यतीत करने की प्रणालियाँ एवं विचार विकसित किए हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में समस्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। जहाँ कहीं भी सुसभ्य जाति को मानवों से सुदूर स्थानों में रखा, वहाँ वह बची रह गई है, उनकी भाषाओं द्वारा ही उसका अध्ययन सम्भव है। लेकिन निष्कर्ष के रूप में भारतीय जन समुदाय की ऐतिहासिक-धार्मिक और विचारगत विशेषताओं को लेकर बनी हुई संस्कृति के निर्माण में सबसे बड़ा हाथ आर्यों की भाषा का रहा। आस्ट्रिक और द्राविडों द्वारा भारतीय संस्कृति का शिलान्यास हुआ था और आर्यों ने उस आधार शिला पर जिस मिश्रित संस्कृति का निर्माण किया है, उस संस्कृति, का माध्यम, उसकी प्रकाशभूमि एवं उसका प्रतीक यही आर्य भाषा बनी। प्रारम्भ में संस्कृत, पाली, पश्चिमोत्तरीय प्राकृत (गोथारी), अर्ध मागधी अपभ्रंश आदि आदि रूपों में तथा बाद में हिन्दी, गुजराती, मराठी, उडिया, बंगला और नेपाली आदि विभिन्न अर्वाचीन भारतीय भाषाओं के रूप में भिन्न-भिन्न समयों एवं प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के साथ इस भाषा का अविधेय सम्बन्ध बन्धता गया।”

इसी पुस्तक में आगे यह भी बताया गया है कि केवल भारत में ही ३५०० वर्ष पुराना आर्य भाषा का अविच्छिन्न इतिहास उपलब्ध होता है तथा भारत में आर्यों का आगमन प्राचीनकाल के विश्व इतिहास में अपेक्षाकृत अर्वाचीन या

आधुनिक घटना है। इस विषय में अपना मत प्रदर्शित करना दुस्साहस सा दिखाई देता। फिर भी यह समय ई० पू० दूसरी शताब्दी के मध्य से अधिक प्राचीनतर तो नहीं हो सकता। आगे चलकर इसी काल को आर्य भाषा व साहित्य मात्र का आदि काल माना है। उपरोक्त तथ्य परस्पर बहुतेक विसंगत लिए हुए हैं। आर्यों के आगमन व साहित्य मात्र का काल एक ओर ई० पू० १५०० वर्ष माना है तथा वेदों को आर्यों का ही निजी साहित्य माना है जबकि वेदों की प्राचीनता ई० पू० ३००० वर्ष प्रमाणित हो चुकी है। फिर आर्यों को भी इतने लम्बे काल तक लेजाना चाहिए था। इस पर लेखक ने यह तर्क दिया है कि वेद आर्यों के आगमन के पहले भी थे। बाद में वेदों व पौराणिक परम्पराओं का संस्कृत व प्राकृत में आर्यीकरण हो गया। यह भी नहीं जचना, क्योंकि आर्यों की प्राचीनतम भाषा संस्कृत माना जाती रही है और वेद भी संस्कृत में थे व हैं। अगर वेदों का बाद में संस्कृतीकरण हुआ है तो उसका पहला रूप भी उपलब्ध होना चाहिए। दूसरे में आर्यों का यहाँ स्वयंभूत होना रुढ़िवादी हिन्दुओं की मान्यता कही जाती है, लेकिन आर्यों के आगमन की बहुमत तिथि २०० वर्ष ई० पू० मानी गई है, जबकि आर्य शब्द का उल्लेख इस पूर्व-वर्ती जैन, बौद्ध और वैदिक वाङ्मय में प्रचार मात्रा में मिलता है। अतः बहुत सम्भव है आर्य यहाँ की स्वयंभूत जाति रही हो। खैर, यहाँ आर्य शब्द मात्र जाति विशेष को लेकर आया है। ये सारे मतभेद आर्य जाति की उत्पत्ति व आगमन को लेकर हैं, लेकिन यहाँ का विश्लेषणीय आर्य शब्द व्यापक अर्थ में होगा, अतः यहाँ इन सारे तर्कों का कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ तो केवल स्पष्टीकरण किया गया है कि प्रस्तुत लेख के आर्य शब्द को समागत जाति के रूप में न देखा जाए।

“सन् १८३५ में फारस ने अपना नाम बदलकर ईरान रखा। जिसका आर्यन शब्द से सम्बन्ध है। यह यहूदी लोगों के साथ जातिभेद को स्पष्ट करने के लिए किया गया था।” यहाँ की आर्यन शब्द जाति विशेष का ही प्रतीक बनकर आया है, लेकिन प्राचीन भारतीय साहित्य में आर्य शब्द का प्रयोग श्रेष्ठता व कुलीनता के अर्थ में हुआ है।

अभिज्ञानशाकुन्तल में राजा, विदूषक, ऋषिकुमारों आदि सभी के लिए आर्य शब्द व्यवहृत हुआ है। जबकि जाति सबकी भिन्न-भिन्न थी। जैन साहित्य और भी व्यापकता लिए हुए है। वहाँ आर्य शब्द किसी एक ही अर्थ की सीमा में बंधा हुआ नहीं रहा।

जैसे आगम व आगमेतर दोनों ही प्रकार के साहित्य में आर्य शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। आगमों में शायद ही ऐसा आगम हो जहाँ किसी न किसी अर्थ में आर्य शब्द का उल्लेख न हुआ हो। बहुत सारे स्थलों पर एक ही अर्थ में आर्य शब्द को दोहराया गया है तथा नवीन अर्थों की स्फुरण भी काफी जगह हुई है। प्रस्तुत लेख में कुछ एक आगमों तथा आगमेतर ग्रन्थों में व्यवहृत आर्य शब्द का विश्लेषण किया जा रहा है।

प्रज्ञापना के प्रथम पद में आर्य शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, क्षेत्रार्य आदि। यहाँ आर्य शब्द अनेक अर्थों में तो प्रयुक्त हुआ है पर सर्वांगीण व्यापकता फिर भी नहीं आई। यहाँ बताया गया है कि आर्य वह है, जिसकी जाति आर्य है, कुल आर्य है। कर्म आर्य का मतलब है, जिसकी क्रियाएँ सम्यक् हों। यह फिर भी थोड़ा व्यापक है, लेकिन उन कार्यों में वह कर्म आर्य कर्म है जो लोक में अनिष्टनीय हैं, फिर चाहे वे कितना ही क्रूर क्यों न हों वे श्रेष्ठ कर्म भी आर्य नहीं गिने जाते जो लोक में गर्हणीय हों। यहाँ बात क्षेत्रार्य के बारे में है। जैन आगमों में मादे पंचागम आर्य देशों का उल्लेख आता है। उस समय जो देश आर्य गिने जाते थे उनमें से कइयों में आज आर्यता का लेश भा नहीं है। कई देशों के नाम बदल गए हैं तो कई नए देशों में शिष्टता व आर्यता का बहुत अच्छा विकास हुआ है। ऐसी स्थिति में आर्य शब्द की उपरोक्त परिभाषा शास्त्रात्मिक न होकर सामाजिक है, यह अनुमान सहजता ही हो जाता है।

उमास्वाति ने मनुष्य को दो भागों में बांटा है, १ आर्य और २ श्लेच्छ। जैन सिद्धान्त दीपिका में इसी का विश्लेषण करते हुए बताया गया है—मनुष्य मात्र के जो दो भेद हैं २,

१—आर्या श्लेच्छाश्च क (तत्त्वार्थ अ० ३ सू० १५)

२—आर्या श्लेच्छाश्च (जैनसिद्धान्तदीपिका प्र० ३ सू० २३)

आर्य और श्लेच्छ, उनमें आर्यों को अनेक भागों में विभक्त किया गया है ३। जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, क्षेत्रार्य आदि। यह सारे अर्थ प्रज्ञापना में प्ररूपित अर्थ के ही संवादक हैं। तत्त्वार्थ स्वोपज्ञ भाष्य में एक जगह आर्य शब्द का दूसरा अर्थ भी किया गया है। वहाँ अनेक प्रकार के आर्य बतलाए गए हैं। उनमें एक शिल्पार्य भी बनाया गया है और शिल्पार्य में तन्तुवाय, कुलाल, नापितः, तुन्तुवाय आदि को गिनाया गया है। इनको आर्य इसलिए कहा है कि ये अल्प सावध और अगर्हित आजीविका करने वाले होते हैं।

पृथ्वीचन्द्र चरित्र में आर्य और अनार्य की एक अन्य परिभाषा दी गई है। साधु जहाँ विहार करते हैं, वहाँ के लोग आर्य और मायुष्यों का जहाँ निरह हों, वहाँ के लोग अनार्य हो जाते हैं। इसलिए आज वे भी देश अनार्य हो गए जो पहले आर्य थे। यहाँ त्याग के संस्कार विशेष रूप से आर्य बनते थे, ऐसा सूचित होता है।

औपपातिक सूत्र में भगवान की देशना का वर्णन है। वहाँ बताया गया है कि आर्य और अनार्य सभी अपनी भाषा में उस प्रवचन को सुनते हैं और परिणत करते हैं। यहाँ आर्य और अनार्य में विभिन्न भाषा भाषी देशों के लोगों के लिए व्यवहृत हुआ है। सूत्रकृतांग में एक स्थान पर अनार्यम्भी ७ के अर्थ आर्य शब्द आया है। वहाँ दूसरी जगह भगवान के विशेषण के रूप में आया है जो श्रेष्ठत्व ३—तत्राद्या जातिकुलकर्मादिभेदभिन्नाः (जैन सिद्धान्त दीपिका प्र० ३ सू० २४)

४—शिल्पार्याः—तन्तुवाय, कुलाल नापित तुन्तुवाया अल्प-सावध अगर्हित जीवाः (तत्त्वा० स्वोपज्ञ भाष्य)

५—विहारात् विरहात् साधो, सार्याभूता अनार्यिका, अनार्या अभवहेजा कृत्यार्या अपि सम्प्रति (पृथ्वीचन्द्रचरित्र)

६—तेसिं सर्व्वेसि आरिय मणारियाणं अप्पणो समामाण परिणामेण परिणमइ। आरिय मणारियाणं आर्य देशोपन्न तदितरन्नाराणां (सू० ३४ उ० धर्मकाथा अधिकार)

७—आरिए जाय मव्व दुक्खपर्हाण मग्गे (सू० १ अ० २ अ० १ धर्म अधर्म पदा) १—आरिएहि पवेहए (आ० अ० ७ आर्य स्तीथी कृद भी (उ० ३ सू० २०४)

८—अज्जेति समणे भगवं महावीरे (सू० अ० २ अ० १ पंडुरिक)

का सूचक है। आचारांग में समागत आर्य शब्द का अर्थ १ टीकाकार ने तीर्थकर किया है। दूसरी जगह आर्य शब्द का जो अर्थ किया गया है, वह अत्यन्त व्यापक है। उसके अनुसार कोई भी कभी भी और कहीं भी आर्य कहला सकता है। वहाँ तीन चार विशेषण आए हैं—आर्य२, आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी आदि। टीकाकार ने यहाँ आर्य का अर्थ किया है—३ समस्त हेय धर्मों से दूर चला गया अर्थात् जो चरित्र के योग्य है, वह आर्य है। जो आर्य—प्रज्ञावान है, वह आर्यप्रज्ञ तथा जो न्यायोपपन्नता से देखता है, वह आर्यदर्शी है। आगे चलकर हिंसक को अनार्य और अहिंसक को आर्य की मजा दी है। वहाँ जो ऐसा करने वाले हैं कि सब जीवों को मारना चाहिए, छेदना चाहिये वे तो अनार्य हैं और जो आर्य है, वे उनके प्रलाप को दृष्ट और दुःश्रुत कहते हुए समग जीवों को अधात्य और अवध्य बतलाते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में आर्य शब्द का कई अर्थों में प्रयोग हुआ है। वहाँ आया है, निजरार्थी आर्य धर्म को स्वीकार करे। यहाँ 'आर्य धर्म' शब्द जैन धर्म के लिए नहीं, श्रेष्ठ धर्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। १० वें अध्यायन में दुर्लभता बनाने हुए आर्यत्व को अति दुर्लभ बनाया है। यहाँ भी आर्यत्व गुण का वाचक है। जहाँ आर्य की मोमता४ की शलाघा की गई है, वहाँ आर्य शब्द समताशील के अर्थ में प्रयुक्त हुआ लगता है।

आर्य की भाँति अनार्य शब्द का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ है जिस से आर्य शब्द का और भी सर्वांगीण विश्लेषण होता है। हरिवंशी मुनि के कृश शरीर व स्वल्प

सामग्री को देखकर यज्ञ स्थल में ठहरे हुए सारे कुमार आदि हमने लगे। उन्हें अनार्य६ कहकर पुकारा गया। यहाँ अनार्य शब्द असभ्यता व अज्ञानता का द्योतक है। इसी तरह मिथ्या७ दृष्टियों व पार्श्वस्थों को भी अनार्यों की श्रेणी में गिनाया गया है।

दर्शकालिक में भोग लिप्सु८ के लिए अनार्य शब्द का प्रयोग दिया गया है। जब मुनि परिस्थितियों से घबराकर पुनः गृहवास की इच्छा करता है, तब आचार्य उसे ललकारते हुए अनार्य शब्द का प्रयोग करता है। आर्य शब्द का व्यवहार अधिकांश दया संयतभाव के लिए हुआ करता था। वहीं पर एक जगह धर्मापद के लिए आर्यपद१० शब्द दिया है।

कहीं-कहीं नाना और दादा, नानी और दादी के लिए भी आर्यकम व आर्यिका शब्द आए हैं जो अवश्य अवस्था व अनुभवों की प्रौढ़ता तथा परिपक्वता के द्योतक हैं।

जैनागमों व आगेमतर ग्रन्थों में बहुत सारे स्थलों पर आर्य शब्द का प्रयोग हुआ है जो लगभग इन्हीं अर्थों का प्रतिनिधित्व करता है। इससे स्पष्ट है कि आर्य शब्द जो बाहर से आकर भारत में बसी हुई एक जाति विशेष के लिए प्रयुक्त होता रहा है, वह अन्ततः में बहुत ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था। इस शब्द को जहाँ तक खोजा गया है उससे भी पुराना है। इसका आदि इतिहास गहरी शोध के बाद ही जाना जा सकता है।

१—आरिण् अरियपन्ने, बारियदंसी (आ० ज० २ उ० ५ पा० ८८)

२—आरात्थात्-सर्व हेय धर्मास्य इत्यर्थं चरित्राहः, आया प्रज्ञा यस्यामाचार्य प्रज्ञः आर्य प्रगुण न्यायोपपन्नं पश्यति तत्शीलाश्चेत्यार्यदर्शी।

३—अणारिय वयणमेव तत्थ जे आरआ त एवं—सब्ब पाणा न हन्तवा (आ० उ० ४ उ० २ सू० १३४)

४—अरियत्त पुणरवि दुल्लहं (उ० अ० १० श्लोक १२)

५—अहो अज्जस्स सामया (उ० अ० २० श्लोक ८)

६—पन्मो वहि उवगरणं उयहमन्ति अणारिया। उ० अ० १२ श्लोक ३०)

७—ए व तु ममणा एमं मिच्छादिद्वि अणारिया (सू० सु० प्र० अ० १२२, श्लो० १०)

८—एवं मेरो उपासत्था पन्नवन्ति अणारिया (सू० अ० प्र० अ० ३ उ० ४ श्लोक ५)

९—अणज्जो भोग कारणा (द० चू० १ श्लोक १ च० २)

१०—पवेयण् अज्जपथं महामुणो (द० अ० १० श्लोक १८)

११—अज्जण पज्जण वाधि (द० अ० ७ श्लोक १८)

अज्जिण पज्जिण वाव द० अ० ७ श्लोक १५)

अयोध्या एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर

(परमानन्द शास्त्री)

अयोध्या एक प्राचीन ऐतिहासिक नगरी है, जो वर्तमान में उत्तरप्रदेश राज्य के अवध नामक इलाके में फैजाबाद जिले के अन्तर्गत सरयू नदी के किनारे पर अवस्थित है। और जिसकी गणना भारत की प्राचीनतम महा नगरियों में की जाती है। जैन संस्कृति के अनुसार अयोध्या सभ्य-संसार की सबसे पहली नगरी है। श्रमण संस्कृति के प्रवर्तक आद्यतीर्थंकर आदि ब्रह्मा ऋषभदेव की और अन्य चार तीर्थंकरों की जन्म भूमि होने के कारण उसकी महत्ता स्पष्ट है। इतना ही नहीं; किन्तु अन्य अनेक महापुरुषों की जनक रही है। इस कारण जैन संस्कृति में तो उसकी महत्ता है ही। किन्तु भारतीय संस्कृति में भी उसकी महत्ता आंकने योग्य है।

जैनों, हिन्दुओं, बौद्धों में ही नहीं किन्तु मुसलमानों में भी इसे तीर्थ रूप में माना जाता है। और यहां प्रायः सभी धर्मों की अनुश्रुतियों का उनके साहित्य में उल्लेख मिलता है। इतनाही नहीं किन्तु उक्त धर्मों के धर्मायतन भी बहु संख्या में पाये जाते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह नगरी बाद में विविध धर्म संस्थापकों का केन्द्र बनती रही है। बुद्ध और महावीर के युग में उनके अनुयायियों की महत्ता रही है। पश्चात् विविध धार्मिक मन्तों के समय होने पर उनका अभ्युदय होता रहा है। इक्ष्वाकु या सूर्यवंशियों के समय जैनियों और हिन्दुओं का प्रभुत्व रहा है।

प्राचीन काल से इसे बहुत अमें तक राजधानी बनने का भी गौरव प्राप्त रहा है। नाभिराजाके प्रपुत्र और ऋषभदेव के पुत्र भरत मगध जिनके नाम से इस देश का नाम भारत-वर्ष पड़ा, अयोध्या के शासक थे। इक्ष्वाकु वंशियों और सूर्य वंशी राजाओं ने यहां दीर्घ काल तक राज्य किया है। और उसके बाद अन्य अनेक वंशों के राजाओं ने शासन किया है। उस समय अयोध्या की समृद्धि अकरूपनीय थी। अयोध्या का जितना महत्व जैनियों को प्राप्त है उतना ही महत्व सनातन धर्मियों और बौद्धों आदि को भी प्राप्त है।

अयोध्या में जैनियों के पांच तीर्थंकरों और दो चक्र-

वर्तियों के जन्म लेने का उल्लेख जैन साहित्य में पाया जाता है। और यहां उनके अगल अलग पांच मन्दिर भी बने थे। यद्यपि इस समय जैनियों के प्राचीन मंदिर वहां नहीं हैं, और जो हैं वे १७ वीं १८ वीं शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं जान पड़ते। प्राचीन मन्दिर कालदोष या साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण विनष्ट कर दिये गये हैं। जैसा कि आगे के इतिवृत्त से ज्ञात होगा।

जैन साहित्य में इस नगरी का अयोध्या, अउज्झाउरि, अवधा, सुकोशला, कोशलपुरी, साकेत, विनीता, इक्ष्वाकु भूमि और रामपुरी आदि अनेक नामों से उल्लेख किया गया है। आदि पुराण में जिनसेन ने लिखा है कि-अयोध्या नगरी की रचना देवों ने की थी, और उसे वप्र प्राकार और परिखा आदि से अलंकृत बनाई थी, कोई भी शत्रु उससे युद्ध नहीं कर सकते थे। वह प्रशंसनीय सुन्दर मकानों और ध्वजाओं से अलंकृत होने के कारण साकेत कहलाती थी। मानों वे पताकाएं भी अपनी भुजाओं से संकेत हो कर रही हैं। कोशलदेश में होने के कारण सुकोशला और विनय-वाम शिखित एवं सभ्यलोगों से व्याप्त होने के कारण विनीता कहलाती थी। इक्ष्वाकु राजाओं की जन्मभूमि और राजधानी होने के कारण इक्ष्वाकुभूमि, रामचन्द्र के जन्म के कारण रामपुरी, और अवध प्रान्त में होने के कारण 'अवधा' कहलाती थी। पउमचरित में अयोध्या को बारह योजन लम्बी और नौ योजन विस्तीर्ण बतलाया है। हरिवंश कथाकोश में अयोध्या और साकेत नामों का अनेक कथा-

१. विविध तीर्थकरूप पृ० २४

२. अरिभिः योद्धुं न शक्या आदिपुराण।

३. आकेतैः सह वर्तमाना साकेता आदिपुराण १२, ७५, ७६ पञ्चचरित ३, १६६, १७०

४. पउमचरित २, १३ भगवती आराधना ६४६, तिलोय-पण्डित्ती४-अ०

५. ततो गङ्गा नदीतीरे वरं पश्चिम दक्षिणे।

अस्ति कोशल देशस्था साकेता नगरी परा।

हरिवंश कथा कोष० कथा १२७ पृ० ३१२।

स्थलों पर उल्लेख किया गया है। भगवती आगधना और तिलोय पण्यर्त्ता आदि जैन ग्रन्थों में उसका उल्लेख है। यशस्तिलक चम्पू में सोम देव ने अयोध्या को कोशल देश में बतलाया है। तथा मगधदेश में प्रसिद्ध अयोध्या के राजा सगरचक्रवर्ती का उल्लेख किया गया है२।

वैदिक साहित्य में अयोध्या

वेदग्रंथों में कहीं भी अयोध्या या कोशलदेश का उल्लेख नहीं है। किन्तु अथर्ववेद खण्ड दो में एक स्थान पर लिखा है कि— 'देवताओं का बनाई हुई अयोध्या में आठ महल, नवकार और लाहमय धन भंडार है। यह स्वर्ग की भांति समृद्धि सम्पन्न है३। शतपथ ब्राह्मण में केवल एक स्थान पर 'कोशल' का नाम आया है। हां, प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनीय व्याकरण के एक सूत्र में 'कोशल' का उल्लेख अवश्य हुआ है४।

पतंजलि महाभाष्य में 'अरुणदयवनः साकेतम्' दिया है जिसमें एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया है, और बतलाया है कि यवनो द्वारा साकेत पर आक्रमण किया गया था। यद्यपि पतंजलिने उक्त प्रकरण में उसका कोई परिचय नहीं दिया, किन्तु यूनामी लेखको के वर्णन से स्पष्ट है कि उस राजा का नाम मिनन्दर था और उसके सिद्धों पर भी उसका नाम प्राकृत भाषा में अंकित मिलता है। उस की दृष्टि पाटलीपुत्र (पटना) पर अधिकार करने की थी, अतः उसने मथुरा पर अधिकार कर लिया, क्यों कि साकेत को जीतने के लिये मथुरा पर अधिकार करना आवश्यक था पश्चात् उसने साकेत पर घेरा डाला५। पर बाद में उसे भागना पड़ा। परन्तु प्राचीन ब्राह्मण साहित्यका अयोध्या के सम्बन्ध में मौन होना इस बात का द्योतक है कि प्राचीन काल में इन्द्राकु या मूर्य वशी क्षत्रियों की उपासना का

प्राधान्य था, और वैदिक ब्राह्मण सभ्यता वहां बाद में पहुँची।

ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी पूर्व के लगभग महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण ग्रन्थ के रचे जाने पश्चात् ब्राह्मण परम्पराने अयोध्या के प्राचीन महापुरुष रामचन्द्र को अपना ना प्रारम्भ कर दिया था। उस समय उत्तरापथ के शासक मगध के ब्राह्मण जातीय शुगनरेश थे, जिन्होंने श्रमणों और बौद्धों पर बड़े अन्याचार किये थे। ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार का श्रेय भी उन्हें दिया जाता है। उस समय प्राचीन याज्ञिक क्रिया काण्ड रूप धर्म में क्रांति आगई थी, और औपनिषद्-आदिक के अध्यात्म प्रधान वैदिक धर्म ने पौराणिक हिन्दू धर्म का रूप लेना प्रारंभ कर दिया था। उसी समय से अयोध्या हिन्दू धर्म का केन्द्र बनने लगी थी। अतएव गुप्त काल में वैष्णवधर्म के अवतार बादके विकास एवं प्रचार के परिणाम स्वरूप अयोध्या की गणना हिन्दू धर्म के प्रमुख तीर्थों में होने लगी थी।

वाल्मीकि रामायण में६, कालिदास के रघुवंश में७, कुमार-दाम के जानकी हरण और भव-भूति के उत्तर रामचरित आदि ग्रन्थों में अयोध्या का सुन्दर नगर के रूप में वर्णन किया गया है। किन्तु भागवत में उसका उत्तर कौशल के रूप में ही उल्लेख हुआ है। (भागवत ५-१६-८)

बौद्ध साहित्य में अयोध्या

बौद्ध साहित्य में अयोध्या का उल्लेख साकेत और विशाखा के रूप में मिलता है। दिव्यवादान के अनुसार— 'स्य मागतं स्वयमागतं साकेतं साकेतमिति भंजां संवृत्ता'— अर्थात् जो आप ही आया आपही आया, इस कारण उसका

६—अयोध्या नाम तत्रास्ति नगरी लोकविभूता।

मनुना मानवेन्द्रेण पुंन निर्मिता स्वय ॥

आयता दश चक्रे च योजनानि महापुरी।

श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा नानासंस्थानशोभिता ॥

—बालकाण्ड

७—आसीद् वनन्यामतिभोगभाग—

दिवोऽवतीर्णा नगरीय दिव्या।

जत्रानलैस्थान शर्मा समृद्धया,

पुरीमयोध्येति पुरी परार्ध्या ॥

—रघुवंश

१. कोशलदेश मध्यामयोध्याया पुरि, पृ० २६३

२. मगध मध्य प्रसिद्धचाराध्यामयोध्याया नरवरः सगरो नाम यशस्तिलक पृ० ३५१।

३—अष्ट चक्रा नव द्वारा देवानां पृः अयोध्या।

तस्यां हि हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

४—बुद्धे कोसला जादा जज्यङ्गः ४, १, १७१।

५—देखो, जैनग्रंथ महावृत्ति की भूमिका पृ०-१० ११।

नाम साकेत पड़ गया।' साकेत और विशाखा में बुद्ध के कुछ चातुर्मास विताने और उनकी दंतों से वृत्त उत्पन्न हो जाने की घटना का उल्लेख मिलता है। चीनी यात्रियों ने अपने यात्रा विवरणों में साकेत और विशाखा का उल्लेख किया है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि बुद्ध के समय में और उसके कई सौ वर्ष के पश्चात् भी अयोध्या आदिनाथ आदि जैनतीर्थंकरों की उपासना का केन्द्र बन रही थी। ऊपर साकेत की जो व्युत्पत्ति उद्धृत की गई है, वह इस नगर को स्वयं निर्मित होने की आदिम कालीन अनुश्रुति की समर्थक है। दूसरे कोसल राज्य की नृप राजधानी श्रावस्ती को बौद्ध धर्म का केन्द्र बनाया जाना इस बात का सूचक है कि वहाँ जैनियों की प्रचलता थी। यही कारण है कि दशरथ जातक में राम के पिता दशरथ को काशी का राजा बतलाया और सीता को दशरथ की पुत्री और फिर उसी के साथ राम के विवाह की बात उल्लिखित की गई है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि बुद्ध का सम्बन्ध अयोध्या से न होकर विशाखा (श्रावस्ती) से रहा है। और उनके बाद किसी समय अयोध्या में हायमान सम्प्रदाय के कुछ स्तूप और मंदिर आदि वहाँ बने हुए थे। जिनका उल्लेख हैमा की ७ वीं शताब्दी में चीनी यात्री हुएनसांगने किया है।

महात्मा बुद्ध का जन्म कोशल देश के 'कपिलवस्थु' नामक नगर में हुआ था और परिनिर्वाण कुशीनगर में। महावीर और बुद्ध के समय कोसल नरेश प्रसेनजित की राजधानी श्रावस्ती में ही अनाथ पिण्डक द्वारा बनवाया हुआ जेतवन नामक विहार था। और विशाखा नाम की प्रसिद्ध उपासिका का पुत्राराम भी श्रावस्ती के निकट होने की बहुत कुछ संभावना है। इस तरह अयोध्या बुद्ध के पश्चात् ही किसी समय उनके धर्म का स्थान बनी। जब बुद्धधर्म का संस्थान बनी तब भी वहाँ जैनधर्म मौजूद था।

मुसलमानों के शासन में अयोध्या

सनातन, बौद्ध और जैनधर्मों को छोड़कर इस्लाम धर्मका सम्बन्ध अयोध्या के साथ अर्वाचान है। परन्तु मुसलमानों का कहना है कि आदिमक समय से ही अयोध्या विद्यमान है। तब तक अनेक पार और अजिमे इस नगर

में होते रहे हैं। आदिमक दोनों बेटों की कब्रों (अयूब और शीमकी) अयोध्या में बतलाई जाती हैं। मन्नाट अकबर का मंत्री अबुलफजल भी दो कब्रों का वहाँ उल्लेख करता है। 'इस नगर में दो बड़ी कब्रें हैं एक छह गज लम्बी और दूसरी सात गज लम्बी। जन साधारण का विश्वास है कि ये कब्रें अयूब और शीमकी हैं'। अयोध्या एक खुरद (छोटी मक्का) के नाम से प्रसिद्ध है।

११ वीं शताब्दी से पूर्व संभवतः मुसलमानों ने अयोध्या का नाम भी न सुना था। महमूद गजनवी पहला मुसलमान सुल्तान था, जो लूट-खसोट करता हुआ भारत के मध्य प्रदेश में प्रविष्ट हुआ था, किन्तु वह अयोध्या तक नहीं पहुँच पाया था। उसका प्रतिनिधि और भानजा सैयद माला मसऊदगाजी जो गाजी मियाँ और बाले मियाँ के नाम से लोक में प्रसिद्ध है। प्रथम मुसलमान सरदार था जिसने अवध पर आक्रमण किया था। वह अयोध्या भी पहुँचा था। किन्तु अयोध्या के तत्कालीन राजा श्री वास्तव ने, जो जेनाधर्मावलम्बी था, गाजी मियाँ को भगा दिया था। पश्चात् वह गाजी आगे बढ़कर सन् १०३२ (वि० सं० १०८६) में श्रावस्ती पहुँचा, जहाँ श्रावस्ती के तत्कालीन जैन नरेश सुहिलदेवने कोडियाला (कोशलया) नदी तट पर होने वाले युद्ध में सम्यन्ध परास्त कर सन् १०३६ में मार डाला गया। फारसी तबारीख में लिखा है कि कुटिलानदी के किनारे महण के वृत्त के नीचे एक तीक्ष्ण बाण लगने से सैयद-माला का जीवन-प्रदीप बुझ गया।

सन् ११६४ ईस्वी में मुहम्मद गौरी का भाई मसूदुल शाहजूरन गौरी सेना लेकर अयोध्या पर चढ़ आया। उसने वहाँ के सबसे प्राचीन भगवान आदिनाथ के विशाल मन्दिर को नष्ट कर दिया, और स्वयं भी उसी स्थान पर युद्ध में

१—देखो, मदीनतुल ओलिया।

२—देखो, आयने अकबरी भा० २ प्र० २४५

३—देखो, फारसी ग्रन्थ दर बिहिस्त।

४—देखो, अवध गजेटियर भा० १ पृ० ३

५—निन्द दरियाय कुटिला जेर दरख्तों गुलचिकों।

ब जर्व नावक हमचूँ मोजान शहीद सुन्द ॥

देखो, मैलाने मसजवीअनुवाद मीराते मसऊदी।

मारा गया और उसी स्थान पर दफनाया गया। इसी कारण वह स्थान शाहजूरन का टीला कहलाता है। जिनमन्दिर वहाँ थोड़े समयबाद पुनः बन गया, किन्तु बहुत समय तक उस मन्दिर का चढ़ावा शाहजूरन के वंशज ही लेते रहे। जो अब तक अयोध्या के बकस्रिया टोले में रहते थे।

इस घटना के बाद ५० वर्ष में अयोध्या पर मुसलमानों का पूरा अधिकार हो गया।

दिल्ली के शाही राज्य में अयोध्या

तुर्क पठानों के शासन काल में अयोध्या पर अनेक मुसलमान शासक रहे, परन्तु उन्हें ने अयोध्या की कोई श्री वृद्धि नहीं की। सन् १२३६ और सन् १२४० ईस्वी में नसीरुद्दीन नवासी और कम उद्दीन कैरान अयोध्या के शासक रहे हैं। जब जौनपुर में उसकी मल्लनत स्थापित हुई तो अयोध्या पर भी उसका अधिकार हो गया। यहाँ अनेक मुसलमान फकीर होते रहे हैं। उर्दू और हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अमीर खुशरो भी अयोध्या में आया और उसने वहाँ के दो प्रसिद्ध मुसलमान फकीरों (फजलअध्वाम कलन्दर और मृषा आसिकान) के आग्रह पर अपने सिपह-मालार मारवाका के द्वारा अयोध्या के प्रसिद्ध राममन्दिर को तुड़वाकर उसके स्थान पर उसी की सामग्री से मसजिद बनवा दी। यद्यपि अकबर के शासन काल में कुछ हिन्दू व जैन मन्दिर पुनः बन गये, किन्तु औरगंजबने उन्हें फिर तुड़वा दिया। मुगल शासन काल में अयोध्या का नाम फैजाबाद रख दिया गया और वह सूबा अवध की राजधानी रही।

अयोध्या के श्रीवास्तव नरेश

श्री वास्तव राजाओं ने अयोध्या पर तीन सौ वर्षों के लगभग राज्य किया है। सन् १८७० ईस्वी में श्री पी० कारनेगी ने लिखा था कि अयोध्या का यह सरयू पारी राज्य वंश जैनधर्मानुयायी था। अनेक प्राचीन देहरे व जैन धर्मा-यतन जो आज विद्यमान हैं। मूलतः इन्हीं राजाओं के बनवाए हुए थे। इन सबका जीर्णोद्धार हो चुका है। लाला सीताराम ने अपने इतिहास में लिखा है कि—‘अयोध्या के श्री वास्तव कायस्थों के संसर्ग से बचे रहे, तो मद्य नहीं पीते

और बहुत कम मांमाहारी हैं। इसी से अनुमान किया जाता है कि यह लोग पहले जैनी ही थे। १२ वीं शताब्दी तक के श्री वास्तव बड़े प्रसिद्ध थे और ठाकुर कहलाते थे। फैजा-बाद और उसके आस पास के जिलों में अब भी ब्राह्मणों और ठाकुरों के बाद हिन्दू समाज के प्रतिष्ठित अंग माने जाते हैं। मुसलमानों द्वारा इनकी राजसत्ता का अन्त हो जाने पर भी ये लोग दीवान, सूबेदार, कानूनगो आदि विभिन्न प्रशासकीय पदों पर काम करते रहे हैं। और धीरे धीरे मुन्शागिरी इनका पेशा बन गया।

अयोध्या के वर्तमान जैन मन्दिर

अयोध्या में दिगम्बर जैनियों के ५ मन्दिर विद्यमान हैं, जिन का सामान्य परिचय निम्न प्रकार है—

१ आदिनाथ मन्दिर—यह मन्दिर स्वर्ग द्वार के पास मुराईटोले में एक ऊँचे टीले पर है जिसे शाहजूरन के टीले के नाम से पुकारा जाता है। यह वहाँ स्थान है जहाँ पर सन् ११६४ ईस्वी (वि० सं० १२५१) में मुहम्मद गौरी के भाई मखदूम शाह जूरन गौरी ने सब से पहले इस प्राचीन विशाल जैन मन्दिरको नष्ट किया था, और स्वयं भी काल का प्राय बन गया था। वहीं उसकी कदम बनाई गई थी। यह मन्दिर उसी स्थान पर पुनः बनाया गया था। अतएव ऐति-हासिक दृष्टि से बड़े महत्व का है। यह आज भी शाहजूरन के टीले के नाम से प्रसिद्ध है।

दूसरा मन्दिर अजितनाथ का है—जो हडौआ (सन् सागर, के पश्चिम में है। इसमें एक मूर्ति और शिलालेख है। इसका जीर्णोद्धार सं० १७८१ में नबाब शुजाउद्दौला के खजांची दिल्ली निवासी लाला केशरीसिंह ने नबाब की आज्ञा से किया था।

तीसरा मन्दिर अभिनन्दन नाथ का है, जो सराय के पास है, यह भी प्रायः उसी समय का बना हुआ है।

3. A Historical Sketch of Faizabad,

सन् 1870

४. अवध गजेटियर भा० १ सन् १८७७ तथा अयोध्या का इतिहास पृ० ११७

१—अयोध्या का इतिहास प्र० १४६

२—अयोध्या का इतिहास पृ० १५२-१५३

जैनधर्म-तर्क सम्मत और वैज्ञानिक

(मुनि श्री नगराज)

जैन धर्म केवल आस्थाओं का ही धर्म नहीं, वह पूर्ण तर्क सम्मत और वैज्ञानिक है। आज के बुद्धिवादी युग में धर्म के नाम से जीवित रह सकने वाली कोई वस्तु है तो जैन धर्म है, जिसका प्रत्येक पहलू यौक्तिक और सहेतुक है।

जैन धर्म बताता है—अहिंसा हमें इसलिए मान्य है कि हमारी तरह सभी प्राणी जीना ही चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इस स्थिति में किसी को किसी की हिंसा करने का अधिकार नहीं।

जैन धर्म बताता है विश्व अनादि अनन्त है। इसका कोई पुरुष विशेष या अपुरुष विशेष सृष्टा नहीं है। यदि विश्व का किसी एक दिन प्रादुर्भाव हुआ और उसका कोई सृष्टा है तो प्राणी जगत और मानव जगत में दीखने वाली ये विविधाणं निर्हेतुक ठहरती हैं, क्योंकि विश्व की आदि से

पूर्व कर्म तो थे नहीं तो फिर सृष्टा ने एक को पशु और एक को मनुष्य क्यों बनाया? विश्व की आदि से पूर्व अनन्तकाल तक वह सृष्टा क्या रहा? उसे उन्ही दिन विश्व संघटना की बात क्यों सूझी? जैन धर्म मानता है, बीज से वृत्त और मनुष्य से मनुष्य जिस प्रकार आज पैदा होता है, वैसा ही क्रम अतीत में सदा ही रहा है और अनागत में भी सदा ही रहेगा, इसलिए विश्व स्वयं में अनादि अनन्त है।

जैन धर्म बताता है—स्याद्वाद हमें इसलिए मान्य है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिए हम एक साथ एक ही स्वभाव को व्यक्त कर सकते हैं। स्यादस्ति और स्याज्जास्ति हमें इसलिए मान्य है कि पदार्थ स्वयं इसी प्रकार व्यक्त होना स्वीकार करते हैं।

चौथा मन्दिर सुमतिनाथ का है, जो राम कोट के भीतर है अवध गजेन्द्रिय के अनुसार इस मन्दिर में भगवान् पार्वनाथ की दो और नेमिनाथ की ३ मूर्तियाँ विराजमान हैं।

पाँचवा मन्दिर अनन्तनाथ का है, जो गोला घाट के नाले के पास एक ऊँचे टीले पर है। इसका दृश्य सुन्दर है। दर्शनार्थी यात्रियों को चाहिये कि वे इन मन्दिरों का दर्शन पूजनादि कर उनके उद्धार आदि में अपना सहयोग प्रदान करें।

दर्शनेश्वर

अयोध्या का यह वर्तमान स्थान बहुत ही सुन्दर और चित्ताकर्षक है। इसका नाम दर्शनेश्वर है जिसकी लम्बाई चौड़ाई २८००० गज है और जिसके चारों ओर आठ फुट ऊँची और दो फुट चौड़ी एक पक्की दीवाल बनी हुई है।

दो बड़े दरवाजे हैं जिनके साथ कुछ कोठरियाँ बनी हुई हैं। दो पक्के कुण्ड हैं जिनमें मशीन से पानी निकाला जाता है। यह दर्शनेश्वर बाग राजा दुमरावन का था, जिसे अयोध्या के राजा ने खरीद लिया था। और अब अयोध्या के राजा से जैन समाज ने खरीद लिया है। इसमें आदिनाथतीर्थंकर ऋषभदेव की ३१ फुट ऊँची एक विशाल भव्य मूर्ति विराजमान की गई है। उसके चारों ओर दर्शन पूजनादिका स्थान रहेगा। उक्त मूर्ति के विराजमान होने से उस स्थान की शोभा दुगुणित हो गई। छतरी आदि के निर्माण और प्रतिष्ठा कार्य सम्पन्न होने पर यह स्थान धर्म साधन के लिए बहुत ही सुन्दर रहेगा। यदि समाज का पूर्ण सहयोग मिला तो यह स्थान अपने उत्कर्ष द्वारा जैन संस्कृति के प्रचार में सहयोगी हो सकता है। जैनाचार्य श्री देश भूषण जी की इच्छा उसे सुन्दरतम बनाने की है, वह सुदिन कब आवेगा।

कवि धनदास रचित अज्ञात कृति—

मव्यानंदपंचाशिका-भक्तामर स्तोत्र का अनुवाद

(मुनि श्री कार्तितनागर)

भक्ति-तत्त्व

अन्य भारतीय दर्शनापेक्षा जैनदर्शन में ईश्वर की स्थिति भिन्न है। पर भक्ति-तत्त्व को किसी न किसी रूप में अंगत, जैन साहित्यकारों ने अपनाया है। अपने दृष्टदेव-आराध्य-पूज्य के प्रति हादिक श्रद्धाभाव प्रकट करने का समुचित माध्यम भक्ति ही है। कहने की शायद ही आवश्यकता रह जाती है कि जैन-भक्ति की परिममाप्ति “संयम” में होती है। जैन संस्कृति में भक्ति साधन है न कि साध्य। वह स्वल हृदय की ही वस्तु नदी अपितु इसका क्षेत्र मस्तिष्क भी है। जहाँ भक्ति को दर्शनका रूप मिलता है वहाँ वह अपना मूल्य बहुत बढ़ा देता है। जैनों ने भक्ति का स्वरूप विमृष्ट माना है, केवल “ईश्वरानुरक्ति” तक ही सीमित नहीं रक्खा, जैसे बल्लभमतानुयायी मानते आये हैं। “श्वेताश्वतर” उरनिषद् में “भक्ति” शब्द का व्यवहार इसी अर्थ में हुआ है। “श्रद्धा” जैन संस्कृति का प्राण है। यों तो वैदिक साहित्य में भी “श्रद्धा” का व्यवहार प्रचुर परिमाण में हुआ है, पर इसका संपूर्ण अर्थघटन तदुत्तरवर्ती साहित्य में ही संभव हो सका है। परन्तु जैन साहित्य में इस शब्द का सक्रिय महत्व रहता है। श्रद्धा का मूर्त रूप अपनी-अपनी संस्कृति के मूल आधारों पर ही संभव है। यह बात भक्ति के लिए भी कही जा सकती है। सच बात तो यह है कि “भक्ति” एक ऐसा व्यापक तत्त्व है कि उसे शब्दों की सीमा में आबद्ध नहीं रक्खा जा सकता। व्यवहारिक रूप से दूसरे का सहारा लेना या चाहना ही “भक्ति” का शब्दार्थ है। “भक्तिसूत्र” के बाद भास्कर ने इसे और भी व्यापक बना दिया। यद्यपि पाणिनी के समय में भक्ति का अर्थ दूसरे का सहारा लेना “या चाहना” रहा होगा, आगे चल कर वह स्नेह पात्र और वात्सल्य का प्रतीक बन गया। साहित्यिक विश्लेषकों द्वारा प्रथम अर्थ लुप्त हो द्वितीय अर्थ का ही अस्तित्व शेष रह गया।

भक्ति में दो तत्त्वों की प्रधानता रहती है—एक तो स्वयं

साधक और दूसरा साध्य, जिसके प्रति वह आत्म-समर्पण कर संतुष्टि का अनुभव करता है। परन्तु जैन दर्शन में आत्मा ही सब कुछ है। उसका कोई नाथ नहीं। अपने उत्थान पतन में कोई साधक बाधक नहीं होता, उसके अपकर्ष स्वाधीन है। बाहरी कोई किसी का शत्रु-मित्र नहीं, वहाँ तो कार्मिक प्राधान्य है। दूसरे को चाहने का संवाह ही पैदा नहीं होता। यहाँ तो पार्थिव का तनिक भी महत्व नहीं होता, अपार्थिव ही सब कुछ है। आत्मिक सौंदर्य के जगाना ही उसका एक मात्र लक्ष्य है। आत्मा के गुण का विकास संयम के द्वारा किया जाना ही अभिप्रेत है जैन आराध्य किसी पर कृपा नहीं किया करते। वरदान और अभिशाप तो वैदिक परंपरा की देन है। जैन साधक परमात्मा से दीनता पूर्वक कुछ भी सांसारिक वस्तु की याचना नहीं करता, वह तो यही चाहता है कि परमात्मा के गुणों का प्रकाश मेरी आत्मा में फैले, और संयम में वीर्य का उल्लास बना रहे, उसके द्वारा मुक्ति की प्राप्ति हो। इन सब बातों के बावजूद भी जैनों पर वैष्णव भक्ति का प्रभाव नहीं पड़ा है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैनों द्वारा रचित कई स्तुतियाँ ऐसी पाई जाती जाती हैं, जिनका संस्कृति की मूल धारा से कोई संबंध नहीं। कोई भी परम्परा चाहे जितनी सूक्ष्म दार्शनिक आधार शिला पर क्यों न आधार हो पर कालान्तर में उसमें शैथिल्य आ ही जाता है या अन्य परम्परा से प्रभावित हो ही जाती है। जैन भक्ति पर वैष्णव-बल्लभाचार्य का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। श्वेताश्वर परम्परा के मंदिरों में रचाई जानेवाली अंग रचना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों में सूचित किया जा चुका है कि जैन भक्ति का वास्तविक स्वरूप “संयम” में प्रतिबिंबित होता है। इसी द्वारा साधक अपना अंतिम श्रेय-मुक्ति प्राप्त कर सकता है। आत्मा को कर्म से विमुक्त करने का एकमात्र यही सर्वोत्तम और समुचित मार्ग है। इसी से

स्पष्ट है कि श्रमण संस्कृति संयोग में विश्वास नहीं करती, यह वियोग के गीत गाती है—वह मृत्यु महोत्सव मनाना है जो जीवन का पूर्व रूप है। ऐहिक सुखोपलब्धि का जैन संस्कृति में स्थान नहीं है। त्याग और वैराग्यमूलक वीतरागत्व ही वहां का काम्य है। जैन स्तुति साहित्य में इसी की ध्वनि गुंजती है। जैन भक्ति व्यक्तिपूजा में तनिक भी आस्था नहीं रखती, वह गुणमूलक परम्परा की अनुरागिनी है। पूज्यता और उच्चता का आधार भी गुण ही होता है। व्यक्ति तो केवल माध्यम मात्र है। गुणानुवाद से आत्मा में गुण विकसित होते हैं। जीवन शुद्धि के मार्ग पर अग्रसर होता है और आत्म-शान्ति का पथ प्रशस्त होता है। दंप वृत्ति समाप्त होकर शील, सौजन्य एवम् समत्व से जीवन उद्दीपित हो उठता है।

भक्तामर स्तोत्र

भारतीय स्तुति-स्तोत्र साहित्य में जैनों का स्थान अन्यतम है। संस्कृति, प्राकृत और देश भाषाओं में अनेक कृतियां रचकर साहित्य के इस अंग को जैन साहित्यकारों ने परिपुष्ट किया है। केवल भक्ति साहित्य की दृष्टि से ही इनका महत्व नहीं है अपितु इनमें से कई स्तोत्र तो दार्शनिक और साहित्यिक दृष्टि से विशेष मूल्य रखते हैं। कइयों का ऐतिहासिक महत्व भी है। यद्यपि आजके अनुसंधान प्रधान युग में इस प्रकार के साहित्य का समुचित पर्यवेक्षण नहीं हो पाया है, पर जितना भी काम हुआ है, जो भी प्रकाश में आइ है उससे इनका सार्वजनिक महत्व प्रमाणित है। कइयों ने तो ऐतिहासिक उलझनों को सरलता से सुलझाया है। पर उन सभी का विवेचन यहां अपेक्षित नहीं है।

आचार्य श्री मानतुंग एक अनुभवशील स्तुति कर्ता साधक थे इनके द्वारा प्रणीत “भक्तामर स्तोत्र” भारतीय भक्ति साहित्य का अलंकार है। अनुभूति व्यक्त करने हुए आचार्य श्री ने जैन दर्शन के भौतिक तत्वों की रक्षा की है। स्तुति का उच्चादर्श और गुणमूल परम्परा का निर्वाह करते हुए आचार्य श्री ने अनुपम आदर्श स्थापित किया है। यही कारण है कि जैनधर्म के सभी संप्रदायों में इसका आदर के साथ दैनिक पाठ आज भी होता आ रहा है—होता है। व्यापकता की दृष्टि से संभवतः कोई स्तोत्र

इसकी समता नहीं कर सकता। जैन साहित्य में यही एक ऐसा स्तोत्र है जिस पर विभिन्न विद्वानों की लगभग ३६ से भी अधिक टीकाएं उपलब्ध होती हैं। इनके मार्मिक महत्व को प्रकट करने वाली अनेक कथाएं, मंत्र, यन्त्रादि प्रचुर परिमाण में प्राप्त हैं। पादपूर्ति साहित्य में इस स्तोत्र का खूब उपयोग किया गया है। इतना ही नहीं भक्तामर शब्द भी इतना लोकप्रिय हो गया कि इसी संज्ञा से “सरस्वती भक्तामर” “शान्ति भक्तामर” नेमि भक्तामर” “ऋषभ भक्तामर”, “वीर भक्तामर” और “काल भक्तामर” आदि स्तोत्रों की रचना हुई।

भक्तामर स्तोत्र मूल संस्कृत भाषा में निबद्ध है। संस्कृतानभिज्ञ जन साधारण भी इसका उचित आनंद उठा सकें तदर्थ श्री हेमराज, नथमल, गंगाराम आदि अनेक विद्वानों ने इसके पद्यबद्ध अनुवाद प्रस्तुत कर इसे लोकप्रिय बनाया और भी अनुवाद उपलब्ध हैं जिनमें से कुछ का प्रकाशन श्री मूलशंकरजी ब्रह्मचारी ने करवाया है, इन पंक्तियों के लिखने समय वह प्रकाशित सामग्री मेरे सम्मुख नहीं है।

प्रस्तुत रचना-रचनारकार—“भव्यानंद पंचाशिका” भी भक्तामर स्तोत्र का ही एक दुर्लभ अनुवाद है जिस की एक मात्र प्रति ही उपलब्ध हो सकी है। अद्यावधि प्रकाशित किसी भी जैन हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में नहीं हुआ। अनुवाद बहुत ही मधुर और गवालिरी भाषा के प्रभाव को लिए हुए है। अतः जितना महत्व इस कृति का धार्मिक दृष्टि से है उससे कहीं अधिक भाषा की दृष्टि से है। विशेष सौभाग्य की बात यह है कि जिस समय अनुवाद प्रस्तुत किया गया उसी समय का लिखा हुआ भी है। इसका लेखन काल सं० १६९५ है। गवालि-यर मंडल की भाषा के मुख को उज्ज्वल करने वाली अधिकतर रचनाएं जनों की ही देन हैं। अनुवाद की भाषा पर दृष्टि केंद्रित करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि धनराज या धनदास ने मंडलीय भाषा का प्रयोग करते समय बहुत सावधानी से काम लिया है। इसका शब्द चयन अद्भुत है। क्या मजाल है कि कहीं कठिन शब्द आ जाय। इसमें संदेह नहीं कि कवि को संस्कृत और तात्कालिक मंडलीय भाषा पर अच्छा अधिकार था। भावों के व्यक्ति-

करण में कहीं भी शैथिल्य नहीं आने दिया है। सीमित स्थान में दूसरे के भावों को रक्षा करना सरल कार्य नहीं है। भग्यानंद पंचाशिका के अंतिम पद्य से ज्ञान होता है कि कविने एक-एक पद्य का अनुवाद एक-एक दिन में किया है। इसमें ४८ काव्य तो मूल भक्तामर स्तोत्र के हैं और दो पद्यों में अपने विषय में स्वल्प संकेत है जिस से पता लगता है कि कवि के पिता का नाम राजनंद था और वह ग्वालियर मंडलान्तर्गत स्यापुर के निवासी थे। उनका गोत्र गोलापूर था। स्यापुर की संभवतः प्राचीन रचनाओं में यहाँ प्रथम ज्ञान पड़ती है। धनराज या धनदाम का परिवार संस्कृत साहित्य में रुचि रखता था। क्यों कि खड्गसेन-अमरसेन ने इसके परिवार का विस्तृत परिचय "भक्तामर जयमाल" की अन्त्य प्रशस्ति में दिया है। यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है कि भक्तामर की जो प्रति मिली है उसके एक-एक पद्य का अनुवाद तो धनराज ने किया और उसके एक-एक पद्य पर अमरसेन-खड्गसेन ने १२-१२ पद्यों की एक-एक जयमाल संस्कृत भाषा में परिगुम्फित की, परन्तु प्रति के जर्जरित हो जाने से उसका संपूर्ण पाठ नहीं मिल सका है। खड्गसेन ने सूचित किया कि धनराज के गोपाल, साहित्य, हंमराज आदि पाँच बंधु थे, जिन में धनराज।

“तेषां मध्ये कविर्धीर धनराजो गुणालयः”

धन कवि और धीर होने के साथ अनेक गुणों का आकार था। खड्गसेन धनराज के पितृव्य श्री जिनदाम का पुत्र था। —जिनदाम सुतोऽमरसेनः।

चित्र.—यहाँ यह कहने की कदाचित् ही आवश्यकता रह जाती है कि जैनों ने भारतीय ग्रंथस्थ चित्र कला के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो प्राचीनतम एनडिप्लिक जो भी प्रतीक उपलब्ध हुए हैं, लगभग जैनों के ही हैं। नव्य-भव्य विचारों को रूपदान देने में हमी समाज ने पहल की ऐसा कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा। जिस प्रकार पुरातन कथाओं के मार्मिक भावों को चित्र द्वारा समझाने का प्रयत्न हुआ है उसी प्रकार अपने प्रिय आराध्यों की स्तुतिमूलक रचनाओं को भी चित्रित करवा करवा कर जैनों ने अपनी कलोपासना का अर्धा-आर्ति सुपरिचय दिया है। कल्याणमंदिर आदि स्तोत्रों का प्राचीन सचित्र प्रतियां मिल चुकी हैं। कतिपय भक्तामर स्तोत्र

की भी प्रतियां मिली हैं। सुना है जयपुर के एक दिगम्बर जैन भंडार में इसका पूरी सचित्र प्रति विद्यमान है। पर वह अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। जिस “भग्यानंदपंचाशिका” का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है उसका पूर्ण प्रति सचित्र है। अतः चित्र कला के इतिहास का दृष्टि से, विशेषकर स्यापुर-ग्वालियर मंडल के चित्रों का दृष्टि से, इसका महत्व कम नहीं। शाहजहाँ कालिक चित्रकला का सफल प्रतिनिधित्व इन चित्रों द्वारा होता है। इसका चित्रण समय सं० १६६४ है और चित्रकार है मनोहरनाम कायस्थ। चित्रमय यह प्रति कविने स्वयं अपने लिए तैयार करवाई थी जैसा कि अन्तिम उल्लेख से प्रतीत होता है। प्रति के सम्पूर्ण चित्रों का परिचय देना तो यहाँ संभव नहीं है, पर हां साधारणतया किंचित् संकेत दिया जा रहा है।

प्रति का आकार-प्रकार लगभग चतुर्दिग १४ इंच है। पूरे पत्र पर चित्र अंकित हैं। मध्य में जहाँ कहीं भी स्वल्प स्थान मिला वहाँ भक्तामर का मूल पद्य प्रति लिपित है और अधोभाग में धनराज का अनुवाद दिया है। बाद में अमरसेन-खड्गसेन कृत “भक्तामर जयमाल” अंकित है। कहीं चित्रों के भावों के अधिक स्पष्ट करने के लिए भक्तामर के प्रतीक दिये गये हैं। एक चित्र के पूरे परिचय देने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता।

प्रथम चित्र में ऊपर के भाग में श्री मानतुंगाचार्य एक चौकी पर विराजमान हैं जिनके सम्मुख कमण्डल अवस्थित है। पृष्ठभाग में “अहं मानतुंगाचार्य” शब्द अंकित है। आचार्य करबड़ प्रार्थना की मुद्रा में भगवान् ऋषभदेव की स्तुति कर रहे हैं। सामने ही इनकी खड्गामनस्थ नग्न प्रतिकृति अंकित है। चरणों में उभय ओर मुकुटधारा अमर नत मस्तक है। मध्य में “भक्तामरप्रणतमोर्लिमणि प्रभाणां” शब्द आलेखित हैं। ऋषभदेव के बाएँ हाथ के पाम। देवताओं के मस्तक में धारित मुकुट की मणियों की प्रभा विश्वर रही है। प्रकाश का आलेखन गज्ज का है। ऋषभदेव के चित्र के बाएँ भाग में चोर्गति का चित्रण है और ऊपर “आलंबन” एवम् निम्न भाग में ‘भवजने पतिनां जनानां’ प्रतिलिपित है। पत्र के नीचे के भाग में ‘दक्षिण पावनमोर्गितानम’ लिखकर काले रंग से समुद्र बनाया गया है जिस में एक मानवाकृत नरत्ता दुई बनाई है।

इसी प्रकार प्रत्येक चित्र के भात्रों को बड़ी खूबी के साथ अंकित कर स्तोत्र को लोभोग्य बनाने का पूर्ण प्रयास किया है। प्रत्येक चित्र में चौकी पर, कहीं सिंहासन पर मानतु-गाचार्य का चित्र है। जिस चित्र का जैसा भाव है वैसी ही उनकी मुष्ठाकृति का मृत्जन किया गया है। कहीं-कहीं पुस्तक रखने की ठवणी और माला भी बनाई है। किसी चित्र में आचार्य के चित्र-प्रतीक भी हैं। सभी चित्र दिगम्बर मुद्रा के परिचायक हैं। इस प्रकार ४८ चित्र मूल रचना के हैं और ४६ वां भक्तामर को आभनाय के रूप में ग्रहण करते हुए धनराज का है जो अपने गुरु से इसका पाठ सुन रहे हैं। एक विशाल व्यास पीठ पर किसी मुनि का चित्र है। सामने पांनों बधु जिज्ञासा की मुद्रा में करबद्ध अवस्थित हैं। यह चित्र स्वेत रंग का है। शेष चित्र रंगीन हैं, जहाँ जिस रंगकी आवश्यकता थी, ठीक उसी का सफल प्रयोग किया गया है।

यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि चित्र मुगल शैली के हैं। और प्रदेशगत चित्रकला की मौलिक सामग्री प्रदान करते हैं। चतुर्थ चित्र और अंतिम चित्रों से मुगलकालिक पहनाव का पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है परन्तु कलाकार ने मुगल प्रभाव से प्रभावित होने के बावजूद भी अपने प्रदेश के कलौ-पद्धतियों का पूरा ध्यान रक्खा है। नारी, पुरुषों के पहनाव

ऐसे है कि जिसका व्यवहार आज भी उस प्रदेश में होता है। नृत्यशास्त्र के प्रकाश में इन चित्रों का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट पता चलेगा चित्र कि कितनी वास्तविकता और लाक्षणिकताओं से संयुक्त हैं कलाकार मनोहरदास ने एक कमी अवश्य रख दी है कि सामान्य पुरुष और नारियों के चित्रों में जितना सौंदर्य बिखेरा है उतना अशुभदेव और मानतु-गाचार्य की प्रतिकृति में नहीं। फिर भी इनकी सशक्त रेखाएँ इनके अलौकिक व्यक्तित्व की गंभीर झाँकी तो करा ही देती हैं। क्लासिकल आर्ट की अपेक्षा इन चित्रों को लोकचित्र कहना कहीं अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

इस प्रकार की रचनाएँ और भी प्राचीन जैन ज्ञानागारों में उपलब्ध की जा सकती हैं, पर एतद् अन्वेषण की अपेक्षा है। स्यौर की परिधि में और भी पता लगाया जाय तो अनेक गुवालियरी भाषा की जैन रचनाएँ सहज मिल सकती हैं। क्योंकि गुवालियर-मंडल के ज्ञानभंडारों का समुचित मूल्यांकन अभी नहीं हो पाया है।

भक्तामर स्तोत्र पर आज के अनुशीलन प्रधान युग में काम होना चाहिए और उसका समीक्षात्मक संस्करण की आवश्यकता तो है ही जिस में समस्त टीकाएँ और अनुवादों पर अध्ययन प्रस्तुत हो। अब्यानंद पंचाशिका का मूल इस प्रकार है :—

भक्तामर स्तोत्र हिन्दी अनुवाद

..... ही परै ऐसे जिनवरजू के भक्त अमर हैं ।
जिनके मुकट रसम राजन रतन मयकंचन जटित महा सोभित.....॥
.....लटक ही प्रभुके चरण पर आभा नषनि में व्यापी मानों दिनकर है ।
धनुदास सेवइ जिन चर ॥ तु हर है ॥१॥
.....आपु वांग्मय करै और करै काहि आवइ ।
सुरलोकहू के नाथ नरलोकहू के नाथ.....॥
अवर जितनै भव्य त्रिभूवन मांम वयै तिनकै हरति मनहू कौ भलै भावइ ॥
.....गीत के वाई सो धो पारु कैसे पावइ ॥२॥
.....कौ हीनौ नाथ औसौ सहु चाहै तेरी संस्तुति कहन कौ ।
कबहू तौ बुधन की संगति करी न.....लहन कौ ॥
राकापति आभा जल माह कौ प्रकास देखै बालक कै मनु शीश हातु.....।
.....राजमें कहायै भई प्रभुकी भगति उर अंतर रहन कौ ॥३॥

.....अनंत अन बंध नरकै सकति कैसे होति काबु कीबे की ।
 सुरणि कौ गुरु आपु संस्तुति अद्यपि बट्ट छीबे की ॥
 अंनुनिधि कल्पंत काल कै पवन कैसे मनुष्य कै भुजा बलु होइ पारु ली।
 री सब गुनन स्यौरै ताकी कौ भगति मति होइ हाऊ दीबे की ॥४॥
व सठनिकौ राउ है अनाथ बंधु तुम्हारी भक्ति मोरै संस्तुति करावै जू ।
 हौ तो निषट अयांनी ताहि जा तुम्हारी बी प्रीति मेरी रसनै सिखावै जू ॥
 नाही कछु मेरे गुनु एकहु अषिर केरे तेरेउ प्रताप नाथ तू ही मा।
 धनुदास हु मृग कैसा सुहै सुनै मृग हू के जीव जुरि जुद्ध कह आवै जू ॥२॥
 श्रुति हौ अजि वेदनि की न जानै गति मेरी बुध मंद न ठंड है ।
 आपु हो स्तुति आई उर कछु उपजावै गुन मैति व आपु हो करति है ॥
 जैसे कालिका कलमकी माववी वसंत रितु अंबको कलिका कम्बी स्वै में है ।
 सबह गुण को लीन तेरे कछु प्रभुकी परम प्रीत आई निषटति है ॥१॥
म नामु सुमिरै जु तेरौ नाथ ले ताके बहु जनम के पालग हरत है ।
 नरक जवैया जे सहैया दुष दुर्गति उ तेरौ नामु लै भौ-सागरु तिरत है ॥
 तमके समान आइ आछाजि रहत पाप रत्रिक समान प्रभु उदोतु करतु है ।
 धनुदास पा मक्यौ प्रतापु ताकौ कहौ परै धन्नि बढभागी जे जे हृदे में धरत है ॥७॥
 त्रिभुवननाथ के साथ श्रीअनाथ बंधु तुम्हारी भगति कीयै राजै मति मोरनी ।
 जैसे ही कुकडु होतु चंदनु प्रवा सु तेसे ही प्रगट बुधि नी ॥
 नातुरु जनम पाइ नर अवतार आइ वृथा ही गवायै गुनु नी ।
 धनुदास पंकज द थ जैसे मोभीयति जलहू की बिंदु दुति देख्यै मोतीयन की ॥८॥
 तुम्हारी स्तुति कीयै उमा रै रहौ प्रभु कापे नहीं परे दोष सबइ हरणि है ।
 सूक्ष्म कथा कहानी कहै कदिच लमत इ जग ही पै की करणि है ॥
 जैसे हम अंस आइ मरमै सरोजिनी के आनंद रि है ।
 तेसे दीरघ देव दीरघ प्रतापु तेरी दीरघ गुरणि भाषी धनूका वरणि है ॥६॥
 तुही अद्भुत त्रिभुवन के भूषण नाथ आपनै समान जानु आपुनु करण की ।
 जो तनु तुम्हारे गुन जानतु तिकै करि सो तुम्हारे रहै मरण की ॥
 और जो सेवगु लघु-लघु वेद मुष धनुदास सेव और कौन के चरण की ॥१०॥
 तुम्हारै वदनु देखै निरधि नथन नाथ पलकसी पलक लगाए कैसे जात हैं ।
 नाहि नै त्रिपति होत रहै इक टिगुजाइ सुषकौ गंमाह वर्ष भारी लखचात है ॥
 क्षीरोदधि पीयौ है जिहि क्षीर समता कौ मनुषा ही पयपान में मशतु है ।
 धनुदास सोइ केम इछवतु खारौ जलु अमृत कौ छावि कौड विषफल घात है ॥११॥
 जे सान्त राग रुचि हनी परिमाणु नाथ तिन कौ तू तिहूलोक एकै निरमापीयौ ।
 उतनीयै हती वे मही कै किल निरचणन जितनी निकै जू तेरौ रूप गुनु थापीयौ ॥
 और जो कनिका कहू रहै होनै भवमांस तो तौकोउ हो ती और पुं - पुण्यकौ प्रतापीयौ ।
 धनुदास प्रभु तेरी मुरति की समता कौ देखतु न काहु मनु जगतु मपापीयौ ॥१२॥

तुम्हारे वदन तुति अति ही उदिन अत सूर नर उरग के लोचन हरनि है ।
 जाकी एक सेंप कली त्रिभुवन जोति जीनै रजनी वामर सदा उदेकी करनी है ॥
 कोउ कहै चंदनी की कलंक मलान फीकी सूर के सदन सेतु होतु सो हरनि है ॥
 धनुदास कहा प्रभु सब के अमृत धारा कहा वह बिलंगिनी करता जरनि है ॥१३॥
 संपूरण मंडल शशिके सब रवारी तुम कलाके समूह त्रिजगत यह जानीयो ।
 तुम्हारे अनंत गुन जहा तहा व्यापि रहै परम पवित्र ते पुराणखि वषाणिया ॥
 तेह गुन सुमिरि-सुमरि साधु पार भयै जो तौ उनि मन वच हू के उर आनीयो ।
 धनुदास वेह गुन क्यों न आपु हर्द धरौ भटक्यौ हौ तौलौ बौली ररख प्रमानीयो ॥१४॥
 नाहीं अचरजू अति तुम्हारे मन की गति चली न त्रिकार मारग कौ प्रभु प्यारे जू ।
 त्रिदश की अंगना अनेक सोभाश्रु पुके के नटा आग्यौ आई विद्या ठटके पधारि जू ॥
 ताहि देखे छिनु मनु हृदयौ न हरष तेज नीयतह आहि यह गुननि तुम्हारे जू ।
 धनुदास कामरूप वनु प्रलै कौ प्रभु मंदारचल की शिषाह दहै विचारि जू ॥१५॥
 परम जोतीखर रूप जानै त्रिजगत भूपति हू लोक दीपक दीपत त्रिभुवन मे ।
 देगुन कलिमा धूम नाहिनै सदन तेरे वाह रूपी क्रम सुनै न द्रुवन मे ॥
 यह तौ दीपक एक खामा ही बुझाइ जाह कितेकु प्रतापु या बहनि के सून मे ।
 धनुदास प्रभु तुम महा हौ प्रतापु पुंज पति चित्र करौ छिनके छुवन मे ॥१६॥
 रवि तौ दिन ही पति तुम तिहुलोकपति ताकी उपमा क्यों नाथ तुम क्यों बताइयो ।
 वाकी रिपु गहु तुम रिपुनै नाथ करि उद्योत अनादि वह अंधोधर छाइयो ॥
 वह तौ विनाशी निशि तुम अविनाशी प्रभु वह तौ मित कला तुम सुपटाइयो ।
 धनुदास विह्वकी क्यों ने देखे छवि ती से रवि काज्यौ क्यों न कमलु कहाइयो ॥१७॥
 जैसी त्वर मुख जोति अनंत कलानि हो तैसी मोजा तेरी नाथ तो ही कहू मोहीये ।
 निवसय उदैकारी मोह महातमहारी राह कौ न गम्य ताके वारिदल दोहीये ॥
 पूरण शशिकौ बिबु तुव बदनार बिंदु विजित अपूरनु सु देखे मनु मोहीयो ।
 धनुदास ऐसे राकापति सौ तू करि नर पद कहा है चकोर क्यों न हो हाथी ॥१८॥
 तुम्हारे वदन रूपा शशिक्यौ चाहिजे उदै या ममि सूरकौ उदौत भयो के सून भयो ।
 जैसे रवि तेज आगे दीपक वारी न वारी अंधारी हुनी जू भारी वाही रविरथ गयो ॥
 आदि अत अत्रे तिहकाल तुव भाल प्रभा जगमग जोति सुनौ हो हु जगमे जयो ।
 धनुदास भई परपक्व जब वन मालि मेघन वग्घे न वग्घे तौका अमेद्यौ ॥१९॥
 जैसे तेरी जानु है कृतावकाम्यो प्यारे प्रभु आर्यो काहु और माझ निमघु न देखीये ।
 तब जान माझ तनौलोक से अनेक लोक ताकी तुहा जानै वे ती ते ही अवरेषायो ॥
 हरि ६४ प्रह्लाद पुलंदर कहाये देव तेउ ती सकल स्वामी ते ही लिखि लेखीयो ।
 धनुदास कहा महामनि की प्रतापु मभुह काचका मिषरि ताहि कैसे हित पेखायो ॥२०॥
 आपनै मनके घर देखै मे सकल देव हरिहरप्रह्लाद पुलंदर समान के ।
 जैसी कउ मेरी मन मानो तुम चरख सौ गेसी मनु मानै नहीं देखै मुख आन के ॥
 मुख अथ आयो पायो कहू पीर कहू नार ते नीरसु पीर प्राण भण प्राण के ।
 धनुदास नाही कोउ मनको हरणहार तुम हा है प्रभु मेरे वगना जिहान के ॥२१॥

धन्वि वह धरि जिहि तेरी अवतार भयो तेरी माता जिहि तौसी सुत जाइयो ।
 त्रायनिके शतशत पुत्र जनै हूँ तब तेरे तौ समान कौ का रूपगुन पाइयो ॥
 कलंक सहित और रहित कलंक तुही त्रैजान तेरे नगरे भाव तार आइयो ।
 धनुदास दिया नखिज जननहारि प्राचीव दिशा कौ समभाए रचि राइयो ॥२२॥
 तुम कौ मानत मुनि परम पवित्र देव आदिय वरगुं जैसी निर्मलु डलक में ।
 तुम्हारे अनंत गुन विचारि विचारि उर तनजग मृग्युके ते जातत पलक में ॥
 मिथया तमकै हौ तुम महाइ हरणहार ताथे साधु सेवे तुम्है सदा ललक में ।
 धनुदास नाही कोउ मिउ और पंथु देपे सु मुनै न नाथ तेरा ये बलक में ॥
 छुड मत पुराण कुराण वेद वेदिका में मत न महंत तो सौ इा कौ कहत है ।
 तुम अभिनाशी विभु अनित असंघि नाथ अनादि अगोचर सगोचर रहत है ॥
 ब्रह्म न डेश्वर हौ मनंग केत जोगीश्वर विदित तुम्हारे सब जोग निहवत है ।
 धनुदास हूँ के प्रभु एक न अनेक हौ जू जान रूप विमल विवेक कौ गहत है ॥२३॥
 तुम ही हौ वृद्धदेव विबुधनि पूजनीक तुम ही हौ सकर निसंक के करण जू ।
 तुम ही विधाता विधि विधान जाननहार तुम भगवान पुरुषोत्तम वरग जू ॥
 सकल देव मधि देवत गुनु ही तेरी तारागण सुर शशि तेरी आभा तम जू ।
 धनुदास एक तू त्रिलोक सोभा सोभायत नानों लोक तेरी सोभा वरण-वरण जू ॥२४॥
 तुम कौ नमामि त्रिभुवन की आरति हर तमकौ नमामि त्रिभुवन के भूषण जू ।
 तुमकौ नमामि त्रिजगत के परम डेस तुमकौ नमामि त्रिजगत तम शोषण जू ॥
 तुमकौ नमामि जन्मा मरण हरण व्याधि तुमकौ नमामि त्रिजगत के पोषण जू ।
 धनुदास जन्म-जन्म न ये वाग-वाग तुम ही मँटनहार सकल दापण जू ॥२५॥
 यह में सुनी हो नाथ आपने वाना तुम से गेसा धुनि संदेह पारु पाइयो ।
 जे जन तुम्हारे गुन जानत है नाकं करि नतछिन दोष तिन नाकं कै गवइयो ॥
 नेह दोष विहुरि विहुरि प्राणी प्रथकै निनह सगु छांति उजिहूँ के सग धाणजु ।
 धनुदास हूँ से अपरार्थानिर्मा रहै लागि तुम प्राति साधानि के सुपने न आइयो ॥२६॥
 नो समोसरण मधै साभायै अशोक वृद्ध तातारी सराजत हौ तीनो लोक तिजु ॥
 कचन वरण सापा चितामणि फल नाके पत्तनि की दुति रवि हूँ ये अनि गति जू ॥
 सोतल मद मुगंध विविधि वहति वाट सुपटाई वरम पे सबही की अति जू ।
 धनुदास वह सब प्रभु कौ पुन्य प्रताप कह्यो सु परतु के सौ मानस की मति जू ॥२७॥
 तुम तापे सोहीयत सोहिबे लाडक प्रभु तुम्हारे वयटै नाथ गिनायनु राजै जू ।
 कचन की जोति पचै मनि कौ उद्योतु तापे तुम्हारे तनका आभा अधिक विराजै जू ॥
 उदयाचल के सीम परमानौ सु प्रभात रविकी उदय जैसी जगत में आजै जू ।
 धनुदास यह सब प्रभु कौ पुन्य प्रताप देपत ही वने सु तौ कहत न छाजै जू ॥२८॥
 कुन्द दुति उज्जल सीम पे चवमडि चौर डारत भावकै इन्द्रादिक देव आडकै ।
 कंचन दीप्ति देह तापर विराजै अनि शशिकी करिणि मानौ लागी रवि जाडकै ॥
 कनक सुमेर येथे चौहूँ कोट आमुपामु छारोदधि नीर मानो—रतु सभाडकै ।
 धनुदास यह सब प्रभु कौ पुन्य प्रताप कह्यो सुपरतु कैसे कछु गुन पाडकै ॥२९॥

वृत्र तीनों राजित जिनेश तेरे सीस पर सुरनर नागेंद्र जु आहूँ चढ़ाहूँ ।
 आपने लोक की महिमामयि फुंलिंद—सर चौहू चक जोति कौ गढ़ाहूँ ॥
 सुर पुर हू की शोभा सुर निमकैलि रचा त्रैदवतानि तौनों लगइ—यी ।
 धनुदास मनो शशि सूरकौ मंडलु दिगननि समीप मोती पंकलि पढ़ाहूँ ॥३१॥
 गंभीर गहरी 'हुनि बाजत निशान तेरे ताकौ मुठ तीनी लोक दसौ दिशि पूरे है ।
 जैसै तौ बादल गाजि कहै महा मेघु आयौ तैसै यौ कहत त्रिभूवनपति करौ है ॥
 या धर्मराज के गुन घोषत मानौ कैधौ जगत में जाकौ जसु सब ही थेसू है ।
 धनुदास प्रभु के जयतवादी जौधा कुवादी मरण मानु महा चक सूरौ है ॥३२॥
 मं.....पारिजात आदि पुष्प जैन सुगन्ध दल पुनीत आकास थे वरदौ ।
 देवता सकल आई महा प्रीति लाई.....समूह देव शोभा नैननि के परदे ॥
 गंधोदिक विष्टि करे जनमु सफलु धरै आपने आ.....हरदौ ।
 कहै धनराज बैठि बैठिके विवांन सुर सहज सुभाहू में परम प्रीति परपे ॥३३॥
नि शोभा भामंडल तेरे नाथ कोटि रवि मानौ एक ठौर काने है ।
 काच सनि आदि है पदारथ.....ननका सकल मोभा करी जिहि हीनी है ॥
 तुम्हारी यौ शोभा मानौ दर्पायै द्रपन माह आ.....नाथ तो उपमा दीनी है ।
 धनदास नाही कछु तप तप्य गुनु तामै शशि कैसी सीतलता नवल है ॥३४॥
 तुम्हारी की य महिमा महा हो नाथ स्वर्ग की मार्गु रू मार्गु मुक्ति है ।
 जितनै कितनै जाव जैसा जै.....तैसा ताकौ परितवति उकति है ॥
 तप्य वांनी उछलनी जाव क्रम भिन्न भाउ यह पुन्य पाप.....मुगति है ।
 धनदास प्रभु चतुरानन जु चारौ मुप वेद चर्य तामै सबइ उकति है ॥३५॥
पक.....चरण हेम अष्टोत्तर मांडने मनोहर में आइ के पचित है ।
 जहा जहा पद धरै तहा ऐसा.....नग की मयूपा में सचति है ॥
 समवसरण में थे विहार सम के विणे विविध विबुध ऐसै.....है ।
 कहै धनुदास राजु सुरराज करे पद पृजनारिनि के वृन्द नाना भेषने नचन है ॥३६॥
है तहा जिनराज तेरे.....लब्धिमई केवल ज्ञान के.....।
 फवल ज्ञान नहीं और के विश.....कैसे विभूति होइ समान के आन की ॥
 अनन्त दरिस ज्ञान सउपरवल बल अनन्त अनन्त चतुष्टय.....जानकी ।
 धनुदास जहा विभाकर जोति जगमग गननि मयूपा कैसे कहायै प्रमान की ॥३७॥
होइ सामु है आयत प्रभु तेरी नाम लागे हु चलि सकै मुन ठौर थे ।
 मद के.....गलितु दुर्नाद.....घात कौ कैसा मानौ आयौ.....काल दौर थे ॥
 चवत कपोल पटै गुंजन गुरूंर ठटे क्रोध कियौ सुर भौर थे ।
 कहै धनुदास जाके तुम्हारे नांव कौ अरु तुमको सम्हारि सौयौ हरै ॥३८॥
सीस भू ऊपर भूषीयत श्रोन सौ सनित मोती भुंज सम जानीयौ ।
 जाके वथाटाटो नर.....कर जाकौ देहु दौ मुप आवै नहीं वानीयौ ॥
 जाके डर परै रौरि जहा समुदाई दौरौ जाके केवल थे.....न प्रमानीयौ ।
 धनुदास ऐसै मृगराज रूप नाम मंत्र मृग के गमान क्यौ न कांनु गहिआ.....॥३९॥

.....शक्ति आवति होइ तेरी नामु लोभे नाथ मंतल होइ जाइ जू ।
 प्रले के सम की उवाला अ.....को उतपातु देदी दुभी कदगई जू ॥
 यह नौ प्रगट अहि जानि मनु जगु तबहि दि.....में साचे.....हाई जू ।
 धनुदास प्रभु तेरे मंतल गुन अपार जल थ्र मिराई क्यों न निनथे मिराई जू ॥४०॥
ग दबनि है जाके उर सोइ क्यों न ऐसी अहि डार मोहि पाइके ।
 लौहित नैन नीलकंठ.....सब अंग हालाहलु रहयो हो छुड़के ॥
 कोपिके डसो नौ सु पहार हू को छार के ऐसे.....ऐसे बि.....समाइके ।
 धनुदास मनि मंत्र औपधु तुम्हारौ नामु ताहि जौ सम्हारे चित्र बँसो होइके ॥४१॥
के एक जिनराज तुय नामबरु ताहि ऐसी नृपु जानि सके नही वर के ।
 जाके दल बादल के उन.....जग जवा जनि के मुन्ड गाने हो मगर रू हैं ॥
 जाके दल कोटि भट लडित जोधा जुहि अरि सु.....बीर जू पहार के ।
 धनुदास ऐसे नृपु परे ताके पाइ आनि मझरु मवाइ.....दिनु.....॥४२॥
 तुम्हारो धीरज सो धरे उर ताका जय मदा ऐसे जुद्धनि में जानायो ।
 जान विक्रं.....उठे एक हासह.....विनु बल लाइ करि भागे मुप पाँनायो ॥
 श्रेनि की मल्लिगता तामें वृटे एक उछुरन एकनि की दे नि कह ने कह डरनायो ।
 धनुदास प्रभु तेरे नाम सोहै जाको मति ताकी मति.....नि कह ने॥४३॥
त्रिविधि प्रकार के नौ तेरी नामु नाथ ऐसी जल में निथारे जू ।
में जहां महां.....नके का जौ जीवनि को मुहुं फाँगे ॥
 तामे यदवानल धि.....सब हूँ व न कत.....तुम्हारो जू ।
 धनुदास प्रभु जू अपारे के तारु तुम भक्तानामर के जलमागर न तारी जू ॥४४॥
आइ अंग अनग के अगके समान ननु दर्बायो ।
 ऐसी होइ दया.....मितइ नयो नैननि के पिययो ॥
 त्रिभुवन.....थाको पूरौ मंग्या सब गइ दूरी सो यदि म.....यो ।
 तुम नौ जू जन्मा सरण.....हरण व्याधि धनुदास यह तपल ही गेगे॥४५॥
रह आइ म गवाइ गेलि गले दाय पाइ राखो होइ टाटा के ।
 कोठामाक कोठरी के भाक्या.....रहे करि ५ बांध्यो होत राखो के ॥
ताहु को आवागमु पाँ न आव जान उपर छि.....
 धनुदास प्रभुस ताइ.....हम वामि यह बात कैंतो क्यों न करी नाथे काटी के ॥४६॥
प्रभु मरे.....सकल.....हरि के को तुम जिनराज जू ।
 राज भय शोक भय नग वि.....जहाज जू ॥
 गंगा भय मौक भय मिथ भय राज भय तुद्धनिकी भय.....
 धनराज.....जैसे तुम पर दशन की मफत लमे हरी अरु जानो हुन काज जू ॥४७॥
 तुम्हारो संस्तुति इहु रूपिनी माना जिणंद पदौ त्रु कंठ सो.....पवित्र नमः नरमे ।
 मुमन विविधि जाके अपि.....नृ जाम पठनि पवित्रडी दि डोग गुन्यो करम ॥
 अति सो सुवासु सब जगत मे विस्तारि मुक्ति मोहिनी धरी.....ध्यान धरमे ।
 कहै धनुराज यह संस्तुति सम्हारौ मानु बिना भ्रम संपदा सकल आव धरमे ॥४८॥

अन्तिम प्रशस्ति :—

.....गज्ज का.....नाको भू प्रगासु जामे भगतांमर स्तवनु सुष हू कौ धामु है ।
ताको उदाहरणु.....जिनदास सेव पदहु ता.....धन धर्म अरु काम है ॥
पढायो पढाइयो सुनाड्यो जु साधु.....धन्नि वहै.....धरि परलु धन्नि वहै ॥
धनुदास हू सो देव सो निरु उजारै कहा भव्यानन्द स्तुति पंचाशिका या नामु है ॥४६॥
संवतु नवसे सात सात पर सुनु धार पउष मिला तू गुरती.....कीयो कृत कौ ।
स्योपुर धानक विराजे राजनन्द धनुदास ताको मनु भयो भवि पित्रांमृन्त कौ ॥
एक - एक काव्य को मयैया एकु...एकु कै कै एकु एकु बासर में एकु—एकु नित कौ ।
विय कर जोरि धनराज कहै साधुनि सो अस्माधु संसुद्ध कीजौ जानि मन हित सौ ॥५०॥

इत श्री भव्यानन्द पंचासिका समाप्ता

संवत १६६४ वर्षे वैशाख सुदी ७ कौ मनोहरदाम का (या) स्थ चित्रामु कीनी ।

संवत १६६५ वर्षे चैत्र सुदी १ भौमवासरे लीपतं पं० मिरोमनि भक्तांमर स्तवन भावार्थ काव्य पंचासिका ॥ सुभं भवतु ॥ पोथी लिपाइ साहु धनराज गोलापूरब कर्म काय निमित्त ।

प्रति परिचय :—

इस पंचाशिका की प्रति बहुत ही जीर्ण और जर्जरित हो चुकी है। ऐसा लगता है कि जहां कहीं यह रहा है, उस पर लगातार पानी पड़ता ही रहा है। तभी तो वह इतनी गल गई कि हाथ लगाने ही पत्र फटने लगते हैं। कहीं-कहीं तो पाठ भंग लुप्त हो गया है। चित्र भी अष्ट हो गये हैं। अनुसंधान में रचित रम्वने वाले मज्जनों से निवेदन है कि यदि इस भव्यानन्दपंचाशिका की प्रति अन्यत्र कहीं प्राप्त हो तो सूचित करने का कष्ट करें ताकि एक अज्ञात रचना पूर्णत्व प्राप्त कर सकें।

★★★

कलकत्ता में महावीर जयंती

कलकत्ता महानगरी में महावीर जयंती पर इस बार नये वातावरण की सृष्टि हुई। तीर्थंकर भगवान की जयंती उन के धार्मिक अनुयायियों तक ही सीमित न रहकर व्यापक रूप से मनायी गयी। अन्य समाजों के व्यक्तियों ने भी समान रुचि एवं उन्माद के साथ सप्ताह व्यापी जयंती कार्यक्रमों में भाग लिया।

जयन्ती समारोह के लिए वस्तुतः पहले से ही पृष्ठभूमि तैयार हुई थी। मुर्शिदाबाद संघ ने महावीर जयन्ती को अहिंसा दिवस के रूप में मनाने के लिए जयन्ती के पूर्व जो प्रचार किया, उसका व्यापक असर हुआ।

संघ के सभापति श्री कमलसिंह दुधोरिया की अर्पण का ही यह परिणाम था कि विख्यात उद्योगपति श्री मोहन लाल लल्लूभाई शाह की की अध्यक्षता में महावीरजयन्ती समारोह समिति का गठन हुआ और नगर के विभिन्न वर्गों के विचार शील व्यक्ति जयन्ती के उद्देश्य के प्रति आकृष्ट हुए और उन्होंने जयन्ती के विभिन्न कार्यक्रमों में सहयोग

—रानी दुधोरिया : कुमार चन्द्रसिंह दुधोरिया देना प्रारंभ किया।

जयन्ती के दिन स्वेच्छा से काम काज बन्द रम्वने की मुर्शिदाबाद संघ की अर्पण पर शेयर बाजार, ईस्ट इण्डिया जूट तथा हेसियन एक्सचेंज, बंगाल जूट डीलर्स एसोसियेशन, काशीपुर जूट ओकर्स एसोसियेशन, भारत जूट वेल्थ एसोसियेशन, छाता पट्टी, पगैयापट्टी, केशोराम कटरा, सूता पट्टी, पांचागली, खत्री कटरा, विलासराय कटरा, पंजाबी कटरा, मूंगा पट्टी, मनोहरदाम कटरा, महावीर कटरा आदि भगवान् महावीर की जन्म तिथि २४ अप्रैल पर पूर्ण तथा बंद रहे।

जैन कला प्रदर्शनी

जयन्ती के सप्ताह व्यापी कार्यक्रम का प्रारंभ जैन कला प्रदर्शनी के उद्घाटन से हुआ। भारत जैन महा-सण्डल के तत्वावधान में आयोजित इस कला प्रदर्शनी का १६ अप्रैल को स्थानीय एकेडेमी आफ फाईन आर्ट्स में उद्घाटन करते हुए केन्द्रीय विधि एवं डाक-तार मंत्री श्री

अशोकसेन ने महावीर जयन्ती के अवसर पर जैन-कला प्रदर्शनी के आयोजन के लिए भारत जैन महामण्डल के कार्यकर्त्ताओं को बधाई देते हुए अपने भाषण में भगवान् महावीर को जैनधर्म का ही नहीं, अपितु समस्त मानवता और अखिल विश्व का महान नेता बताया।

माननीय श्रीसेन ने अपने समस्पर्शी भाषण के अन्तर्गत कहा: जैनधर्म के आदर्श सारे देश में पनपे, जो जैनियों के लिए ही नहीं किन्तु सारे जगत के लिए धर्म, दर्शन, कला, सभ्यता और संस्कृति की बहु मूल्य विरासत छोड़ गये।

उन्होंने कहा भारत का कोई भाग जैनधर्म की विरासत से अछूता नहीं है। जहाँ भी हम जाते हैं, हमें मुन्दर जैन मन्दिरों, गुफाओं और कलाकृतियों के दर्शन होते हैं। डेलवारा मन्दिर और एलोरा की गुफाएं आदि जैन धर्म के ऐसे अवशेष हैं, जो सदैव अमर हैं।

इस सर्वांगीण समारोह की अध्यक्षता कर रहे थे माननीय श्री केदार्य वसु-नगर न भूतपूर्व सेंसर और प. ब. विधान सभा के वर्तमान अध्यक्ष।

श्री वसु महोदय ने कहा, युगों से धर्म के द्वन्द्व-मिद्विजिम कला का विकास हुआ है, उसमें हमें विभिन्न शालों के समाज का प्रतिबिम्ब मिलता है।

जैनधर्म के बारे में अपने हृदय के भव्य उदगार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा जैनधर्म ने भारतीय संस्कृति और कलात्मिकता के निर्माण में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

भारत जन महामण्डल की ओर से पूर्णित शास्त्र के अक्षर गुण चित्त राज सेवी श्री रत्न-लाल शर्मा ने अपने स्वागत भाषण में महावीर जयन्ती मण्डल के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा, 'महावीर का अहिंसा और अहिंसक महत्व आज के अणु-परमाणु युग में अत्यधिक बढ़ गया है।'

श्री रामपुरिया ने कहा, अणु परमाणु अस्त्र-शस्त्रों ने मानव जाति के भविष्य को भयानक बना दिया है और इस संदर्भ में हम स्वर्गीय गण्डर्वात केनेडी का इस चेतावनी को भुला नहीं सकते कि हमारी संतान केवल गणित के प्रश्न नहीं हैं, जिनके भविष्य के प्रति हम उदासीन रहें।

कला के बारे में उन्होंने कहा कि कभी कभी यह कहा जाता है कि आत्म-शुद्धि गुण सामाजिक वस्तुओं के त्याग को महत्व देने के कारण जैनधर्म कला को प्रोत्साहित नहीं करता। लेकिन यह बात सच नहीं है।

भारत जैन महामण्डल को पूर्वांचल शाखा के संयुक्त मंत्री कुमार चन्द्रमिह दुधोरिया ने अपने भाषण में कहा कि हम महावीर का स्मरण, उनकी पूजा आराधना इत्यादि करते हैं कि उन्होंने आचरण द्वारा हमें आत्म-शुद्धि का मार्ग बतलाया है। उन्हें जिन तथा आत्मा का विजेता कहा गया है, उन्हें आरहन्त कहा गया है और महावीर के नाम से भी पुकारा गया है। महावीर से दूसरी चीज जो हम ग्रहण करते हैं वह है समभाव अर्थात् दूसरों के प्रति रागद्वेष रहित व्यवहार।

कुमार दुधोरिया ने कहा महावीर के समकालीन युग का अध्ययन करने पर यह बात सामने आती है कि उस समय समाज में भारी विनाश व्याप्त था। महावीर स्वामी ने अपनी साधना, तपस्या और आचरण द्वारा हिंसक क्रान्ति का समाधानों से परिपूर्ण उच्च विज्ञान को अहिंसा और अहिंसक की युग प्रवर्तक क्रान्ति में बदल दिया।

कुमार दुधोरिया ने कहा, कि आज विश्व पुनः संकट के बीच है। धन सम्पत्ति और सत्ता की चाह भयानक रूप से बढ़ गया है। हम यह निश्चय करने लगे हैं कि आर्थिक कल्याण ही जीवन का चरम लक्ष्य है। भौतिक सुख-समृद्धि के पाछे हम अपने जितने हो गये हैं कि जीवन के अन्य सब प्रश्न गायब हो गये हैं नैतिक जीवन का जड़े ही हिन उठा है आधुनिक भौतिक सम्पदा में मानवीय मूल्यों का महत्व बहुत कम हो गया है। परमाणु-परिक्षेपण संघर्षों के कारण जीवित प्राणियों अस्त्र-शस्त्रों के साथ परमाणु बमों का प्रयोग मानव जाति के लिए सारी संकट का कारण बन गया है। आज संसार के समस्त प्रश्न यह हैं कि क्या हम युद्धास्त्रों को खिलौने के अथवा अपना ही विनाश करे।

लेकिन, कुमार दुधोरिया ने कहा अस्त्र-शस्त्रों को नष्ट करना ही पर्याप्त नहीं है। हमें अस्त्र-शस्त्रों की जरूरत को ही समाप्त कर देना चाहिए। इसके लिए मानव जाति को एक नया बनावरण तैयार करना होगा और

वयार्थवादी समाज का निर्माण करना होगा। ऐसा समाज जिसमें उल्लेखना एवं संघर्ष के प्रमुख कारण शोषण, हिंसा और कटुता का उच्छेद हो। इसके लिए हमें अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्तों पर आधारित नयी सामाजिक श्रृंखला का निर्माण करना होगा। हमें विचार करना है कि भगवान् महावीर के उपदेश इसमें किस प्रकार सहायक हो सकते हैं।

कुमार दुधोरिया ने कहा, महावीर के उपदेशों के तीन रत्न सम्पक्-दर्शन सम्पक् ज्ञान और सम्पक् चरित्र में १ महाव्रतों का समावेश है: अहिंसा, सत्य, आश्रम, व्रतचर्य और अपरिग्रह अर्थात् संग्रह और लोभ से निर्लिप्त। धर्म का सार चरित्र अथवा सदाचरण है। महावीर के जीवन और उनके उपदेशों के अनुशीलन का यही निष्कर्ष है कि व्यक्ति का सुधार होने पर ही कोई समाज उन्नत बन सकता है, उन्होंने कहा कि अहिंसा और अपरिग्रह आज किसी सम्प्रदाय विशेष के धार्मिक विश्वासों तक ही सीमित नहीं रह गये हैं। मानव जाति शनैः शनैः इस बात को अनुभव करने लगी है कि अणु-परमाणु के संहार का खतरा इन्होंने महान आदर्शों को ग्रहण कर दृढ़ कर सकता है।

अहिंसा और अपरिग्रह को मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति बतलाते हुए कुमार दुधोरिया ने यह कामना की कि यह अभिव्यक्ति विश्व शांति एवं मैत्री का वरदायिनी बने।

इस अवसर पर भारत जैन महामण्डल की ओर से विख्यात चित्रकार श्री इन्द्र दूगड का अभिनन्दन भी किया गया।

श्री इन्द्र दूगड अन्तर्गत राष्ट्रीय ख्याति के चित्रकार हैं जिन्हें चित्रकला अपने पिता स्व० हीराचन्द्रजी से विगत में मिली है।

श्री इन्द्र की चित्रकला काश्मीर अविशेषणों के पगडालों को कई बार सुशोभित कर चुकी है। आप उन चित्रकारों में हैं, जिन्होंने राजपूत पद्धति और अजन्ता पद्धति का समिश्रण कर एक नवीन पद्धति का विकास किया है। लेकिन उन्होंने प्राचीन शैली को जीवित रखा है।

महामण्डल के सभापति श्री सोहनलाल दूगड ने उन्हें आशीर्वाद के साथ अभिनन्दन पत्र भेंट किया।

प० बंगाल के श्रम एवं सूचना मंत्री श्री विजयसिंह नाहर ने धन्यवाद ज्ञापन करते हुए जैन कला एवं संस्कृति की उत्कृष्टता का विवेचन किया और आशा प्रकट की कि भारतीय संस्कृति के इस महत्वपूर्ण अंग पर इस प्रदर्शनी से समुचित प्रकाश पड़ेगा।

महिलाओं की सभा

भगवान् महावीर के जन्म-दिवस के एक दिन पूर्व २३ अप्रैल को नगर की महिलाओं ने तीर्थंकर भगवान् को अपनी दार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की। अहिंसा प्रचार समिति हाल में श्रीमती सुभद्रा हस्कर की अध्यक्षता में आयोजित महिलाओं की विराट सभा में श्रीमती वाणा राय, श्रीमती कुन्था जैन, साध्वी श्री चन्द्र श्री जी ने भगवान् महावीर के जीवन दर्शन की विशद चर्चा की। जैन महिला समिति की अध्यक्षा श्रीमती उदयकुमारी दुधोरिया के आवाहन पर यह सभा बुलाई गई थी।

रोगियों में फल मिष्ठान वितरण

२४ अप्रैल को भगवान् महावीर की पावन जन्म-तिथि पर अद्भुत उत्साह परिलक्षित हुआ। मानवता के महान संरक्षक की जन्मतिथि के उपलक्ष्य में जैन सेवा संघ की ओर से प० बंगाल का श्रम एवं सूचना मंत्री श्री विजयसिंह नाहर की वृद्धा मातुश्री यशवी इन्द्राकुमारी नाहर के नेतृत्व में महिला स्वयं सेविकाओं ने स्थानीय अस्पतालों में जाकर रोगियों में फल और मिष्ठान का वितरण किया। एवं मुशिदाबाद संघ द्वारा अजिम गंज, जियागंज, लाल बाग के अस्पतालों में रोगियों को मिष्ठान फल का वितरण किया गया, अजिम गंज में ३-४ हजार गरीबों को चावल बाटा गया।

सामूहिक भोज

प्रातःकाल बड़ा बाजार क्षेत्र में एक विराट जुलूस ने परिक्रमा की। मन्दिरों में धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न हुए बदीनाम टेम्पुल-स्थित महावीर स्वामी के मंदिर में सामूहिक पूजा-आराधना का व्यापक कार्यक्रम आयोजित हुआ। मुशिदाबाद संघ के आध्यात्म-निष्ठ उप-सभापति श्री परिचन्द बोधरा ने पूजा आराधना का प्रबंध करने के अनतिरिक्त मध्याह्न समय सामूहिक भोज का भी भव्य आयोजन किया।

जैन सूचना केन्द्र

सांयकाल पट्टीदास टेम्पुल स्ट्रीट स्थित श्री शीतल नाथ स्वामी के मन्दिर के अहाते में पं० बंगाल विधान परिषद् के अध्यक्ष डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा जैन सूचना केन्द्र का उद्घाटन हुआ।

डा० चाटुर्ज्या ने अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण में जैन धर्म और संस्कृति की महत्ता प्रतिपादित करने हुए कहा कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन एवं व्यवहारधारा में जैन धर्म का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जैनधर्म ने अहिंसा के सिद्धांतों को पूर्णरूप दिया है।

विक्टोरिया मेमोरियल के प्रबन्धक डा० सरस्वती ने इस अवसर पर भाषण करते हुए कहा कि वर्तमान काल में ही नहीं, महावीर के काल में भी बंगभूमि के साथ जैनधर्म का निकटतम सम्पर्क रहा।

जर्मन संवाय प्रज्ञानत्र के कलकत्ता स्थित वाणिज्य-

दूतवास्य अधिकारी डा० सुमन इस अवसर पर प्रधान अतिथि थे।

सार्वजनिक सभा

रात्रि में श्री जैन सभा के तत्वावधान में अहिंसा प्रचार समिति हाल में, श्री रामचन्द्र सिंघा जे० पी० की अध्यक्षता में सार्वजनिक सभा हुई। सर्वोद्य नेता श्री सिद्ध राज दत्ता ने प्रधान वक्ता के रूप में भगवान् महावीर के जीवन दर्शन का विश्लेषण किया। पं० गौरीनाथ शास्त्री ने कहा कि भारत में जब जब धर्म की रक्षा न हुई और दुस्व दारिद्र्य आया, इस भूमि पर एक न एक अवतारी पुरुष अवतरित हुआ। भगवान् महावीर की गणना भी ऐसे ही अवतारी पुरुषों में है। साहू शान्ति प्रसाद जैन ने कहा कि भारत में ज्ञान की जो सतत धारा बहती जा रही थी, उसमें महावीर ने अपने व्यक्तित्व के माध्यम से एक नयी धारा बहायी। श्री साहनलाल दुगड़ ने भावपूर्ण शब्दों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की।

★ ★ ★

शोक-सभा

वीर सेवामंदिर २१ दरियागंज में ७ जून को ७ से ७। बजे सांयकाल एक आम सभा जवाहर लाल नेहरू के आक्रमिक निधन पर श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये राय सा० ला० उल्फतराय की अध्यक्षता में हुई।

वक्ताओं में प्रमुख श्री यशपाल जी जैन ने पं० जवाहर लाल नेहरू के व्यक्तित्व का परिचय कराते हुए उनके जीवन की कुछ मौलिक घटनाएँ बतलाईं। और कहा कि नेहरू जैसा लोक प्रिय नेता अब विश्व में नजर नहीं आता, नेहरू जी जहाँ नाति साहित्य और इतिहास के विद्वान थे, वहाँ वे आत्मबल के धनी थे। वे जो कहते थे आत्मविश्वास के साथ करते थे। उनका दृढ़ता, कर्तव्य परायणता, उदारता और लोक सेवा की भावना उन्हें दुनिया में शांति कार्य करने के लिये प्रेरित करता था। पंचशील और सह अस्तित्व उनके जीवन सहचर थे, वे लोक में उनका प्रचार करने में समर्थ हो सके। वर्तमान भारत की प्रगति उन्हीं की देन है। उनके दिवंगत हो जाने से भारत की ही नहीं, विश्व की महान क्षति हुई है, जिसकी पूर्ति होना असंभव है।

प्रेमचन्द्र जैन

प्रस्ताव

वीर सेवामंदिर की यह आम सभा भारत के महान् नेता पं० जवाहर लाल नेहरू के आक्रमिक निधन पर गहरी वेदना अनुभव करती है। नेहरू जी का जीवन त्याग, बलिदान और सेवा से ओत-प्रोत था, उन्होंने देश को ऊपर उठाया और विश्व को शान्ति के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। गत्य अहिंसा आदि के लिये जो वातावरण उन्होंने उपपन्न किया, वह उनकी चिरस्मरणीय देन है।

ऐसे युग-पुरुष को खोकर हम सब का जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति कदापि नहीं हो सकती।

यह सभा नेहरू जी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करती है कि उनके जीवन के आदर्श और प्रेरणाएँ हमारा सदा मार्ग-दर्शन करती रहें।

यह सभा उनके परिजनों, विशेषकर श्रीमती इंदिरा-गान्धी के प्रति अपनी समवेदना प्रकट करती है।

साहित्य-समीक्षा

स्याद्वाद-पत्रिका

सम्पादक: सुदर्शनलाल जैन एम० ए० (फाइनल),
प्रकाशिका: स्याद्वाद-प्रचारिणी-सभा, श्री स्याद्वाद महाविद्या-
लय, भदरनी, वाराणसी, सन् १९६३ ई०, पृ० ११२।

यह पत्रिका स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के विद्या-
र्थियों का प्रयास है। उन्होंने स्वयं सामग्री संकलित की है
और स्वयं सम्पादन किया है। इसमें संस्कृत और हिन्दी
के साथ २ अंग्रेजी, बंगला, मराठी, कन्नड़ और पालिभाषा
के भी लेख निबद्ध हैं यह एक अच्छी दृष्टि है। और
भी अच्छा होता यदि उनका अनुवाद हिन्दी में दे दिया
जाता। हिन्दी संस्कृत पत्रिकाओं में भारतीय भाषाओं की
प्रवृत्तियों का परिचय कराना भर पर्याप्त होता है। भारतीय
जान पीठ पत्रिका ने इस दिशा में कदम बढ़ाये हैं।

शिक्षा-क्षेत्र में काम करने वाले 'कालेज-मेगर्जन्स' से
परिचित होंगे। यह पत्रिका भी तदनु रूप ही है। यदि इसमें
केवल स्याद्वाद विद्यालय के विद्यार्थियों और अध्यापकों के
ही निबन्ध होत, तो उचित ही था। इस परिधि से बाहर
के विद्वानों के लेखों से पत्रिका का गौरव बढ़ा है, किन्तु
इसमें शिक्षा संस्थाओं में प्रचलित मान्यता का व्यापार भा
दृष्टा है। सम्पादन और लेखन के क्षेत्र में विद्यार्थी अभ्यास
कर सके, यह ही इन पत्रिकाओं का उद्देश्य होता है।

जहां तक विद्यार्थियों के द्वारा लेख, कहानी, कविता
के लेखन का सम्बन्ध है, इस पत्रिका का संकलन और
सम्पादन उत्तम है। वे जिस पथ पर बढ़ रहे हैं, आशाप्रद
है। अन्य संस्कृत विद्यालयों को इसका अनुकरण करना
चाहिए। यदि कोई शिक्षा संस्था अपने विद्यार्थियों में लेखक
सम्पादक, या वक्ता बनने की लगन उत्पन्न कर सके, तो
उतना पर्याप्त है। लगन वाला स्वावलम्बन के साथ बढ़ता
ही जायगा, यह विश्वास होना ही चाहिए। 'ए. प्राउन्ड
यर्क प्राव एजुकेशनल साइकलोजी' के रचयिता मि० रोस
का ऐसा ही कथन है। स्याद्वाद महा विद्यालय अपनी
स्याद्वाद प्रचारिणी सभा के द्वारा यह कार्य वर्षों से कर रहा
है। स्याद्वाद-पत्रिका उर्मा का परिणाम है। हम स्वागत
करते हैं।

—डा० प्रेम गंगार जैष्ठ

जैनज्म इन राजस्थान (राजस्थान में जैनधर्म) डा०
कैलाशचन्द्र जैन एम. ए. डी. लिट. राजस्थानी कालिज
अलवर, प्रकाशक गुलाबचन्द्र हीराचन्द्र दोशी, जीवराजग्रंथ-
माला, शोलापुर। पृष्ठ सं० ३०४ मूल्य सजिल्द प्रतिका
११) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक का विषय उसके नाम से स्पष्ट है, इस
पुस्तक में राजस्थान में जैनधर्म का परिचय कराया गया है।
और वहां स्थित जैन सांस्कृतिक स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्र-
कला, आदि पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। साथ ही
राजस्थान के स्थानों का ऐतिहासिक परिचय देते हुए विभिन्न
राज्यों के राजाओं का निर्देश भी किया है। डा० साहब ने
इसके संकलन करने में अच्छा परिश्रम किया है जिससे
पुस्तक उपदेय बन गई है। यद्यपि राजस्थान में जैन-
संस्कृति के ऐसे अनेक आधार मौजूद हैं जो पूर्णतः प्रकाश
में नहीं आ पाये हैं। अनेक शास्त्र भंडार ऐसे हैं। जिनका
परिचय अभी तक भी ज्ञात नहीं हो सका है। और जिनके
अन्वेषण की ओर शोधक विद्वानों की दृष्टि लगी हुई है।
राजस्थान में जैन संस्कृति खूब फली फूली, अनेक राज्यों में
उसका विस्तार रहा। श्वेताश्वर साधुओं और दिगम्बर
भट्टारकों ने तथा विद्वानों ने राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों
में अनेक विषयों की प्राचीन प्रतियां उपलब्ध होनी है,
जो इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा जा सकती
हैं। डा० साहब ने राजस्थान के विविध भंडारों के अनेक
भ्युत्ति स्फुटों का संक्षिप्त परिचय भी अंकित किया है। और
कुछ ग्रन्थों के नामादि भी बतलाये हैं। ऐसी प्रतियों का
उपयोग पाठभेद लेने में बहुत सहायक होता है। राजस्थान
जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है वहां अनेक ग्रन्थ बने हैं। और
कवि हुए हैं। जिन्होंने प्राकृत संस्कृत और राजस्थानी भाषा
के विपुल साहित्य की सृष्टि की गई है। जैन साधुओं के
विहार ने जगह जगह जैनधर्म का प्रचार किया है आज भी
राजस्थान में जैनधर्म का प्रचार मौजूद है। अन्त में ऐति-
हासिक नामों की सूची भी दे दी है जिससे ग्रन्थ की उप-
योगिता बढ़ गई है। ऐसे सुन्दर प्रकाशनों के लिए सम्पादक
संस्था संचालक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवादित हैं।

—परमानन्द जैन

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१. जिनवर स्तवनम् — मुनि पद्मनखाचार्य	४६	१२. भ० महावीर (कविता) — बसन्त कुमार जैन	७२
२. पंडित जवाहरलाल नेहरू क्या थे ?	५०	१३. बाबू कामता प्रसाद जी	७३
३. युगपुरुष की भाग्यशालिता—काका साहब कालेलकर	५१	१४. जैन साहित्य में आर्य शब्द का व्यवहार	
४. जो देता है वही पाता है—श्रीआचार्य तुलसी गणी	५३	—साध्वी श्री मंजुला	७४
५. दिल्ली पट्ट के मूलसंधी भट्टारकों का समय क्रम		१५. अयोध्या एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर	
—डा. ज्योतिप्रसाद जैन एम.ए., पी.एच.डी.	५४	—परमानन्द शास्त्री	७८
६. पल्लू ग्राम की प्रतिमा व अन्य जैन सरस्वती प्रतिमाएं		१६. जैनधर्म-तर्क सम्मत और वैज्ञानिक	
—श्री धीरेन्द्र जैन	५७	—मुनि श्री नगराज	८३
७. भट्टारक विजयकीर्ति—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	६०	१७. भव्यानन्द पंचाशिका-भक्तामरस्तोत्र का अनुवाद	
८. दिगम्बर कवियों के रचित वेदिक साहित्य		—मुनि श्री कान्तिपागर	८३
—श्री अमरचन्द नाहुटा	६१	१८. कलकत्ते में महावीर जयन्ती महोत्सव	८२
९. वधेश्वराल जानि — डा० विद्याधर जोहरापुरकर	६३	१९. साहित्य-समीक्षा ★	८६
१०. महापंडित आशाधर—व्यक्तित्व एवं कृति		सम्पादक-मण्डल	
—पं० अनुरचन्द न्यायनार्थ (साहित्यरत्न)	६७	डा० आ० ने० उपाध्ये	
११. दूसरे जीवों के साथ अच्छा व्यवहार कीजिये		डा० प्रेमसागर जैन	
—शिवनारायण मक्केना एम० ए०	६६	श्री यशपाल जैन	

वीर-मेवा-मन्दिर और “अनेकान्त” के सहायक

१०००) श्री मिथीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता १०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन ट्रस्ट, श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता ५००) श्री रामजीवनदास जी मरावगी, कलकत्ता ५००) श्री गजराज जी मरावगी, कलकत्ता ५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता ५००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता ५००) श्री रतनलाल जी भांभरी, कलकत्ता २५१) श्री रा० बा० हरचन्द जी जैन, रांची २५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड़िया), कलकत्ता २५१) श्री म० मि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी २५१) श्री सेठ मोहनलाल जी जैन, मैसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता २५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद २५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता २५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता २५०) श्री सिधई कुन्दलाल जी, कटनी २५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता २५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता	२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता १५०) श्री वजरगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता १५०) श्री चम्पालाल जी मरावगी, कलकत्ता १५०) श्री जगमोहन जी मरावगी, कलकत्ता १५०) श्री कस्तूरचन्द जी आनदीनाथ, कलकत्ता १५०) श्री कन्हैयालाल जी मीनाराम, कलकत्ता १५०) श्री प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता १५०) श्री मालीराम जी मरावगी, कलकत्ता १५०) श्री प्रतापमलजी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता १५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता १५०) श्री शिखरचन्द जी मरावगी, कलकत्ता १५०) श्री मुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता १००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता १००) श्री वट्टीप्रसाद जी आन्मारागम जी, पटना १०१) श्री मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर १०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, केकडी १०१) श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २ १०१) श्री लाला शान्तीलाल कागजी, दरियागज दिल्ली १०१) श्री सेठ भंवरलाल जी बाकलीवाल, टम्फाल

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

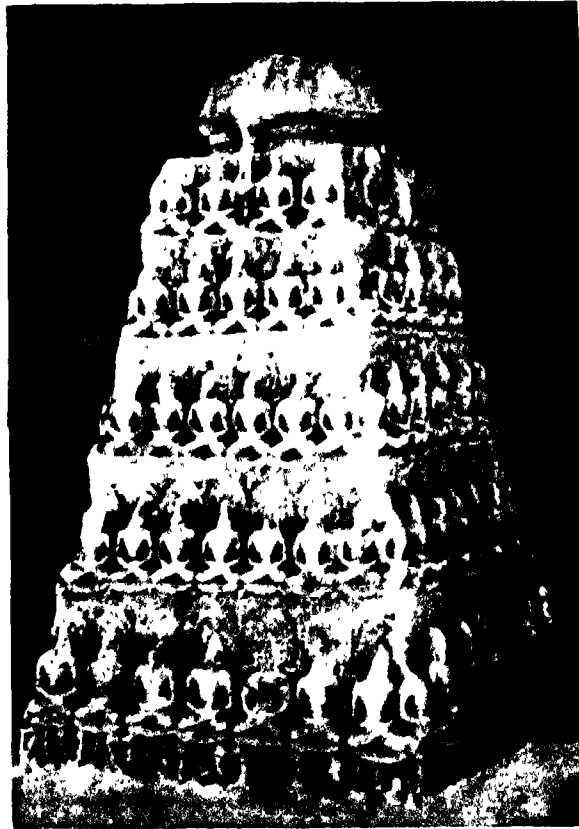
- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मुख्य-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थ में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुल्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा. ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-स्वोच्च के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा, साइज सजिल्द १५)
- (२) आप्त पराज्ञा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दूरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द । ८)
- (३) स्वयम्भू-स्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुल्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित । ... २)
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुल्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर सजिल्द-सहित । १॥)
- (५) आध्यात्मिकमलमार्गशङ्ख—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दीअनुवाद-सहित १॥)
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था । मुल्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द । ... १॥)
- (७) श्रीपुरपारयेनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित । ... ॥)
- (८) शासनचतुर्भिर्गणिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्तिकी १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित ॥)
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुल्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द । ... ३)
- (१०) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका संगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्दशास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द । ... ४)
- (११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्त्व की रचना, मुल्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)
- (१२) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्राय)—मुल्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त । ... ।)
- (१३) भद्रगणेशलंगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ । १)
- (१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡) । (१६) महावीर पूजा । १)
- (१७) बाहुबली पूजा जुगलकिशोर मुल्तार कृत ।)
- (१८) आध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुल्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित १)
- (१९) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अप्रकाशित १०२ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका महत्त्वपूर्ण संग्रह २५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और उनके परिशिष्टों सहित । सम्पादक पं० परमानन्द शास्त्री मूल्य सजिल्द १२)
- (२०) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ... ५)
- (२१) कर्मायपाङ्कट सूत्र—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चर्णिसूत्र लिखे । सम्पादक पं० हरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में । पुष्ट कागज, और कपड़े की पक्की जिल्द । २०)
- (२२) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजीमें अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० (६

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवामन्दिर के लिए, पवन प्रिन्टिंग वर्क्स, ३०१, दरीवा, दिल्ली में मुद्रित

द्वै मासिक

अगस्त १९६४

अनेकान्त



सहस्रकूट जिन चैत्यालय; ११ वीं शती ईस्वी;
कारीतलाई, जिला जबलपुर

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र



मुड़ई से प्राप्त एक विशाल जितबिम्ब का छत्र
(छाया-नीरज जैन)

★

सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन

★

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ न. पं.

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिये सम्पादक
मंडल उत्तरदायी नहीं है ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. अर्हन् परमेष्ठी रत्नवन	-मुनि पद्मनन्दि ६७
२. मध्य प्रदेश की प्राचीन जैन-कला	-प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी ६८
३. शब्द-साम्य और उक्ति-साम्य	-मुने श्री नगराज जी १००
४. विश्व-मैत्री	-डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री १०३
५. धर्म ही मंगल मय है	-अशोक कुमार जैन १०७
६. तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य	-डा० श्यामशंकर दीक्षित १०८
७. जैन दर्शन और पातञ्जल योगदर्शन	साध्वी श्री संघमित्रा जी ११४
८. मंदिरों का नगर-मडई	-नीरज जैन ११७
९. शोध-टिप्पण	
१-आगमों के पाठ-भेद और उनके मुख्य हेतु	-मुनिश्री नथमल जी ११८
२-राजा श्रीपाल उर्फ ईल	-जेमचन्द्र डोगगांवकर न्यायतीर्थ १२०
३-अनार्य देशों में तीर्थंकरों और मुनियों का विहार	-मुनि श्री नथमल जी १२२
४-द्रोणागिरि	-डा० विद्याधर जोहरापुरकर १२३
१०. मेही पे गृह में न रचे	-श्री कुन्दनलाल जैन १२४
११. अनेकान्त और अनाग्रह की मर्यादा	-मुनि श्री गुलाबचन्द्र जी 'निर्मोही' १२७
१२. महाकौशल का जैन पुरातत्त्व	-बालचन्द्र जैन एम० ए० १३१
१३. जगत राय की भक्ति	-गंगाराम गर्ग एम० ए० १३३
१४. श्री दलपतिराय और उनकी रचनाएँ	-प्रो० प्रभाकर शास्त्री एम० ए० १३५
१५. मोक्षशास्त्र के पाँचवे अध्याय के सूत्र ७ पर विचार	-पं० सरनाराम जैन १३८
१६. ब्रह्म जीवधर और उनकी रचनाएँ	-परमानन्द जैन शास्त्री १४०
१७. साहित्य-समीक्षा	-परमानन्द जैन शास्त्री १४४

★

ग्रोम ग्रहंम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीज निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयबिलसितानां बिरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १७
किरग, ३

वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, देहली-६.
वीर निर्वाण सं० २४६०, वि० सं० २०२१

अगस्त
सन् १९६४

अहंत् परमेष्ठी स्तवन

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्तसंगग्रहात् ।
अस्त्रादेः परिवर्जनान्न च बुधैर्द्वेषोऽपि संभाव्यते ॥
तस्मात्सायमथात्मबोधनमतो जातः क्षयः कर्मणा—
मानन्दादिगुणाश्रयस्तु नियतं सोऽहंन्सदा पातु वः ॥

—मुनि पद्मनन्दि

अर्थ—जिस अहंत् परमेष्ठी के परिग्रह रूपी पिशाच से रहित हो जाने के कारण किसी भी इन्द्रिय विषय में राग नहीं है, त्रिशूल आदि आयुधों से रहित होने के कारण उक्त अहंत् परमेष्ठी के विद्वानों के द्वारा द्वेष की संभावना भी नहीं की जा सकती है । इसीलिये राग-द्वेष से रहित हो जाने के कारण उनके समताभाव आविर्भूत हुआ है, और इस समताभाव के प्रकट हो जाने से उनके आत्म-विबोध हुआ है, उससे कर्मों का क्षय हुआ है । और कर्मों के क्षय से अहंत् परमेष्ठी अनन्त सुख आदि गुणों के आश्रय को प्राप्त हुए हैं । वे अहंत् परमेष्ठी सर्वदा आप लोगों की रक्षा करें ।

मध्य प्रदेश की प्राचीन जैन-कला

(प्रो० कृष्णबल चाजपेयी, अध्यक्ष, पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय)

यद्यपि वर्तमान मध्यप्रदेश के क्षेत्र में जैन-कला का उत्तम प्राचीन रूप नहीं मिलता, जितना कि उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश में, तो भी मध्यप्रदेश के विभिन्न स्थानों में उपलब्ध जैन-कलाकृतियों की संख्या को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल में यह भूभाग जैन धर्म के विकास का एक प्रमुख क्षेत्र बन गया था। मध्य प्रदेश का ऐतिहासिक सर्वेक्षण करने से पता चला है कि यहाँ बौद्ध, भागवत तथा शैवधर्मों का प्रादुर्भाव एवं विकास बहुत प्राचीन काल में हुआ। साँची और भरहुत इस प्रदेश के दो मुख्य प्राचीन बौद्ध-केन्द्र हैं। जहाँ पर हमें बौद्धधर्म के लौकिक एवं कीर्तिकारक विशाल कलारशि उपलब्ध है। प्राचीन भागवत धर्म का विकास विदिशा, एरण, पवाया आदि अनेक स्थानों में हुआ। इसी प्रकार शैवधर्म के केन्द्र नचना, कुठार, भूमरा तथा मध्यकाल में खजुराहो, मिरपुर, गुरगी आदि मिलते हैं।

मध्य प्रदेश में गुप्त काल तक जैन मूर्तियों का निर्माण नहीं हुआ, ऐसी बात नहीं कही जा सकती। खालियर के पुरातत्व संग्रहालय में गुप्त कालीन कई जैन कलावशेष सुरक्षित हैं। इनकी निर्माणा शैली मथुरा, कौशाभी आदि स्थानों में उपलब्ध प्रतिमाओं से बहुत मिलती जुलती है।

गुप्त काल के बाद पूर्वमध्य काल में वर्तमान मध्यप्रदेश के कई प्राचीन नगर कलाके केन्द्र बने। उनमें अन्य कृतियों के साथ जैन-मूर्तियों तथा मंदिरों का निर्माण बड़ी संख्या में मिलता है। विन्ध्य प्रदेश के भाग में खजुराहो, अहार, पपौरा, द्रोणागिरि, पञ्चा, मऊ तथा सोनगिरि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मध्यभारत के भूखंड में विदिशा, उज्जैन, खालियर, पनावली, नरवर, सुरवाया, चन्देरी तथा ग्यारसपुर में जैन स्थापत्य और मूर्तिकला सम्बन्धी सामग्री बड़े परिमाण में उपलब्ध है। महाकौशल प्रदेश के प्रायः प्रत्येक जिले में जैन मन्दिरों के भग्नावशेष मिलते हैं। देवरी, बीना, मिरपुर, कारीतलाई, जांजगीर, रतनपुर आदि स्थान विशेष उल्लेखनीय हैं।

खजुराहो के प्रख्यात जैन-मन्दिरों का निर्माण ई० १० वीं शताब्दी में हुआ। खजुराहो की विशिष्ट स्थापत्य शैली के ये मन्दिर उद्भूत उदाहरण हैं। भगवान् आदिनाथ, पार्श्वनाथ तथा शक्तिनाथ के मन्दिर मुख्य हैं। शातनाथ के देवालय में कायोधर्म मुद्रा में भगवान् का भव्य मूर्ति दृष्टव्य है। मुख्य पर अमित तेज और शक्ति विराजमान है। जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं के आन्तरिक इन देवालयों में अलंकरण के रूप में प्रयुक्त विविध मूर्तियाँ तथा अभिप्रायों का आलेखन अत्यंत सजावट हुआ है। नारी के रूप में सोदर्य का अभिव्यक्ति यहाँ के कलाकारों की विशेष प्रिय था। इस अत्यंत सौंदर्य को विविध आकर्षक रूपों में मूर्ति-रूप प्रदान करके उसे शाश्वत बना दिया गया है। इन मूर्तियों में अरलीलता नहीं है। वर्तमान दुनरपुर जिले में अहार नामक स्थान प्रसिद्ध है। वहाँ पर विशाल जैन मूर्तियाँ देखने को मिलती हैं। यह स्थान जैनधर्म का एक तीर्थ है। दूगरा ऐसा ही तीर्थ द्रोणागिरि पर्वत पर तथा तीसरा दुनिया के पास सोनगिरि नामक स्थान है। इन स्थानों में मध्यकाल में तथा उसके पश्चात् अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ। टीकमगढ़ के समीप पपौरा नामक स्थान में लगभग दोसी जैन मन्दिरों के भग्नावशेष प्राप्त हैं। वर्तमान पञ्चा जिले में भी जैनधर्म का अच्छा प्रसार था। वहाँ के धर्म सागर नामक तलाब के पास अनेक कलापूर्ण जैन प्रतिमाएँ रखी हैं। विन्ध्य प्रदेश में विभिन्न स्थानों से जैन प्रतिमाओं की पुष्पला के संग्रहालय में सुरक्षित किया गया है। इस संग्रहालय में जैन तीर्थंकरों की अनेक अभिलिखित कलापूर्ण मूर्तियाँ हैं। मुनि सुव्रत नाथ की खण्डित प्रतिमा यहाँ है जिस पर संवत् ११८६ का एक लेख उक्ता है। लेख पद्य में है उसके अनुसार सुकृष्ण नामके व्यक्ति द्वारा इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना की गई। संग्रहालय में आदिनाथ के साथ सोमध, यक्ष की अनेक दर्शनीय प्रतिमाएँ हैं। जो रीवाँ से प्राप्त हुई हैं। रीवाँ तथा मऊ से चक्रवर्ती की भी कई प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। इस संग्रहालय में जैन मन्दिर के दो अत्यन्त कलापूर्ण

मध्यभारत के पूर्वोक्त स्थानों से मिलीं। हुई बहुत सी प्रतिमाएँ खालियर के पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनमें तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के अतिरिक्त अन्य जैन देव-देवताओं की भी मूर्तियाँ हैं। पाँचवीं शती की जैन तीर्थंकर की एक प्रतिमा के मिर के पीछे अलंकृत प्रभ मंडल है। इस प्रतिमा की ऊँचाई मात्र छह फुट और वह कायोत्सर्ग-मुद्रा में है। यह मूर्ति विदिशा से प्राप्त हुई है। भगवान् ऋषभनाथ की उत्तरगुप्त कालीन एक अत्यंत भावपूर्ण प्रतिमा इस संग्रहालय में है। वे ध्यानमुद्रा में स्थिर चित्त आस्थान हैं। चौकी पर विकसित अर्ध कमल और सिंहासन के दोनों सिंह उत्कीर्ण हैं। नागों तथा यक्ष-यक्षिणों की गुप्त एवं प्रागुप्त कालीन अनेक प्रतिमाएँ विदिशा, पवाया (प्राचीन पद्मावती) मंदसौर, तुमैन आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं। मध्य भारत से प्राप्त मध्यकालीन जैन कलावंशों की संख्या बहुत अधिक है। खालियर के प्राचीन दुर्ग में जैन तीर्थंकरों का विशालकाय प्रतिमाओं का निर्माण इस काल में हुआ। इनमें से कुछ कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं तथा अन्य पद्मासन पर ध्याय मुद्रा में। यहां अनेक सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ भी मिली हैं। पद्मावती, नरवर, चंदेरी, उज्जैन आदि से भी मध्यकालीन जैन अवशेष बड़ी संख्या में मिले हैं। विदिशा जिले में बरो या (बड़ नगर) नामक स्थान पर जैन मंदिरों का एक समूह दर्शनीय है। इस मंदिर-समूह के बाहर नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका की एक छह फुट ऊँची मूर्ति रखी है। मंदिर शिखर शैली के हैं और इनका निर्माण परमारों के शासन काल में हुआ। तीर्थंकरों की अनेक प्रतिमाएँ यहां बाद में रखी गईं। कुछ मन्दिरों के प्रवेश द्वार अत्यंत

महाकौशल क्षेत्र में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। रामपुर जिला में मिरपुर नाम स्थान से पार्श्वनाथ तथा अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ मिली हैं। जबलपुर जिला में कारीतलाड़ स्थान से द्मवी-ग्यारहवीं शती में निर्मित तीर्थंकर प्रतिमाएँ बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। यहा सहस्र कूट जिन-चैत्यालय भी प्राप्त हुआ है। आकर्षक भाव में खड़ा हुई अम्बिका देवी की कई मूर्तियाँ भी यहा मिली हैं। रतनपुर (जिला बिलासपुर) से बारहवी शती की तीर्थंकर मूर्तियाँ प्रायः ध्यान मुद्रा में खड़ा हुई उपलब्ध हुई हैं। इनमें से चन्द्रगुप्त तथा ऋषभनाथ आदि की मूर्तियाँ रामपुर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। सागर जिला की रहली नहमील में बाना, देवरा आदि स्थानों से कुछ सुन्दर जैन कलावशेष मिले हैं। यद्यपि मध्यकाल में महाकौशल प्रदेश के राजवंशों में से कोई जैन धर्मानुयायी नहीं था, तो भी इसकाल में जैन मंदिरों तथा प्रतिमाओं का निर्माण बड़े रूप में हुआ। यह तत्कालीन जनता का धार्मिक कृत्ति का सूचक है।

अभी तक मध्य प्रदेश के सभी प्राचीन स्थानों में विकसित जैन कला का पुरा सर्वेक्षण नहीं किया जा सका। यदि पूरे प्रदेश में बिखरी हुई कला-राशिका अनुसंधान किया जाय तो बहुत स्या नवीन कलाकृतियों की जानकारी हो सकती।

आदमी से पाप कराने वाली दोही धाँजें हैं और वे ही संसार में जीव को दुःखमन हैं। वे हैं काम और क्रोध, जिस तरह धुआँ आग को हक देता है और गर्त शंखों को अन्धा कर देता है उसी तरह दोनों मानव की बुद्धि पर पदों डाल देती हैं।

शब्द-साम्य और उक्ति-साम्य

(अगुयत परामर्शक मुनि श्री नगराज जी)

भगवान् श्री महावीर की वाणी का और उनके जीवन-वृत्तों का शास्त्र रूप संकलन द्वादशांगी या गणिपिटक कहा जाता है और भगवान् बुद्ध से सम्बन्धित शास्त्रीय संकलन का त्रिपिटक कहा जाता है। दोनों का अध्ययन करने समय ऐसा अनुभव होने लगता है कि इस कर्षा एक ही क्षेत्र काल और संस्कृति में विहार कर रहे हैं। एतद्विषयक समता यहाँ से प्रारम्भ हो जाती है कि शास्त्र के अर्थ में पिटक शब्द दोनों ही परम्पराओं ने अपनाया है। यह ज्ञान संज्ञा गंगा तथा आचार्य के लिए है, इस लिए उसे गणिपिटक कहा गया है। गणा शब्द का प्रयोग महावीर, बुद्ध आदि तात्कालिक धर्म—प्रवर्तकों के अर्थ से भी बौद्ध परम्परा में मिलता है। हो सकता है, संघ नायक भगवान् महावीर से उद्भूत वाणी के अर्थ से ही जैन परम्परा ने गणिपिटक शब्द को अपनाया हो। दोनों प्रकार के पिटकों में अनेकानेक शब्दों का प्रयोग समान रूप से मिलता है। यह शब्द-समता इस बात को असाधारण रूप से पुष्ट कर देती है कि दोनों परम्पराओं का ज्ञान-प्रवाह कभी-न-कभी एक ही स्रोत से अवश्य सम्बन्धित रहा है। उदाहरण मात्र के लिए इस प्रकार का कुछ शब्द-साम्य प्रस्तुत किया जाता है :—

निर्गन्ध—इस शब्द का अर्थ है—निर्गन्ध तात्पर्य है—अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित। त्रिपिटकों में जैन सम्प्रदाय को “निर्गन्ध सम्प्रदाय”, भगवान् श्री महावीर को “निर्गन्ध ज्ञातपुत्र” स्थान-स्थान पर कहा गया है। जैन भ्रमणों को भी निर्गन्ध कहा गया है। उक्त अर्थों में निर्गन्ध शब्द का प्रयोग गणिपिटक में भी ज्यों-का-त्यों देखा जाता है। भगवान् श्री महावीर के प्रवचन को भी निर्गन्ध प्रवचन कहा गया है।

पुद्गल-पुद्गल शब्द का प्रयोग जैन और बौद्ध परम्परा

१—संयुक्त निकाय, दहर सुत्त ३-१-१ पृष्ठ ६८; दीघनिकाय, सामञ्जस सुत्त, १-२; सुत्तनिपात, सभिय सुत्त, पृष्ठ १०८ से ११० आदि।

के अनिश्चित अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता है। जैन परम्परा में इसका मुख्य अर्थ “रूपी जड़ पदार्थ” है। बौद्ध परम्परा में पुद्गल शब्द का अर्थ है—आत्मा, जीवन्। जैनागमों में भी जीव तत्त्व के अर्थ में पुद्गल शब्द आया है। श्रौतम स्वामी के एक प्रश्न पर भगवान् श्री महावीरने भी जीव को पुद्गल कहा है। ४

अर्हन् और बुद्ध—वर्तमान में अर्हन् शब्द जैन परम्परा में और बुद्ध शब्द बौद्ध परम्परा में रूढ़-जैसा बन गया है। यान् स्थिति यह है कि जैनागमों में अर्हन् और बुद्ध अपने आराध्य पुरुषों के लिए अपनाये गये हैं और बौद्ध आगमों में भी अपने श्लाध्यपुरुषों के लिए। जैनागमों की प्रसिद्ध गाथा—

जेय बुद्धा अतिक्कन्ता, जेय बुद्धा अणागया ।२

बौद्ध परम्परा की सुविदित गाथा है :

ये बुद्धा अतीता च ये च बुद्धा अनायता ।

पञ्चुप्पन्ना च ये बुद्धा अहं वंदामि ते सदा ॥

जैनागमों में और भी अनेक स्थानों पर बुद्ध, संबुद्ध, संयुद्ध आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

तिथ्यगराणं सम्यंसंबुद्धाणं ।६

तिविहा बुद्धा-णाण बुद्धा, दंसयाबुद्धा, चरित्त बुद्धा ।७

समणेणं । भगवया महावीरेण आहारेण

तिथ्यरेणं सम्यं संबुद्धाणं ।८ बुद्धे हि एवं पवैदितं ।९

संस्माहे घम्मं य वियागरंति बुद्धा हु ते अंतकरा भवन्ति ।१०

२—मज्झिम निकाय—११४

३—भगवती सूत्र शतक—२०-३-२

४—भगवती सूत्र शतक—८-३-१०

५—सूत्र कृतांग सूत्र १-१-३६ ।

६—राय पसेणहयं ५

७—स्थानांग सूत्र ठा० ३

८—समवायांग सूत्र २।२

९—आचार्यांग सूत्र ४।१।३४०

१०—सूत्रकृतांग सूत्र १-१४-१८

बौद्ध परम्परा में अर्हन् शब्द का प्रयोग इसी प्रकार पूज्य जनों के लिए किया गया है। स्वयं तथागत को स्थान-स्थान पर अर्हन् सम्यक् संबुद्ध कहा गया है।^१ भगवान् बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् पांच सौ भिक्षुओं की जो सभा होती है, वहाँ आनन्द को छोड़ कर चार सौ निन्यानवे भिक्षु अर्हन् बतलाये गये हैं। कार्य आरम्भ के अवसर तक आनन्द भी अर्हन् हो जाते हैं।^२ बौद्धागमों में बुद्ध और जैनागमों में अर्हन् शब्द के तो अग्रणीय प्रयोग हैं ही।

धैर्य—स्थविर शब्द का प्रयोग दोनों ही परम्पराओं में वृद्ध या ज्येष्ठ के अर्थ में हुआ है। जैन परम्परा में ज्ञान, वय दीक्षा-पर्याय आदि को लेकर अनेक भेद-प्रभेद हैं। ये प्रयोग जैन आगमों के हैं।

बौद्ध परम्परा में १२ वर्ष से अधिक के सभी भिक्षुओं के नाम के साथ धैर्य या धैरी लगाया जाता है।

भन्ते—पूज्य और वहाँ को आमन्त्रित करने में भन्ते (भदन्त) शब्द दोनों ही परम्पराओं में एक है। से कण्टहेण भन्ते, से गणां भन्ते, सेव भन्ते, सव्वं भन्ते, इ आदि। ये प्रयोग जैन आगमों के हैं। बौद्ध आगमों में भी भन्ते शब्द का बहुलता है।

आउसी—समान या छोटें के लिए आउस्य (आयुस्मान) शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में समान रूप से मिलता है। भगवान् बुद्ध को भी 'आउस' गौतम कह कर सम्बोधित करते थे। गोशालक ने भी भगवान् महावीर को आउस्यो कामवां कहा है।^३

आवक, उपासक, श्रमणोपासक—आवक शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में मिलता है। जैन परम्परा के अनुसार उसका अर्थ गृहस्थ उपासक है। बौद्ध परम्परा में इससे भिक्षु, शिष्यों का बोध होता है।^४ उपासक और श्रमणोपासक शब्द अनुयायी गृहस्थ के लिए दोनों परम्पराओं में प्रयुक्त हैं।

१—टीघ निकाय, माज्झिमसुत्त, १८२।

२—विनय पिटक, पंच शतिका स्कन्धक।

३—भगवती सूत्र ७-३-२७६।

४—भगवती सूत्र शतक १६।

५—मज्झिम निकाय ३।

आखिज और संवर—ये दोनों शब्द भी जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में एक ही अर्थ में मान्य दिखलाई पड़ते हैं।^६

दीक्षित होने के अर्थ में एक वाक्य दोनों परम्पराओं में रूप जैसा पाया जाता है। जैनागमों में ४ 'आगाराओ अग्रगारियं पच्चइत्तण्'^७ बौद्ध शास्त्रों में "अगारस्मा अनगारसं पव्वज्जन्ति"^८।

सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि—ये दोनों शब्द भी एक ही अर्थ में दोनों परम्पराओं में मिलते हैं। जैन और बौद्ध दोनों ही अपने-अपने अनुयायियों को सम्यक् दृष्टि और हतरमत वालों को मिथ्या-दृष्टि कहते हैं।

उपोसथ—हम शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में मिलता है। दीघनिकाय में भगवान् बुद्ध ने जैनों के उपोसथ की आलोचना की है।

वरमण—घृत लेने के अर्थ में हम शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में देखा जाता है।

तथागत—मुप्यतः यह शब्द बौद्ध परम्परा का है। जैनागमों में भी यत्र तत्र उपलब्ध होता है।

"कच्चो कच्चाह मेहावी उण्णज्जन्ति तहागया।

तहागया उण्णडिक्कन्ता चक्खु लोणम्मनुत्तरा ॥"^९

विनय—विनय शब्द का दोनों परम्पराओं में महत्व है। बौद्ध परम्परा में समग्र आचार धर्म के विषय में ही विनय शब्द का प्रयोग है। विगय पिटक इसी बात का सूचक है। जैनागमों में भी अनेकों अध्ययन विनय प्रधान है। दशवैकलिक सूत्र का नवम अध्ययन विनय सकाधि नाम से है। उसकी प्रथम उक्ति है—"धंभाव कोहा व मयप्प माया, गुरु मगासे विणयं न मिकखे।"^{१०} उत्तराध्ययन सूत्र का प्रथम अध्ययन का नाम भी विनय श्रुत है और वहाँ यही कहा जाता है—विणयं पाठ करिस्सामि, आणु—पुप्पि सुणेह मे।

६—जैनागम, समवायांग सूत्र स० ५, बौद्ध शास्त्र, मज्झिम निकाय २।

७—भगवती सूत्र ११-१२-४३१।

८—महावग्ग।

९—सूत्र कुलांग सूत्र २-१५-१२०-६२५।

वर्जित कथा—जैनागमों में स्त्री कथा, भक्त कथा, देश कथा, राज कथा की वर्जना मिलती है। दीघ निकाय के महाजाव और सामज्जफल, इन दोनों प्रकरणों से ऐसी कथाओं को तिरच्छान कथा कहा है—तिरच्छान कथा, अनुयुतों विहरति सेट्थधदं—राज कथा, चार कथा, महामत्त कथा, सेना कथा, भयकथा, युद्ध कथा, अन्न कथा, पान कथा।

त्रिशरण—चतुश्शरण-बौद्ध पिटकों में व परम्परा में तीन शरण बहुत ही महत्वपूर्ण हैं तो जैनागमों व परम्परा में चार शरण अपना अन्म स्थान रखते हैं। वे तीन व चार शरण क्रमशः निम्न प्रकार है :—

बुद्धं सरणं गच्छामि	अरिहन्ते सरणं पवज्जामि
संघं सरणं गच्छामि	सिध्दे सरणं पवज्जामि
धम्मं सरणं गच्छामि	साहू सरणं पवज्जामि

केवली पण्यत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि

णमोत्थुणो—जैन आगमों का प्रसिद्ध स्तुति वाक्य है—“णमोत्थुणं समणस्स भगवच्चो महावीरस्स” बौद्ध परम्परा का सूत्र है—“णमोत्थुणं समणस्स भगवच्चो सम्यग संबुद्धस्स”।

नगर व देश—नालन्दा, राजगृह, कथंगला, श्रावस्ती आदि नगरों व अंग, मगध आदि देशों के नाम व वर्णन दोनों आगमों में समान रूप से मिलते हैं।

उक्ति साम्य

जैनागम कहते हैं—व्यक्ति तीन उपकारक व्यक्तियों से उद्धार नहीं होता; गुरु से, मालिक से और माता-पिता से। वहाँ यह भी बताया गया है कि अमुक-अमुक प्रकार की पराकाष्ठा परक सेवाएँ दे देने पर भी वह अनुद्धार ही रहता है। लगभग वही उक्ति बौद्ध आगमों में मिलती

१—अध्यांग सूत्र डा० ३।

है। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ! सौ वर्ष तक एक कन्धे पर माता को और एक कन्धे पर पिता को ढोए, और सौ वर्ष तक ही वह उनके उबटन, मर्दन आदि करता रहे, उन्हें शीतोष्ण जल से स्नान कराता रहे, तो भी वह भिक्षुओ! न वह माता-पिता का उपकारक होता है, न प्रत्युपकारक। यह हमजिण्ड कि माता-पिता का पुत्र पर बहुत उपकार होता है। जैनागमों ने धार्मिक सहयोग का उद्धार होने का आधार माना है।

दो अरिहन्त—जैनागमों की मुद्द मान्यता है—भरत आदि एक ही क्षेत्र में एक साथ दो तीर्थंकर नहीं होते। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ! इय बात की तनिक भी गुंजाहश नहीं है कि एक ही विश्व में एक ही समय में दो अर्हन्त सम्यग् संबुद्ध पैदा हों।

स्त्री-अर्हन्त-चक्रवर्ती शब्द—जैनों की मान्यता है ही कि अर्हन्त चक्रवर्ती, इन्द्र आदि स्त्री भाव में कभी नहीं होते। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ! यह तनिक भी संभावना नहीं है कि स्त्री अर्हन्त, चक्रवर्ती व शक्र हों। ४ श्वेताम्बर आम्नाय के अनुसार मल्ली स्त्री तीर्थंकर थी, पर यह कभी न होने वाला आश्चर्य था।

स्थानांग और अंगुत्तर निकाय—जैन सूत्र स्थानांग के प्रकरण संख्या क्रम से चलते हैं। प्रथम में एक संख्या वाली बातों का वर्णन है तो यथा-क्रम दशम में दश संख्या वाली बात का। बौद्धागम अंगुत्तर निकाय में भी यही क्रम अपनाया गया है। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन एक रोचक विषय बन सकता है।

२—अंगुत्तर निकाय।

३—अंगुत्तर निकाय।

४—अंगुत्तर निकाय।

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुरातन स्यति प्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरो, विद्यार्थियों, सेटियों, शिक्षा-संस्थानों, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों और जैनभूत की प्रभावना में धृष्टा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे शीघ्र ही ‘अनेकान्त’ के ग्राहक बनें और बनावे।

विश्व-मैत्री

[डॉ० इन्द्रचंद्र शास्त्री, एम० ए० पी० एच० डी०, दिल्ली]

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन व्यवहार के लिए दो घेरे बनाता है। पहला "स्व" का घेरा होता है जहाँ उसका संबंध मित्रतापूर्ण होता है। उस घेरे के प्रत्येक सदस्य को देखकर उसके मन में हर्ष होता है। उसके दुःख को वह अपना दुःख मानता है और उसके सुख को अपना सुख। इतना ही नहीं स्वयं दुःख उठाकर भी उसे सुखी करना चाहता है। माता स्वयं भूखी रहकर सन्तान का पेट भरना चाहती है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र के लिये बड़े-से बड़ा कष्ट उठाने को तैयार रहता है। इस घेरे में सुख का आधार प्राप्ति नहीं, उन्मूलन होता है। दूसरे के लिए त्याग करने और कष्ट उठाने में आनन्द आने लगता है।

महाकवि भवभूति का कथन है कि प्रियजन एक ऐसी वस्तु है जो बिना कुछ किये ही दुःख दूर कर देती है। और सुखों की सृष्टि करने लगती है सच्चा प्रेम बदलने में कुछ नहीं चाहता। हम जिससे प्रेम करते हैं इतना ही चाहते हैं कि वह सुखी रहे। उसके सुख एवं उन्नति के समाचार सुनकर हृदय तृप्त होता है।

दूसरा घेरा "पर" का है। इस घेरे के व्यक्तियों को हम पर या शत्रु मानते हैं उन्हें देखते ही हृदय आशंका या भय से भर जाता है। उनकी उन्नति सुनकर मन में ईर्ष्या होती है और हानि सुनकर प्रसन्नता। वे हमारा विरुद्ध कुछ करें या न करें उनका अस्तित्व ही हृदय में आशंति उत्पन्न करता रहता है।

'स्व' का घेरा जितना छोटा होता है व्यक्ति उतना ही दुःख तथा निर्वलता का अनुभव करता है। यह घेरा ज्यों-ज्यों विस्तृत होता है उसका अन्त होता जाता है। बल तथा आनन्द की अनुभूति बढ़ती चली जाती है। उच्च धार्मिक परम्पराओं ने इसी बात पर बल दिया है कि पर के घेरे को घटाने हुए स्व के घेरे को बढ़ाने जाना चाहिए।

प्राचीन मानव छोटे-छोटे कुलों में विभक्त था और उनमें बराबर युद्ध चलते रहते थे। प्रायः विजेता कुल, पराजित कुल को समाप्त कर देता था। क्रमशः उसने यह अनुभव किया कि पराजित कुलों को मार डालने के स्थान

पर यदि उसे अपने अधीन कर लिया जाय तो अधिक लाभ हो सकता है। फलस्वरूप पराजित कुल के सदस्यों को गुलाम के रूप में रखा जाने लगा। यह मित्रता या सह-योग का घोर पहला कदम था। यहाँ हत्या की अपेक्षा शत्रु के जीवन को अधिक मूल्यवान मान लिया गया। धीरे-धीरे पराजित और विजेता का सम्बन्ध प्रजा और राजा के रूप में परिणत हो गया। राजा रक्त बन गया और प्रजा का रक्षा करना अपना धर्म मानने लगा। दूसरी ओर प्रजा कर या अन्य रूपों में उसे सुख-सुविधाएँ प्रदान करने लगी। वर्तमान लोकतन्त्र में वह भेद समाप्त भी हो गया। राजा और प्रजा एक ही भूमिका पर आ गये। इस प्रकार शासन के क्षेत्र में हम विपमता से समता या शत्रुता से मित्रता की ओर बढ़े।

स्व और पर की परिधिका दूसरा रूप भौगोलिक सीमाएँ थीं। छोटे-छोटे कुल जब कृषि करने लगे तो विभिन्न स्थानों पर बस गये। इन वस्त्रियों को ग्राम कहा जाता था, जिसका अर्थ है समूह। किन्तु एक ग्राम का दूसरे ग्राम के साथ सम्बन्ध मित्रतापूर्ण नहीं होता था। दो ग्रामों के मिलने को संग्राम कहा जाता था जिसका अर्थ युद्ध। धीरे-धीरे ग्रामों में मित्रता पूर्ण सम्बन्धों का विकास हुआ और वे जनपदों के रूप में संगठित हो गये। किन्तु एक जन का दूसरे जन के साथ सम्बन्ध युद्ध के रूप में ही होता था। संस्कृत में इसे जन्म कहा जाता है जिसका व्युत्पत्त्यर्थ है—दो जनों का मिलना और प्रचलित अर्थ है युद्ध। क्रमशः उनमें भा प्रेमपूर्ण सम्बन्धों का विकास हुआ और राष्ट्रों का रूप लिया। कुछ राष्ट्र प्राकृतिक सीमाएँ लिये हुए थे, उनका अन्य राष्ट्रों के साथ अधिक संपर्क नहीं रहा। फलस्वरूप वे युद्धों से बचे रहे और अपना सांस्कृतिक विकास करते रहे। उदाहरण के रूप में चीन और भारत को उपस्थित किया जा सकता है। प्राकृतिक सीमाओं के न रहने पर राष्ट्रों में परस्पर युद्ध चलते रहे। यूरोप का रक्तरंजित इतिहास इसका साक्ष्य है।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने भौगोलिक परिधियों को

समाप्त कर दिया है। रेडियो, टेलीविजन, हवाईजहाज आदि के कारण आदान प्रदान बढ़ गया है कि अब कोई देश अपने को बाह्य प्रभाव से मुक्त नहीं रख सकता। फिर भी पुरानी परिधियाँ हमारे मानस को घेरें हुए हैं। अब भी उनके आधार पर स्व और पर का भेद किया जा रहा है। यही वर्तमान मानव की सबसे बड़ी समस्या है।

जिस प्रकार जनपदों ने मिलकर राष्ट्रों का रूप ले लिया, उसी प्रकार राष्ट्र मिलकर अलग-अलग गुट बना रहे हैं और एक दूसरे के विनाश की तैयारी कर रहे हैं। आणविक अस्त्रों के विकास ने इस समस्या को और भी विकट बना दिया है। प्राचीन समय में युद्ध करते समय प्रत्येक पक्ष अपनी जीत और दूसरों की हार की बात सोचता था, किन्तु आणविक अस्त्रों ने इस धारणा को बदल दिया है। समस्त विचारक यह मान रहे हैं कि यदि इनका प्रयोग हुआ तो जीत किसी की नहीं होगी। इस समय उद्धार का एक ही मार्ग है कि परिधियों को समाप्त करके समस्त 'मानवता' एक ही भूमिका पर आजाय सर्व 'मैत्री' का पाठ सीखे।

धर्म, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि समस्त विद्याओं का जन्म मानव-कल्याण के लिये हुआ। किसी ने उसके अभ्यन्तर रूप को सामने रखा, किसी ने बाह्य रूप को और किसी ने सामाजिक रूप को। किन्तु वह ही जब परिधियों से घिर गये तो असली लक्ष्य छूट गया। धर्म ने संप्रदाय का रूप ले लिया, राजनीति ने भौगोलिक अहंकार का, समाज शास्त्र ने जातीय अहंकार का और अर्थशास्त्र ने वर्ग शोषण का। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि प्रत्येक संस्था का जन्म सर्वोदय के लिये हुआ। वह मानव-कल्याण के लिये प्रवृत्त हुई और मर्यादित शक्ति तथा सुविधा की दृष्टि से क्षेत्रविशेष को चुन लिया। किन्तु जब उसके साथ अहंकार या लोभ मिल गया तो प्रतिस्पर्धा चल पड़ी और सर्वोदय ने 'स्वोदय' का रूप ले लिया। यहाँ स्व का अर्थ व्यक्ति तथा उसके द्वारा खड़ी की गई परिधि है। अहंकार की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। अपनी उन्नति का लक्ष्य धुंधला पड़ता गया और उसका स्थान दूसरे की हानि ने ले लिया। हमें अपने को ऊँचा उठाने की उतनी चिन्ता नहीं रही जितनी दूसरे को नीचे गिराने की। इस प्रकार स्वो-

दय ने पर-मानि का रूप ले लिया। धर्म, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में जो संगठन परस्पर सहयोग द्वारा विकास के लिये अस्तित्व में आये थे वे विध्वंसक प्रवृत्तियों में लगे गये। दूसरे शब्दों में किसानों ने अन्न का उत्पादन बंद करके विदेशी वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ कर दिया। कारीगरों ने जीवन के लिये आवश्यक वस्तु बनाता छोड़ कर हथियार बनाना शुरू किये। राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने बन्दूक और तोपों का रूप ले लिया। सामाजिक क्षेत्र में परस्पर निन्दा और चुगली का धार्मिक क्षेत्र में मिथ्या प्रदर्शन, वंश एवं आक्षेप-प्रत्याक्षेपों का। कल्याणकारी संगठन सेनाये बन गई। आवश्यकता इस बात का है कि सब परिधियों को समाप्त करके पुनः सर्वोदय या सर्व-मैत्री को अपना लक्ष्य बनाया जाय। कार्य-मर्यादा समाप्त रहने पर भी उस लक्ष्य को प्रतिक्षण सामने रहना आवश्यक है। उसे भूलने ही मानव पथभ्रष्ट हो जायगा।

भगवान् बुद्ध का कथन है कि माता जिस प्रकार अपने हकलौते पुत्र से प्रेम करती है उसी प्रकार का प्रेम सारे विश्व में फैला दो। बौद्धों की महायान शाखा में इस मिहान्त का विकास महाकरुणा के रूप में हुआ। वहाँ करुणा अर्थात् परोपकार के ये स्तर बनाये गए हैं। सबसे नीचा स्तर स्वार्थमूलक करुणा का है। इसका अर्थ है स्वार्थ को लक्ष्य में रखकर दूसरे को भलाइ करना। इसमें मुख्य भावना प्रतिदान की रहती है। साधारण सामाजिक जीवन में परोपकार का यही रूप मिलता है। करुणा का दूसरा स्तर वह है जहाँ स्वार्थ न होने पर भी दूसरे को कष्ट में देखकर उसे निवारण का प्रयत्न किया जाता है। दूसरे का दुःख हमारे मन में एक प्रकार की अशान्ति उत्पन्न करता है, यही बेचैनी दूसरे की सहायता के लिये प्रेरित करती है। हम इसे करुणा का मानुषी रूप कह सकते हैं। तीसरा स्तर वह है जहाँ दूसरों की सहायता या परोपकार हमारा स्वभाव बन जाता है। किसी प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती। बावजूद यह नहीं देखता कि कौन-सी जमीन प्यासी है और कौन-सी सजल। बरसाना उसका स्वभाव है। इसी प्रकार परोपकार के लिये बिना किसी बाह्य प्रेरणा के सब कुछ अर्पित कर देना करुणा का सर्वोच्च रूप है। इसी को वहाँ करुणा कहा जाता है।

वेदान्त ने मित्रता का यह संदर्शन ऐक्य या अभेद के रूप में दिया। उपनिषदों का कथन है जब तक दूसरा है भय बना हो रहेगा। जब सब एक हो तो किमको किमका भय है ? वहाँ यह बताया गया। सारा विश्व ब्रह्म है—उसे प्राप्त करते ही सारी समस्याये मिट जायेंगी। इंगाई धर्म भी विश्व प्रेम को केन्द्र में रखकर विकसित हुआ है।

जैनधर्म ने यह संदेश सर्वमैत्री के रूप में दिया। यहाँ साधु तथा श्रावकों के लिये दैनंदिन अनुष्ठान के रूप में प्रतिक्रमण का विधान है। इसका अर्थ है जानकर या अन-जान में लगे हुए दोषों के लिये परचात्ताप करके आत्मा को पुनः शुद्ध बनाना। प्रति का अर्थ है वापिस और क्रमण का अर्थ है जाना। सांसारिक प्रवृत्तियों के कारण आत्मा बहिर्मुखी हो जाता है उसे अंतर्मुखी बनाकर पुनः अपने स्वरूप में स्थापित करना ही प्रतिक्रमण है। उसके अंत में संसार के समस्त जीवों से जमा-प्रार्थना करके सर्वमैत्री की घोषणा की जाती है।

जो व्यक्ति कम-से-कम वर्ष में एक बार इस प्रकार आमा-शुद्धि नहीं करता उसे अपने आपको जैन कहने का अधिकार नहीं है। जो मनोमालिन्य को चार महीने से अधिक टिकाये रखता है, वह श्रावक नहीं हो सकता और जो पंद्रह दिन से अधिक रखता है वह साधु नहीं हो सकता।

मित्रता का आधार समता है, जहाँ एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अपने को बड़ा मानता है, अपनी भावनाओं और विचारों के समान दूसरे की भावनाओं और विचारों को आदर नहीं देता वही समता नहीं होती।

जिस प्रकार वैदिक धर्म में मंध्या तथा इस्लाम में समाज का निय-कृष्य के रूप में विधान है उसी प्रकार जैन-धर्म में सामाजिक का है। इसका अर्थ है—समता की आराधना। जैनधर्म और दर्शन का विकास इसी को केन्द्र रखकर हुआ है।

यहाँ समता या सर्वमैत्री को अनेक रूपों में उपस्थित किया गया है। यदि उनका अध्ययन विश्व की वर्तमान समस्याओं को लक्ष्य में रखकर किया जाय तो बहुत से समाधान मिल सकते हैं। संक्षेप में उन्हें नीचे लिखे अनुसार उपस्थित किया जा सकता है।

(१) व्यवहार और सर्वमैत्री—हम का अर्थ है व्यवहार में समता। भगवान् महावीर ने कहा है कि जब तुम दूसरे को मारना, मत्ताना या अपमानित करना चाहते हो तो उसकी जगह अपने को रखकर देखो। यदि वह व्यवहार तुम्हें अप्रिय है तो दूसरे को भी अप्रिय होगा। जिस बात को तुम अपने लिये ना पसंद करते हो उसका आचरण दूसरे के लिये मत करो। हम इसे स्व और पर में समता कह सकते हैं। इसी का विकास अहिंसा के रूप में हुआ जो जैन शास्त्र की आधारशिला है।

(२) विचार में सर्वमैत्री—एक ही वस्तु के अनेक पहलू होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य अपने-अपने पहलू पर होता है। उदाहरण के रूप में एक ही व्यक्ति को एक स्त्री भाड़े कहता है, दूसरी पुत्र, तीसरी पिता और चौथी पति। ये चारों जानें परस्पर विरोधी होने पर भी विभिन्न अपेक्षाओं से मध्य हैं। यदि भाड़े कहने वाली स्त्री अन्य स्त्रियों को झूठी कहेगी तो मध्य से दूर खड़ी जायगी। इसके विपरीत जिस अनुपात में उन धारणाओं का स्वागत करेगी उसी अनुपात में मध्य के समीप आवेगी। जैन-धर्म में हम अपेक्षा बुद्धि को अनेकान्त कहा गया है। उसका कथन है कि मध्य पर पहुँचने के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों का स्वागत करना आवश्यक है। इसी का विस्तार नयपाद तथा स्याद्वाद के रूप में हुआ है, जो कि जैन-दर्शन की आधारशिला है। वर्तमान राजनीति में यही भावना लोक-तन्त्र के रूप में विकसित हुई है। सामाजिक लोक तन्त्र वही है जहाँ सदस्यों को अपने-अपने विचार प्रगट करने की पूरी छुट है और सभी पर सहानुभूति के साथ विचार किया जाता है।

(३) न्याय में सर्वमैत्री—प्राचीन समय में न्याय का रूप प्रतिशोध रहा है। उसका कथन था कि यदि कोई तुम्हारी आँख फोड़ता है तो उसकी आँख फोड़ दो। यदि तुम्हारा धन छीनता है तो उसका धन छीन लो। यदि तुम्हारी पत्नी के साथ बलात्कार करता है तो तुम भी ऐसा ही करो यह न्याय है। कालान्तर में यह अधिकार व्यक्ति के हाथ से छीनकर राजा या किसी अनीन्द्रिय मन्त्र के हाथ में दे दिया गया किन्तु दण्ड का रूप वही रहा। जैन-धर्म का कथन है कि अन्याय या पाप करने वाला अपनी आत्मा को

स्वयं निर्बल तथा कलुषित करता है। यह निर्बलता अपने आपमें दण्ड है। यदि तुम प्रतिशोध के रूप में दण्ड देते हो तो तुम भी अपने आपको मलिन करते हो। यह व्यवस्था किसी अनीन्द्रिय शक्ति के हाथ में भी नहीं है। दण्ड के बदले में दण्ड या पाप के बदले में पाप न्याय नहीं है। इसके विपरीत पापी के प्रति हमारी भावना मित्रतापूर्ण होनी चाहिये। हम यह कल्पना करें कि उसने हिंसा या पाप के द्वारा अपने आपको मलिन किया है उसे समझ आये और वह उस मलीनता को धोने का प्रयत्न करे। मैत्री की यह भावना दोनों के हृदय को पवित्र करती है। जैनधर्म के अनुसार न्याय का आधार दूसरे की शुद्धि है, दंड नहीं। यहाँ आत्म शुद्धि के मार्ग को निर्जरा कहा गया है और प्रायश्चित्त उसका मुख्य तत्त्व है। इसके लिए आलोचना, प्रतिक्रमण, आत्मनिंदा, गद्दी, काय व्युत्थमर्ग आदि अनेक प्रक्रियाये बताई गई हैं। जैन-धर्म सिद्धान्त न्याय के इसी रूप को प्रगट करता है। वहाँ यह बताया गया है कि किस प्रकार की बुराई करने पर आत्मा में किस प्रकार का मालिन्य आता है।

(४) बाह्य और आभ्यन्तर में मैत्री—वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या विश्व-खलित व्यक्तित्व है। हम सोचते कुछ है, कहते कुछ है और करते कुछ। मन में भी एक प्रकार का द्वन्द्व चलता रहता है। एक विचार कुछ करने को कहता है और दूसरा कुछ। इस प्रकार जब व्याक्तित्व में कोई शृङ्खला नहीं रहती तो वह शक्तिहीन होता चला जाता है। अशांति बढ़ जाती है और हम आंतरिक आघात-प्रत्याघातों के कारण व्याकुल रहने लगते हैं। शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'हेमलेट' और भगवद्-गीता में इसी अन्तर्द्वंद्व का चित्रण मिलता है। राजकुमार हेमलेट तथा अर्जुन वार होने पर भी अंतर्द्वंद्व के कारण कायर हो गये। जैन-धर्म का कथन है कि मन, वाणी और कर्म में एक सूत्रता होनी चाहिये इसी को चारित्र्य कहा गया है। दूसरी ओर मन के सामने एक उच्च लक्ष्य रहना चाहिए। उसके प्रति दृढ़निष्ठा होनी चाहिए। इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र्य का ज्यों-ज्यों विकास होगा जीवन में एक सूत्रता आती जायगी

इसी का नाम आभ्यन्तर और बाह्य में मित्रता है जो जैन-साधना की आधारशिला है।

(५) अपरिग्रह—साम्यवाद का जन्म सामाजिक विषमता को दूर करने के लिये हुआ। मार्क्स तथा अन्य विचारकों ने देखा कि एक वर्ग सम्पन्न है और दूसरा दरिद्र। सम्पन्न वर्ग दरिद्र वर्ग का शोषण कर रहा है और उसे पनपने नहीं देता। इस वर्गभेद का कारण वैयक्तिक सम्पत्ति है। फलस्वरूप उसने राजकीय विधान द्वारा सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार को समाप्त कर दिया। इस व्यवस्था ने वर्गभेद को मिटा दिया और सभी को भोजन, निवास आदि जीवन सुविधायें प्राप्त होने लगीं। किन्तु ऊपर से लाठी जाने के कारण इस व्यवस्था ने स्वतन्त्र प्रतिभा का भा दमन किया। मानव विचार की उच्च भूमिकाओं को छोड़कर निर्वाह की साधारण भूमिका पर आ गया। जैन-धर्म विषमता की इस समस्या को सुलझाने के लिए 'अपरिग्रह' का सन्देश देता है। वह यह मानता है कि परिग्रह वैषम्य को जन्म देता है उसे दूर करने के लिये सर्वोच्च भूमिका अपरिग्रही या साधु की है जो अपने पाम कोई सम्पत्ति नहीं रखता। उसमें नीची भूमिका श्रावक का है जो परिग्रह की स्वेच्छापूर्वक मर्यादा करता चला जाता है और विषमता से समता की ओर बढ़ता है। श्रावक के व्रतों में पाँचवा व्रत 'परिग्रह परिमाण' है और छठा तथा परिमाण। पहले में धन सम्पत्ति आदि संग्राह्य वस्तु की मर्यादा की जाती है और दूसरे में व्यवसाय तथा उद्योग के क्षेत्र का है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-धर्म प्रत्येक क्षेत्र में 'विश्वमैत्री' के लक्ष्य को लेकर चलता है। धर्म, दर्शन साधना, दैनिक कृत्य आदि सभी में उसकी झलक मिलती है। विश्वमैत्री का यह आदर्श ज्यों-ज्यों जीवन में उतरता है साधक ऊँचा उठता चला जाता है। अन्तिम भूमिका वीतराग की है जहाँ भेदबुद्धि सर्वथा समाप्त हो जाती है। न किसी के प्रति राग रहता है और न द्वेष। न कोई अपना होता है और न पराया। जब तक शरीर रहता है सभी के कल्याण के लिये प्रयत्न चलता रहता है। इसीको अरिहंत अवस्था कहते हैं जो जीवन की सर्वोच्च अवस्था है।

(जैन प्रकाश से)

धर्म ही मंगल मय है

(अशोक कुमार जैन)

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमसंति जस्म धम्मो मयामखो ॥

धर्म जीवनका मूलधार है, शान्ति का प्रतीक है, समता का परिणाम है—जिम में राग-द्वेष-मोह आदि विकारों का लेश नहीं है। धर्म वह अनुप्राप्त है जो अन्तरात्मा को केवल स्पर्श ही नहीं करता प्रत्युत उसे अनुप्राणित भी करता है। अतएव धर्म उत्कृष्ट मंगल है पाप का विनाशक है। धर्म का वह मंगलरूप अहिंसा संयम और तप द्वारा प्रकट होता है। वही आत्मा की स्वतंत्रता का प्रतीक है। तब आत्मा धर्म का यथार्थरूप में आचरण करता है तब उसे जीवन प्रदायिनी शान्ति प्राप्त होती है। आत्मा से राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि विभाव जितनी जितनी मात्रा में कम होते जाते हैं उतनी उतनी मात्रा में ही जीवन में धार्मिकता एवं समता प्रकट होती रहती है।

अहिंसा संयम और तपका आधार शिला है। इस क बिना उनमें प्राण नहीं रहता। अहिंसा जहां जीवन प्रदायिनी शक्ति है। वहां आत्म-कल्याण की कसौटी भी है। हिंसा निर्दोष व्यक्ति को चाहे पहुँचाती है, भय, दुर्बलता, द्वेष, व निन्द्यता को जन्म देती है। उससे जीवन अशान्त और दुर्घा बना रहता है। किन्तु अहिंसा दुर्बलों के प्रति न्याय का संचार करती हुई जीवन को सरस और कार्य जम बनाती है, और हिंसा जीवन को कठोर, निर्दयी तथा अन्याय को प्रोत्तेजित देती है। इसी से वह गहिर् एवं न्याय है।

अहिंसक भावना की प्रेरक शक्ति संयम है। संयम स्वभावगत दुर्बलताओं के प्रति कोई रियायत नहीं प्रदान करती। किन्तु आत्माय दुर्बलताओं का दमन करने या नियंत्रण करने के साथ-साथ उसमें जीवमात्र के प्रति दया, न्याय और प्रेमका आग्रह निहित है। आत्म-विक्रम में बाधक दुर्बलताएँ हैं, जिन्हें नीरस या शक्ति हीन बनाने के लिये हमें इच्छाओं का निरोध करना आवश्यक है। क्योंकि इच्छाएँ मोह के सदाभाव में उद्भूत होती हैं। और वे जीवकी

शक्ति को मरोर देती हैं जिससे जीवात्मा अपने उदार कार्य में असमर्थ बन जाता है। इसी से संयम में प्रवृत्त होना पड़ता है, तब कहीं उस की असंयम से रक्षा हो पाती है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र्य को ही धर्म बतलाया है। 'चारित्र्यं खलु धम्मो' वह धर्म समता रूप है, और समता मोह-तोभ के अभाव में होती है। जब आत्मा रागद्वेषादि से अपने निर्मल चैतन्य स्वभाव में रहता है, तभी वह वास्तविक धर्म को पाता है। ऐसे धर्म का अनुष्ठान जिन्होंने किया है उन्हें ही वास्तविक सुख प्राप्त होता है।

धर्म से कुत्ता भी देव हो जाता है और अधर्म से देव भी कुत्ता बन जाता है। धर्म ही जावका रक्षक है, उस से ही दुःख दूर होते हैं : आगन्तुक विपदाओं से धर्म ही जीव को बचाता है। हमारे लोभ धर्म की शरण में जाते हैं। धर्म ही उन्हें विपदाओं से उस का उद्धार करता है। धर्म-मय परिणति से ही अर्थात् धर्मका निर्दोष आचरण करने से ही कर्म रूपा प्रान्य खुलता है। कपाय की शक्ति का रस सुखता है। आत्म-बल में वृद्धि होती है।

धर्म जीवमात्र का अकारण बन्धु है। संसार के सभी जीव धर्म से सुखा देखे जाते हैं, और पाप से दुर्घा। धर्म से ही सांसारिक सुख और सत्ता परिणति रूप भोग सामग्री मिलती है। बद्ध-बद्ध चक्रवर्ती, बलभद्र और तीर्थंकरादि उत्तकटाट के पद मिलते हैं। धर्म से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और पाप से मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। और धर्म से ही कठोर साधना द्वारा जीव मुक्ति प्राप्त करता है। जिसने अपने धर्म की रक्षा की, उसी ने सब की रक्षा की। जो अधर्मी हैं-पापी हैं, उसको कोई दया नहीं करना। अतः ऐसे उत्कृष्ट मंगल मय धर्म का हमें सदैव आचरण करने रहना चाहिये। और उस की प्राप्ति के लिये सदाकाल प्रयत्न करने रहना चाहिये। इस लोक परलोक में धर्म ही हमारा अकारण बन्धु है—रक्षक है। हमें उसी की शरण में जाना चाहिये।

‘तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य’

(डा० श्यामशंकर दीक्षित, एम० ए०, पी० एच० डी०)

संस्कृत महाकाव्य के उद्भव-काल के सम्बन्ध में कोई निश्चित धिचार प्रकट नहीं किया जा सकता । भारतीय परम्परा के अनुसार बाल्मीकि संस्कृत के प्रथम कवि और उनकी कृति ‘रामायण’ संस्कृत महाकाव्य की प्रथम रचना मानी जाती है, किन्तु इस के रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों के मतेय नहीं है । महाभारत का रचनाना-काल भी अयंदिग्ध रूप से निश्चित नहीं किया जा सका है । परन्तु इतना यही विद्वान स्थाकार करने हैं कि इन काव्यों की रचना सन् ईस्वी से पूर्व हो चुकी थी और ‘सन् ईस्वी की प्रथम शताब्दी तक निश्चित रूप से संस्कृत का काव्य शैली निम्नर चुकी थी, काव्य-सम्बन्धी रूढ़ियाँ वन चुकी थीं और कथानक में भी मोहक गुण और मादक प्रवृत्ति ले आने से सम्बन्धित काव्यगत अभिप्राय प्रतिष्ठित हो चुके थे ।’^१ अश्वघोष-कृत ‘बुद्धचरित’ और ‘सौंदरानन्द’ तथा पाणिनि-कृत ‘जामवन्ती वित्तय’ अब तक प्रकाश में आ गये थे, जिनमें उपयुक्त सभी गुणों का समावेश था । जैन संस्कृत महाकाव्यों का उदय भी इसी समय से हुआ है और तब से लेकर अब तक जैन महाकाव्य का धारा अक्षुण्ण रूप से प्रवहमान रही । ईसा की सातवीं-आठवीं शताब्दी तक जैनों द्वारा प्राकृत को अधिक अपनाये जाने के कारण, इस समय तक जैन संस्कृत महाकाव्यों की गति बहुत मंथर रही है, किन्तु इस समय के बाद उन्होंने गति पकड़ी है ! जैन संस्कृत महाकाव्य-साहित्य का विकास कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य से प्रारम्भ हुआ । ईसा की तेरवीं और चौद-हवीं शताब्दी में जैनों द्वारा जो विपुल और बहुमूल्य संस्कृत महाकाव्य-साहित्य रचा गया है, उसे निश्चय ही आचार्य हेमचन्द्र और उनकी कृतियों से प्रेरणा मिली है । आचार्य

ने स्वयं त्रिपण्डितशलाका पुष्पचरित्र, तथा ‘कमारपाल चरित’ नामक महाकाव्य लिखे । कतिपय महाकाव्यों की रचना आश्रय दाताओं का प्रेरणा पर हुई है । इन आश्रय दाताओं में धौलका (गुजरात) के राणा वीरधवल के मन्त्री वस्तुपाल का नाम प्रमुख है । वस्तुपाल स्वयं भी एक श्रेष्ठ कवि था और उसने ‘नरनारायणानन्द’ नामक महाकाव्य की रचना की है ! कुछ कवियों ने पाण्डित्य, काव्य-प्रतिभा और शास्त्र-ज्ञान प्रदर्शित करने की भावना से प्रेरित होकर भारवि, माघ और श्रीहर्ष की श्रेणी में स्थान पाने की महत्वाकांक्षा से कतिपय महाकाव्यों का निर्माण किया है । ऐसे महाकाव्यों में ‘वार्गदग्ध’ और ‘पाण्डित्य प्रदर्शन’ ही प्रधान लक्ष्य रखे गये हैं, वे जन-साधारण के लिए बोधगम्य नहीं । वे हृदय की अपेक्षा बुद्धि की उपज हैं और उसी की अधिक मन्तुष्ट भी करने हैं । किन्तु इन सबसे अधिक संख्या ऐसे महाकाव्यों का है जिनकी रचना स्वान्तः सुखाय हुई है । इनमें कवियों का मुख्य उद्देश्य अपने आराध्य तीर्थंकरों के पावन जीवन का वर्णन करना रहा है । इनमें कहीं-कहीं उन कवियों का धर्म-प्रचारक रूप भी सामने आ गया है और कहीं-कहीं दार्शनिक पक्ष प्रबल हो गया है ।

जैन संस्कृत महाकाव्य-साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग अभी तक अप्रकाशित है । प्रोफेसर वेल्लणकर-कृत ‘जिन-रत्नकोष’ श्रीमोहनलाल दलौचन्द देसाई कृत ‘जैन साहित्यनो इतिहास,’ विविध इतिहास-ग्रन्थ तथा श्रीअगरचन्द नाहुटा आदि विद्वानों के सहयोग से मुझे अभी तक इस युग के जिन जैन संस्कृत महाकाव्यों का पता लग सका है उनकी सूची इस प्रकार है :—

महाकाव्य	सर्ग संख्या	रचनाकाल	कवि
१ वसन्तविलास	१४	ई० १३ वीं शताब्दी	बालचन्द्रसूरि
२ मल्लिनाथ चरित्र	८	”	विजय चन्द्रसूरि
३ नरनारायणानन्द	१६	”	वस्तुपाल

महाकाव्य	सर्ग संख्या	रचना काल	कवि
४ कुमारपाल चरित	१०	सन १३६६	जयमिह सूरि
५ वासुपुत्र चरित	४	सन १२४२	वर्धमान सूरि
६ पार्श्वनाथ चरित	८	सन १३५५	भात्रदेव सूरि
७ श्री यांयनाथ चरित	१४	सन १२७५	मानतुंग सूरि
८ जगद्गु चरित	७	सन १२८१	सर्वानन्द सूरि
९ बालभारत	१८ पर्व, ४४ सर्ग	ई० १३ वीं शताब्दी	अमरचन्द्र सूरि
१० पद्मानन्दमहाकाव्य	१६	सन १२४०	अमरचन्द्र सूरि
११ जयन्त विजय	१६	सन १२२१	अभयदेव सूरि
१२ धर्माभ्युदय महाकाव्य	१५	सन १२२० से १२३३ ई० मध्य	उदयप्रभ सूरि
१३ अभयकुमार चरित	१२	सन ११५५	चन्द्रतिलक उपाध्याय
१४ पारगुप्त चरित	१८ सर्ग	सन १२१३	मलधारिदेवप्रभ सूरि
१५ पुण्डरीक चरित	८ सर्ग	सन १३१५	कमलप्रभ
१६ धन्यशालिभद्र	६ सर्ग	सन १२२८	पूर्णभद्रगणि
१७ मुनिसुप्रत चरित	८ सर्ग	ई० १३ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध	विनयचन्द्र सूरि
१८ यशोधर चरित	१४ सर्ग	ई० १३ वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध	माणिक्य सूरि
१९ नलायनम्	स्कंध १०, सर्ग	ई० १३ वी १४ वी शताब्दी	माणिक्य सूरि
२० शान्तिनाथ महाकाव्य	१६ सर्ग	सन १३५३	मुनिभद्र सूरि
२१ हम्मीर महाकाव्य	१४	सन १२१६	नयचन्द्र सूरि
२२ श्री णिक चरित	१६	सन १३१८	जिनप्रभ सूरि
२३ चन्द्रप्रभ चरित	१०	सन १२५५	सर्वानन्द सूरि
२४ पार्श्वनाथ चरित	५	सन १२३४	सर्वानन्द सूरि
२५ पार्श्वनाथ चरित	८	ई० १४ वीं शताब्दी	विनयचन्द्र सूरि
२६ पार्श्वनाथ चरित	१०	सन १२१६	माणिक्यचन्द्र सूरि
२७ शान्तिनाथ चरित	८	ई० १३ वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध	माणिक्यचन्द्र सूरि
२८ शान्तिनाथ चरित	१४	सन १२६५	मुनिदेव सूरि
२९ मुनिसुप्रत चरित	८	सन १२३७	पद्मप्रभ
३० नेमिनाथ चरित	१०	सन १२३२ के लगभग	उदयप्रभ सूरि
३१ महापुरुष चरित	५	ई० १३ वीं शताब्दी	मेरुतुंगाचार्य
३२ प्रत्येकबुद्ध चरित	१७	सन १२५४	लक्ष्मीतिलक
३३ लीलावतीसार काव्य	२१	ई० १३ वीं शताब्दी	जिनरत्न सूरि
३४ संभवनाथ चरित	—	सन १३५६	मेरुतुंग
३५ सनकुमार चरित	—	सन १२०५	जिनपाल उपाध्याय
३६ विवाहवल्गु महाकाव्य	१४ से अधिक	१४ वीं शताब्दी (अनुमान से)	अज्ञात (प्रस्तुत महाकाव्य का केवल १४ वां सर्ग श्री अभयजैन ग्रंथालय बीकानेर में सुरक्षित है। श्री नाहटा जी का अनुमान है कि यह ग्रंथ भी १४ वीं शताब्दी का ही होगा)

महाकाव्य	सर्ग संख्या	रचना काल	कवि
३७ धर्मशर्माभ्युदय	२१	ई० १३ वीं शताब्दी का आरम्भ (प्रो० अमृतलाल जी शाम्भरी, बनारस सं० विश्वविद्यालय तथा प्रिंसिपल चैनसुखदास न्यायतीर्थ के अनुसार)	हरिश्चन्द्र
३८ मुनिसुप्त चरित	१०	ई० १३ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध	अर्हदाम
३९ वर्धमान चरित (श्री परमानंद शास्त्री के अनुसार ईडर भंडार में सुरक्षित है)		ई० १३ वीं शताब्दी	पद्मनन्दि
४० भव्यमार्गोपदेश आकाचार	—	"	जिनदेव
४१ अष्टभदेव महाकाव्य	—	"	वाग्भट्ट (अनुपलब्ध)
४२ भरतेश्वराभ्युदय	—	"	पं आशाधर (अनुपलब्ध)
४३ राजीमती-विप्रलम्भ	—	"	" (अनुपलब्ध)
४४ चन्द्रप्रभचरित	—	"	वीरनन्दी

यह ध्यान रखने की बात है कि ईसा की १४ वीं शताब्दी से पूर्व तक सर्गबद्ध काव्य ही महाकाव्य माना जाता रहा है इस समय तक सर्गों की संख्या किसी भी आचार्य ने निर्धारित नहीं की। सर्व प्रथम विश्वनाथ महापात्र ने महाकाव्य के लिए आठ सर्गों की संख्या नियत की। विश्वनाथ का समय ईसा की १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है अतः उनका यह निर्णय पूर्व की कृतियों पर लागू नहीं किया जा सकता। इसीलिए ऊपर लिखे गए कुछ महाकाव्यों में सर्गों की संख्या आठ से कम होने पर भी कवियों ने उन्हें महाकाव्य कहा है और इन पंक्तियों के लेखक ने भी उन्हें महाकाव्य स्वीकार किया है। इन महाकाव्यों में क्रम संख्या १ से लेकर २२ तक के तथा ३७ और ३८ क्रम संख्या वाले महाकाव्य प्रकाशित हैं शेष सभी अमुद्रित हैं।

पाश्चात्य तथा आधुनिक भारतीय विद्वान महाकाव्य के दो भेद करते हैं :- 1. Epic of growth 2. Epic of Arts अर्थात् विकसनशील महाकाव्य और अलङ्कृत महाकाव्य। विकासनशील महाकाव्य एक व्यक्ति के हाथ की रचना नहीं होते। उनमें एक से अधिक का योगदान होता है। सैकड़ों वर्षों में, अग्रणीत व्यक्तियों की प्रतिभा और वाणी के योग से उसका विकास होता है। बास्मीकिरामायण और महाभारत इसीलिए विकसन-

शील महाकाव्य माने जाते हैं। महाभारत और रामायण में इस मात्रा तक विकास हुआ है कि उनके मूल रूप और वर्तमान रूप में कोई समानता नहीं रह गई है। हिन्दी का प्रसिद्ध महाकाव्य चन्द्र वरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' को भी इसी लिए विकसनशील महाकाव्यों की कोटि में रखा जाता है। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्यों में ऐसा कोई भी महाकाव्य नहीं जो कि एक हाथ की रचना न हो फलस्वरूप विकसनशील महाकाव्य की श्रेणी में कोई महाकाव्य नहीं आता। सभी महाकाव्य अलङ्कृत महाकाव्य हैं।

इन महाकाव्यों को छः भागों में बांटा जा सकता है १. रीतिबद्ध महाकाव्य २. शास्त्र काव्य ३. ऐतिहासिक महाकाव्य ४. पौराणिक महाकाव्य ५. रोमेन्टिक महाकाव्य ६. पौराणिक रोमेन्टिक महाकाव्य। प्रथम भाग में उन महाकाव्यों की गणना की जा सकती है, जिनकी रचना भामह, दण्डी और आचार्य हेमचन्द्र द्वारा निश्चित महाकाव्य-लक्षणों के अनुसार हुई है। इन महाकवियों के समस्त भारवि, माघ और श्रीहर्ष का आदर्श रहा है। ऐसे महाकाव्यों को रीतिबद्ध महाकाव्य कहा जा सकता है। रीतिबद्धता की यह प्रवृत्ति राज्याश्रय और दरबारी वातावरण की देन थी, जहाँ प्रत्येक कवि अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन, वाक्चातुर्य, कल्पनातिरेक और अलङ्कृत भाषा के द्वारा अपने उत्कृष्ट कवित्व की धाक जमाना चाहता था।

आलोच्य युग के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य ‘धर्मशर्माभ्युदय’ और ‘नरनारायणानन्द’ में यही प्रवृत्ति पाई जाती है। भारवि और माघ की तरह इन महाकाव्यों के रचयिता भी कथाक्रम को छोड़ कर बीच में लगातार पांच छंदों तक चन्द्रोदय, वन-विहार, जलक्रीड़ा, पानगोष्ठी तथा प्रकृतिका वर्णन करने चले गये हैं और बाद में विश्व-खलित कथा सूत्र को पकड़ कर आगे बढ़े हैं। ‘नरनारायणानन्द’ में तीसरे सर्ग के बान कथा सूत्र टूट जाता है और चौथे सर्ग से नवें सर्ग तक ऋतुवर्णन, रैवतकवर्णन, चन्द्रोदय, सुरापान-सुरतवर्णन, सूर्योदय, वनक्रीड़ा, शोलाश्लेष और पुष्पावचयन का वर्णन है। ‘धर्मशर्माभ्युदय’ में भी ग्यारहवें सर्ग से लेकर पन्द्रहवें सर्ग तक ऋतुवर्णन, वनक्रीड़ा, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय, मद्यपान तथा मंभोग शृंगार का वर्णन किया गया है। दोनों ही महाकाव्यों में कथानक गोंग है, अलङ्कृत वर्णन तथा चमत्कार की प्रमुखता है। पाण्डित्य प्रदर्शन के द्वारा पाठकों को चमत्कृत करने के लिए दोनों ही महाकाव्यों का पूरा एक-एक सर्ग चित्र-काव्यों से भरा है। एक-एक उदाहरण देविणः—

कङ्कः किं कोककेकाकी किं काकः केकिकोऽककम् ।

कौकः कुकैककः कैकः कः केकाकाकुकाङ्ककम् ॥

—धर्मशर्माभ्युदय सर्ग १६ श्लोक ८२

जोज्ञाज्ञोलं लुलोलेली लाली लाललल लोलललः ।

लोलं लोलं लुललुलोलुलुलु ललली लाललोलललः ॥

नरनारायणानन्द सर्ग १४, श्लोक २३

रीतिबद्धशैली का एक अन्य महाकाव्य दिल्ली के बाद-शाह फीरोज शाह द्वारा सम्मानित मुनिभद्रसूरि कृत ‘शान्तिनाथ चरित’ है। इसमें भी अलङ्कृत शैली द्वारा पाण्डित्य-प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। महाकाव्य की प्रशस्ति में कवि ने बड़े गर्व से कहा है, कालिदास, भारवि, माघ और श्राहर्ष में जिन्हें दोष दिखाने देते हैं। उन्हें हममें गुण ही गुण दिखाई देंगे। संस्कृत के काव्य पञ्चक मिथ्यात्व से अंचित हैं अतः साहित्याभ्यासियों के लिए उन ग्रन्थों की जगह सभ्यत्व-संवासना से युक्त यह महाकाव्य पढ़ाया जा सकता है। कवि के इस कथन से स्पष्ट है कि उसके सामने संस्कृत के पंच महाकाव्यों के सभी गुणों से युक्त एक जैन महाकाव्य बनाने की योजना रही थी। इस

कार्य में वह कितना सफल हुआ यह तो एक अलग निबन्ध का विषय है, किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि भाषा पर उसका असाधारण अधिकार है किन्तु अनुप्रास के अत्यधिक आग्रह के कारण वह बहुत क्लिष्ट हो गई है, जिससे उसका काव्य पण्डितों के उपयोग की वस्तु है जनसाधारण के उपयोग के लिए नहीं।

दूसरे भाग शास्त्र-काव्य के अन्तर्गत ऐसे महाकाव्यों की गणना है, जिनमें काव्य के साथ-साथ व्याकरण के प्रयोगों का भी पूरा परिचय पाठकों को दिये जाने का उपक्रम रहता है। महाकाव्य का इस शैली की जनक भट्टि नामक व्याकरण कवि को माना जाता है। उसने ‘भट्टिकाव्य’ की रचना की थी। इस काव्य में रामकथा के वर्णन के साथ-साथ व्याकरण और अलंकार के प्रयोग भी बताये गए हैं। बारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने ‘कुमारपाल चरित’ की रचना की इसमें कुमारपाल के जीवन चरित के साथ-साथ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का व्याकरण भी बताया गया है। आलोच्य युग में जिनप्रभसूरिने ‘द्वयाश्रय’ या ‘श्रेणिक चरित’ महाकाव्य की रचना की जिसमें महावीरस्वामी के समकालीन राजा श्रेणिक के जीवन चरित के साथ-साथ संस्कृत व्याकरण के प्रयोगों को बताया गया है। एक उदाहरण देविणः—

घोषवन्तोऽप्यघोषाः स्युम्नयैव प्रतिवादिनः ।

जिज्वतान्वादिनो बिभ्रत्युत्तमामनुनासिकम् ॥

यहाँ मगध देश के नागरिकों का विशेषताओं के वर्णन के साथ-साथ व्यंजनों की घोष, अघोष और अनुनासिक संज्ञा होती है, यह बताया गया है।

आलोच्य युग में जैन कवियों ने अनेक ऐतिहासिक महाकाव्य लिखे हैं। ऐतिहासिक महाकाव्यों में कथानक इतिहास से लिया गया होता है और घटना क्रम भी इतिहास सम्मत होता है। शैली रीतिबद्ध ही होती है। कहने का आशय यह है कि उनमें वस्तु-व्यापार वर्णन, अलङ्कृत शैली, प्रकृति-चित्रण, काव्य रूढ़ियों का निर्बाह आदि सभी गुण होते हैं। कथानक में ऐतिहासिक जीवन वृत्त के साथ-साथ कभी-कभी काल्पनिक घटनाओं का उपयोग भी कवि स्वतन्त्रता-पूर्वक करता है। नयचन्द्र सूरिकृत ‘हम्भीर महाकाव्य’ इस युग का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक महाकाव्य है

जिममें रणथंभपुर के चौहान राजा हम्मीर के शौर्यपूर्ण कार्य शरणागत-रक्षा और अलाउद्दीन खिलजी के साथ युद्ध का वर्णन है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह एक महत्वपूर्ण कृति है। आलोच्य काल का दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य जयसिंह सूरिकृत 'कुमारपाल चरित्र' है। गुजरात के बालुक्य नरेश जयसिंह मिहिराज और कुमारपाल का जीवनवृत्त जानने के लिए यह काव्य बड़ा उपयोगी है। सन् १२८१ में सर्वानन्द सूरि ने 'जगद्वचरित' लिखकर जगद्वशाह की कांति को अमर कर दिया, जिमने अपने गुरु के मुख से आने वाले अकाल की बात जानकर प्रचुर अन्न का संग्रह किया और सन् १२९१-९८ ई० के गुजरात के भीषण दुर्भिक्ष में अन्न कष्ट से मरने हुए प्राणियों को अन्न दान द्वारा बचाया था। महाकाव्य में इस त्रिवर्षीय अकाल का सुन्दर वर्णन हुआ है। बालवन्द सूरि कृत 'वसन्तविलास' में गुर्जरेश मूलराज से लेकर वीरधवल तक के राजाओं का ऐतिहासिक वृत्तान्त है और वस्तुपाल-तेजपाल का मंत्री होना, भृगुकच्छ के शंख के साथ वस्तुपाल के युद्ध का तथा शंख की पराजय का वर्णन है। इसके बाद वस्तुपाल की यात्राओं के वर्णन से लेकर उसकी मृत्यु तक का वर्णन है। इस महाकाव्य में भी गुजरात के इतिहास की महत्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित है। वस्तुपाल की यात्राओं से सम्बन्धित दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य 'धर्माभ्युदय महाकाव्य' है जिसके प्रथम और अन्तिम सर्गों में ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त है। इन सर्गों में वस्तुपाल, उनके गुरु तथा अन्य जनाचार्यों से सम्बन्धित ऐतिहासिक वृत्तान्त है।

इस युग में कुछ ऐसे भी महाकाव्य हैं जिन्हें पौराणिक महाकाव्य कहा जा सकता है। इन महाकाव्यों की शैली पुराणों से बहुत प्रभावित है। पुराणों में प्रायः देखा जाता है कि उनमें कथा का अन्विति कम होनी है और अवान्तर कथाओं की बहुलता तथा घटनाओं की विविधता रहती है,

१. कार्ये निजे क्रियत एव खरोऽपि वप्ता
२. प्रथमं दृश्यते तैलं तैलधराय दृश्यते
३. सर्वोऽपि परस्थाले स्थूलं पश्यति मोदकम्
४. वक्रं नाजनि रोमपि
५. तालिका नैक हस्तिका
६. गगने रोपिता

जिनका उद्देश्य उपदेश देना या किसी मत विशेष का प्रचार करना होता है। अमरचन्द्र सूरि कृत 'बालभारत' और माणिक्य सूरि कृत 'नलायन' या 'कुबेर पुराण' पौराणिक महाकाव्य के अन्तर्गत आते हैं। पुराणों की भांति ये महाकाव्य भी पर्वों, स्कन्धों और सर्गों में विभक्त हैं। 'बालभारत' की कथा का संक्षेप में वर्णन किया गया है और 'नलायन' में नल-द्रुमयन्ती का प्रसिद्ध कथा है। देवप्रभसूरि का 'पाण्डवचरित्र' भी पौराणिक शैली का महाकाव्य है। अधिकतर देखा जाता है कि पौराणिक महाकाव्यों का लक्ष्य केवल कथा कहना होता है अतः उनकी शैली में कवित्व कला और चमत्कार प्रियता का अभाव होता है, किन्तु ये तीनों महाकाव्य काव्यकला की दृष्टि से भी उच्च कोटि के काव्य हैं।

आलोच्य युग में रोमान्टिक शैली का प्रतिनिधि काव्य 'अभयकुमार चरित' है। इस महाकाव्य के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अभयकुमार ऐसे-ऐसे अद्भुत कार्य करता है कि पाठक को दाँतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। ऐसा कोई भी दुष्कर कार्य नहीं जिसे वह सम्पन्न नहीं कर सकता। महाकाव्य की कथा बड़ी जटिल, पेचीली और अन्त व्यस्त है जिसे याद रखना कठिन है। प्रबन्ध भी शिथिल है। कवि ने जगह-जगह नई कथाएँ आरम्भ कर दी हैं, जिनका सम्बन्ध बाद में बड़ी कठिनता से जुड़ता है। किन्तु अभयकुमार के साहसिक कार्य, अद्भुत चोर का पता लगाना, वासवदत्ता का संगीत शिक्षा के लिए उदयन को चतुरता से लाना आदि अद्भुत कार्यों से इस महाकाव्य का रोमान्टिक गुण बढ़ गया है, जो पाठकों के कौतूहल को बढ़ाने वाला है। मुहावरों और लोकोक्तियों का इस काव्य में भरमार है। ये तत्कालीन समाज में प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियाँ हैं जिनका प्रयोग आज भी हिन्दी में होता है। कुछ लोकोक्तियाँ व मुहावरे देखिए—

- अपने काम के लिए गधे को बाप बनाना पड़ता है।
तेल देखो, तेल की धार देखो।
दूसरे के थाल का लड्डू हमेशा बड़ा दीखता है
बाल टेढ़ा न कर पाना
एक हाथ से ताखी नहीं बजती
आकाश पर चढ़ना

इसी प्रकार अनेक मुहावरे और लोकाक्तियों उद्धृत की जा सकती हैं। संस्कृत साहित्य तो बहुत विशाल है उसकी बात तो मैं नहीं करता, किन्तु, उसके जितने अंश से मेरा परिचय है उसमें कहीं भी मुझे ऐसे जावित, मुहावरेदार भाषा के दर्शन नहीं हुए, जैसा ‘अभयकुमार चरित’ में पाई जाती है।

शेष महाकाव्यों में पौराणिक और रोमेन्टिक दोनों शैलियों के तत्व मिलते हैं। विनयचन्द्रसूरि कृत ‘मल्लिनाथ चरित’ वर्धमानसूरि-कृत ‘वासुपूज्यचरित’, भावदेवसूरि कृत ‘पारवनाथ चरित’, मानुजगमूरि कृत ‘श्रेयोमनाथचरित’ अमरचन्द्रसूरि कृत ‘पदमानन्द महाकाव्य’ कमलप्रभ कृत ‘पुण्डरीक चरित’ आदि सभी चरित काव्य हैं जिन्हें पौराणिक-रोमेन्टिक महाकाव्य कहना अधिक उपयुक्त है। इन महाकाव्यों के अतिरिक्त शान्तिनाथ, पारवनाथ, यशोधर, मनकुमार, नेमिनाथ, संभवनाथ, मुनिमुवत, चन्द्रप्रभ, धन्यकुमार, शालिभद्र आदि के चरित्रों को लेकर अनेक महाकाव्य लिखे गये, जिनका उल्लेख ऊपर तालिका में किया जा चुका है। सामान्य रूप से इनमें महाकाव्य के सभी लक्षणों का समावेश मिलता है किन्तु इनमें भाषा-शैली की उदारता और चमत्कार प्रियता अपेक्षाकृत कम है। इन पौराणिक-रोमेन्टिक चरित काव्यों का मूल उद्देश्य तीर्थकरों के चरित्र का गान करना और धर्मभावना का प्रसार करना है। माणिक्यदेव सूरि कृत ‘यशोधरचरित’ की रचना नवरात्रों में पाठ करने के लिए की गई है। इसका पाठ करने से पुत्र की उत्पत्ति होती है जैसा कवि ने स्वयं इन शब्दों में कहा है—

इदं जातिस्मृतिकरं भूतसन्तर्पणं परम् ।

पठ्यते नवरात्रेषु प्रयतैः पुत्र काम्यया ॥

सर्ग १, श्लोक ७.

कभी-कभी इन पौराणिक-रोमेन्टिक महाकाव्यों के रचयिताओं में भी अपने विविध ज्ञान को प्रदर्शित करने की इच्छा जाग पड़ी है और उन्होंने कथा-प्रवाह की चिन्ता किये बिना ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शन किया है। भावदेव सूरि-कृत ‘पारवनाथ चरित’ के सप्तम सर्ग में कवि ने अपने वैद्यक ज्ञान का विस्तृत परिचय दिया है। इसी सर्ग में, लगभग ४० श्लोकों में सामुद्रिक ज्ञान का परिचय भी दिया गया है।

द्वितीय सर्ग में कवि एक ज्योतिषी की भांति स्वप्नों के फल का विस्तृत वर्णन करने में लग गया है। इसी सर्ग में आगे शकुन और अपशकुनों की विस्तृत सूची प्रस्तुत की गई है। ‘मल्लिनाथ चरित’ में विनयचन्द्र सूरि का दार्शनिक ज्ञान मुखरित हो उठा है और उन्होंने सप्ततत्त्वों के निरूपण, सम्यक्त्व और पञ्चाणुषत् सन्बन्धी विस्तृत विवरण दिये हैं। इनके अतिरिक्त अपने ज्योतिष ज्ञान का परिचय देने हुए उन्होंने ‘होराज्ञान तत्त्वार्थ’, ‘लक्ष्मी प्रवर्धक लग्न’ आदि के लम्बे, उबा देने वाले विवरण प्रस्तुत किये हैं। कमलप्रभ-कृत ‘पुण्डरीकचरित’ में प्राकृत के शास्त्रीय अवतरणों को स्थल-स्थल पर उद्धृत किया गया है और बीच-बीच में ‘तथाहि’, ‘ततश्च’, ‘पुनश्च’, ‘किञ्चिद्वा’ तथा ‘पुण्डरीक उवाच’ आदि का प्रयोग है। विनयचन्द्र कृत ‘मुनिमुवत चरित’ के छठे सर्ग में मूर्तिशास्त्र के विधान का विस्तृत वर्णन है, जिससे कवि की शिल्पशास्त्र सम्बन्धी विद्वत्ता प्रकट होती है। इस काव्य में दो एक जगह गद्य का भी प्रयोग है (देखिए सर्ग ७, श्लोक २८६ के बाद)। कहने का आशय यह है कि इन पौराणिक-रोमेन्टिक महाकाव्यों में भी कवियों ने अपने विविध ज्ञान का परिचय दिया है, किन्तु कतिपय अपवादों को छोड़कर, उनकी भाषा सरल ही रही है और मुहावरों का प्रयोग भी किया गया है। इन काव्यों में जिनोपपत्ति, समवसरण, देशना, निर्वाण आदि के विस्तृत वर्णन मिलते हैं। अन्य धर्मावलम्बियों और जैन विद्वानों के शास्त्रार्थ का भी वर्णन हुआ है। यहाँ उनका उद्देश्य अन्य धर्मों पर जैनधर्म की विजय दिखाना और जैनधर्म की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करना रहा है। इन पौराणिक-रोमेन्टिक महाकाव्यों में अनेक आश्चर्यजनक कार्यों का और अति प्राकृत तत्त्वों का वर्णन है। इनका कथानक भी अपेक्षाकृत जटिल और अमन्युलित है, क्योंकि बीच-बीच में अनेक अवान्तर और प्रासङ्गिक कथाएँ आती रहती हैं। इनमें भूत-प्रेतों का आगमन, जादू-टोना, तन्त्र-मंत्र, पशु-पक्षियों की बातें, शाप, वरदान शकुन अशकुन आदि में विश्वास आदि अलौकिक और अप्राकृत बातों का वर्णन है, किन्तु इनका कथानक पूर्णतया पौराणिक है और इनका उद्देश्य महत् है तथा इन सभी का पर्यवसान वैराग्य और शान्त रस में हुआ है।

इस प्रकार इसी की तेरहवीं-चौहवीं शताब्दी में जैनों ने संस्कृत महाकाव्य-साहित्य की जो देन दी है वह परिमाण में ही नहीं, गुणों की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। उपमें भाषा-शैली गत विभिन्नता उपलब्ध होती है। एक ओर उसने 'धर्मशर्माभ्युदय' और 'नरनारायणानन्द' जैसे शास्त्रीय गीतिबद्ध काव्य प्रदान किए हैं जिनका मूल्य आलोचना के किसी भी मानदण्ड से भारीव के 'किराताजुनीय' और माघ के 'शिशुपालवध' से कम नहीं है, तो दूसरी ओर 'बालभारत' और 'पद्मानन्द' जैसे रम्य रम्य करने वाले महाकाव्य दिए हैं। गुजरात के इतिहास को सुरजित रचने में जो योग इस युग के ऐतिहासिक महाकाव्यों का है उसे

उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। चरितात्मक महाकाव्यों की भी अपनी अलग महत्ता है। यह ठीक है कि इन महाकाव्यों में 'धर्मशर्माभ्युदय', 'नरनारायणानन्द' 'पद्मानन्द' 'बालभारत' आदि काव्यों जैसी साज-सज्जा, काँट-छाँट और चमक-दमक नहीं है, यह भी ठीक है कि इनमें प्रयत्नमाध्य अलंकार कृत्रिम भाषा, उक्तिवैचित्र्य आदि गुण नहीं है, फिर भी उनमें सौन्दर्य है, वैसा ही सहज सौन्दर्य जैसा किसी अनगढ़ जंगल का होता है, उपवन का प्रयत्न साध्य सौन्दर्य नहीं। उनका यह सौन्दर्य उनकी सादगी, सरलता और अनलङ्कृति में है और इसी के कारण उनका स्थाई महत्त्व है।

जैन दर्शन और पातञ्जल योगदर्शन

साध्वी श्री संघमित्राजी

दर्शन केवल चिन्तन नहीं, साक्षात्कार है। साक्षात् आत्मगम्य होता है और इन्द्रिय गम्य भी। आत्मा में होने वाला साक्षात्कार अव्यवहित और अत्यन्त स्पष्ट होता है। वह परमार्थ प्रत्यक्ष कहलाता है। इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला साक्षात् व्यवहित होता है अतः वह अस्पष्ट रहता है और व्यवहार प्रत्यक्ष कहलाता है। जिनका साक्षात् जितना अधिक आत्मा के निकट होता है, सत्य को वह उतना ही अधिक पकड़ पाता है।

एक बिन्दु पर केन्द्रित दो मनुष्यों की दृष्टि एक ही रूप को देखती है, पर एक ही परमार्थ के साक्षात्कार में ऋषियों के दर्शन ने विभिन्न रूप क्यों लिए? इस का स्पष्ट समाधान है कि सबके साक्षात् का माध्यम आत्म-गम्य ही नहीं रहा। महर्षि चार्वाक का प्रत्यक्ष इन्द्रिय गम्य था। कुछ महर्षियों का साक्षात् आत्मगम्य होते हुए भी अधूरा था। इस अधूरेपन और साक्षात्कार के माध्यम भिन्न-भिन्न थे; अतः दर्शन की धाराएं भी विभक्त हो गईं।

भारत में अनेक दर्शन पनपे। उनमें पातञ्जल योग दर्शन भी एक है, जो महर्षि पतञ्जलि का प्रत्यक्ष है। जैन दृष्टि से पातञ्जलयोग दर्शन का अध्ययन करना प्रस्तुत निबन्ध का अभिप्रेत है।

योगशब्द पर विचार

योगशब्द युज धातु से व्युत्पन्न है। युज धातु की मूल प्रकृति द्वयर्थक है युजिर् 'योगे' और युजिच् 'समाधी'। व्यास भाष्य में १ समाध्यर्थक युज धातु का संकेत है। हरिभद्र ने योगार्थकर युज धातु को ग्रहण किया है। दोनों दर्शनों में योग शब्द की आवृत्ति सम होते हुए भी प्रकृति भिन्न है।

योगशब्द के अर्थ पर विचार

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग समाधि है। यह सर्वोत्तम समाधान है। यह समाधान शरीर का नहीं है, इन्द्रियों का नहीं है, किन्तु मन का समाधान है २। ३, जहां मानसिक वृत्तियों का पूर्ण समाधान हो जाता है, शेष संस्कार भी विदग्ध हो जाते हैं, वही योग की पूर्ण प्राप्ति है।

जैनदर्शन में योगका अर्थ है-जोड़ना। यह दो भिन्न तत्वों को संयोजित करता है। अध्यात्म क्षेत्र में योगवह है जो आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है। इस दृष्टि से धर्म के सभी व्यापार योग ही हैं ४। निश्चय दृष्टि से योग 'ज्ञान दर्शन चारित्र' है।

१—योग वि० श्लो० १

२—व्यास भा० १

३—व्यास भा० १ पृ० ५

४—योग वि० श्लोक १

उनकी उपलब्धि का प्रकृततम माध्यम व्यवहार योग है।

योग का स्वरूप चित्त-वृत्तियों का निरोध है। चित्त-वृत्तियों का निरोध जहाँ से प्रारम्भ होता है, योग का अंकुर वहीं से फूटता है। चित्त की पांच भूमिकाएँ हैं— क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध। क्षिप्तावस्था रजोगुण प्रधान है। इसमें चित्त विषयों में आसक्त बना रहता है मूढावस्था तमोगुण प्रधान है। इस अवस्था में चित्त मोह से प्रभावित रहता है। काम, क्रोध, लोभ उभरे हुए रहते हैं। विक्षिप्त अवस्था में चित्त चंचल रहता है। एकाग्र अवस्था में चित्त की वृत्तियों का प्रवाह किसी एक विषय पर केन्द्रित हो जाता है। निरुद्ध अवस्था समग्र प्रतीतियों से शून्य है।

जैन दर्शन में इन चित्त भूमिकाओं की प्रतिच्छाया यत्र-तत्र प्रतिच्छायायित है। मुनि की भिक्षा-विधि के विवेचन में बताया गया है :— अव्याप्ति-चित्त से मुनि गोचरी करे। अव्याप्ति ३ शब्द से क्षिप्त और विक्षिप्त दोनों भूमिकाओं का संकेत है।

अज्ञानियों के स्वरूप की व्याख्या देने हुए कहा गया है— ४ मोह से जो आवृत हैं, वे मूढ हैं— अज्ञानी हैं। इस प्रतिपादन से मूढावस्था का प्रतिबिम्ब है।

ध्यान के विश्लेषण में आया है— ध्यान वह है, जहाँ एकाग्र-चिन्तन होता है अथवा योगों का निरोध होता है। ध्यान की व्याख्या में योग-दर्शन की एकाग्र और निरुद्ध चित्त-भूमिका अभिव्यञ्जित हो रही है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष का अनादि सम्बन्ध है। सत्त्व, रजस, तम इन्हें तीनों की साम्यावस्था ५ का नाम प्रकृति है।

प्रकृति की यह साम्यवस्था कभी दृश्य नहीं बनती। जो दृश्य है, वह इनकी विकृत अवस्था है।

प्रकृति निष्कर्म है, जब है, कर्मों का कर्ता है, परिणामी है। संसार की सृष्टि का मूल प्रकृति है। इससे बुद्धि ६,

अहंकार और बोधशगुण पैदा होते हैं। प्रकृति ही बन्धन को प्राप्त होती है और यहीं मुक्त होती है। पुरुष में बन्ध और मोक्ष की कल्पना उपचार मात्र है।

पुरुष अकर्ता है^७, निर्गुण है, भोक्ता है, अपरिणामी है। न उसके बन्धन होता है और न वह मुक्त होता है !

प्रकृति और पुरुष के बीच में बुद्धि है। बुद्धि उभयमुख दर्पणाकार है। उसमें एक और पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है; दूसरी और बाह्य जगत का। पुरुष के प्रतिबिम्ब से बुद्धि अपने में चेतना का अनुभव करती है। बुद्धि प्रतिबिम्बित सुख-दुःख का आभास पुरुष का होता है, यही पुरुष का भोग है। पर यथार्थ में पुरुष में कोई परिवर्तन नहीं होता। प्रकृति अपने किसी भी प्रयोजन की गणना न करती हुई पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए प्रवृत्त होती है। प्रकृति पुरुष का संयोग प्रकृति पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि के लिए ही होती है। जब पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब प्रकृति भी निवृत्त हो जाती है। दृष्टा पुरुष है और दृश्य जब प्रकृति है। लक्ष्य प्राप्ति में दोनों का अन्धे लंगड़े^{१०} का सा संयोग है।

पातञ्जल योग दर्शन की यह मान्यता जैन दर्शन में आत्मा और कर्म के साथ सुर्घटित होती है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। कर्म प्रकृति की तरह जब है। आत्मा चेतन है। पूर्ण विकसित और स्वतन्त्र आत्मा के कभी कर्म का बन्धन नहीं होता। कर्म सहित आत्मा ही कर्म का मर्जन करती है। उसके ही बन्धन होता है। जैन दर्शन मानता है कि कर्मवर्गों के मध्य समग्र लोक में फैले हुए हैं और वे वहाँ भी हैं जहाँ मुक्त आत्माएँ निवास करती हैं। वहाँ उनके कभी बन्धन नहीं होता। इस, मान्यता के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि किसी अपेक्षा कर्म के ही कर्म का बन्धन होता है। कर्म ही प्रकृति की तरह कर्म का सृजन करता है। जिसके बन्धन होता है, वही मुक्त होता है।

दुःख क्या है ? दुःख का हेतु क्या है ? दुःख का अभाव

१—पा० यो० ६० सू० २

२—व्यास० भा० १, पृ० १

३—द० अ० ५ उ० १ श्लो० २

४—आ० १।२।१।७४

५—हरिभद्र मूरि कृत—षड्-दर्शन श्लोक ३६

६—हरिभद्र मूरि कृत—षड्-दर्शन श्लोक ४१

७—पा० यो० प्रदीप पृ० ३२७

८—पा० यो० ६० सा० सू० २१

९—पा० यो० ६० सा० सू० २३

१०—षड्-दर्शन श्लोक ४२

क्या है ? दुःख निवृत्ति का साधन है ? मानव की सहज जिज्ञासा से भरे हुए ये चार प्रश्न कितने महत्वपूर्ण हैं। पतञ्जलि की दृष्टि में इन प्रश्नों का समाधान इस प्रकार से हुआ— दृष्टा पुरुष है। दृश्य प्रकृति है। दृष्ट और दृश्य का संयोग ही दुःख है। इस संयोग का कारण अविद्या है। अविद्या का अभाव हो जाने से संयोग का भी अभाव हो जाता है। यह हान अवस्था है। यही दृष्टा का कैवल्य और प्रकृति की मुक्तावस्था है।

पुरुष को स्व और प्रकृति के विषय में भेद ज्ञान हो जाना विवेकव्याप्ति कहलाती है। यह विवेक व्याप्ति ही हान का उपाय है।

जैन दर्शन कहता है—आत्मा और कर्म का संयोग ही यथार्थ में दुःख है। यह संयोग नहीं होता तो दुःख भी नहीं होता। दुःख के हेतु अनेक हैं, जिनमें मिथ्या-ज्ञान ही सबसे पहला है। यही संसार की जड़ है। जड़ के टूट जाने से दुःख का वृत्त भी शिथिल हो जाना है।

दुःख का अभाव मुक्ति है। दुःख निवृत्ति के चार मार्ग हैं—इनमें ज्ञान का स्थान पहला है। यही पतञ्जलि की विवेकव्याप्ति है। उपर्युक्त चार प्रश्नों को चतुर्व्यूह कहा गया है। इस चतुर्व्यूह के समाधान में जैन-दर्शन और पतञ्जल योग दर्शन में विशेष निकटता है।

अविद्या की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने कहा—अनित्य ५ को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्मतत्त्व में आत्मतत्त्व ज्ञान को मान लेना ही अविद्या है।

जैन दर्शन कहता है—अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि मिथ्या-ज्ञान है ६। सामान्यतः यह मिथ्याज्ञान और अविद्या की परिभाषा भी कितनी सुन्दर और समकक्ष बनी है।

समाधि के प्रकारों का विश्लेषण करते हुए पतञ्जलि कहते हैं—समाधि दो प्रकार की होती है—भव प्रत्यय और

उपाय प्रत्यय ७। योगीजनों की समाधि उपाय प्रत्यय होती है। विदेह और प्रकृति लयों में भवप्रत्यय समाधि होती है।

विदेह वे कहलाते हैं जो योगी आनन्दानुगतसम्प्रज्ञात समाधि में चेतन तत्त्व की स्पष्ट अनुभूति करते हैं। उसीको आत्मस्थिति समझकर रुक जाते हैं। इस प्रकार के योगी शरीर को त्याग कर दिव्यलोक से भी ऊपर बहुत अधिक समय तक कैवल्य जैसे आनन्द को भोगते हैं।

प्रकृति लय वे कहलाते हैं, जो अस्मिन्तानुगत समाधि में चेतन तत्त्व की अत्यन्त स्पष्ट अनुभूति करते हैं। उसीको आत्मस्थिति समझ लेते हैं। वे शरीर को त्यागने पर इस अवस्था में दिव्यलोक से भी अधिक अवधि तक कैवल्य जैसे अनन्त आनन्द का अनुभव लेते रहते हैं। ये जब पुनः मानवदेह में आते हैं, तब उन्हें जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाती है।

जैन दर्शन में भी कुछ इसी प्रकार के रहस्य उद्घटित हैं—लव सप्तम देव उपशान्त कषाय वाले होते हैं। योगी ध्यान में कर्मों का लय करते हुए चलते हैं। जब सप्त लव जितने कर्म शेष रह जाते हैं, तब आयु टूट जाता है। यदि इतना सा लम्बा आयु होता तो समग्र कर्मों का लय कर मुक्त हो जाता पर ऐसा न होने पर वे अनुत्तर विमान में जाते हैं और वे अन्य सब देवों से बहुत अधिक समय तक उपशान्त समाधि का अनुभव करते हैं।

अनेकान्तवाद भगवान् महावीर की मौलिक देन है। जैन दर्शन का समग्र प्रतिपादन इस पर टिका हुआ है। योग दर्शन में भी अनेकान्त दृष्टि के प्रतिबिम्ब मिलते हैं। बुद्धि और पुरुष ६ के स्वरूप और विरूप पर विवेचन करते हुए योग दर्शन में लिखा है—बुद्धि त्रिगुणात्मिकता है। त्रिगुण प्रकृति के धर्म हैं। प्रकृति अचेतन है। बुद्धि अचेतन प्रकृति से उत्पन्न है। पुरुष गुणों का दृष्टा है। वह त्रिगुणात्मिक नहीं है; अतः प्रकृति पुरुष स्वरूप नहीं है। पर अत्यन्त विरूप भी नहीं है, क्योंकि बुद्धिज प्रतीतियों को

१—पा० यो० द० सा० सू० २३

२—पा० यो० द० सा० सू० २४

३—पा० यो० द० सा० सू० २५

४—पा० यो० द० सा० सू० २६

५—पा० द० सा० सू० १

६—जै० सि० दी० ७।३।

७—पा० यो० द० १।१६।

८—पा० यो० प्रदीप १८७

९—पा० यो० द० भा० पृ० १६२।

मंदिरों का नगर-मड़ई

नीरज जैन सतना (म० प्र०)

सतना जिला पुरातत्व की दृष्टि से भारत वर्ष का एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है, इसका पूर्व दूसरी शती का भरहुत का बौद्ध स्तूप, दश का सर्वाधिक प्राचीन भुमरा का शिव मंदिर, गुप्त काल की अनन्य कृति नचना का चतुर्मुख शिव पार्वती मंदिर तथा इसी काल की गौरव शाली कृतियां मीरा पहाड़की जैन गुफाएँ आदि अनेक एक-से-एक बढ़कर शिल्प-अवशेष इस जिले में आस-पास बिखरे पड़े हैं।

मध्य काल में भी इस भूभाग पर अनेक सुन्दर-सुन्दर ब्लाकन्ट्रो का निर्माण हुआ है, जिनमें पतियान दाई, बावपुर और मड़ई का स्थान प्रमुख है।

मड़ई तो कभी खजुराहो की तरह मंदिरों का ही नगर रहा होगा। ऐसा लगता है कि कालान्तर में भूकम्प आदि के नैतिक प्रकोप से इन मंदिरों का विनाश हो गया और उन्होंने टीलों का रूप धारण कर लिया। यह स्थान न जाने कितनी शताब्दियों तक ऊजड़ पड़ा रहा, अभी सौ-डेढ़ सौ साल पूर्व यहाँ एक छोटी सी बस्ती बस गई है। यहाँ भी खजुराहो की ही तरह जैन, वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के अलग-अलग मंदिर समूह थे उनमें से केवल जैन भग्नावशेषों की चर्चा इस लेख में की जायगी।

यह नगर एक बड़े तालाब के किनारे बसा हुआ था। तालाब से लगा हुआ ही पहाड़ है। मध्यकाल में यह पहाड़ कलचूरियों की त्रिपुरी शाखा की राज्य सीमा पर था और मड़ई का तालाब तथा मंदिर समूह चन्देल राजाओं की कलाकृति थे, इस प्रकार यह स्थान मध्य कालीन मूर्ति कला का संगम रहा है, यह आश्चर्य की बात है कि इतना महत्व-

[जोष पृ० ११६ का]

देखता है, उनको देखता हुआ अतद्वात्मक भी तद्वात्मक की तरह प्रतिभासित होता है।

इस प्रकार लगता है, दोनों दर्शन अपनी गहराई में और भी अनेक दृष्टियों से विचित्र साम्य लिए हुए हैं। अनुमान है, कभी ये दोनों धाराएँ बहुत पारस्परिकता रही हैं और इन्होंने परस्पर एक दूसरे को अवश्य प्रभावित किया है।

पूर्ण स्थान होते हुए भी इस स्थान को पुरातत्व के किसी भी विद्वान द्वारा अभी तक प्रकाश में नहीं लाया गया। हो सकता है कि इस स्थान की दुर्गमता और पथ की दुरूहता ही इसका कारण रही हो।

जैन मंदिरों का समूह शैव-समूह के उत्तर में स्थित था। उस समूह का सारी समृद्धि भूगर्भ में विलीन पड़ी है, कुछ जो ऊपर था वह नष्ट-भ्रष्ट हो गई था यत्र-तत्र चली गई है, पर अभी तक इस समूचे टीले का सरसरी देख भाल से जो अनुमान हुआ है, उसके अनुसार यहाँ पर पंचायतन शैली के कम-से-कम पांच विशाल, शिखर बन्द जैन मंदिर विद्यमान रहे हैं। इन मंदिरों की कला खजुराहो की सम-कालीन और वैसी ही वैविध्य पूर्ण सज्जा-सहित तथा मूर्तियों के परिकर सहित सुन्दर तथा अत्यंत प्रचुर मात्रा में विराज मान रही है।

सर्व प्रथम इस टीले को देखने पर मुझे जो अनुभूति हुई उसका वर्णन संभव नहीं है। अचानक पता लगता इस टीले पर पहुँच गया और मैंने यहाँ पुरातत्व का कल्पनातीत वैभव बिखरा हुआ पाया। जिस पत्थर को पलटता वही एक-न-एक तीर्थंकर प्रतिमा निकलता। हर पत्थर पर पाँव रखने में आशंका होती कि ना जाने उसके नीचे पद्मावती, चक्रेश्वरी, अम्बिका अथवा कौन से तीर्थंकर विराजमान हों।

रामवन संग्रहालय के लिए मैंने इस टीले की कुछ सामग्री अभी कुछ समय पूर्व संकलित की है। इनमें अधिकांश तो पद्मासन और खड्गामन तीर्थंकर प्रतिमाएँ ही हैं, पर कुछक बहुत सुन्दर शासन देवी मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इस सामग्री के अतिरिक्त कुछ विशाल तीर्थंकर मूर्तियाँ तथा देवी मूर्तियाँ और द्वार तोरण, देहरी, बेदिका, स्तम्भ आदि विविध सामग्री वहाँ अभी भी बिखरी पड़ी है। यह टीले के ऊपर की कहानी है। टीले के नीचे भूगर्भ में जिस कला वैभव के पाये जाने की आशा है वह तो निश्चित ही कल्पनातीत है।

प्राप्त सामग्री के आधार पर यह सहज अनुमान होता है कि यहाँ एक फुट आकार से लेकर सात-आठ फुट ऊँची तक अनेक प्रतिमाएँ थी, तथा यदि तीन फुट ऊँची खड्ग-

सन चौबीसी भी किसी मन्दिर में प्रतिष्ठित रही है। इस चौबीसी की सात-आठ प्रतिमाएँ, क्वचित् खंडित रूप में मुझे प्राप्त हो गई हैं जिनकी एक रूप रचना-विधि को देखकर चौबीसी की धारणा पुष्ट होती है।

शामन देवियों के निर्माण के विशेष रचना कौशल का प्रयोग मध्यकाल की विशेषता रही है और वह यहाँ खूब पाई जाती है। रामवन में लाई गई एक अम्बिका मूर्ति तो साढ़े पाँच फुट ऊँची है। धरणेन्द्र, पद्मावती तथा चक्रेश्वरी और गौमुख यक्ष की कुछ अन्य मूर्तियाँ भी दर्शनीय हैं।

इस मंजुल में एक अश्वगिद्ध तीर्थंकर प्रतिमा भी मुझे प्राप्त हुई है। इस सुन्दर मूर्ति का चित्र इस लेख के साथ दिया जा रहा है। यह मूर्ति नहीं है वरन एक विशाल (लगभग ७ फुट) ऊँची पद्मासन प्रतिमा के वृत्र का भाग है। इसपर सर्व प्रथम तीन वृत्र अंकित हैं, जिनके पार्श्व में कुम्भ लेकर जल धारा धारते हुए दो सुन्दर राजों का अंकन है। इन राजों पर महावत, इन्द्र तथा राजवत्सों का अस्तित्व भी दर्शनीय है। इसके ऊपर स्तम्भों द्वारा कोष्ठक बनाकर

बीच में एक पद्मासन तथा दोनों ओर खड्गामन तीर्थंकर प्रतिमाएँ अंकित की गई हैं, जिनकी सौम्यता तथा मनोज्ञता अद्भुत है।

इस कोष्ठक के ऊपर शिखर की रचना दिखाई गई है जिसमें बड़ी बारीकी और सुन्दरता के साथ लज्जा, अंग शिखर, चक्र तथा कलश की रचना है। वास्तव में यह अकला कलावशेष मंडई के समूचे मन्दिर का एक अच्छा प्रतिनिधि अवशेष है, इसकी शैली, सौंदर्य तथा लघुता की पृष्ठभूमि में ये भाँकती हुई विराटता से उन विशाल गगनचुम्बी कलात्मक जिनालयों की कल्पना आसानी से की जा सकती हैं जो कभी इस स्थान की शोभा रहे होंगे।

जब तक कोई शिलालेख प्राप्त न हो तब तक निश्चित इतिहास तो कहना संभव नहीं है, पर मंडई का वैभव जब पूरी तरह प्रकाश में आवेगा तब निश्चित ही 'जैन मूर्ति कला' और मंदिरों, तीर्थों के इतिहास में एक नया अध्याय नहीं तो नया पृष्ठ अवश्य जोड़ना होगा।

शोध-टिप्पण

आगमों के पाठ-भेद और उनके मुख्य हेतु

यह विश्व परिवर्तनशील है। इसमें काल के साथ-साथ सब कुछ बदलता है। केवल आदमी ही नहीं बदलता, उस के उपकरण भी बदलते हैं। केवल मानस ही नहीं बदलता, शब्द और अर्थ भी बदलते हैं। बदलने का इतिहास बड़ा विचित्र है। पुराने ग्रंथों के पाठ भी बदल जाते हैं इस प्रसंग में जैन-आगमों के पाठ-परिवर्तन के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना चाहूँगा। भाषा-भेद, लिपि-दोष और व्याख्या का मूल में प्रवेश ये पाठ परिवर्तन के मुख्य हेतु रहे हैं।

आचारांग

१।८।१।२०६

यह पुण एवं जाणुज्जा उवाहककंते खलु हेमंते गिम्हे पडिविजे अहापरिजुननाई वत्थाईं पिट्ठविज्जा।

१।२।१।६०

भाषा-भेद

श्वेताम्बर आगम महाराष्ट्री प्राकृत में प्राप्त है किन्तु दिगम्बर आचार्य शौरसेनी में अधिक लिखते रहे हैं। उन्होंने ने श्वेताम्बर आगमों से जो उद्धरण लिए उनका शौरसेनी में रूपान्तर हो गया। मूलाग्रधना या भगवती आराधना की वृत्ति में अपराजित सूरि ने श्वेताम्बर आगमों से कुछ उद्धरण लिए हैं उनके तुलनात्मक अध्ययन से पाठ-परिवर्तन का पता चल जाएगा—

विजयोदया आशवास ४ श्लोक संख्या ३३३

अह पुण एवं जाणुज्जा उपातिकंते हेमंते सुपडिविजे से अथ पडिजुन्न सुवर्धि पडिट्ठावेज्ज

वप्यं पडिगणं कंचनं पायतुं दुर्गं उगगहणं च कडामणं एभुमु
चेर जाणिउता,

उत्तराध्ययन २३।२४, ३६

अचेलको य जो धम्मो जो इमो मन्तस्सरो ।

देसिओ बद्धमाणेण पामेण य महाजमा ॥

एगकउजपवन्नाणं विसेमं कि नुकारणं ।

लिंगे दुविहे मेहावि । कहं विपस्सओ न ते ॥ दश-

वैकालिक ६।६४

नगिणस्स या वि मुंडस्स दीहरोमनहंसिणां ।

मेदुणा उवमंतस्स कि विभूमाए कारियं ॥

पादपुंछणं, उगगहं कडामणं, उज्जदं उवधि पावेज्ज इति ।

आचेलको य जो धम्मो, जो वायुं पुणस्सरो ।

देसिओ बद्धमाणेण, पामेण य महप्पणा ।

एगधम्मो पवत्ताणं दुविधा लिंग-कप्पणा ।

उभण्मि पदिट्ठाण महं संसय मागदा ॥

एगगणस्स य मुण्डस्स य दीह लोम एवस्स य ।

मुदुणादो विरत्तस्स कि विभूमा करिस्सदि ॥

लिपि-दोष

लिपि के रूप बदलते रहे हैं । अतः प्रतिलिपि करने वालों के ग्रामने पढ़ने की कठिनाई रहती है । लिखने में प्रमाद भी रहा है । प्रतिलिपिक मय के मय विज्ञान नहीं थे । इन कई कारणों से प्रतिलिपि-काल में पाठ-परिवर्तन हो गए ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की वृत्ति [सूत्र ३०, पत्र १३६, १३७] में रायपसेणइयमे बहत्तर कलाओं का पाठ उद्धृत किया गया है । उसमें चौदहवीं कला 'पोरेकव्वे' है । वृत्तिकार शांतिवन्द ने इसका अर्थ शीघ्र कवि'व किया है । समवायांग [समवाय ७०] औरपानिक [सूत्र ४०] और रायपसेणइय [कण्डिका २११] की प्रतियों में यह पाठ 'पोरेकव्वं' या 'पोरेकव्व' बन गया ।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति [सूत्र ३० पत्र १६७] समवायांग [समवाय ७०] औरपानिक [सूत्र ३०] में खंधवार [वा खंधार माणं, नगरमाणं-पाठ है । पं० बेचरदामजी द्वारा सम्पादित रायपसेणइय [पृष्ठ ३४०] में यह पाठ 'खंधवारं माण वार' माण वार बन गया ।

व्याख्या का मूल में प्रवेश

चूणि और वृत्ति के साथ आगमों का अध्ययन करने वाले व्यक्ति को ऐसे पचासों उदाहरण प्राप्त होंगे कि चूणि या प्राचीन वृत्तियों में जो व्याख्या-शब्द हैं, वे उत्तरवर्ती वृत्तियों या आदर्शों में मूलपाठ बन गए हैं । उत्तराध्ययन २२।२४ का उत्तरार्ध इस प्रकार था—

मयमेव लुंचडे केसे, पंचटाहिं समाहिओ

आगे चलकर यह दृग प्रकार हो गया—

मयमेव लुंचडे केसे, पंचमुठाहिं समाहिओ

उत्तराध्ययन की संस्कृत वृत्तियों में शान्त्याचार्य की वृहद्वृत्ति सबसे प्राचीन है । उसमें 'पंचटाहिं' पाठ माना गया है—पंचाष्टाभिः—पंचमुष्टिभिः । [पत्र ४६०] पंचमुष्टिभिः आगे चलकर मूल पाठ बन गया ।

औपपानिक [सूत्र १६] में 'ठाण ठिहण पाठ' था । वृत्तिकार के अनुसार 'ठाणाइण' पाठान्तर था । किन्तु उत्तरवर्ती वृत्तियों में 'ठाणठिहण' की भांति 'ठाणाइण' भी मूल पाठ बन गया ।

मृत्कृतांग १।१।१।१ में त्रिज्जा पाठ है ।

उसका अर्थ विधान—कुर्यात् किया गया । उत्तरवर्ती आदर्शों में कुर्यात्—कुज्जा मूल पाठ बन गया ।

विपाक [३१ पृष्ठ २६] में 'आमारियाहिं' पाठ है । उसकी वृत्ति है 'आमारियाहिं' लि प्रलम्बिताभिः । आगे चलकर पाठ बन गया—'लंबियाहिं य ओम'रियाहिं' । यहाँ कुत्तक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं । उनके आधार पर पाठ-परिवर्तन की स्थिति को समझा जा सकता है ।

१—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति, सूत्र ३०, पत्र १३७

पुरः काव्य मिति पुरतः पुरतः काव्यम्—शीघ्रकविर्विमल्यर्थः ।

२—'ठाण ठिहण' ति न स्थान—कायोऽमर्गः । तेन स्थितिर्यस्य स स्थानस्थितिकः, पाठान्तरेण ठाणाइण ति ।

२. राजा श्रीपाल उर्फ ईल

नेमचन्द डोगगांवकर (न्यायतीर्थ)

दिसम्बर १९६२ के अनेकांतमें डॉ० वि० जोहरापुरकर का 'रानी पल' के नाम से लेख प्रसिद्ध हुआ है। उसमें ब्रह्म ज्ञानसागर (१७ वीं सदी) के तीर्थवंदना के नीचे पद्य पर आपने विचार प्रगट किये हैं। पद्य इस प्रकार हैं—

पुण्यलयाय प्रसिद्ध देश दक्षिण में जायो।

पल्लूर नगर बगवान महिमंडल जम पायो ॥

स्वर्चो द्रव्य अनंत पर्वत सवि कारायो।

पटदर्शन-कृतमान-इन्द्रराज-मन भायो ॥

कार्तिक सुदि पूनम दिने, यात्रा श्रीजिनपायकी।

ते पूजत नित भावसूँ, आमा पुरत तामकी ॥३८॥

इस पद्य में उल्लेखित इन्द्रराज (सन् ११४-८८) राष्ट्रकूट सम्राट् तृतीय-होने का आशय प्रगट करने हुए इन्द्रराज चतुर्थ (सन् ११४-८८) नहीं होने का भाव प्रगट किया है। क्योंकि उस वक्त राष्ट्रकूटों की स्थिति संकटापन्न थी।

लेकिन बावू कामताप्रसाद जी-इन्द्रराज चतुर्थ को (सन् १७४-८२, का सम्राट् कहने हैं, और उसे गंगवंशी राजा मारमिह ने राष्ट्रकूट राजमिहामन पर बैठाया ऐसा सूचित करते हैं। वह जैन धर्म का दृढ़ श्रद्धालु तो था ही साथ ही जैनतर दर्शनों का भी आदर करता था।

इस लिए 'पटदर्शन-कृतमान' यह विशेषण इसी को ही शोभा देता है। तथा इस राजा की पूर्वावधि निश्चित करने में इन्द्रराज चतुर्थ का ही समय ठीक बैठता है। भक्तान्तर की यंत्रमंत्र कथा में दो श्रीपुर नगर की कथा दी है। जिसमें श्रीपाल राजा तथा वीरचंद्र मुनिका उल्लेख है। जान पड़ता है इन्हीं वीरचंद्र मुनि के उपदेश से वच्छ देश से श्रीपुर नगर के एक श्वालने इल्लि देश के (हरिपुर) पल्लिचपुर का राज्य लिया था। [द्वि० भ० कथा ३६ और ३०-३१]

सिरपुर के अंतरिक्ष पार्श्वनाथ चैत्यालय में जो कि श्री पाल-ईल राजा का बनवाया हुआ कहा जाता है—३ शिला-लेख पाये जाते हैं।

[१] मंदिर के गर्भागारमें मानस्तंभाकार पाषाण पर—
श्वाल गोत्री राममेनु.....

[२] मन्दिर के बाहर दरवाजों के ऊपर—

ओल १ ली.....वसुन्धरो मल्ल पद्म.....

“२ री.....अंतरिक्ष श्री पार्श्वनाथ.....”

[३] मन्दिर के दरवाजे के ऊपर एक शिलपर—

॥ श्री दिगंबर जैन मन्दिर श्री मन्ने मिचन्द्राचार्य प्रति-
ष्ठित ॥

पहले शिला लेख के बारे में प्रो० जोहरापुरकर लिखते हैं कि, श्वाल गोत्री के आगे और रामसेनु के पीछे कोई शब्द छूट गये होंगे। कारण मुनियों का गोत्र भी नहीं बताया जा सकता।

इस आशंका के साथ वह लेख 'श्वाल गोत्री (श्रीपाल) राममेनु (पदेशान्.....)' इस तरह वांचा जाय तो उसका अर्थ ठीक बैठता है। श्वाल गोत्रीय राजा श्रीपाल ने रामसेन के उपदेश से [यह कार्य प्रारम्भ किया था और कुछ]।

वीरचन्द्र और रामसेन का गुरु-शिष्य सम्बन्ध इति-
हास प्रसिद्ध है। उनका कार्य क्षेत्र भी श्रीपुर से पल्लिचपुर के समोवताल का भाग ही रहा है। तथा काल भी समान है। इनके विषय में जुगलकिशोरजी मुक्तारने तत्त्वानु-
शासन का प्रस्तवना में खूब विस्तार के साथ चर्चा की है। ईल राजा का समय निश्चित करने में वह बहुत उपयुक्त ठहरा है। जिसके लिए मैं उनका ऋणी हूँ। वैसा तो आपने विक्रम की १० वीं शती का उत्तरार्ध में रामसेन का प्रारम्भ माना है। और शक ६५३ में माधुर संघ० स्थापन करने से अन्तिम समय सं० १०८८ ही ठहरता है। प्रारम्भ में तत्त्वानु शासन सं० १०५० के पूर्व का नहीं होने से उन्होंने वि० की १० सदी का उत्तरार्ध मान लिया। वहां अगर वीरचन्द्र मुनि का समय सं० १००० से १०३५ और रामसेन का समय १०३५ से १०६० तक मान लिया तो अनुचित न होगा। वर इस वक्त वह थे, यह निर्विवाद है।

इन्द्रराज चतुर्थ [सं० १०३८] के समय जब ईल राजा सामंत राजा थे तो अनायास वीरचन्द्र-रामसेन उनके सम-
कालीन ठहरते हैं।

[१] दूसरे शिला लेखों में 'मल्ल पद्म' के शब्द से अगर मल्लधारी पद्मप्रभदेव की सूचना हो तो, वह पद्मप्रभदेव हमारे सामने आते हैं; जिन्होंने अपने 'लक्ष्मी महातुल्य सती सती सती' इस पार्श्वस्तुति के अन्त में गुरु पद्मनन्दी का उल्लेख किया है। यह पद्मनन्दी सं० १०३ में (प्रेमीजी जंबुदीव पण्यति को सं० १०५३ के लगभग रची हुई मानते हैं।) रचे हुये जंबुदीवपण्यति के कर्ता पद्मनन्दी सं० १०३०-५५ मान लिए जायें तो, उनके शिष्य पद्मप्रभदेव

का समय सं० १०५० से ७० मानना उचित ही होगा।

औरंगाबाद से आये हुए हस्त लिखित ग्रंथों में 'गुरुनी विननी' का एक जार्ण-शार्ण पृष्ठ मिला है। जिसमें संस्कृत भाषा में ७ अंक हैं। छंद दृष्टि से कुछ अशुद्ध होते हुए भी भाव दर्शन में परिपूर्ण हैं। प्रारम्भ में एक अम्बुज प्रभ मलधारिका संकेत मिलता है। बाद में उनके गुण का वर्णन है। ५ से ७ श्लोक इतिहास की दृष्टि से महत्त्व के जान पड़ते हैं। वह इस प्रकार है।

'अथ श्री प्रतिष्ठाणपुरे मुनिमुपतं वंदितात्मा ।
प्राप्तो देवगिरिमु संस्थानं इलोर समिपं वरम् ॥ ५
आगतानां जनानां वा, आग्रहान्नुपवांछया ।
अस्माच्छ्री श्रीपुरं गत्वा, श्रीपादं पूज्य खेश्वरम् ॥ ६
विवदि भूतवाटं हि, यक्त्वा श्रीजिनालयम् ।
नूतनं विरचयामौ, दक्षिणपथगाम्यभूत ॥ ७ ॥

वर्षा योग समाप्तिबाद वह मुनि प्रतिष्ठाणपुर [पैठन] में श्री मुनिमुपतनाथ की पूजा कर, इलोरा के समीपवर्ती देवगिरि में स्थित हुए। वहां आए हुए लोगों के आग्रह से वह श्रीपुर पधार। और वहां खेश्वर-अन्नरिक्त प्रभु की वंदना की। बाद में भूत जिनालय को छोड़कर नया बनवाया और इसके बाद दक्षिण में चले गये।

अम्बुज प्रभ को पद्मप्रभ मान लिया जाय तो शिलालेख नं० २ में इसकी और पुष्टि होती है कि, यह मलधारि पद्मप्रभदेव (यह नियमसारके टीकाकार से भिन्न हैं) पौलाका मन्दिर छोड़ गाँव में नूतन मन्दिर बनाने में प्रेरक रहे हैं।

[३] तीसरे लेख की चर्चा करने समय, हमारे सामने ब्रह्मदेवसूरी का बृहद्ब्रह्मसंग्रह की टीका का प्रथम भाग आता है वह इस प्रकार है, "अथ मालय देशे धारानाम-नगराधिपतिराज-भोजदेवाभिधान-कविकालचक्रवर्ति संबन्धिनः श्रीपाल-महामंडलेश्वरस्य संबन्धिन्याश्रमनामनगरं श्रीमुनि-सुजत-तीर्थकर-चैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्ति-समुत्पन्न-सुखा-मृतरसास्वाद-विपरीत नारकादि दुःखभयभीतस्य परमात्म-भावानुत्पन्न-सुखसुधारसं पिपासितस्य भेदाभेद-रत्नत्रय भावना प्रियस्य भव्यवर-पुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यने-कनियोगा-धिकारि-सोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमि-चन्द्र-सिद्धान्तदैवैः पूर्वं पद्मविशतिगाथाभिर्लक्षुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा

परचाद्विशेष तत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्ब्रह्मसंग्रहस्य-अधिकार शुद्धि-पूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।

इसके विवेचन में मुल्तार साहब ने बताया है, कि 'ब्रह्मदेव के उक्त घटना-निर्देश और उनकी लेखन शैली से ऐसा मालूम पड़ता है कि ये सब घटनाएँ साक्षात् उनकी आँखों के सामने घटी हुई हैं। परमार राजा भोजदेव उनके महा-मंडलेश्वर श्रीपाल और उनके राजश्रेष्ठी सोम तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव-उनके समय में मौजूद थे। इत्यादि।"

पद्मप्रभदेव के नया मन्दिर बनवाने के बाद, यह जो राजा का बनाया मन्दिर खाली था, उसमें वेदी प्रतिष्ठादि कार्य इन्हीं नेमिचन्द्राचार्य ने किये हों तो आश्चर्य नहीं। और इसी की सूचक वह शील मन्दिर पर लगाई हो।

ब्रह्मदेव के बताए हुये महामंडलेश्वर 'श्रीपाल' और अन्नरिक्त प्रभु की पुनः स्थापना करने वाले ईल-श्रीपाल अभिज्ञ जान पड़ते हैं। क्योंकि डा० जोहरापुरकर भी एल राजा को सामंत सूचित करते हैं। तथा आश्रम-आशान्म्यपुर प्रेमाजी के कथनानुसार या श्वे. सूरि के कथनानुसार पैठण ही हो, तो, वह उस वक्त एल राजा के आधीन था ही।

तथा ईल राजा के जीवन में २ युद्ध होने की सूचना मिलती है पहला युद्ध उत्तरभारत में राज्य करने वाले राजा वाकेड (Vaked) के आक्रमण पर उसे परास्त करने वाला और दूसरा हुआ अच्युल रहमान गार्जा के साथ। इस दूसरे युद्ध में या युद्ध के बाद जल्दी ही पंचपीरों से ठगा जाकर एल राजा का देह दण्ड मिला है। इस युद्ध का समय मुसलमानी ग्रंथों में सन् १००१-८ बताया है। लेकिन यह समय बराबर न होते हुए कुछ साल बाद का होने की सूचना अमरावती गजेटीअर में दी है। १५-२० साल के बाद की यह घटना मानी जाय तो भी-भोजदेव राजा का महामंडलेश्वर (बड़े प्रान्तका अधिकारी) पद को भूषित करने वाला पराक्रमी श्रीपाल-ईल का ही रहना उचित लगता है। इस प्रकार श्रीपाल ईल का अन्तिम समय सं० १०७५ तक निश्चित होता है। जिससे उसका राज्य काल सं० १०३५ से ७५ तक ४० साल का निश्चित होता है। इस काल में चार महान् आचार्यों की सेवा करने का सौभाग्य उसे प्राप्त हुआ था। आचार्य मलधारि पद्मप्रभदेव के जीवन की घटनाएँ थोड़े फार परक से श्वे. 'अन्नरिक्त

पार्वनाथ' पुस्तक में मलधारि अभयदेव मूरि के नाम पर घटाई हैं। जो काल व्यत्यय आने से ऐतिहासिक प्रतीत नहीं होती। क्योंकि जब सन् १०७५ के लगभग डेल राजा का जीवन समाप्त होता है, तब उसके ७० साल बाद उसके हाथ से प्रतिष्ठा यताना उचित नहीं लगता। और ऊपर

यताए, मुजब चार महान दिगंबर मुनियों की सेवा करने वाला तथा मुक्तागिरि, एलोरा, पातुर और प्रत्यक्ष शिवपुर आदि जगद् दिगंबर जैन स्थापत्य निर्माण करने वाला श्वेताम्बर सम्प्रदाय का नहीं हो सकता। अतः विद्वानों को इसपर अधिक प्रकाश डालना चाहिए।

३ अनार्य देशों में तीर्थंकरों और मुनियों का विहार

मुनिश्री नथमलजी

कुछ वर्ष पूर्व मैंने "अहिंसकपरम्परा" शीर्षक लेख पढ़ा था जिसका भर आड़े। उसमें था—ईसवी सन् की पहली शताब्दी में और उसके बाद के हजारों वर्षों तक जैनधर्म मध्यपूर्व के देशों में किसी-न किसी रूप में यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लामधर्म को प्रभावित करता रहा है। प्रसिद्ध जर्मन इतिहास लेखक वान केसर के अनुसार मध्य-पूर्व में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय श्रमण शब्द का अपभ्रंश है। इतिहास लेखक जी० एफ० मूर लिखते हैं कि हजरत ईसा के जन्म की शताब्दी से पूर्व ईराक, म्याम और फिलिस्तीन में जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु संकटों की संख्या में चारों और फैले हुए थे। "मियादत्त नाम ए नामिर" का लेखक लिखता है कि इस्लाम धर्म के कलन्दरी तबके पर जैनधर्म का काफी प्रभाव पड़ा था। कलन्दर चार नियमों का पालन करते थे—साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अग्रगण्य विश्वास रखते थे।

जैन साहित्य में विहार-क्षेत्रों का कोई उल्लेख है या नहीं यह जानने की प्रबल उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। किन्तु यात्रा व अन्य कार्य-बहुलता के कारण उसकी पूर्ति नहीं हुई। समय पाकर यह भावना विलीन हो गई। वाराणसी यातु मार्ग में हम लोग आचार्य श्री के समस्त विशेषावश्यक भाष्य और आवश्यक नियुक्ति का पारायण कर रहे थे। उसमें तीर्थंकरों के विहार का उल्लेख आया तो सुप्त भावना पुनः उद्बुद्ध हो गई। उनमें लिखा है, "बौद्ध तीर्थंकरों ने आर्यक्षेत्र में विहार किया। भगवान् ऋषभ, अरिष्टनेमि पार्श्व और महावीर ने अनार्यक्षेत्र में भी विहार किया था?" ये चार तीर्थंकर जिन अनार्य क्षेत्रों में—देशों में गए उनका पूरा विवरण प्राप्त नहीं है। फिर भी यत्र क्वचित् उनका नामोल्लेख मिलता है। आवश्यक नियुक्ति व विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार भगवान् ऋषभ ने बहली,

अडंबडल्ल, यवन, सुवर्णभूमि, पण्डव आदि म्लेच्छ देशों में विहार किया था। भगवान् ऋषभ दीक्षित होने के प्रथम वर्ष में ही आर्य और अनार्य देशों में गए थे। आचार्य हेमचन्द्र ने अडंबडल्ल आदि म्लेच्छ देशों में भगवान् ऋषभ के विहार का उल्लेख किया है वह आवश्यक नियुक्ति का अनुवाद मात्र है।

द्वारिका-दहन हुआ, तब भगवान् अरिष्टनेमि पण्डव नामक अनार्यदेश में थे। यह पण्डव भारत की सीमा में था या उसके बाहर यह अन्वेषणीय है। प्राचीन पार्थीया (वर्तमान ईरान) के एक भाग को पण्डव या पण्डव माना जाता है। काठियावाड में जूनागढ़ रियासत में एक ईरानी उपनिवेश की सम्भावना होती है। भारत में आर्य और अनार्य दोनों प्रकार के देश थे। कलिंग आदि देशों में यवन शासकों का भी उल्लेख मिलता है। कुमार पार्श्व ने वहाँ एक यवन शासक को पराजित किया था।

भगवान् अरिष्टनेमि ने द्वारावती-दहन की बात बतलाई। उस समय वे वहाँ थे। उसके पश्चात् वे वहाँ के अन्य जनपदों में विहार कर गये। द्वारावती-दहन से पूर्व एक बार फिर वे स्वतः पर्वत पर आये। जब द्वारावती का दहन हुआ तब भगवान् अरिष्टनेमि पण्डव देश में थे। इस मध्याह्नि में १२ वर्ष का काल बीता है। उसमें वे ईरान भी जा सकते हैं और सौराष्ट्र में भी हो सकते हैं। किन्तु द्वारावती का दहन होने के पश्चात् कृष्ण और बलभद्र, पाण्डव मथुरा [वर्तमान मथुरा] जा रहे थे। वे पूर्व दिशा में चले, सौराष्ट्र को पार किया और हस्तिनापुर पहुँचे। वहाँ से दक्षिण की ओर प्रस्थान किया और कौसुम्बारण्य में गए। इस यात्रा में भगवान् अरिष्टनेमि के पास जाने का उल्लेख नहीं है। द्वारावती-दहन के पश्चात् वे भगवान् के पास नहीं गये यह आश्चर्य की बात है। यहींपर कल्पना होती है कि

उस समय भगवान् मौराष्ट्र में नहीं थे। यह भी हो सकता है भगवान् उनके यात्रा-पथ से दूर थे। कुछ भी हो अन्तिम निर्णय के लिए अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, कौशल, काशी, सुह्य, अवन्ती, पुण्ड्र, मालव, अंग, वंग, कर्लिंग पंचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दर्शाण, मौराष्ट्र, कर्णाटक, कोंकण, मेवाण, लाट, द्राविड, काश्मीर, कच्छ, शाक, पल्लव, वत्स, आभीर आदि देशों में विहार किया था। इनमें अनार्य देशों का नामोल्लेख नहीं है। किन्तु दक्षिण के कर्णाटक, कोंकण, पल्लव, द्राविड आदि उस समय अनार्य मान जाते थे। शाक भी अनार्य प्रदेश हैं। इसकी पहचान शाक्य देश या शाक द्वीप से हो सकती है। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में है। वहाँ भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। भगवान् बुद्ध का चाचा, स्वयं भगवान् पार्श्व का श्रावक था। शाक्य प्रदेश में भगवान् का विहार हुआ हो, यह बहुत संभव है। भारत और शाक्य का बहुत प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है। संभव है वहाँ भगवान् पार्श्व ने विहार किया हो।

भगवान् महावीर व्रज भूमि, सुह्यभूमि, दृढभूमि, आदि अनार्य प्रदेशों में गये थे। वे बंगाल की पूर्वीय सीमा तक [शायद बर्मी सीमा तक] गये थे।

उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त एवं अफगानिस्तान में

४ द्रोणगिरि

निर्वाणकाण्ड के कथनानुसार द्रोणगिरि यह तीर्थक्षेत्र फलहोडी ग्राम के पश्चिम में है तथा यहाँ से गुरुदत्त आदि मुनियों ने मोक्ष प्राप्त किया था। इस उपासकों के देवते हुए पं० प्रेमीजी ने अनुमान किया था कि शायद जोधपुर रियासत में मेड़ता नगर के पास जो फलोडी नाम का तीर्थ है उसी के समीप किसी समय द्रोणगिरि रहा (जैन साहित्य और इतिहास पृ० ४४२-४३) तथा वर्तमान द्रोणगिरि जो बुन्देलखण्ड में मेड़पा ग्राम के समीप है वह निर्वाणकाण्ड में वर्णित द्रोणगिरि नहीं है। इस सम्बन्ध में एक और संभावना का और हम विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। निर्वाणकाण्ड के कथनानुसार द्रोणगिरि से गुरुदत्त मुनि मुक्त हुए थे। इन गुरुदत्त मुनि की विस्तृत कथा हरिषेणाचार्य के बृहत्कथाकोष की १३६ वीं कथा में मिलती

विपुल सख्या में जैन श्रमण विहार करते थे। कालकाचार्य सुवर्णभूमि [सुमित्रा] गये थे। उनके प्रशिष्य वहाँ पहले ही विद्यमान थे।

जैन श्रावक समुद्र पार करते थे। उनकी समुद्र यात्रा और विदेश व्यापार के अनेक प्रमाण मिलते हैं। लंका में जैन श्रावक थे, इसका उल्लेख बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। महावंश के अनुसार ई० स० ४३० पूर्व जब अनुराधपुर बसा तब जैन श्रावक वहाँ विद्यमान थे। निगण्ट का भा उल्लेख मिलता है।

आर्य अनार्य देशों की चर्चा के प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि अनार्य देश भारत के बाहर ही नहीं रहे हैं; यहाँ भी विविध दृष्टिकोणों से विविध देशों को अनार्य कहा गया है। धार्मिक दृष्टि से भारत के छः खण्डों में से केवल मध्य क्षेत्र को आर्य देश कहा गया है। बृहत्तर भारत के छः खण्ड हैं। उनमें पाँच खण्ड अनार्य हैं। छठा खण्ड आर्य है। उसमें भी बहुत अनार्य देश हैं। वहाँ धर्म सामग्री मुलभ नहीं है इसलिए वे अनार्य हैं - भारत में आर्य-अनार्य दोनों प्रकार के देश मान्य रहे हैं। फिर भी वर्तमान भारत की सीमा से बाहर तीर्थंकर नहीं गये, ऐसा नहीं माना जा सकता।

डा० विद्याधर जोहरापुरकर, जावरा

है। इस में आचार्य ने गुरुदत्त का निर्वाणस्थान तोणिमत् पर्वत बतलाया है तथा उसे लाट देश में चन्द्रपुरी के समीप बतलाया है। जैसा कि सुविदित है, हरिषेणाचार्य के कथाकोष में शिवार्य की भगवती आराधना की गाथाओं के उदाहरणों के रूप में कथाएँ संगृहीत हैं। यहाँ उन्होंने गुरुदत्त का निर्वाणस्थान जो तोणिमत् पर्वत बतलाया है उसे शिवार्य के शब्दों में (गुरुदत्तो य मुनिदो संबलिथालीव दोणिमत्तम्मि) देखें तो तोणिमत् का प्राकृत रूप दोणिमत् ज्ञात होता है। इस दोणिमत् को निर्वाणकाण्ड में वर्णित द्रोणगिरि से भिन्न समझने का कारण दिखाई नहीं देता। तात्पर्य यह हुआ कि हरिषेणाचार्य के कथनानुसार गुरुदत्त का निर्वाणस्थान तोणिमत् —द्रोणगिरि लाट देश में अर्थात् वर्तमान गुजरात प्रदेश में कहीं होना चाहिये। हरिषेणाचार्य का समय

शक सं० ८५३ सुनिश्चित है अतः उन के इस कथन का विशेष महत्त्व स्पष्ट है। उक्त कथा पर संपादक डा० उपाध्ये जी ने जो टिप्पण लिखा है उस में कहा गया है कि उक्त तोणिमत् के स्थान पर प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोष में द्रोणी-मति यह रूप पाया जाता है। ताणिमत्—द्रोणिमत्—द्रोण-गिरि की एकता का यह भी समर्थक प्रमाण है। वर्तमान गुजरात में उक्त वर्णन के अनुरूप कोई स्थान है या नहीं इस की खोज अवश्य होगी चाहिए।

२ शंखेश्वर तथा शंखजिनेन्द्र

शंखेश्वर यह तीर्थक्षेत्र गुजरात प्रदेश में वीरमगांव के पास है। यहां के मुख्य देव पार्श्वनाथ हैं। जिनप्रभसूरि के विविधतीर्थकल्प में इस के सम्बन्ध में एक कथा है जिस के अनुसार इस का नाम श्रीकृष्ण द्वारा बजाये गये शंख के कारण शंखपुर पड़ा था। मुनि जयन्तविजयजी ने इस तीर्थ के सम्बन्ध में उपलब्ध स्तोत्रों तथा अन्य साहित्यिक एवं शिलालेखीय उल्लेखों का संग्रह शंखेश्वर महतीर्थ नामक त्रिमूर्त पुस्तक में प्रकाशित किया है। यह तीर्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अधिकार में है।

मैसूर राज्य के धारवाड जिले में लक्ष्मेश्वर नामक ग्राम है जो पुरातन समय में पुरिकर पुलिगरे, हुलिगरे या हुल-गिरि-होलागिरि जैसे नामों से प्रसिद्ध था। यहां के मुख्य देव नेमिनाथ हैं जो शंखजिनेन्द्र इस नाम से प्रसिद्ध थे; क्यों कि इस मूर्ति के चरणों का भाग शंखनिर्मित जैसा है। इस के सम्बन्ध में एक कथा का उल्लेख मदनकीर्ति की शासन-चतुस्त्रिशिका में है। यह तीर्थ दिगम्बर सम्प्रदाय के अधिकार में है। यहां के कई शिलालेख जैनशिलालेख संग्रह भा० २ में हैं जिन से पता चलता है कि यह क्षेत्र सातवीं सदी में ही प्रसिद्ध था।

नाम की समानता के कारण इन दो क्षेत्रों का एक समझ लेने का एक उदाहरण हमारे अवलोकन में आया (पं० दरबारालालजी द्वारा संपादित शासनचतुस्त्रिशिका पृ० ४३-४७) का यह अम दुहराया न जाय इस उद्देश्य से यह टिप्पण लिखा है।

(जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर के आगामी प्रकाशन तीर्थवन्दनसंग्रहके दो अंश)

(कहानी)

गेही पै गृह में न रचे

[श्री कुन्दनलाल जैन एम० ए०]

शरत्कालीन शुक्लपक्षीय चतुर्दशी की चमकती हुई चन्द्रिका, धौत धवल रात्रि, नीलगगन, क्षीणालोक तारकों से किलमिला रहा था। राजगृही नगरी पूर्णतया निस्तब्ध एवं शान्त थी। नगर के सभी नागरिक जन प्रगाढ निद्रा में निमग्न थे। मध्यरात्रि का द्वितीय प्रहर राजकुमार वारिषेण शय्या त्यागकर नगर के बाहर दूर एक नीरव निर्जन उपवन में जा पहुँचे और कुछ प्रहरों के लिये सम्पूर्ण परिग्रह का परित्याग कर ध्यान में निमग्न हो गए। ऐसा वे प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी की रात्रि को किया करते थे।

पूर्व दिशा में लाली छा गई, जित्तिज में उषा की अरुण आभा प्रकट होने लगी। खगकुल अपने-अपने नीबों का परित्याग कर कलरव सहित गगनमंडल में विहार करने लगे,

भगवान् भास्कर अपनी अरुणिम आभा से नील गगन को आलोकित करने लगे, विभाकर का कर स्पर्श पा कमल प्रमुदित हो उठे, राजकुमार वारिषेण के ध्यान का समय समाप्त हुआ जान, वे ध्यान से निवृत्त हो स्ववस्त्र धारण करने ही वाले थे कि नागरिक सुरक्षा के अधिकारी दण्डपाल अपने सैनिकों सहित वहां आ धमके और क्या देखते हैं कि साम्राज्ञी चलना का अत्यन्त प्रिय बहुमूल्य मणिमुक्ताहार वहां पड़ा हुआ दमक रहा है। राजकुमार वारिषेण इससे बिल्कुल ही बेखबर थे। दण्डपाल ने सैनिकों को आदेश दिया कि महारानी चलना के बहुमूल्य हार का असली चोर यही है इसे पकड़कर महाराज श्रेष्ठिक के न्यायाधिकरण में उपस्थित करो, सैनिकों ने अपने अधिकारी की आज्ञा का

अक्षरशः पालन किया।

मगध नरेश महाराज श्रेणिक अपनी राज्यसभा में बैठे राज्यकार्यों में व्यस्त थे। प्रतिहारोंने दण्डपाल के आगमन की सूचना महाराज को दी महाराज की स्वीकृति पर दण्डपाल को महाराज की सेवा में उपस्थित किया गया। अपराधी वेश में राजकुमार वारिषेण सहित दण्डपाल को राज्यसभा में आया देव सभी पार्षदगण एवं महाराज स्वयं विस्मय विमुख हो गये। एक क्षण के लिए सम्पूर्ण राज्यसभा जड़वां निस्तब्ध हो गई। सभी महाराज के संकेत पर दण्डपाल ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। महाराज! अपराध क्षमा हो। बड़े खेद एवं विनयपूर्वक निवेदन करता हूँ कि साम्राज्ञी चेलना के बहुमूल्य मुक्ताहार की चोरी राजकुमार वारिषेण ने की है, साक्षी के लिए यह हार इनके पास से ही उपलब्ध हुआ है। अब महाराज की जो आज्ञा।

अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर जब दण्डपाल मौन हो गया, तो महाराज श्रेणिक ने वारिषेण को अपना पत्र प्रस्तुत करने के लिए कहा पर विरगी गृहस्थ वारिषेण क्या कहता? उसका तो एक ही पत्र था, जिसकी उसने बार-बार पुनरावृत्ति की वह था “हे तात। यह सब कर्मों का विडम्बना है, “जो-जो देखी वीतराग ने सो-सो होसी वीरारं। अन होनी कबहूँ नहि होती, काहे होत अधारा रे।” इत्यादि महाराज श्रेणिक ने राजकुमार को अपना पत्र प्रस्तुत करने को बार-बार कहा, पर राजकुमार वारिषेण उपयुक्त वाक्यों के अनिश्चित कुछ भी न कह सका। अन्ततोगत्वा महाराज श्रेणिक ने ऐसे घृणित अपराध के दण्ड स्वरूप राजकुमार को प्राण दण्ड की घोषणा कर दी और बहुमूल्य हार लेकर महारानी चेलना के पास भिजवा दिया।

राजकुमार वारिषेण के प्राण दंड की तिथि की घोषणा सम्पूर्ण नगर में करा दी गई। इस कठोर आज्ञा को जो कोई सुनता उसकी आँखें अश्रुजल से गीली हो जाती, क्यों कि राजकुमार की निष्पृहता एवं श्रेष्ठता से सभी नागरिक अच्छी तरह से परिचित थे, उन्हें पूर्ण विश्वास था कि राजकुमार ऐसा घृणित कार्य नहीं कर सकता, पर हार राजकुमार के पास से पकड़ा गया था और वह अपने बचाव में कुछ कह भी नहीं रहा था अतः नागरिकों के समस्त एक अति जटिल समस्या आ पड़ी थी। नागरिक शिष्ट मंडल ने

राजकुमार की निष्पृहता के सम्बन्ध में महाराज श्रेणिक के समक्ष अपना प्रतिनिधित्व भी प्रस्तुत किया पर महाराज सब कुछ जानते हुए भी अपने निर्णय पर सर्वथा अटल रहे।

अन्ततः राजकुमार के प्राण दंड की तिथि आ गई। अधिकारीगण उन्हें नगर के प्रधान चतुर्थ्य पर ले जा रहे थे, कि कहीं से नगर चोर विद्युच्चर वहाँ आ पहुँचा, उसे जब सम्पूर्ण स्थिति का पता लगा तो उसका मन करुणा से विगलित हो उठा, ‘अपराध कोई करे दंड कोई भोगे’ विद्युच्चर आत्म-बलानि में गलने लगा वह भागा-भागा महाराज श्रेणिक के पास पहुँचा और उनके चरणों में गिर पड़ा और विलम्ब-विलम्ब कर रोना हुआ बोला महाराज अपराध क्षमा हो। राजकुमार वारिषेण सर्वथा निरपराध हैं, वह तो गृहस्थ होकर भी म्याधु है। यह सब पाप तो मैंने किया था। नगर नर्तकी कामलता ने किसी दिन महारानी चेलना का यह बहुमूल्य मुक्ताहार देव लिया था, जिसे पाने के लिए उसने मुझे बाध्य किया। उसके प्रेम पाश में अन्धा होने के कारण मैंने इस हार को चुरा लिया, पर प्रहरियों की दृष्टि से न बच सका, अतः अपने प्राण बचाने के लिए भागा पर जब किसी तरह अपने को सुरक्षित न पा सका तो यह हार ध्यानस्थ राजकुमार वारिषेण के समक्ष फेंककर वहीं झाड़ी में छिप गया। इसी दुष्कृत्य का परिणाम है कि आज राजकुमार को प्राणदंड भोगना पड़ रहा है और वह भी आप जैसे निष्ठावान् शापक के हाथों जो अपने पुत्र का भी ध्यान न रख सका।

महाराज श्रेणिक विद्युच्चर की बातें बड़े ध्यान से सुन रहे थे। वे मन ही मन विचलित हो उठे कि किसी का दण्ड कोई भोग रहा है। पर वे विवश थे, आदेश दे चुके थे, तीर हाथ से निकल गया था, क्या करे कुछ समय में नहीं आ रहा था। तभी प्रतिहारी ने मधिनय निवेदन किया कि देव “वारिषेण का वध करने वालों के हाथ किल गये हैं, और राजकुमार के ऊपर पुण्यवृष्टि हो रही है।” प्रतिहारी के शब्दों से महाराज श्रेणिक का मनस्साप शान्त हो गया वे मन ही मन प्रसुदित हो जटे, प्रतिहारी को उचित रूप से पुरस्कृत कर विदा किया और स्वयं महारानी चेलना सहित वध-स्थल को चल दिए जहाँ कुमार वारिषेण कायोग्यगो धारण किए हुए विराजमान थे। महाराज श्रेणिक ने अपनी

निष्ठुरता की क्षमा याचना करते हुए राजकुमार से घर चलने का आग्रह किया, महारानी चेलना तो पुत्र प्रेम से विह्वल हो विलम्बने लगी और उसे घर चलने को मनाने लगी, पर वारिषेण का मन तो संसार से विरक्त हो गया था। वे कहने लगे मैंने संसार विडम्बना का रूप देख लिया, मेरी उसमें कोई आस्था नहीं है मेरा दृढ़ निश्चय है कि आत्म-साधना का अनुष्ठान करूँ। घर तो जेल खाने के सदृश है। वे संसार की स्थिति को भली भाँति समझ गये थे, उन्होंने माता पिता को सांसारिक अस्थिरता से परिचित कराया और उनकी अनुमति लेकर स्वयं दीक्षा धारण करने के लिए वन में चले गये।

जब वारिषेण वन में प्रव्रज्या के हेतु जा रहे थे तभी उनके मित्र सोमशर्मा भी उन के साथ हो गये और भाववेश वश उन्हीं के साथ वन में दीक्षित हो गये तथा तपस्या करने लगे, एक दिन सोमशर्मा ने बाँझा पर किशोरों का निम्न गीत सुना—

कुषलवनवदलसमरुचिनयने स्मरमिजदल निभवर कर चरणे ।
श्रुति सुखकर परभृतकलवदने कुरुजननुतिमयिस्मवि विभुवदने ।
बहुमल मलिनशरीरा मलिन कुचलाघ्रि विगततनुशोभा ।
त्वदगमन दग्धहृदया शोकातप शुष्कमुखकमला ।
विमनागत लावण्या वर कान्ति कलाप परि मुक्ता ॥
किं जीविष्यत्यवनिका नाथेऽपि गतेऽजयं मोक्षं ।

उपर्युक्त गीत को सुनते ही सोमशर्मा को अपनी पत्नी की याद आई उससे मिलने के लिए व्याकुल हो उठे, उन्होंने वारिषेण से घर जाने का आज्ञा मांगी, वारिषेण सोमशर्मा की दुर्बलता को भांप गये, और उसे सांसारिक अस्थिरता का उपदेश देने लगे। हे भद्र, यह संसार अस्थिर है, और इसके भोग विलास तो शर्करा मिश्रित विष तुल्य हैं। अनन्त भवों से इन भोगों का भोगते आ रहे हो पर आज तक कभी भी नृप्ति नहीं हुई। अपना मन संयम और संतोष की ओर आकृष्ट करो। सर्वोच्च सुख के साधन संयम और संतोष ही है। मनुष्य भव बड़ा दुर्लभ है, इसे पाकर इस तरह व्यर्थ ही विषयभोगों में नहीं गाँवा देना चाहिए, आप तो स्वयं विज्ञ हो सांसारिक विषय-भोगों से इस चंचल चित्त को निवृत्त कर आत्म-चित्तन में रत रहो, पारिवारिक जनों के मोह जाल में व्यर्थ न फँसो, कोई किसी

का संगी साथी नहीं है, आपके शुभा-शुभ कर्म ही आपका सदा साथ देगे, अतः आप ने दीक्षा धारण करली है व्यर्थ ही उसे कलंकित करने का विचार न लाओ।

सोमशर्मा वारिषेण का उपदेशाश्रित पान कर मन ही मन अत्यधिक प्रभावित हुए, पर अपनी पत्नी को न भुला सके, वारिषेण को उनकी वनी चिन्ता थी, जब उन्होंने अपने उपदेशों का सोमशर्मा पर कोई प्रभाव न देखा तो स्वयं आदर्श प्रस्तुत करने की सोची, अतः सोमशर्मा को साथ ले चर्चा के बहाने राजगृह नगरी में महाराज श्रेणिक के महलों में आ गये। रानी चेलना पुत्र को घर आया जान हर्ष से पुलकित हो उठी, उन्हें विधि पूर्वक आमन्त्रण कर वर में बैठाया, तब वारिषेण ने अपनी माँ से अपनी सभी पत्नियों को सोलह शृंगार से सुसज्जित कर अपने समक्ष बुलाने को कहा। पुत्र के आदेश को सुन पड़ले तो रानी विस्मित हुई पर पुत्र प्रेम में विह्वल वह कुछ भी न सोच सकी और शांघ्र ही अपनी सभी वयुधों को सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर वहाँ ले आई जहाँ वारिषेण और सोमशर्मा बैठे थे, उन अप्सरा तुल्य सुन्दरियों के सौन्दर्य को देख सोमशर्मा मन ही मन बड़े लज्जित हुए और जोचने लगे अरे में बड़ा कामी हूँ जो इस प्रकार विषयामक्त हो दीक्षा से विमुख हो रहा हूँ। और दूसरी ओर महार्थी संयमी एवं त्यागी वारिषेण हैं, जो ऐसी देवांगना तुल्य स्त्रियों को सहज ही तृणवत् परिहास कर चुका है, धन्य है इसका महानता और निम्पृहता को। निश्चय ही यह गृहस्थ होकर भी घर में आसक्त नहीं हुआ है वारिषेण के त्याग और संयम का प्रत्यक्ष देख सोमशर्मा की आंखें खुल गईं। विवेक जाग्रत हुआ। विवेक की इस धारा ने हृदय गत राग की लालिमा को हटा दिया, और अपनी संयमश्री को संभालने के लिये वैराग्य की निर्मल धारा उसके अन्तर में वहन लगी।

वह सोचता है तूने ये १२ वर्ष व्यर्थ ही खो दिये। अपनी कानी स्त्री के त्याग के कारण मैं इस पवित्र वेष्ट को लज्जाता रहा हूँ। अपनी आत्मा को ठगता रहा हूँ। मेरे उस राग भाव ने मुझे सांसारिक दृढ़ बन्धनों में जकड़ दिया है। यह भोग रोग के समान है। वे ही संसार में धन्य हैं
(शेष पृष्ठ १३३ पर)

अनेकान्त और अनाग्रह की मर्यादा

(मुनि श्री गुलाबचन्द्रजी 'निर्मोही')

अनेकान्त दर्शन के प्रणेता भगवान् महावीर समन्वय और सहअस्तित्व का दिव्य मन्दंग लेकर इस संसार में आए। विभिन्न मतीय विवादों को लाहल पण एवं आप्रह्वं वातावरण में तब को समझने की जो सूक्ष्म दृष्टि उन्होंने दी, वह सचमुच ही मानवीय विचारधारा में एक वैज्ञानिक उन्मेष है।

हमारे सामने अनेक वस्तुएं आती-जाती रहती हैं। हम अपने प्रयोजनानुसार उनका व्यवहार करते रहते हैं, पर यह शास्त्र ही सोचते होंगे कि जिस समय वे हमें दिखलाई पड़ती हैं, वही क्या उनका मौलिक रूप है या और कुछ? किन्तु जब हम वस्तुओं के स्वरूप के बारे में सोचना तथा विश्लेषण करना प्रारम्भ करते हैं; तब हम दर्शन के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं।

भगवान् महावीर की दृष्टि में दर्शन, धर्म और स्रष्टृ की जिज्ञासाओं का सुन्दर समाधान है। उनके सामने अनेक दार्शनिक परम्पराएँ विद्यमान थीं। एक-अनेक, नित्य-अनित्य, जड-चेतन आदि विषयों का एकान्तिक आप्रह्वं उनके सामने था। एक परम्परा नित्यवाद पर ही सारा बोक डाल देती थी तो दूसरी परम्परा अनित्यवाद को ही प्रमाण समझती थी। किसी परम्परा को एकत्व में चरम तत्व का अन्वेषण आभाष्ट था। तो अन्य किसी परम्परा में एकत्व का सर्वथा निषेध ही परिलक्षित होता था, एक परम्परा सृष्टि की विभिन्नता से जड को ही कारणभूत मानती थी तो दूसरी को आत्मतत्त्व से अन्यथा कुछ भी स्वीकार्य नहीं था। इस प्रकार अनेक विरोधीवाद एक दूसरे पर प्रहार करने में ही अपनी शक्ति का व्यय करते थे। यही कारण है कि उस समय का दार्शनिक जगत शान्त न होकर कोलाहलपूर्ण व अशान्त था। इनरेतर विरोध ही दर्शन का ध्येय बन गया था।

महावीर ने अपने चिन्तन से इस विरोध की बुनियाद में मिथ्या आप्रह्वं पाया। उन्होंने इसे एकान्तिक आप्रह्वं की संज्ञा दी। वस्तुतत्त्व का सूक्ष्मेक्षण से चिन्तन करके उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि एक ही वस्तु में अनेक धर्म हैं किन्तु दृष्टि की संकीर्णता से ही सब अपने-अपने आप्रह्वं में यथा-

थता का आरोपण करते हैं। उन्होंने कहा—दार्शनिक दृष्टि संकुचित न होकर विशाल होनी चाहिए। वस्तु में जितने भी धर्म परिलक्षित होते हैं। उन सबका समावेश उस दृष्टि में होना चाहिए। किसी एक समय में किसी एक अपेक्षा से किसी एक धर्म का प्रमुखता काय हो सकती है किन्तु उससे अन्य सब धर्मों का अभाव तो नहीं हो जाना। इसी दृष्टि से उन्होंने वस्तु को अनन्त विरोधा-धर्म-युगलात्मक बनाया। वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि उसपर अनेक दृष्टियों से चिन्तन किया जा सकता है। इसी दृष्टि का नाम अनेकान्तवाद है। किसी एक धर्मों का एक धर्म की प्रधानता से जो प्रतिपादन होता है, वह 'स्यात्' (किसी एक अपेक्षा या किसी एक दृष्टि से) शब्द से होता है, अतः अनेकान्त की निरूपण पद्धति को स्यादाद कहा जाता है। दार्शनिक क्षेत्र में महावीर की यह वृत्ति बड़ी देन है।

अनेकान्तवाद के क्षेत्र में दो पक्ष प्रधान हैं। एक सांग्य-योग दर्शन, दूसरा जैन दर्शन। ये दोनों दर्शन अपना-अपनी परिभाषाओं के द्वारा अपने अपने विचार वैचित्र्य से अनेकान्त की स्थापना करने हैं।

सांग्य दर्शन मूल में दो तत्वों को स्वीकार करता है—१—पुरुष तत्त्व, २—प्रकृति तत्त्व। उसके मत में पुरुष बहु है और कृम्य नित्य है। उसमें न कोई गुण है और न कोई धर्म। उसमें कभी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। प्रकृति एक पुनरावृत्ति का विपरीत रूप है। वह नित्य होकर भी परिणामन काया रहती है। यह दृश्यमान जगत इस प्रकृति का परम्परागत परिणामन है। अति सूक्ष्म प्रकृति तत्त्व एक परिणाम से दूसरे, दूसरे से तीसरे इस प्रकार परिणामों को प्राप्त करता हुआ स्थूल रूप में परिणत होता है। यह परिणामन धर्म, लक्षण और अवस्था इन तीनों परिणामों के द्वारा होता है। धर्मरूप प्रकृति से उसके धर्म का एकान्त भेद बनलाना सम्भव नहीं। वस्तु का व्यक्त धर्म जब अव्यक्त तथा अव्यक्त धर्म जब व्यक्त बनता है, वह धर्म परिणाम है। यह धर्म-परिणाम धर्मों के स्पष्टरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए कार्य और कारण में

भेद भी है और अभेद भी। यदि भेद नहीं माना जाए तो धर्मों का नाना धर्मों में रूपान्तरित होना असम्भव है। एक ही वस्तु रूपान्तर ग्रहण करती है इसलिए अभेद भी है।

धर्म का भी परिणमन होता है। उम परिणमन को लक्षण परिणमन कहा जाता है। लक्षण परिणमन का अर्थ है—अतीत, अनागत और वर्तमान रूप परिणमन। धर्मों में रहे हुए धर्म का अतीत, अनागत और वर्तमान रूप में परिणमन होता है, द्रव्य रूप धर्मों का नहीं। वर्तमान समय में धर्मों का जो स्वरूप आविर्भूत है, वह कालान्तर में विलय होकर अतीत का विषय बन जाता है और अनागत रूप में जो धर्म धर्मों की सत्ता में छिपा हुआ था, उसका आविर्भाव होता है इसी प्रकार धर्म समूह तीनों कालों को स्पर्श करता हुआ परिणमन करता रहता है। धर्मों इन तीनों कालों में धर्मों में विद्यमान रहकर नित्य कहलाता है।

लक्षण परिणाम का परिणमन अवस्था परिणाम कहलाता है। नया-पुरानापन ही अवस्था परिणाम है। मृत-पिंड से जब घट कार्य रूप में आविर्भूत होता है, तब नया घट कहलाता है और प्रति दिन पुरानापन की तरफ बढ़ता हुआ पुरानापन में परिणमन करता है। उस तरह अतीत कार्य सुदूर अतीत के रूप में और, सुदूर अनागत कार्य निकट अनागत के रूप में परिणत होता रहता है।

सांख्य-योग दर्शन ने इस प्रकार के तीन परिणामों के द्वारा परिदृश्यमान जगत की व्याख्या की है। इस तरह अनन्त काल से कार्य-कारण का निरवच्छिन्न प्रवाह चलता आता है। एक का लय तथा अंतर की उत्पत्ति होती रहती है, किन्तु कारण की सत्ता से उसका कोई भिन्न सत्ता नहीं है।

जैन दर्शन चेतन तत्त्व और जड़-तत्त्व, इन दोनों तत्त्वों को स्वीकार करता है। वह जड़ और चेतन दोनों को उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक रूप से प्रतिपादित करता है, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य शब्द से एक ही वस्तु के दो स्वरूप प्रतिभासित होते हैं—१ अविनाशी, २ विनाशी। उत्पाद और व्यय शब्द वस्तु के विनाशी स्वरूप को बतलाते हैं तथा ध्रौव्य शब्द उसके अविनाशी स्वरूप का वाचक है।

जैन परिभाषा में धर्मों को द्रव्य और उत्पाद व्यय शील धर्म को पर्याय कहा गया है। वह वस्तु का क्रम भावी धर्म

है। सहभावी धर्म गुण कहलाता है। गुण और पर्याय का आधार द्रव्य है। द्रव्य परिणामी है अतः वह अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा विभिन्न पर्यायों को उत्पन्न करता हुआ परिणमन करता है। जैन दर्शन के अनुसार एक द्रव्य अनन्त गुणों का आधार है। उम गुण समूह को गुणी द्रव्य से पृथक् करना असम्भव है। द्रव्य एक द्रव्य में रहे हुए गुणों को भी गुणान्तर से पृथक् करना शक्य नहीं। द्रव्य जब अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा विभिन्न पर्यायों के रूप में परिणमन करता है, तभी गुण से गुणान्तर का भेद उपलब्ध होता है। द्रव्य से पर्यायों का भेद निम्नलाइए पड़ता है। इसलिए एक दृष्टि से द्रव्य, गुण और पर्याय में भेद भी है। द्रव्य स्वयं ही परिणमन करता है। इसलिए एक दृष्टि से वे तीनों अभिन्न भी हैं। पर्याय उत्पन्न और विनिष्ट होता रहता है, पर द्रव्य और गुण अपने स्वरूप का त्याग न करते हुए पर्यायों से पर्यायान्तर में परिणत होते रहते हैं। सांख्य दर्शन के कार्य की तरह पर्याय भी तीनों कालों के प्रवाह में बहता हुआ चला जाता है। न इसका आदि है, न अन्त ही। एक द्रव्य में अनेक गुणों के पर्याय एक समय में वर्तमान रह सकते हैं, किन्तु एक गुण के दो पर्यायों का एक समय से रहना सम्भव नहीं। एक विशेष गुण दूसरे गुण में रूपान्तरित नहीं होता। जैन-दर्शन के अनुसार चेतन स्वरूप आत्मः वृद्धावस्था में हो या मुक्तावस्था में, दोनों अवस्थाओं में अपने चेतन स्वरूप को नित्य रखते हुए गुणों के द्वारा परिणमन करता रहता है।

कुछ विचारकों का अभिमत है कि अनेकान्त वाद एकान्तवादों का समन्वय करने के लिए निपन्न हुआ, किन्तु यह उचित नहीं है। एकान्त दृष्टियों का समन्वय उसका फलित है, किन्तु मूल आत्मा नहीं।

वस्तु में जो अनेक आपेक्षिक धर्म हैं, उन सबका यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है, जब अपेक्षा का सामने रखा जाए। दर्शन-शास्त्र में एक-अनेक, वाच्य-अवाच्य तथा लोक व्यवहार में स्वच्छ-मलिन, सूक्ष्म स्थूल आदि अनेक ऐसे धर्म हैं जो आपेक्षिक हैं। इनका भाषा के द्वारा कथन उसी सीमा तक सार्थक हो सकता है, जहां तक हमारी अपेक्षा उसे अनुप्राणित करती है। जिस समय जिस अपेक्षा से जो शब्द जिस वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है, उसी समय उसी

वस्तु के लिए किसी अन्य अपेक्षा से अन्य शब्द की प्रयुक्ति भी तथ्यगत ही होगी। वह भी उतना ही अखंड सत्य होगा जितना कि पहला। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि एक वस्तु के सम्बन्ध में ऐसे अनेक तथ्य होते हैं जो हमारे ज्ञान में मन्त्रित हैं और एक ही समय में सब समान रूप से सत्य हैं फिर भी वस्तु के पूर्ण रूप की अभिव्यक्ति में उनकी विभक्ति करना ही पड़ेगी। यह तो भाषा की विशेषता है कि वह एक ही शब्द में वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को नहीं बांध सकती। जिस धर्म का प्रतिपादन करना हो उसके लिए तद्बोधक शब्द की प्रयुक्ति करके अवशिष्ट धर्मों के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् प्रतिपाद्य धर्म के अनतिरिक्त अन्य धर्मों की मना का स्वीकरण तो है किन्तु वर्तमान में उसका कथन नहीं किया गया है। कभी-कभी 'स्यात्' शब्द की प्रयुक्ति के अभाव में भी वस्तु धर्म का प्रतिपादन होता है, किन्तु वहां भी कथक के अभिप्राय में कथ्यमान धर्म के अनतिरिक्त धर्मों का निराकरण करने की बात नहीं जानी चाहिए। तभी वस्तु सम्बन्धी वास्तविकता का समादर किया जा सकता है। इस तथ्य को हम एक वाक्य में यों भी कह सकते हैं कि वस्तु सम्बन्धी सम्पूर्ण दृष्टि प्रमाण तथा एक दृष्टिनय कहलाना है।

प्रमाण और नय दोनों का उद्देश्य यही है कि वस्तु का प्रतिपादन उचित भाषा में हो और ज्ञाता उसके अभिप्राय को ठीक प्रकार से हृदयंगम कर सके। हम वाक्य प्रणाली को अहिंसा की वैचारिक पृष्ठ भूमिका कहा जा सकता है। क्योंकि यह यथार्थ कथन है और यथार्थता ही अहिंसा है। यह प्रणाली कथित और कथनावशिष्ट धर्मों को, यदि वे वस्तु-प्रमाणित होते हैं तो समानरूप से स्वीकार करती है। अलग-अलग अपेक्षाएँ अलग-अलग जिज्ञासाओं के प्रयुक्त से स्वयं प्रतिफलित होती हैं। एक मकान विशेष के लिए प्रश्नकर्ता को उसकी जिज्ञासाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न समाधान दिये जा सकते हैं—

- १—यह मकान पत्थर का है।
- २—यह मकान नरेश का है।
- ३—यह मकान रहने का है।
- ४—यह मकान सन् १९६२ का है।

५—यह मकान पांच मंजिल का है।

६—यह मकान लाल रंग का है।

७—यह मकान समाजवादियों का है।

प्रश्न होता कि मकान किसका समझा जाए ? उपर्युक्त वाक्यों में एक भी ऐसा नहीं है, जिसे अप्रमाणित माना जाए। सभी प्रश्न भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक ही विषय में सत्य हैं। एक वाक्य में जो कथन है, दूसरे में वह उससे सर्वथा भिन्न है। फिर भी परस्पर में अविरोध है। विरोध इस लिए नहीं है कि प्रत्येक में अपेक्षा भेद है। वह मकान उपादान कारण की अपेक्षा से पत्थर का है। स्वामित्व की अपेक्षा से नरेश का है। कार्यक्षमता की अपेक्षा से रहने का है। काल की अपेक्षा से सन् १९६२ का है। आकार और ऊंचाई की अपेक्षा से पांच मंजिल का है। वर्ण की अपेक्षा से लाल रंग का है और किसी दल विशेष से सम्बन्ध की अपेक्षा से समाजवादियों का है। प्रश्नकर्ता की भिन्न-भिन्न अपेक्षाएँ उत्तरदाता को भिन्न-भिन्न उत्तर देने को उन्मेषित करती हैं। क्योंकि एक ही उत्तर से समस्त जिज्ञासाएँ समाहित नहीं हो सकतीं।

लोक भाषा और व्यवहार में मापेज कथन का यह प्रकार जितना मौलिक और सत्य है उतना ही दर्शन जगत में भी। उपरोक्त आवास सम्बन्धी ज्ञान में एकान्तवादिता सत्य से जितनी दूर ले जाती है, उतनी ही तत्त्व ज्ञान के सम्बन्ध में भी। अतः दर्शन और लोक व्यवहार दोनों ही क्षेत्रों में स्याद्वाद का प्रयोग न केवल उचित ही है, किन्तु अनिवार्य भी है।

महावीर के स्याद्वाद के सम्बन्ध में कुछ इतर दार्शनिकों का ख्यास तर्क यह है कि यदि कोई वस्तु 'मन' है तो 'अमन' कैसे हो सकती है ? इसी प्रकार एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि परस्पर विरोधी स्वभाव एक ही समय में एक ही पदार्थ में कैसे टिक सकते हैं ? इसी तर्क के आधार पर शंकराचार्य और रामानुजाचार्य ने स्याद्वाद को 'मिथ्यावाद' कह कर उसकी अपेक्षा की। राहुल सांकृत्यायन ने 'दर्शन-दिग्दर्शन' में बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के शब्दों के आधार पर दही, दही भी है और ऊंट भी, तो दही खाने के समय ऊंट खाने को क्यों नहीं दौड़ते ? इस प्रकार के कथन से स्याद्वाद का उपहास किया है। डा० राधाकृष्णन ने इसे 'अर्धसत्य' कह

कर न्याय्य बताया है। इसी प्रकार किमी ने इसे 'छल' और किमी ने इसे 'संशयवाद' की संज्ञा प्रदान की है किन्तु यह सब स्याद्वाद के हार्द को नहीं समझने का ही परिणाम है। प्राचीन बद्धमूल रुढ़ धारणाएँ तथा जैनेतर ग्रन्थों में जैन दर्शन के लिए किए गए कथन को ही प्रमाण घोषित करना भी इसमें महायक हुण हैं। अन्यथा सापेक्ष दृष्टि से 'है' और 'नहीं है' के कथन में विरोधाभास होना ही नहीं चाहिए।

मराफ की दुकान पर किमी ने दुकानदार से पूछा—'यह जेवर सोने का है न ? दुकानदार ने उत्तर दिया—'हां यह सोने का है। दूसरे व्यक्ति ने पूछा—'यह जेवर पीतल का है न ? दुकानदार ने उत्तर दिया—'नहीं, यह पीतल का नहीं है। यहां कथ्यमान जेवर के लिए 'यह जेवर सोने का है' यह कथन जितना सत्य है उतना ही यह पीतल का नहीं है यह भी सत्य है। एक ही जेवर में सोने की अपेक्षा से 'सत्' और पीतल की अपेक्षा में 'असत्' अर्थात् 'है' और 'नहीं है' ये दोनों कथन सत्य हैं। स्याद्वाद इसी मिथ्यान्त की पुष्टि है। 'सत्' है तो 'असत्' कैसे हो सकता है ? यह संदेह तो ठीक ऐसा ही है कि पुत्र है तो पिता कैसे हो सकता है ? किन्तु वह अपने पिता का पुत्र है, तो अपने पुत्र का पिता भी है। इसमें विरोध नहीं, केवल अपेक्षा भेद है।

प्रत्येक वस्तु और पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से 'सत्' और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से 'असत्' है। इसे सहजतया ही समझा जा सकता है। वस्त्र स्वद्रव्य रुई की अपेक्षा से 'सत्' और परद्रव्य मिट्टी की अपेक्षा से 'असत्' है। क्योंकि वस्त्र, वस्त्र है मिट्टी नहीं। द्रव्य के समान वस्तु में क्षेत्र भी सापेक्ष है भगवान महावीर ने ऋजुबालिका नदी के तट पर

केवल ज्ञान प्राप्त किया। यह घटना ऋजुबालिका की अपेक्षा से 'सत्' है किन्तु भगवान महावीर ने 'पावापुरी' में केवल ज्ञान प्राप्त किया, यह 'असत्' ही कहा जाएगा। काल भी अपेक्षित है। आचार्य श्री तुलसी को १ मार्च १८६२ को अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया गया। यह 'सत्' है, किन्तु उसके अनतिरिक्त किमी अन्य काल का कथन वस्तु को प्रकट नहीं करता। द्रव्य, क्षेत्र और काल की तरह भाग भी अपेक्षित है। तरलता की भावना जल की सत्ता को ही व्यक्त करती है, अन्यथा वाष्प कूटारा या हिम भी उसमें अन्तर्गत होतें, जो कि पानी नहीं किन्तु उसके रूपान्तर हैं। इस प्रकार उपरोक्त 'सत्-असत्' अथवा 'विधि-निषेध' के अपेक्षित कथन के समान ही वस्तु में एक अनेक, वाच्य-अवाच्य आदि विभिन्न धर्मों की सत्ता विद्यमान है।

किमी वस्तु या पदार्थ में जो अपेक्षाएँ घटित होती हैं उनका स्वीकरण ही अनेकान्त का मिथ्यान्त है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जिस वस्तु में जो अपेक्षा विद्यमान न हो, उसका भी अनेकान्त के माध्यम से स्वीकरण हो। शशकशृंग या गगन पुष्प की अस्तित्व मिथि में अनेकान्त सापेक्ष नहीं है, क्योंकि उसमें अस्तित्व का ही अस्तित्व है। अनेकान्त को केवल यथार्थता का प्रकटीकरण करता है। वस्तु का यथेच्छ परिवर्तन उसे अभीष्ट नहीं है।

दर्शन क्षेत्र में महावीर का अनेकान्त विचार-क्रान्ति की दिशा में एक नया मोड़ है। आचार-क्रान्ति के लिए विचार क्रान्ति आवश्यक होती है। अतः विचार-पक्ष को उद्धार, परिष्कृत एवं संस्कृत बनाने के लिए अनेकान्त का प्रयोग अनन्त उपयुक्त एवं वास्तविक है। इसमें अनाग्रह दृष्टि का विकास होता है और वही वस्तु सत्य एवं तत्त्व की परम्परा की वास्तविक मरखी है।

★ ★ ★

अनेकान्त की पुरानी फाइलें

अनेकान्त की कुछ पुरानी फाइलें अवशिष्ट है जिनमें इतिहास पुरातत्व, दर्शन और साहित्य के सम्बन्ध में खोजपूर्ण लेख लिखे गए हैं। जो पठनीय तथा संग्रहणीय है। फाइलें अनेकान्त के लागत मूल्य पर दी जावेंगी, पोस्टेज खर्च अलग होगा।

फाइलें वर्ष ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६ की हैं अगर आपने अभी तक नहीं मंगाई हैं तो शीघ्र ही मंगवा लीजिये, क्योंकि प्रतियाँ थोड़ी ही अवशिष्ट हैं।

मैनेजर 'अनेकान्त'

वीर सेवामन्दिर, २१, बरियारगंज, दिल्ली।

महाकोशल का जैन पुरातत्त्व

(बालचन्द्र जैन एम० ए०, साहित्य शास्त्री, रायपुर संग्रहालय)

प्रस्तुत निबंध में प्रयुक्त 'महाकोशल' पद से पुराने समयप्रदेश के उन सत्रह हिन्दी भाषी जिलों का निर्देश है, जो अब जबलपुर और रायपुर कमिश्नरियों के अन्तर्गत हैं।

प्राचीन भूगोल के अनुसार भारत भूमि पर 'कोशल' नाम के दो प्रदेश थे, जो क्रमशः उत्तर कोशल और दक्षिण कोशल कहे जाते थे। उत्तर कोशल प्रदेश में अयोध्या और उसके समापवर्ती क्षेत्र सम्मिलित था, तथा दक्षिण कोशल छत्तीसगढ़ के रायपुर और बिलासपुर जिलों तथा मध्यलपुर के क्षेत्र तक विस्तृत था। यतः दक्षिण कोशल प्रदेश उन्ना नाम के उत्तरीय प्रदेश में विस्तार में बढ़ा था, अतएव इसे महाकोशल का नाम देा जाने लगा था। किन्तु आधुनिक राजनीतिक जागरण ने महाकोशल का नया सीमा का निर्माण किया जिसके अनुसार प्राचीन दक्षिण कोशलाय क्षेत्र के साथ जबलपुर, होशंगाबाद, नरसिंहपुर, खण्डवा, सागर बालाघाट बैतूल आदि जिलों तक विस्तृत क्षेत्र भी महाकोशल में सम्मिलित कर लिये गये। इस लेख में हमें बड़े विस्तार वाले महाकोशल के जैन पुरातत्त्व के विषय में आवश्यक जानकारी संक्षेप में दे देने का प्रयत्न किया गया है।

महाकोशल में ईस्वी सन् ६०० से पूर्व का जैन पुरातत्त्व सामग्री अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। किन्तु हमें यह अनुमान लगाना कि उसमें पूर्व के काल से यहाँ जैन रहते नहीं थे, उचित नहीं होगा। छत्तीसगढ़ से लगे उड़ीसा प्रदेश में जैनधर्म का प्रचार भगवान महावीर के जीवनकाल में ही हो चुका था; नन्द-मौर्य और उसके पश्चात् उड़ीसा के चेदिवशीय खारवेल के समय में उड़ीसा जैन मतावलम्बियों का विश्रुत केन्द्र बना हुआ था। ऐसी स्थिति में उसके पड़ोसी छत्तीसगढ़ में अवश्य ही जैनधर्म का प्रचार रहा होगा। लेकिन या तो पर्याप्त सर्वेक्षण के अभाव अथवा काल के दुष्प्रभाव के कारण छत्तीसगढ़ की प्राचीनतम जैन प्रतिमाएँ आदि अभी तक अनुपलब्ध हैं। इसके विपरीत कुछेक विद्वानों का मत है कि सिरगुजा जिले की रामगढ़ पहाड़ी में स्थित जोगीमारा गुफा की कलाकृतियों के विषय



(अजितनाथ और संभवनाथ, १० वीं शती ईस्वी, कारीगल्लाटे, जिला जबलपुर)

जैन प्रतीत होते हैं। यह गुफा मौर्यकाल की मानी गई है। गुप्तोत्तर काल की कुछ जैन प्रतिमाएँ छत्तीसगढ़ में रायपुर और बिलासपुर जिलों के गांवों में मिली हैं। रायपुर जिले में इस प्रतिमा सामग्री का केन्द्र मिरपुर (प्राचीन श्रीपुर) और बिलासपुर जिले में मल्लार (प्राचीन मल्लाल) है। मल्लार की जैन प्रतिमाएँ यहाँ-वहाँ बिखरी पड़ी हैं। कड़े-एक प्रतिमाएँ तो विशालकाय हैं जिनका समय कलचूर-काल है। किन्तु इस स्थान से जो आम्बिका देवी की खड़ी

प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं, वे निश्चय रूप से ७ वीं ८ वीं शताब्दी की हैं। मिरपुर की जैन प्रतिमाओं में पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं विशिष्ट हैं। उसी प्रकार राजिम में, जो कि वर्तमान में भी हिन्दुओं का एक मुख्य तीर्थ है, पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा उपेक्षित पड़ी है। वह संकेत करती है कि प्राचीन काल में राजिम में जैन मंदिर स्थापित था, जिसके कोड़े अन्य अवशेष अब अप्राप्य हैं। बिलामपुर जिले के रतनपुर में भी आठवीं-नौवीं शती की अम्बिका प्रतिमाएं मिली हैं।

कलचुरि राजवंश के राज्य काल में महाकौशल में अनेक जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। इस वंश की डाहल-मण्डलीय और दक्षिण कोमलीय, दोनों ही शाखाओं के नृपति बड़े ही धर्ममहिष्णु रहे हैं। डाहलमण्डलीय कलचुरियों की राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर के निकट) और दक्षिण कोसलीयों की राजधानी रतनपुर (जिला बिलामपुर) में स्थापित थी। इसलिये इन दोनों ही स्थानों में जैन कलाकृतियों का निर्मित होना स्वाभाविक था। आरंग (जिला रायपुर) में बारहवीं शती का एक जैन मंदिर आज भी खड़ा हुआ है। इस मंदिर की प्रतिमाओं के अतिरिक्त कुछ और जैन प्रतिमाएं उसी गांव के महामाया मंदिर में रखी हुई हैं। ये सभी प्रतिमाएं बहुत ही सुन्दर हैं और भिन्न-भिन्न तीर्थ करों की हैं। इन प्रतिमाओं की देखने से ऐसा ज्ञान होता है कि आरंग में कायोधर्मग आत्मन की प्रतिमाएं अधिकतर बनाई जाती थीं। इन प्रतिमाओं के अलावा, आरंग में स्फटिक की तीन प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं, जो अब रायपुर के एक जैन मंदिर में विराजमान हैं। ये स्फटिक प्रतिमाएं १० वीं ११ वीं शती की प्रतीत होती हैं। उनमें से बड़े आकार की प्रतिमा पार्श्वनाथ की है और दोनों छोटी प्रतिमाएं शीतलनाथ की। मिरपुर (रायपुर जिला) रतनपुर और धनपुर (बिलामपुर जिला) भी तत्कालीन जैन केन्द्र थे। रतनपुर की कुछेक जैन प्रतिमाएं रायपुर के संग्रहालय में ले आई गई हैं। धनपुर में आज भी अनेक मूर्तिखण्ड तितरे-बितरे पड़े हैं। कल्लार की प्रतिमाओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है, उनमें से अनेक बड़ी विशाल हैं।

त्रिपुरी के कलचुरियों के समय की जैन कलाकृतियाँ

डाहलमण्डलीय क्षेत्र में बहुत मिलती हैं। जबलपुर जिले में त्रिपुरी, बडगांव रीठा, आभादिनौता, कारीतलाई, बिलहरी आदि स्थानों में कलचुरि काल में जैन केन्द्र स्थापित थे, वहां अनेक मंदिरों और प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। त्रिपुरी की जैन प्रतिमाएं कलकत्ता और नागपुर के संग्रहालयों में भी प्रदर्शित हैं। इनको कला उच्च कोटि की है। त्रिपुरी की दो प्रतिमाओं पर कलचुरि सं० १०० के उत्कीर्ण लेख हैं। जबलपुर के हनुमानताल स्थित जैन मंदिर में विराजमान कलचुरि कालीन प्रतिमा अतीव प्रभावपूर्ण है। बहुरीचन्द में शान्तिनाथ की विशाल प्रतिमा है, वह कलचुरि राजा गयाकर्णदेव के समय में स्थापित की गई थी। बिलहरी में जैन तीर्थकरों की पद्मासन और कायोधर्मग दोनों आत्मनों की प्रतिमाएं मिलती हैं। वहां की बाहुबलि प्रतिमा अपने किस्म की एक ही है। बडगांव की जैन प्रतिमाएं ११ वीं शती की हैं। कटनी के निकट कारीतलाई नामक ग्राम में अनेक जैन मंदिरों के अवशेष बिखरे पड़े हैं। इस स्थान की बहुत सी जैन प्रतिमाएं अब रायपुर संग्रहालय में ले आई गई हैं और वहां दीर्घा में प्रदर्शित हैं। इन अप्राप्त प्रतिमाओं में विभिन्न तीर्थकरों यथा ऋषभनाथ, अजितनाथ, संभवनाथ, पुण्यदंत, शान्तलनाथ, धर्मेनाथ, शान्तिनाथ, मल्लिनाथ, मुनिस्ववनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की प्रतिमाओं का साथ जैन देवियों, अम्बिका, पद्मावती और सरस्वती की भी प्रतिमाएं हैं। सहस्रकृत जिन-विश्व और सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएं भी इस संग्रह में हैं और सबसे महत्वपूर्ण तो हैं द्विमूर्तिका—प्रतिमाएं त्रिमूर्तिका और चतु-त्रिशतिपट्ट।

नरसिंहपुर जिले में प्राप्त कुछ प्रतिमाएं नागपुर के संग्रहालय में हैं। इनका समय १३ वीं शती ई० है। ब्रैतल; और बुरहानपुर की प्रतिमाएं भी उसी संग्रहालय में सुरक्षित हैं। मुक्तागिरि आज भी एक जैन तीर्थ है।

सागर और दमोह जिलों में भी अनेक प्राचीन जैन केन्द्र हैं, जिनमें रहली, फनहपुर और कुण्डलपुर मुख्य हैं। मंडला का कुर्कुरामठ जैन कहा जाता है।

इस प्रकार महाकौशल क्षेत्र में गुप्तोत्तर काल से लेकर कलचुरि काल तक की प्राचीन प्रतिमाएं प्राप्त होती हैं।

(पृष्ठ १२६ का शेष)

जिन्होंने भववांछा को विनष्ट करने के लिये आशावल्ली के रस को निःशक्त बनाया है। भगवान् मेरा यह गुरुतर अपराध कैसे दूर होगा ? और मैं अपने जीवन को कैसे सफल बना सकूंगा। वारिपेण जैसा महा मन्त ही मुझे संसार समुद्र पार कर सकता है। हम ने मेरा बड़ा उपकार किया है। जिसे मैं कभी भुला नहीं सकता। इसके तप और त्याग ने मुझे वह शक्ति प्रदान की है, जिसे मैं अब तक प्राप्त न कर सका था। मेरा चित्त निरन्तर डांवा डोल

रहता था, अब वह विष-कणिका निकल गई मानो मेरे उत्थान का ही शुभ दिन आया है। अब मैं वास्तविक साधु बन पाया हूँ। और मुझे विश्वास है, कि मेरी साधना अवश्य सफल होगी। वारिपेण पर यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ होती है। 'गेही पै गृह में न रचे ज्यों जल में भिन्न कमल है। नगर नारे को प्यार यथा कादे में हेम अमल है।' सोमशर्मा वारिपेण के साथ शीघ्र ही वन में पहुँचे, अब वे पूर्णतया निःशक्त थे। प्राप्त निर्विकार भाव से उन्होंने पूर्णतया मुनिपद का पालन किया और परम्परया मुक्ति पद पाया। ★

“जगत राय की भक्ति”

(गंगाराम गर्ग एम० ए०, रिसर्च स्कॉलर)

ऐश्वर्य के प्रति तीव्र अनुरक्ति भक्ति कही जाती है। धर्म प्राण देश होने के कारण भारत की काव्य-साधना की पृष्ठभूमि में भक्ति का महत्त्वपूर्ण योग रहा है, चाहे मन्त काव्य हो अथवा वेणुव काव्य; बौद्ध काव्य हो अथवा जैन काव्य कोई भी यहाँ भक्ति से अछूता न मिलेगा। एक बात और है—विभिन्न साम्प्रदायिक काव्य-धाराओं के दार्शनिक चिन्तन में भेद दृष्टि गोचर हो सकता है किन्तु भक्ति के विचार से इनमें कोई भेद भी नहीं आका जा सकता उपाम्य का गुण-कथन अथवा महिमा-गान, आत्म-निन्दा, एक निष्ट भक्ति की कामना आदि मूलभूत बातें ऐसी हैं जो सभी सम्प्रदाय के भक्तिसाहित्य में समान रूप से मिलती हैं। जैन साहित्य भक्ति की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।

जगतराय का परिचय—जगतराय का जैन भक्ति-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके पिता मह माईदाम सिंघल गोत्रीय अग्रवाल जैन थे। माईदाम के दो पुत्र थे रामचन्द्र और नन्दलाल। इन दोनों भाइयों में से जगतराय किन के पुत्र थे, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। कवि काशी-दाम ने अपनी सम्यक्व कौमुदी में इनको रामचन्द्र का पुत्र कहा है।^१ अगरचंदानाहटा की भी यही राय है किन्तु पद्म-

नन्दि की पंचविशतिका की प्रशस्ति में जगतराय को नन्दलाल का पुत्र स्वीकार किया गया है जो समीचीन प्रतीत होता है। जगतराय औरंगजेब के दरबार में उच्च पद पर आसीन थे। 'राजा' इनकी पदवी थी। अगरचंद नाहटा के विचारों के अनुसार डॉ० प्रेमसागर जैन ने जगतराय को एक प्रभाव-शाली धर्म प्रेमी, कवियों का आश्रयदाता दानवीर व निरहंकारी बतलाया है।^४ डॉ० जैन ने जगतराय के आगम विलास, सम्यक्व कौमुदी, पंचविशतिका, छंद रत्नावली, ज्ञानानन्द आधकाचार आदि ग्रंथों की चर्चा की है किन्तु कवि का भक्त हृदय केवल अद्यावधि प्राप्त १५२ पदों में ही देखा जा सकता है। डॉ० कस्तूरचंद कामलीवाल ने पद्मनन्दि पंचविशतिका के आधार पर जगतराय का काव्य-काल सं० १७२०-१७४० ई० ठहराया है।^५

जगतराय की भक्ति:—जगतराय ने अपने आराध्य जिन भगवान् शान्त स्वरूप, निष्काम, विरागी, शोभायमान, महा-महिम, अक्षरविहीन वाणी द्वारा उपदिष्टा बतलाए हैं। वे जिनन्द्र को षट्काय जीवों पर दयालु, सबका हितकारी व सृष्टि का सेव्य भी मानते हैं।

१ सम्यक्व कौमुदी की प्रशस्ति, अनेकान्त वर्ष १० किरण १०

२ भारतीय साहित्य वर्ष २ अंक २ में जगतराय संबन्धी लेख ५२३।

३ पुण्य हर्ष, पद्मनन्दि पंच वि शतिका की प्रशस्ति संग्रह, पृ० २३८

४ हिन्दी के भक्ति काव्यमें जैन साहित्यकारों का योगदान की पाण्डुलिपि। ५२३

५ देखो, जैनपद संग्रह

जगतराय के पदों में आराध्य का स्वरूपांकन अधिक नहीं हुआ प्रत्युत् भक्त के अवगुण व अल्पता की व्यंजना अधिक हुई है। वे कहते हैं कि मैंने व्रत, तप, संयम, तीर्थ, दान कुछ भी तो नहीं किया और न ज्ञान, ध्यान धर्म व अधर्म को पहिचाना है; अतः मुझे तो तुम्हारी दया का ही आश्रय है—

व्रत तप संजम कष्ट बनत न मौपै हो सिथिल किया
कठिनाई ।
याने 'जगराय' प्रभु नाम ही जगत निति अब कष्ट
करिबो तेरी बढ़ाई ॥

★ ★ ★ ★

कुछ ज्ञान ध्यान में न जानूँ अरु धर्म अधर्म न
पहिचानूँ ।

तुम चंद जगतपति जग भानू मेरे मोह तिभिर को
हटा देना ॥

कभी दान हाथ से नाहि दिया कभी सुमरन मुख मे
नाहि किया ।

कभी पग से मैं तीर्थ नाहि गया मोहि धरम की रीति
मिखा देना ॥

यह विनती है मोरी जगतपति सब जीवन के रखवाले पती ।
तुम दया धुरंधर धीर सती 'जग' दया की धूम मचा देना ॥

जैनधर्म में पुन-जन्म तथा कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य के दुःख सुख का दाता ईश्वर नहीं प्रत्युत् वे कर्म हैं जो उसके पूर्व जन्मों में किये हैं। यद्यपि शुभ और अशुभ रूप उभय कर्म ही मोक्ष प्राप्ति में बाधक है किन्तु अशुभ कर्म अपेक्षाकृत अधिक कष्ट दायक और परित्याज्य है जिसकी विद्यमानता में शुभ कर्म व ज्ञान-प्राप्ति की प्रेरणा ही नहीं मिलती। इन अशुभ कर्मों की भयावहता से घबड़ा कर छुटकारा पाने के लिये जगतराम जिनेन्द्र से प्रार्थना करते हैं—

अशुभकर्म म्हारी लेरा जी फिर छै, शिवपुर जाने न
देव दीनानाथ ।

भव-भव म्हारी गेल न छाँडत दुःख-देतां कुछ नाहीं
हरै छै ।

ज्ञानादिक धन लूट लियो म्हारो नर्क न मोपै दया जी
धरै छै ।

'जगत' उदधि तैं पार करीजे मम दुःख संकट कौन जी
हरै छै ।

'जिन' के गुण तथा अपनी अल्पता व दुःख के कथन के उपरान्त जगतराम को उनके विरद का स्मरण होता है। भक्त के अवगुणों का अवलोकन तथा उस पर विचार करना भगवान के लिए उचित नहीं हो सकता; क्योंकि उन पर ध्यान देने से उत्पन्न ग्लानि उनके विरद-पतित-पावनता की पूर्ति में बाधक प्रमाणित होगी। यही सोच कर जगतराय जिनेन्द्र को उनके विरद का स्मरण कराते समय उसके सम्यक् पालन के लिए उनके अवगुणों पर ध्यान न देने का निवेदन भी कर देते हैं—

जिन जी प्यारोला जी हो वे ।
मेरी करनी परि मति जह्यो अपनों विरद-सम्हारोला जी हो ।
अवतो सरनो पकड़ यों तेरी जगतराय प्राति-पालालो जी ॥

भक्त अपने उद्धार में आराध्य को दृढ़ता पूर्वक रुचि लिवाने के लिए उनके द्वारा उपकृत भक्तों का स्मरण भी उन्हें करा देते हैं। अजामिल, सेना, नरसी बाल्मीकि, अहिल्या आदि के उद्धार की चर्चा वैष्णव भक्ति साहित्य में सर्वत्र दृष्टि गोचर होती है। जैन भक्त भी इस क्षेत्र में किसी से भी पीछे नहीं रहे। जिनेन्द्र भक्ति से स्रष्ट धनञ्जय के पुत्र का विष उतरा, मानतुंग के बन्धन तोड़े, वादिराज का कोढ़ मिटाया, सागर से श्रीपाल को बचाया, भविष्यदत्त को घर पहुँचाया, उर्मिला की आशाएं पूरी की, सिंहोदर को संकट में वज्रकरण के मान को घटाया तथा कुमुदचन्द्र के दर्शन दिये आदि कथाओं में विविध भक्तों के प्रति की गई रत्ना एवं उपकार के स्मरण ने ही जगतराय को अर्हन्त की शरण में आने का साहस प्रदान किया है—

श्री अरहन्त शरण तेरी आयो ।

सुरनर मुनितुमको सब ध्यावै जिन-सुमरे तिनही सुख पायो ।
सेठ-धन-जय स्तोत्र स्यो तब ताके सुत को विष उतरायो ।
मान तुंग के बन्धन तोड़े वादिराज को कोढ़ मिटायो ।
कुमुदचन्द्र प्रभु पारसमेंट्यों सागरमें श्रीपाल बचायो ।
उर्मिला की वांछा पूरी भविष्यदत्त को घर पहुँचायो ।
सिंहोदर के संकट माहीं वज्रकरण को मान घटायो ।

भक्त सहाय करी बहुतेरी तिन के कथन पुरान बतायो ।
भई प्रतीति सुनी जब महिमा तब ‘जगराम’ शरण चित लायो ।

जैन भक्ति साहित्य में जिनेन्द्र के प्रतिमा-दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है । धानतराय, बनारसीदास आदि सभी भक्तों के प्रतिमा-दर्शन से उत्पन्न आनन्द को व्यक्त करने वाले पद मिलते हैं । जगतराय भी जिन प्रतिमा के दर्शन मात्र से अपने दुःखों के विनाश, हृदय को प्रफुल्लित तथा अंग-प्रत्यंग को रोमाञ्चित पाकर गद्-गद् हो उठे हैं -

प्रभु के दर्शन को आये आवत ही दुःख दूँ नमाये ।
देव्य द्रम देऊँ नैन मिराये निरखि-निरखि पुनि पुनि लखचाये ।
सीम धारि कर चरन नमाये नमत नमत तेऊ न अधाये ।
दियरे-हरम-तरंग न माणू तब सुर भरि रमना गुन गये ।
अंग अंगतन पुलकित चाये अब सब काज मरे मन भाये ।
‘जगतराय’ सेवक सरमाये तीन लोक-पति माहिब पाये ।

भक्ति की चरम परिणति अनन्यता है । यह अनन्यता जगतराय के कई पदों में परिलक्षित होती है, जिससे विदित होता है कि जगतराय की प्रीति तथा लगन अन्य देवों की अपेक्षा जिनेश्वर से ही जगती रहती है और उसके अनिरक्त उन्हें कुछ सुहाता नहीं—

तो मी जोंरी प्रीति जिनराय
देव और सबनि मी तोरी ।
रम सब विरम भये तुम रम लखि,

लगन रहत तुव ओरी ।

मनवां मेरा लाग्यो हो जिनेश्वर स्यों ।

और न मोहि सुहाय कछु अब काम कहा पर मी ।

जगतराय अपने आराध्य से किसी भौतिक पदार्थ अथवा मुक्ति की अभिलाषा नहीं करते: सुबुद्धि-दात्री तथा पाप विनाशिनी जिन भेदा तथा ‘जिन’ मंत्र का जप ही उन्हें अभोषित है—

दे हो जिनराज देव सेवा मोहि आपनी ।
देत जो सुबुद्धि कुबुद्धि की उथापनी ।
हैं तो महा पातगी कहं न अंग सातगी ।
सुनी में तेरी सेवा है अनेक पाप कापनी ।
पूरी ‘जगराम’ दास आस प्रभु नाथ ।
पाऊं नाम मंत्र के जपावन की जपावनी ।

जगतराय केवल हमी जन्म में अपने आराध्य की सेवा के अभिलाषी नहीं हैं प्रयुक्त वह तो जन्म-जन्मांतरी में भी उनकी सेवा के उनके दर्शन व कथा श्रवण के भी सतत आकांक्षी हैं—

सेवा फल यह पावू तिहारी ।
भव-भव स्वामिमिली तुमही हीं सेवक हवै गुन गावू ।
तिहारी मूरति अपने नैनन निरखि निरखि हरमाऊं ।
तिहारे चरण अपने करन तैं अर्घ बनाय चढ़ावू ।
कथा तिहारी अपने श्रवणन मुनन मुनन न अधावू ।
जगतराय प्रभु जबलौं शिवधौ तबलौं हूतना चितचावू ।

“जयपुर की संस्कृति साहित्य को देन—”

श्री दत्तपतिराय और उनकी रचनाएँ

प्रो० प्रभाकर शास्त्री एम० ए०

“आमेर”—या “अम्बानगर” के शामक-महाराजाधि-राज मिर्जाराजा रामसिंह प्रथम का नाम कछवाहवंशीय शासकों के इतिहास में प्रसिद्ध है । यह नगर राजस्थान की वर्तमान राजधानी ‘जयपुर’ से ६ मील उत्तर में जयपुर-दिल्ली सड़क पर स्थित एक प्राचीन रमणीक एवं ऐतिहासिक स्थान है । मिर्जा राजा रामसिंह संस्कृत भाषा के अत्यन्त

प्रेमी थे और आपकी सभा में संस्कृत भाषा के कतिपय विद्वान सम्मानित थे । सम्मानित विद्वानों में एक श्री दत्त-पतिराय या श्री दत्तपतिराय भी थे ।

श्री दत्तपतिराय का परिचय उपलब्ध नहीं होता । केवलमात्र यह कहा जा सकता है कि इनका सुगल काशीन शासकों से अच्छा परिचय था । उनकी रचनाओं के देखने

से यह पता चलता है कि ये पहले बादशाह के पास रहे थे और तदनन्तर आमेर के शासक मिर्जा रामसिंह के पास चले आये थे ।

राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान, जोधपुर के हस्तलिखित पुस्तक संग्रहालयाध्यक्ष श्री लक्ष्मीनारायण जी गोस्वामी को एक गुटका प्राप्त हुआ था जिसमें प्राचीन अनेकों ग्रन्थ लिखे हुए थे । उसमें श्री दलपतिराय के नाम से २ रचनाएं उपलब्ध होती हैं (१) चक्रता पातशाही की परम्परा और (२) राजरीति निरूपणम् । कवि ने अपना वर्णन करते हुए उसमें अपने आश्रयदाता महाराज रामसिंह का यशोवर्णन एवं उनके आश्रय की प्रशंसा की है । प्रारम्भ में प्रास्ताविक परिचय उपस्थित करते हुए लिखा है कि लेखक ने वह विषय बादशाह अहमदशाह के उस्ताद महफूज खां नामक व्यक्ति की व्यक्तिगत पुस्तकें पढ़कर इस चक्रता पातशाही की परम्परा नामक रचना का प्रणयन किया है । इसमें बादशाहों के नित्यनैमित्तिक दिन कृत्य, अदब की रीति, वैभव, प्रताप, मनसब, जागीर आदि का स्मृत विवेचन है । यह पुस्तक उर्दू-मिश्रित हिन्दी भाषा में है - उक्त गुटके में उपर्युक्त ग्रन्थों के २३ पृष्ठ हैं ।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में कुछ सामान्य विवेचन है—
“विनय विधिवाही विनेता के लायक है । जाकी चटसाल में विनय है भक्ति, मेव (१) अरु दीनता परमसेव । जांणी मनुष्य कौं च्यारिकों उपकार दुप्रतिकार है ।—१ प्रभु २ माता पिता ३ गुरु ४ खाविद ॥ प्रथम प्रभु जानै नरदेह दई सुरदेह तें पुनीत । दूसरे मातापिता जिन सुतहित सखौ धाम सीत । तीसरी गुरु, जो नरतन में नर गु(ण) न दावै । चौथो खाविद जो अन्न बलते नित प्राण हि राखै ।

तीननि कौ प्रतिकार न बणै बिना स्वामि के उपकार । जो पै सब ही निस्त नैमित्तिक देह के अधीन अरु देह अन्न के अन्न स्वामि के ।

ग्रन्थ लेखन की ‘भूमिका’ लिखते हुए श्री दलपतिराय लिखते हैं—“अथ । विबुधन की शिलोच्छ्र वृत्ति वारी में एक दिन महफूजपां [खां] नाम अहमदशाह को उस्ताद जो मोहू पै कृपा राखत हौ, ताकी बैठक के ताक में दोय यावनी किताबधरी हती । १. अदाबस्सहलतीन २. मिफ्ताहुजबाबित । ए दुई पातिसाही किताब खाना तें आई हती । प्रतिबन्ध

हनी, जौ इतर जन ताहि न बांचै । तामें पातिसाहन के नित्य नैमित्तिक दिन कृत्य, अदब की रीति, वैभव, प्रताप, मनसब, जागीर मरातिब को व्योरा इत्यादिक अनेक प्रबन्ध हते । किताब को दल विशेष हतो ।

एक दिनां खान के दिवानखाना के ताक तें किताब में लई बांचनि लग्यो । तै ही ओसर [अवसर] खान आयो । मोहि बांचिबै को निपेध कियो । मोहि जो तहां तै याद रही और यावन गीर्वाण ग्रंथन तें जो जानिबै में आई सो या संक्षिप्त प्रबन्ध में लिखी हैं । जो पै सीहसे निन्हें काम आई, चतुरनि की मभा में आदर बढावै । या प्रबन्ध को नाम व [६] दुन आदाब धर्यो हैं—ताको अर्थ है—“विनय विधु” । वाकै चौदह उदय - अधिकार इत्यर्थः ताम नाम पारमी में तल अत्—अधिकार । इत्यादि” ।

उपर्युक्त अवतरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यवनवादशाह अहमदशाह के पुस्तकालय की २ गोपनीय पुस्तकों के किञ्चित् अध्ययन से स्वामी प्राप्त कर लेखक ने इन ग्रन्थों का निर्माण किया है । इसके पश्चात् १३ उर्दू फारसी के पारिभाषिका शब्दों का अर्थ प्रस्तुत किया है । जैसे—[१] मिजदा कौ—दण्डवत् । [२] तवाफकी—परिजुम्मा । [३] मलाम कौ—कुशलपृच्छा । तमलीम कौ—मौपिबो । [४] कियाम कौ—ठाडो रहिवी । [५] कऊद कौ—वैठिवी [७] तहराम कौ—शिष्टाचार—इत्यादि ।

“चक्रता पातशाही की परम्परा” नामक ग्रन्थ प्रथम पृष्ठ से प्रारम्भ किया जाकर पन्द्रहवें पृष्ठ तक लिखा गया है । यह अपूर्ण है । इसकी भाषा पूर्व प्रदर्शित उद्धरण के समान है । अक्षरों का दुर्बोध्यता एवं लिपि के प्राचीन होने से उसका यथावत् अध्ययन कठिन है ।

इसके पश्चात् सोलहवें पृष्ठ से २३ वें पृष्ठ तक “राजरीति निरूपणम्” नामक ग्रन्थ है । इसमें लेखक की विद्वत्ता का आभास अत्यन्त शीघ्ररूप में हो जाता है ।

सर्व प्रथम—‘अहल खिदमत के नाम’ शीर्षक के अन्तर्गत—संस्कृत के शब्दों का प्रचलित उर्दू-मिश्रित भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के पर्यायवाची रूप में उल्लेख है । यथा—

“प्रतिनिधि==वकील, मुतलक, नायब, मुसाहिब ।

अमात्य==बजीर, दीवान, प्रधान ।

सेनापति==बख्सी ।

शालापति = मीरसामान, खानसामा ।

मुलंग्वक==मुन्शी ।

महत्तर==नाजिर ।

अनलाध्यन्न==मीर आतश, तोपखाना का दरोगा ।

वास्तुक==मीर इमारत ।

नगर मौलिक==कोटवाल ।

धर्माध्यक्ष==कार्जा ।

गणनायक==रिमालेदार-इत्यादि ।

इस के पश्चात् कारखानों के नाम दिए गए हैं । इनकी संख्या ३६ बतलाई गई है । इससे पता चलता है कि उस समय ३६ कारखाने होते थे । इनका शब्दकोश की दृष्टि से अत्यन्त महत्व है । कुछ कारखानों के नाम दर्शनीय हैं—

[१] शय्यागार==मुखमेज खाना ।

[२] मञ्जनागार==गुमल्ल खाना, हम्माम ।

[३] देवायतन==तमदीह खाना ।

[४] भेषज्यागार==दवाड़े खाना ।

[५] फलागार==मेवा खाना ।

[६] महानम==बबर्ची खाना, रसौड़ा ।

[७] सुगंधागार==गुलाबोड़े खाना ।

[८] प्रहरणागार==कोरगाना, मिल्ह खाना ।

[९] संस्तरागार==फराश खाना ।

[१०] श्रीगृह==खजाना ।

[११] मंदुरा==अस्तबल, तबेला '.....' इत्यादि ।

उपर्युक्त इन सभी का संस्कृत पद्यों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इसी रचना का नाम “राजरीति निरूपण” है । उदाहरण के लिए—“अबृल-खिदमत” के नामों में ‘प्रतिनिधि’ का उल्लेख किया गया है—वे लिखते हैं—

“वकील—मुतलक—नायब—मुसाहिब—

“आज्ञा भवेद्यदायत्ता हस्तलेखश्च भूपतेः ।

जानीहि तं प्रतिनिधि राज्य सर्वस्वधूर्तहम् ॥३॥

बजीर—प्रधान—दीवान—

“आयद्वाराधिकाराः स्युर्यदायत्ताः महीभुजः ।

अमात्यं मन्त्रिणं विद्धि प्रधानं सचिवं हि तत् ॥४॥

मुन्शी—

“पत्राणि प्रति पत्राणि लिखेद्यो हि नृपाश्रया ।

मुलंग्वक विजानीयाद् राजमन्त्र निकेतनम् ॥८॥

नाजिर—

“योऽ वरोधस्य कृत्यानि गुप्त्यादीनि विचेष्टते ।

महत्तरं विजानीयात् तं प्रतीतं जितेन्द्रियम् ॥११॥

कार्जा—

“आचार व्यवहारेषु प्रायश्चित्तोषु योजनात् ।

प्रवर्यन्मान्यतमो धर्माध्यक्षः प्रकीर्तितः “२५” इत्यादि ।

‘अहल खिदमत’ के नामों की परिभाषा देकर—‘शाला भेद’ निर्दिष्ट किए हैं । जैसे—मुखमेज खाना—

“मञ्चाः संस्तरणाय” च यत्र तत्परिचारकाः ।

शय्यागारं विनिर्दिष्टं राजरीतिविशारदः ॥३२॥

गुमल्ल खाना—

“आपङ्गनोद्धर्तनानि सचरोपस्करं जलम् ।

यत्र तन्मञ्जनगृहं राजरीतिज भाषया ॥३६॥ इत्यादि ।

इनके वर्णन करने के पश्चात्—देश विभाग तथा उसके अधिपों की परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं जिनमें सूबा, मिरकार, प्रगणा (परगना) मौजे, बंदर, दयार, मजमूएदार का उल्लेख है—

सूबा—

“समुद्र गिरिपर्यन्तं की चक्रं चक्री तदीश्वरः ।

महान्तम्य विभागः स्याद् राष्ट्रं जनपदं च तत् ॥८१॥

“दयार”—

शिल्पिनः कर्मकारश्च व्यापारे व्यवहारिणः ।

चतुरंग बली राजा यत्र तद्वरंगमुच्यते ॥९०॥

चक्री चक्राधिपः सम्राट् राष्ट्रपालः प्रकीर्तितः ।

मगददेशो महाराजः यामन्तो विषयाधिपः ॥९१॥

ग्रामाणि कतिचिद्यस्य वशेऽसौ भौमिकः स्मृतः ।

ग्रामणीग्राममुख्यं (चौधरी) स्याद्रीतिज्ञो देशपंडितः ।

[कानूनगो] ॥९२॥

मजमूएदार—

‘राजवेतनदानांशान् ग्रामाप्ति दशवार्षिकीम् ।

लिखित्वा धारयद्यस्तु लेखनं ग्राहको मतः ॥९३॥

इसके पश्चात् परगनों के अधिकारियों की परिभाषाएं हैं जिनमें अर्मान, करोडी, कोतलकरोडी, पोतदार ग्वजांची, बकार्य निगार या खुयुफिये नर्वाय, तहवीलदार, कोटवाल, फोजदार आदि का वर्णन है।

‘पोतेदार’ का वर्णन करते हुए लिखा है—

“राजद्रव्यं प्रजादन्त माददोत परीत्य यः।

धनिको निक्षिपेत् पश्चात् कथितः प्राप्तधारकः ॥१०॥

अन्त में उपसंहाररूप में लिखा है—

“इत्यादयोऽधिकाराः स्युः प्रायशश्चकवर्तिनान्।

सम्पत्तेरनुसारेण त्वन्येषां विद्धि भूभुजाम् ॥१०५॥

एषा पद्धतिः साम्यात् राजनीतिं युभुष्यया।

गर्भाराद्राजं सेवादधेः द्रोणपाकाच्च सिक्कयन् ॥१०६॥

इति यवन पाठ्यनुकृत्या राजनीति निरूपणं नाम शतकं विरचितं दलपतिरायेण ॥ समाप्तं — शुभंभवतु ॥

ग्रन्थ के प्रारम्भ करते समय लेखक ने स्पष्ट रूप में बतलाया है कि इस ग्रन्थ का निर्माण रुडि, कोश, स्वानुभव आदि के आधार पर किया गया है। यह एक प्रकार से यवन कालीन प्रमुख पारिभाषिक शब्दों का संस्कृत मोश है इसके द्वारा हम तत्कालीन शब्दों एवं आवश्यक व्यवहारों का जानकर सकते हैं। यह एक महत्वपूर्ण कृति है तथा प्रकाशन योग्य है।

मोक्षशास्त्र के पांचवे अध्याय के सूत्र ७ पर विचार

(प० सरनाराम जैन, बड़ौत 'मेरठ')

गुणपिच्छाचार्य ने मोक्षशास्त्र या तत्त्वार्थसूत्र के पांचवे अध्याय में जिन धर्म अधर्म और आकाश द्रव्यों को एक-एक कहा है उन्हीं की और भी विशेषता प्रकट करने के लिये सूत्रकार कहते हैं :—

निष्क्रियाणि च ॥७॥

पद छेद :- च धर्मादीनि द्रव्याणि निष्क्रियाणि भवन्ति।

धर्म, आदि द्रव्य, धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य—क्रिया रहित हैं—देशान्तर प्राप्ति रूप क्रिया से रहित हैं—हलन चलन क्रिया रहित है इस कथन से जांच पुद्गल स्वतः क्रियावान भी सिद्ध हो जाते हैं। इस सूत्र का रक्ष्य समझने के लिये हमें पहले जैनधर्म के उत्पादव्यय का सिद्धान्त समझना आवश्यक है। द्रव्यों में निम्न प्रकार से उत्पाद व्यय होते हैं :—

(१) पहली क्रिया—अगुरुलघु गुण द्वारा षट्स्थान पतित द्वानि वृद्धि रूप उत्पाद व्यय है। यह परिणमन प्रत्येक द्रव्य का निष्कारण स्वतः सिद्ध स्वभाव है। द्रव्य एक स्थान पर अवस्थित रहे या दूसरे स्थान पर जाने के लिये गमन करे उस से इस परिणमन का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह परिणमन तो छहों द्रव्यों में प्रत्येक समय स्वभाव या विभाव हर अवस्था में होता ही रहता है। यह

परिणमन द्रव्य से तादात्म्य अनादि अनन्त है। केवलज्ञान गम्य वचन अगोचर है। ‘अर्थपर्याय’ रूप है। इस की अपेक्षा सब द्रव्य क्रियावान है पर यह क्रिया यहां इष्ट नहीं है।

(२) दूसरी क्रिया—स्वभाव की हीनाधिकता रूप होती है जैसे बच्चे का ज्ञान अभी हीन है। फिर ज्यों-ज्यों जवान होता जाता है वह बढ़ता जाता है। बूढ़ापे में घटने लगता है। यह जो ज्ञान की हीनाधिकता या मतिज्ञान से श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल रूप परिणमन करना या दर्शन गुण का चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल, रूप परिणमन करना। इसी प्रकार पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण का परिणमन जैसे पीलेपने का तरतमरूप परिणमन या पीले से हरे रूप परिणमन। धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्व परिणमन, अधर्म-द्रव्य का स्थिति हेतुत्व परिणमन, आकाश का अवगाहहेतुत्व परिणमन तथा काल का वर्तनाहेतुत्व परिणमन। यह संयोग जनित परिणमन है; क्योंकि संयोग का सदभाव या अभाव लापेक्ष होता है। इस को ‘स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय’ कहते हैं। इस परिणमन से भी उपरोक्त सूत्र का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि जब द्रव्य एक क्षेत्र में स्थित रहे तब भी यह क्रिया होती है और दूसरे क्षेत्र में जाय तब भी होती है।

(३) तीसरी क्रिया—केवल जीव में होती है। वह मोहनी यादि कर्म के उदय से जीव का मिथ्यात्व, अवरति, प्रमाद, कषाय रूप परिणामन है। यह विभाव क्रिया है जो जब तक उसका निमित्त कर्म रहता है तब तक तो ये होती है फिर निकल जाती है। इस को 'विभाव गुरुण व्यंजन पर्याय' कहते हैं। जिस समय जीव में ये क्रिया होती है यद्यपि उस समय में हलन चलन रूप परिस्पन्दात्मक क्रिया भी अवश्य होती है पर दोनों क्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं। इन के गुण भिन्न भिन्न हैं, लक्षण भी भिन्न-भिन्न है और निमित्त भी भिन्न-भिन्न है। इसलिये यह राग रूप क्रिया भिन्न है और परिस्पन्दात्मक क्रिया भिन्न है। उपरोक्त सूत्र का सम्बन्ध इस राग क्रिया से भी बिल्कुल नहीं है।

(४) चौथी क्रिया—द्रव्य में एक ऐसी क्रिया होती है जिस के द्वारा द्रव्य एक स्थान से दूसरे स्थान में जाता है। हिन्दी में इस को हलन चलन क्रिया कहते हैं और शास्त्र में इसे प्रदेश परिस्पन्दात्मक कहते हैं यह क्रिया निमित्त सापेक्ष है तथा विभाव रूप है। इसलिये धर्म अधर्म, आकाश और काल में तो इस क्रिया को अवकाश ही नहीं। पुद्गल में यह काल सापेक्ष होती है अतः उस में परमाणु तथा स्कन्ध दोनों अवस्थाओं में रह सकती है। जीव में द्रव्यकर्म नोक्त सापेक्ष हैं। इसलिये संसार अवस्था में रहता है। मृत् में नहीं। आत्मा में शरीर अनुसार जितने आकार बनते हैं वे सब इसी क्रिया के कारण हैं और पुद्गल की जितनी स्कन्धात्मक रचना बनती तथा विगडती है वह सब इसी क्रिया के कारण है। इस क्रिया को 'द्रव्य व्यंजन पर्याय' कहते हैं। उपरोक्त सूत्र का सम्बन्ध इस परिस्पन्दात्मक क्रिया से है। सूत्रकार का यह आशय है कि धर्म, अधर्म, आकाश जिन तीन द्रव्यों का अधिकार चला आ रहा है, वे तीन द्रव्य इस परिस्पन्दात्मक क्रिया से सदा रहित हैं।

यद्यपि निर्विशेषण रूप से प्रयुक्त किया गया क्रिया एक सामान्य शब्द है जो सभी क्रियाओं का घटक है पर यहां उस क्रिया को कोई विशेषण न देकर भी वह केवल परिस्पन्दात्मक क्रिया का वाचक है। बात आगम बल से

स्पष्ट है। इसलिये 'निक्रियाणि' से भाव 'निरपरिस्पन्द क्रियाणि' से है।

उपरोक्त चार क्रियाओं में से आदि की तीन क्रियाओं के कारण द्रव्य में जो परिणामन या पर्याय उत्पन्न होते हैं उन को 'भावात्मकपरिणाम' या 'भावात्मक पर्याय' या केवल 'भाव' कहते हैं और चौथी क्रिया से जो परिणाम या पर्याय उत्पन्न होता है उन को 'परिस्पन्दात्मक परिणाम' या 'परिस्पन्दात्मक पर्याय' या केवल 'क्रिया' भी कहते हैं।

उपरोक्त तीन परिणाम गुणों से सम्बन्धित है और चौथा परिणाम प्रदेशों से सम्बन्धित है यह भी कह सकते हैं क्योंकि वे क्रियाएं 'गुरुपरिणामात्मक' हैं और यह क्रिया 'प्रदेश परिस्पन्दात्मक' है।

उक्त तीनों क्रियाएं गुणों की पर्याय होने से 'गुरु पर्यायस्वरूप' है और चौथी क्रिया प्रदेशों का परिणाम होने से 'द्रव्य पर्याय रूप' है ऐसा भी कह सकते हैं।

प्रश्न—इस क्रिया का लक्षण क्या है ?

उत्तर—'उभयनिमित्तपक्ष पर्यायविशेषः द्रव्यस्य देशान्तर प्रप्तिहेतुः क्रिया (राजवार्तिक)

अर्थ—स्व और पर अथवा अन्तरंग और बहिरंग कारण की अपेक्षा स्वनेवाला पर्याय विशेष, द्रव्य की प्रदेशान्तर की प्राप्ति का कारण तो है वह 'क्रिया' है। क्रिया विशेष्य है और तीन उस के विशेषण हैं।

प्रश्न—तीन विशेषण देने का क्या कारण है ?

उत्तर—'उभय निमित्त सापेक्ष' देने का यह कारण है कि यह क्रिया अगुणलघु की क्रिया की तरह केवल स्वनिमित्तक नहीं है किन्तु विभाव क्रिया होने के कारण उभय निमित्तक है। वस्तु का निज परिणाम है मग्न तो स्वनिमित्तक का अर्थ है और स्वभाव परिणाम नहीं किन्तु विभाव परिणाम है यह परनिमित्त सापेक्षता है। स्वनिमित्तक क्रिया सदा रहती है। यह सदा नहीं रहती। यह इस विशेषण से स्पष्ट ज्ञात होता है।

'पर्यायविशेष' कहने से यह क्रिया स्वयं द्रव्य या उस का त्रिकाली स्वभाव या गुण नहीं है किन्तु पर्याय है और पर्याय भी स्वभावपर्याय नहीं किन्तु विभावपर्याय है। इस लिये पर्यायविशेष विशेषण दिया है। इस से यह भी फल-

तार्थ होता है कियह क्रिया द्रव्य से भिन्न प्रदेश रूप नहीं है किन्तु स्वयं द्रव्य इस रूप होता है इसलिये ये द्रव्य की ही पर्याय है ।

‘द्रव्य की देशान्तर प्राप्ति का कारण’ इस विशेषण से जो हम ने ऊपर दो और तीन नम्बर की ज्ञान और राग क्रियाएँ बतलाई हैं उन से भिन्न क्रिया है; क्योंकि ये द्रव्य की देशान्तर प्राप्ति का कारण नहीं हैं ।

प्रश्न—यदि उपरोक्त द्रव्य निष्क्रिय हैं तो अपने अन्दर कोई क्रिया किये धर्म, जीव पुद्गल के गमन में सहायता कैसे करेगा ? अधर्म स्थिति में और आकाश अवगाह में कैसे मदद करेगा क्योंकि अपने अन्दर कुछ क्रिया करेगा तभी तो मदद करेगा जैसे घोड़ा स्वयं चलेगा तभी तो सवार को देशान्तर में जाने में मदद करेगा अन्यथा नहीं ?

उत्तर—धर्म अधर्म आकाश का जो मदद करने का स्वभाव है वह प्रेरक कारण रूप नहीं है जो उसे स्वयं चलने की आवश्यकता पड़े किन्तु उदासीनरूप बलाधार निमित्त है जैसे बिलकुल ठहरा हुआ जल भी मच्छली के चलने में और छाया पथिक के ठहरने में प्रत्यक्ष सहाय पड़ती देखी जाती है । हमारी आत्मा स्वयं कोई देखने का कार्य नहीं करती । जब आत्मा देखने का कार्य करना चाहे तो सहाय

पड़ती है । इस के बिना इन्द्रिय ज्ञानी देख नहीं सकता । इसी प्रकार ये तीनों द्रव्य स्वयं नहीं चलते पर जब जीव पुद्गल स्वयं चलते ठहरते, या स्थान लेते हैं तो सहाय रूप पड़ जाते हैं ऐसा स्वतः मिद्ध वस्तु स्वभाव है । स्वभाव में तर्क नहीं हुआ करता । स्वभाव तो केवल अनुभव द्वारा जानने की चीज है ।

प्रश्न—इस परिस्पन्दात्मक क्रिया का निरूपण आगम में कहाँ आया है जहाँ से आप के विवेचन की प्रमाणता का निर्णय किवा जा सके ?

उत्तर—१. श्री प्रवचन मार गाथा १२८ [जेयाधिकार]

२. श्री पंचाम्बिकाय गाथा न० ६८ [चूलिका] ।

३. श्री गोम्मटमार जीवकाण्ड गा० न० २६१, २६२ [सम्यक्त्व मार्गणा] ।

४. श्री वसुनन्दि श्रावकाचार गा० न० ३२

५. श्री पंचाध्यायी दूसरा भाग श्लो० २४, २५, २६, २७,

६. इस सूत्र की टीका श्री सर्वार्थसिद्धि, राजवातिक तथा श्लोकवार्तिक आदि से देखिये । पर द्रव्यानुयोग का वास्तविक ज्ञान होना परम आवश्यक है, क्योंकि आगम से प्रमाणता मिलने पर भी आप को अनुभव से प्रमाणता तो द्रव्यानुयोग के बल से ही आवेगी ।

ब्रह्म जीवंधर और उनकी रचनाएँ

(परमानन्द जैन शास्त्री)

ब्रह्मजीवंधर माथुर संघ विद्यागण के प्रख्यात भट्टारक यशः कीर्ति के शिष्य थे । आप संस्कृत और हिन्दी भाषा के सुयोग्य विद्वान् थे । संस्कृत भाषा की चतुर्विंशति तीर्थ-कर-जयमाला का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि वे संस्कृत में भी अच्छी कविता कर सकते थे । इन की हिन्दी भाषा की अनेक कृतियाँ देखने में आती हैं, उस पर गुजराती भाषा का प्रभाव अंकित हुआ जान पड़ता है । रचनाओं में गुणस्थानवेलि, खटोलाराम, भुवुकगीत, श्रुतजयमाला, नेमिचरित, सतिगीत, तीन चौवीसी स्तुति, दर्शन स्तोत्र, ज्ञान-विराग विनती, आलोचना, वीसतीर्थकर जयमाला और चौदास तीर्थकर जयमाला प्रमिद्ध हैं सभी रचनाएँ सुन्दर और सरल हैं ।

ब्रह्मजीवंधर ने सं० १५६० में वैशाखवदी १३ सोमवार के दिन भट्टारक विनयचन्द्र की स्वोपज्ञ चून्डी टीका की प्रतिलिपि अपने ज्ञानावरणाय कर्म के क्यार्थ की थी । इस से कवि १६ वीं १७ वीं शताब्दी के विद्वान् निश्चित होते हैं । रचनाएँ सभी महत्वपूर्ण और सम्बोधक भाव की छिप्र को लिये हुए हैं । कवि की रचनाओं का परिचय निम्न प्रकार है :—

गुणस्थानवेलि—इस वेलि में आत्म-विकास के १४ स्थानों का सुन्दर परिचय कराया गया है । ये गुणस्थान आत्म-विकास अवस्था के प्रतीक हैं । जिन्हें गुणस्थान कहा

१ ब्रह्म श्री जीवंधर तेनेद् चून्डि का टिप्पण लिखित आत्म पठनार्थ सं० १५६० वैशाख वृदि १३ सोमे

गया है। वे गुणस्थान मोह और योग के निमित्त से होते हैं। उन के नाम इस प्रकार हैं - मिथ्यात्व सामादन, मिथ्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्त-विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय उप-शान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली। इनमें दूसरा और तीसरा गुणस्थान गिरने की अपेक्षा हैं। क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थान से आत्मा चौथे अविरत सम्यग्-दृष्टि गुणस्थान में जाता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में दर्शनमोह के उदय से जीव की दृष्टि विपरीत होती है और स्वाद कटुक होता है, इस कारण उसे वस्तुतः रुचि कर नहीं होता। जिस तरह पित्तज्वर वाले रोगी को दूध कड़वा प्रतीत होता है उसी तरह मिथ्यादृष्टि को ही धर्मतत्त्व रुचिकर नहीं होता। यह जीव उस में अनन्त काल तक रहता है मिथ्यात्व के पांच भेद हैं। विपरीत, एकांत, विनय, संशय, अज्ञान। इन पांचों के द्वारा जीव के परिणाम में अस्थिरता रहती है, उसे हित कर मार्ग नहीं सूझता, इसी कारण वह संसार में यत्र-तत्र अनेक पर्यायों में भटकता रहता है। कवि ने इस गुणस्थान का कथन करते हुए उसकी प्रवृत्ति का संक्षिप्त परिचय दिया है। और उसके कथन का सम्बंध उक्त वेलि में भगवान् आदिनाथ के कैलाशगिरि पर समवसरण सभासहित पधारने पर भरत चक्रवर्ती ने उनकी पूजा करने के पश्चात् चौदह गुणस्थानों का स्वरूप पूछा था। इसी प्रसंग का उल्लेख कवि ने किया है। जैसा कि कवि के निम्न दो पद्यों से स्पष्ट है :—

पंच परम गुरु पाये नमो प्रणमवि गणहरविदर्जी ।
गुण ठाण्ण गुणगाविमु मनि धरि परमानन्द जी
आनंद कंद जिण्हिद भाखे भेद भावहु भव्व ए ।
गुणठाण्ण वेलि विजास जुत्ता सुक्ख पावहो सव्वण्ण ।
कैलास भूधर आदि जिणवर एक दिनि समोसरचा ।
सुर असुर खेचर मुनिवर तिण्ण धर्म वपा तिहि करया (१)

२

भरत नरेन्द्र आविया भाविया सब परिवारे जी
रिसेहेसर पाय वंदीए, पूजीए अट्टपयारे जी
अट्टपयारीय रचीय पूजा भरत राजा पूछए ।
गुणठाण्ण चौद विचार सारा भण्हि जिणसुणि वच्छए ।

मिथ्यात नामे गुणहठाण्ण वसहिं काळु अनंतए ।

मिथ्यात पंचहु निण्य पूरे भमहिं चिहुगति जंतुए ॥

अन्तरंग में दर्शन मोहनीय कर्म का 'उपशम, क्षय या क्षयोपशम से जो तत्त्वरुचि होती है वह उपशम सम्यग्दर्शन है। जिस तरह जल में कीचड़ मिले हुए पानी में से कतक फल (निर्मली) के निमित्त से जब कीचड़ नीचे बैठ जाती है, और पानी स्वच्छ हो जाता है। उसी तरह आत्मा में कर्ममल के उपशान्त होने पर आत्म-परिणाम स्वच्छ एवं निर्मल हो जाते हैं। यह आत्म निर्मलता से कषायकलुषता को दबानी हुई विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ानी रहती है, जिससे कर्म जन्म कटुक रस धीरे-धीरे शक्तिहीन एवं शिथिल होता जाता है। सम्यग्दृष्टि आते ही विरोध भाव कम हो जाते हैं। दृष्टि में दूसरों की बुराई की ओर उदासीनता हो जाती है आत्म-दोषों के प्रति ग्लानि हो जाती है, आत्म-निरीक्षण करते समय जानी को अपने दोष दूर करने की प्रेरणा मिलती है, और वह निन्दा तथा गद्गार द्वारा अपने दोषों को दूर करने का चेष्टा करता है। इस तरह वह अपने ज्ञान चारित्र-विवेक आदि के द्वारा अपने को आगे बढ़ाने की चेष्टा करता है। और चतुर्थ सीढ़ी से पांचवीं में, और पांचवीं से छठवीं तथा सातवीं में आकर अपने परिणामों की संभाल द्वारा अपनी स्वात्म-स्थिति का लाभ कर लेता है। और स्थितिप्रज्ञ बनकर आत्म-विरोधी शक्तियों की परधान करता हुआ साम्यभाव की उज्ज्वलता को बढ़ाना हुआ ऐसे शक्ति पुंज का संचय कर लेता है, जो अंतर्मुहूर्त में मोहादि शत्रुओं को विनष्ट करता हुआ चैतन्य मय प्रणत रूपको पाकर जीवन्मुक्त हुआ स्वप्न में स्थित हो जाता है। मानुषीप्रकृति को दूर कर परमौदारिक दिव्य देह का धारी हुआ, और निरंतर ही अपनी ज्ञानादि चतुष्टयरूप निजसम्पत्ति की संभाल करता हुआ, तथा सर्वजीवों को कल्याण का परमधाम बताता हुआ, उस सयोगकेवली अवस्था में निरत रहता है, जहां अघाति कर्मोदय जन्य शक्ति निर्जीव सी बनी रहती है। और जीवका कुछ भी अनिष्ट करने में समर्थ नहीं होता। जिस तरह रस्मी जल जाने पर निःशक्त हो जाती है परन्तु उसकी ऐन नहीं जाती, उसी तरह वे अघाति कर्म निःशक्त हो गये, इसीसे मोहके अभावमें केवली के लुधा तृषादिक

कर्म बाधक नहीं होने। और वह चिरकाल तक चिदानन्दस्वभाव में मग्न हुआ समता रस का पान करता रहता है। कवि ने इस गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या ८ लाख और अष्टाण्वे हजार पांच सौ दो बतलाई है। इस तरह यह जीव तीसरे शुक्ल ध्यान का ध्यान करता हुआ स्वात्मानन्द में लीन हुआ १४ वीं सीटी रूप अयोग अवस्था को प्राप्त करता है, और वहां पंचदम्ब अक्षरों के उच्चारण काल में चतुर्थ शुक्ल ध्यान द्वारा पचासी प्रकृतियों की मत्ता का विनाश कर स्वामोपलब्धि को पा लेता है स्वात्मोपलब्धि आत्मा की शुद्धनिरंजन दशा है, आत्मा उस अवस्था को पाकर अनन्तकाल तक अपने चिदानन्द रस में निमग्न रहता है। यह वह अवस्था है जिस के बाद अन्य कोई अवस्था नहीं होती, इसी से वह स्वात्म-सुधारम का पान करता रहता है और अजर अमर हो जाता है। इस तरह से कवि की यह बेलि रचना सुन्दर कृति है।

दूसरी रचना खटोला राम है, जिस में १२ पद्य हैं जिनमें खटोलेका चित्रण करते हुए वस्तु तत्त्व का कथन किया गया है। खटोले में चार पाये होते हैं दो बाही और दो सेखे। उक्त खटोला रत्नत्रय रूप बाणों से बुना हुआ है। उस पर शुद्धभाव रूपी संज्ञ को संजम श्री ने बिछाया है। उस पर बैठा हुआ आत्मप्रभु परम आनन्द की नींद लेता है, मुक्ति-कान्ता पंखा झलती है, और सुरनर का समूह सेवा कर रहा है। वहां आत्मप्रभु की अनन्त चतुष्टय रूप स्वात्म-संवित्ति या सम्पदा का उपभोग करता है। यह भी एक आत्म-संबोधक रूपक काव्य है। रचना साधारण होते हुए भी भाव भीनी है।

तीसरी कृति 'भुविकगीत' है। जिस में जिन शामन के नवदेवों का कथन किया गया है, यह एक अत्यंत छोटी रचना है, उस के दो पद्यों का मनन कीजिये।

१ केवल गुणठाण तेरहमें रमै सबि मिलिय महंत जी ।
आठौं लाख अष्टाण्वे महन् पंचमै दो ए मंत जी ।
संतसारौ आयु पुरो तिहां रहि साव भोगवै ।
देसोनपूरव कोडि भव्यहं धर्म देशहि ते ठवै ।
तीजा मुकलहं ध्यान ध्यावत केवल दृष्टि विदए ।
स्वात्म नै परमात्म विन्दै प्रत्यक्ष परमानन्द ॥

गुणठाणवेलि

नवमउ भुवुक शासनहि, पूजहि सुरनर भव ।

अविकटिम किटिम पडिमा, तेहउ वंदउ मव ॥

जिन मारग नवदेवता, मानै नहि जो लोइ ।

काल अनंतइ परिभमइ, सुखु न पावइ सोइ ॥

चौथी रचना श्रुत जयमाला है, जिसमें आचाराङ्ग आदि द्वादश अंगों का परिचय दिया गया है। रचना संस्कृत श्लोकों में निबद्ध है।

पांचवीं कृति मनोहरराम या नेमिचरित राम है जिसमें कवि ने लगभग ११५ पद्यों में वसन्त ऋतु के वर्णन के बहाने से जैनियों के २२ वे तीर्थंकर नेमिजिन का चरित्र अंकित किया है। वसन्त वर्णन में कवि ने पुरानी रूढ़ीके अनुसार अनेक वृक्षों फलों फूलों के नाम गिनाये हैं। मधुमाम में होने वाली वन की शोभा का सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है। उस समय वन में अनेक प्रकार के फूल फूले हुए हैं, उनकी मधुर और भीनी-भीनी सुरभि से सारा ही वन सुवासित हो रहा है। तरु लता, बेलें अपनी-अपनी मादकता से झुलझुलती हुई उन्माद प्रकट करती हैं। यह ऋतु कामी जनों को काम वामना का प्रोत्तेजन देती है, राग-रंग में उन्हें अनुरक्त करती है। कुछ फूले हुए वृक्षों के नाम कवि के शब्दों में पढ़िये—

बसंत ऋतु प्रभु आइयउ, फूली फली बनराइ ।

फूली करुणी केतकी फूली वडल मिरि जाइ ॥ २६

फूली पाडलिने वाली, फूली लाल गुलाल ।

राय बेलि फूली भली, जाकी वामु रमाल ॥ २७

फूलिउ मरुवा मोगरो, अरु फूले मचकुंद ।

फूली कणियर सेवती, फूले सरि अरविंद ॥ २८

फूले कदंबक चंपकी, अरु फूली कचनार ।

जुही चमेली फूलसी, फूली वन कलहार ॥ २९ ॥

इस वसन्तोत्सव को मनाने के लिये द्वारिका [वारावती] के सभी नर-नारीजन उल्लास से भर रहे थे, और टोलियों टोलियों के रूप में वनकी ओर जा रहे थे। सुन्दरगीतों की ध्वनि से मानो मार्ग उस समय बोल ही रहा हो। जंगल के पशु पक्षी भी कलरव कर रहे थे। राजकुल में बड़ी चहल पहल मची हुई थी। श्रीकृष्ण की सत्भामा, रुक्मणि और जामवन्ती आदि आठों रानियाँ सुन्दर वस्त्राभूषणों से सज्जित हो और केसरपूर मिश्रित वावन चंदन के

घोल को तय्यार कराकर साथ में लेजा रही थीं। नेमि जिन भी भाभियों की प्रेरणा से बसन्तोष्मव के लिये तय्यार हो गये थे। उस समय नेमि कुंवर की सुन्दर श्यामलि मूर्त बड़ी मुहावनी लग रही थी। वनमें पहुँच कर कृष्ण की रानियों ने नेमि जिन के शरीर पर बावनचन्दनका घोल मूब छिड़का। उन के वस्त्र केशर के रंग से तरबतर हो रहे थे। फिर भी वे रानियाँ अंगुलियों में घोल भर भर कर उनके अंगों पर छिड़क रही थी। और अनेक दोहा, गीत तथा अनुष्टुप छन्दों से उनकी स्तुति की जा रही थी। इस तरह बसन्तोष्मव मना कर सब जने द्वारिका वापिस लौट आये।

कवि ने नेमि जिन की बाल अवस्था की उन्हीं घटनाओं का उल्लेख किया है, जिन का कथन हरिवंशपुराण पाण्डव-पुराण और नेमि चरित आदि में पाया जाता है।

एक दिन राजसभा में नेमि जिन के बल का कथन हो रहा था, इतने में बलदेव ने कहा कि यहाँ नेमिजिन से कोई अधिक बलशाली नहीं है। इस बात को सुनकर श्री कृष्ण को अभिमान आ गया। और उन्होंने नेमिजिन से कहा कि यदि आप अधिक बलशाली हैं तो मल्ल युद्ध कर देय लीजिये। तब नेमि कुमार ने कहा—

नेमि भणइ मुणि वधव ! मल्ल करहि मल युद्ध ।
जुक्त नहीं नृप नन्दन हं, जे निज मान धरंत ॥
जो तू बल देखो चहै, नमावइ तौ मुझ पाउ ।
अथवा कर कर सूँ धरी, कै लहु अंगुलि नमाउ ॥
कन्ह बि लगगउ पद हथेहिं, ते पुण नमइ न जाय ।
तिव सो धरि तिणै अंगुली, नाम भुलायउ नाहु ।
गयणै हि दुंदुहि बाजण देव करै जयकार ।
मान गमायो आपणै, विलखउ भयउ मुरार ॥

नेमि जिन ने कहा, योद्धा मल्ल युद्ध करते हैं यह ठीक है। किन्तु मल्ल युद्ध राजकुमारों को नहीं करना चाहिये। जो तुम मेरे बलको देखना चाहते हो तो मेरा पाँव अथवा हाथ की अंगुली ही नमाओ। किन्तु कृष्ण से पाँव नहीं नमाया जा सका। किन्तु नेमि जिन ने कृष्ण को अपनी अंगुली से ही झुला दिया। तब आकाश में दुंदुभि बाजा बजा, और देवों ने जय जय कार किया, श्री कृष्ण विचार करते हैं कि मैं यह नहीं जानता था कि नेमिजिन इतने बलशाली हैं, इस घटना से उन का बड़ा अपमान हुआ और उससे उ क

मनविपाद युक्त बन गया। मैं आगे क्या करूँगा। जब ये राज्य करेंगे। अन्यथा कोई अन्य उपाय करना होगा। परिणाम स्वरूप हलधर ने किसी नैमित्तिक को बुलाकर पूछा कि राज्य कौन करेगा? तब नैमित्तिक ने कहा कि नेमि जिन राज्य नहीं करेंगे। परचात कृष्ण ने उनके विवाह का उपक्रम किया। और झुनागढ़ के राजा उग्रसेन की लाइली पुत्री राजमती के साथ विवाह निश्चित कर द्वारिका वापिस आए। रास्ते में एक वाड़े में पशुओं को इकट्ठा किया गया, और सागथि से कहा गया कि यदि नेमि जिन पृष्ठें तो बतला देना कि पशु भारत के आतिथ्य के लिये रोके गये हैं।

यथा समय बागत सजधज कर चली, नेमि जिन ने उन पशुओं की करण पुकार सुनते ही रथ रुकवा दिया और सागथि से पूछा कि पशु क्यों रोके गए हैं। तब उस ने कहा कि भारत के आतिथ्य के लिये रुकवाए गये हैं। यह सुनने ही उन्हें वैराग्य हो गया। उन्होंने ने कहा मुझे उस विवाह से क्या प्रयोजन है जिसमें निरराध पशुओं को मनाया जाय। उन्होंने ने सभी पशुओं को छुड़वा दिया और रथसे उतर कर र्वत गिरि पर चले गये। और दिगम्बरी दाँजा लेकर आत्म-साधना में संलग्न हो गये।

जब इस बात को राजुलने सुना तो वह मूर्छा मारकर गिर पड़ा। उपचार करने पर जब होश आया, तब वह अपनी मन्त्रियों के साथ गिरनार पर जाने के लिये तय्यार हुई। माता पिता और परिजनों ने बहुत समझाया, परन्तु वह न माना, और वहाँ दाँजा लेकर तपश्चरण करने में निरत रही। और आत्म-साधना द्वारा स्त्री लिंग को छेद कर अच्युत स्वर्ग में देव हुआ। जैसा कि कवि के निम्न दोहे से प्रकट है :—

१ परम मझोच्छवि आहूण, नेमिजिन नोरण द्वार ।
तिव सवुदिहि द्यावणे, पशुवहि कियउ पुकार ॥ १०५
दान वयणु मुणैविकरि, सागथि पूछिउ नाम ।
तिसु कहणी भेउ जाणियौ, अचधिहि नेमि जिनु नाम ॥ १०६
नेमीमरु हम बोलण धिग धिग यह संसार ।
राज्य विवाहे कारणे को करइ जीउ संसार ॥ १०७
धरि विरागु रथु केरियउ, निहा नै करणाधार ।
पशु बंधन छोडाविकरि, नेमि चटे गिरनार ॥ १०८

साहित्य – समीक्षा

१. गणितसार-संग्रह—महर्षीराचार्य, सम्पादक, और अनुवादक प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन एम. एस. सी. जबलपुर, प्रकाशक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर । पृष्ठसंख्या ३६५, सजिह्द मूल्य १२) रुपया ।

लौकिक गणित का यह प्राचीन ग्रन्थ है । जो राष्ट्रकूट राजा अमोघ वर्प के राज्यकाल में रचा गया है । ग्रन्थ ६ अधिकारों में विभाजित है, संज्ञा अधिकार, परिकर्म व्यवहार कला सवर्णव्यवहार, प्रकीर्णव्यवहार, त्रैराशिक व्यवहार, मिश्रक व्यवहार, क्षेत्रगणित व्यवहार और छाया व्यवहार । इनमें से प्रथम अधिकार में क्षेत्र, काल, धान्य, सुवर्ण, रजत और लोह आदि की परिभाषाओं का परिचय दिया है । दूसरे अधिकार में प्रत्युपपन्न (गुणन) भाग, वर्ग, वर्गमूलघन, घनमूल आदि का स्वरूप संकलित किया है । तीसरे में भिन्न भागाहार और भिन्न सम्बन्धी वर्ग, वर्गमूल, घन घनमूल, तथा भिन्नात्मक श्रेणियों का संकलन, व्युत्कलन और भागजाति का कथन करते हुए त्रैराशिक पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक तथा क्रय विक्रय और मंक्रमण आदि का सुन्दर कथन किया गया है ।

सम्पादक ने अपनी महत्वपूर्ण प्रस्तावना में गणित के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए गणित का सुन्दर विवेचन किया है । गणित का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले श्रवणकों के लिये ग्रंथ को प्रस्तावना बड़ी उपयोगी है । प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जी ने जंबूद्वीप पण्णत्ती की प्रस्तावना भी सुंदर लिखी है । आप जैसे विद्वान से समाज को बड़ी आशाएँ हैं । सम्पादक ने विषय को स्पष्ट करने के लिये परिशिष्टों द्वारा उसे सरल बना दिया है । गणित जैसे कठिन विषय को समझने के लिये सम्पादक ने बहुत परिश्रम किया है । अनुवाद भी अच्छा हुआ है ऐसे सुंदर संस्करण के

के प्रकाशन के लिये ग्रंथमाला संचालक और सम्पादक दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं :

स्वर्गीय ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंद्र जो दोशी जी की जैनसाहित्य के उद्धार की यह बलवती भावना और अधिक रूप में परलवित हो, यही भावना है ।

२. कसायपाहुड भाग ६ (जयधवलटाटीका, हिंदी अनुवाद सहित) मूल गुणधराचार्य, टीकाकार वीरसेनाचार्य, सम्पादक प्रो० फूलचंद मिश्रांतशास्त्री और कैलाशचंद्र शास्त्री, काशी, प्रकाशक, भा० दि० जैन संघ चौरासी मथुरा, पृष्ठ संख्या ५६२ मूल्य १२ रुपया ।

प्रस्तुत ग्रंथ जयधवल का छटा बंधक अधिकार है, इसके बंध और मंक्रम दो भेद हैं । जिस अनुयोग द्वार में कर्मवर्णाओं का मिथ्यात्व आदि के निमित्त से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश भेद से चार प्रकार कर्मरूप परिणम कर आत्म-प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाररूप बंध का कथन किया गया है वह बंध अधिकार है और जिसमें बंधरूप मिथ्यात्व आदि कर्मों का प्रकृति स्थिति आदि चारभेद से अन्य कर्मरूप परिणमन का विधान किया है वह संक्रम अधिकार है । इन्हीं दोनों के विषय का स्पष्ट विवेचन यहां किया गया है । कर्ममिहान्त के जिज्ञासुओं के लिये यह भाग बड़ी सुन्दर सामग्री अध्ययन करने के लिये प्रस्तुत करता है, जिससे यह सहज ही ज्ञान हो जाता है कि प्रकृत्यादि चार प्रकार के बन्ध में मंक्रमण कैसे होता है । स्वाध्याय प्रेमियों को इन मिहान्त ग्रंथों का अध्ययन कर अपने ज्ञान की वृद्धि अवश्य करनी चाहिये ।

संघ के व्यवस्थापकों का कर्तव्य है कि वे जयधवल के अवशिष्ट भागों को भी यथा शीघ्र प्रकाशित करने का प्रयत्न करें । ग्रन्थ का सम्पादन प्रकाशन अच्छा हुआ है ।

राजमती संयमधरी समर्पित रयण सहाय ।

अच्युत स्वर्गहिं सुरभयौ नारी लिंगु विहाय ।

इस तरह कवि की यह रचना सरस है ।

छठी रचना चतुर्विंशति जिनस्तवन है, जो संस्कृत के पद्यों में रचा गया है, और जिसे अनेकान्त में प्रकाशित किया जा चुका है ।

सातवीं रचना 'सतीगीत' है जिस में २७ पद्य हैं ।

आठवीं रचना २० तीर्थकर जयमाला है जो बड़ी सुन्दर

है । नीची रचना तीन चौबीसी स्तुति है, जिसमें २८-२९ पद्य हैं । दशवीं रचना ज्ञान विराग विनयी है । और ग्यारहवीं रचना मुक्तावलिास । है, संभव है यह इन्हीं की कृति है या अन्य की विचारणीय है, पुस्तक सामने न होने से उसके सम्बन्ध में निश्चयतः कुछ नहीं कहा जा सकता । इनके अतिरिक्त कवि की और भी रचनाएं होंगी, जो ज्ञान भंडारों के गुच्छकों में संगृहीत होंगी । जिन का अन्वेषण होना आवश्यक है ।

★★★

विदुषी सुमित्रा वाई की आर्थिका दीक्षा

श्रीमती सुमित्रावाई ने अपने जीवन में विद्याभ्यास कर परहित का सम्पादन करते हुए निरन्तर स्वाध्याय आदि द्वारा जो ज्ञानार्जन किया, और साधु सन्तों तथा ज्ञानियों की तत्त्वचर्चा का रस भी लिया; तथा पूज्य वर्णी गणेश-प्रसाद जी जैसे सन्तका सांनिध्य प्राप्त कर आत्महित की तरंगों का प्रबलवेग बार बार उमड़ा; परंतु उसे कार्य रूपमें परिणत न कर सकी। किन्तु कुछ समयवाद जब राग की उषो-ज्यो मंदता और विवेक का जागृति होनी गई सांसारिक भ्रमों की ओर उतनी ही उदार्यानता बढ़ती गई। अतः उचित समय पर आपने अपने भाई श्री नीरज जी का प्रति-बोधकर उनका भी भावभीनी अनुमति प्राप्त कर श्री आचार्यशिवसागरजी से आर्थिका दीक्षा लेकर आत्म-साधना का मार्ग प्रशस्त किया है। आशा है, बाई जी अपनी आत्म-साधना द्वारा ज्ञान-वैराग्य और ध्यान द्वारा अवलम्बन लेकर जीवन को सफल बनाने का यत्न करेंगी। वे स्वयं विदुषी है इस लिये उनके सम्बन्ध में कुछ कहना उचित नहीं प्रतीत होता।

—परमानन्द जैन शास्त्री

वीर-मेवा-मन्दिर और “अनेकान्त” के महायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता	२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन दृष्ट, श्री माहृ दीनलप्रसाद जी, कलकत्ता	१५०) श्री वज्ररगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता
१००) श्री रामजीवन मरावगी एण्ड सम, कलकत्ता	१५०) श्री चम्पालाल जी मरावगी, कलकत्ता
१००) श्री गजराज जी मरावगी, कलकत्ता	१५०) श्री जगमोहन जी मरावगी, कलकत्ता
१००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता	१५०) श्री कस्तूरचन्द जी आनदीलाल, कलकत्ता
१००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता	१५०) श्री कन्हैयालाल जी मीनाराम, कलकत्ता
१००) श्री रत्नलाल जी भाभरी, कलकत्ता	१५०) श्री प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची	१५०) श्री मालीराम जी मरावगी, कलकत्ता
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पट्टाड्या), कलकत्ता	१५०) श्री प्रतापमलजी मदनलाल पाड्या, कलकत्ता
२५१) श्री स० मि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी	१५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
२५१) श्री सेठ मोहनलाल जी जैन, मैसूर मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता	१५०) श्री शिखरचन्द जी मरावगी, कलकत्ता
२५१) श्री लाला जयप्रसाद जी जैन स्वस्तिक मेन्टल ववर्स, जगाधरी	१५०) श्री मुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गाधी, उम्मानाबाद	१०१) श्री मारवाडी दि० जैन समाज, व्यावर
२५०) श्री वन्धीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता	१०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, केकडी
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता	१०१) श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई न० २
२५०) श्री मिर्घई कुन्दनलाल जी, कटनी	१०१) श्री लाला शान्तीलाल कागजी, दरियागज दिल्ली
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता	१०१) श्री सेठ भवरीलाल जी वाकलीवाल, उम्फाल
२५०) श्री बी० आर० जैन, सी० कलकत्ता	१००) श्री वट्टीप्रसाद जी आन्माराम जी, पटना
	१००) श्री रूपचन्द जी जैन, कलकत्ता
	१००) श्री बाबू नृपेन्द्र कुमार जी जैन, कलकत्ता

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल्य-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थ में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २२३२३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदाम नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा. ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बदा, साइज सजिल्द १५)
- (२) आप्त परीक्षा—श्री विश्वानन्दाचार्य की स्वोपज सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २)
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापों के जातने की कला, सटीक, मानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)
- (५) आध्यात्मकमलमार्गण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दीअनुवाद-सहित १॥)
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। १॥)
- (७) श्रीपुराणार्चनार्थस्तोत्र—आचार्य विश्वानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादसहित। ॥)
- (८) शासनचतुर्विंशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्तिकी १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित ॥)
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ३)
- (१०) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्दशास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४)
- (११) अनित्यभावना—आ० पदमनन्दी की महत्व की रचना, मुख्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित १)
- (१२) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्राय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। १)
- (१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १)
- (१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡, (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡)। (१६) महावीर पूजा। १)
- (१७) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुख्तार कृत १)
- (१८) आध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित १)
- (१९) जैनग्रंथ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंशके १२२ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका महत्वपूर्ण संग्रह ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और उनके परिशिष्टों सहित। सम्पादक पं० परमानन्द शास्त्री मूल्य सजिल्द १२)
- (२०) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ५)
- (२१) कसायपाहुड मुक्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चर्चिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज, और कपड़े की पक्की जिल्द। २०)
- (२२) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजीमें अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० (६)

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवामन्दिर के लिए, पवन प्रिन्टिंग वर्क्स, ३०१, दगीवा, दिल्ली में मुद्रित

अनेकान्त



भगवान् सन्मति (महावीर) की सुन्दर मूर्ति, देवगढ़

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

- विषय पृष्ठ
१. श्री संभवजिन-स्तुति श्री समन्तभद्राचार्य १४५
 २. राजस्थानी भाषा का अध्ययन-गीत
—अज्ञात कर्तृक १४६
 ३. जैन दर्शन और उसकी पृष्ठभूमि
पं० कैलाशचन्द्र जैन शास्त्री १४७
 ४. जैन धर्म में मृति पूजा
—डा० विशाधर जोहरापुरकर १४५
 ५. संवेग —मुनि श्री नथमलजी १५७
 ६. दिल्ली पट्ट के मूलमयी भट्टारकों का समयक्रम
—डा० ज्योति प्रसाद जैन १५८
 ७. भारतीय दर्शन की तीन धाराएँ
—भगवानदास बज्र एम० ए० १६४
 ८. देवताओं का गढ़ देवगढ़ —श्री नीरज जैन १६७
 ९. गोप्य-कण परमानन्द जैन शास्त्री १६८
 १०. कविवर भाऊ की काव्य-साधना
—डा० कस्तूरचन्द्र काशीवाल १७०
 ११. और ओस ढुलक पड़े (मार्मिक कहानी)
—डा० नरेन्द्र भानुनाथ एम० ए० पी० एच० डा० १७५
 १२. अर्जुनसंज्ञ के भंडार का राजतल्लरी कल्पसूत्र
—श्री भंवरलाल नाहटा १७८
 १३. रत्नचन्द्र और उनका काव्य
—गंगाराम गर्ग एम० ए० १८०
 १४. मोक्षमार्ग की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का निरूपण
—सरनाराम जैन १८०
 १५. जैन समाज के समस्त उन्नत प्रश्न
—कृष्ण चन्द्रसिंह दुधौरिया १८५
 १६. संत श्री गुणचन्द्र —परमानन्द शास्त्री १८६
 १७. साहित्य-समीक्षा —डा० प्रेमसागर जैन १८७



सम्पादक-संशुल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन



मुख्तार श्री जुगल किशोर जी की द्वादशी जन्म-जयन्ती

जैन संहिता और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार की द्वादशी जन्म-जयन्ती पटा में समानन्द मनाई जा रही है । मुख्तार साहब आजकल पटा में अपने भतीजे डा० श्रीचन्द्र जी के पास ठहरे हुए हैं ।

हमारा हार्दिक भावना है कि मुख्तार साहब शत वर्ष जीवें ।

—अनेकान्त परिवार

अनेकान्त के प्रकाशन में विलम्ब का कारण

अनेकान्त त्रिम प्रेस में छपना था उसमें कार्य अधिक होने के कारण कुछ अन्यवस्था में रहा, और अनेकान्त का कुछ आवश्यक मैटर खोजने से हम अंक के प्रकाशन में अधिक विलम्ब हो गया है । इसके लिये हम पाठकों से क्षमा चाहते हैं ।

—प्रकाशक अनेकान्त

वीर-वार्णा का विशेषांक

वीर-वार्णा का विशेषांक बड़ा सज्जजन के साथ प्रकाशित हो रहा है । पाठक महानुभाव उसके माहक बन कर सहयोग प्रदान करें ।

प्रकाशक

वीरवाणी



अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६ रुपये
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ न. पं.

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक संशुल उत्तरदायी नहीं हैं ।



श्रीम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमात्मस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयबिलसितानां विरोधमयनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १७

किरण, ४

वीर-सेवा-मन्दिर, २१, दरियागंज, दिल्ली-६.

वीर निर्वाण सं० २४६१, वि० सं २०२१

अक्टूबर

सन् १९६४

श्री शम्भव-जिन-स्तुतिः

नचेनो न च रागादिचेष्टा वा यस्य पापगा ।

नो वामैः श्रीयतेऽपारा नयश्रीभु वियस्य च ॥१८

पूतस्वनवमाचारं तन्वायातं भयाद्स्वा ।

स्वया वामेश पाया मा नतमैकार्च्यं शंभव ॥१९

श्रीसमन्तभद्राचार्य

अर्थ—जिनके पापबन्ध कराने वाली रागादि चेष्टाओं का सर्वथा अभाव हो गया है और जिनकी अपार नय लक्ष्मी को भूमि तल पर मिथ्यादृष्टि लोग प्राप्त नहीं हो सकते ऐसे, इन्द्र चक्रवर्ती आदि प्रधान पुरुषों के नायक ! अद्वितीयपूज्य ! शम्भुनाथ जिनेन्द्र ! आप सबके स्वामी हैं, रक्षक हैं अतः अपने दिव्य तेज द्वारा मेरी भी रक्षा कीजिए। मेरा आचार पवित्र और उत्कृष्ट है। मैं ससार के दुखों में डर कर शरीर के साथ आपके समीप आया हूँ।

भावार्थ—‘मैं किसी का भला या बुरा करूँ’ इस तरह राग-द्वेष से पूर्ण इच्छा और तदनुकूल क्रियाएँ यद्यपि वीतराग भगवान के नहीं होती तथापि वीतरागदेवकी भक्ति से भक्त जीवों का स्वतः भला हो जाता है; क्योंकि वीतराग की भक्ति से शुभ कर्मों में अनुभाग (रम) अधिक पड़ता है, फलतः पाप कर्मों का रम घट जाता अथवा निर्बल पड़ जाता है और अन्तराय कम भी बाधक नहीं रहता, तब इष्ट की सिद्धि महत् ही हो जाती है। इसी नयदृष्टि को लेकर अलंकार की भाषा में आचार्य समन्तभद्र भगवान शम्भुनाथ से प्रार्थना कर रहे हैं कि मैं ससार से डर कर आपकी शरण में आया हूँ, मेरा आचार पवित्र है और मैं आपको नमस्कार कर रहा हूँ, अतः मेरी रक्षा कीजिये। आप की शरण में पहुँचने से रक्षा कायं स्वतः ही बिना आप की इच्छा के बन जाता है।

राजस्थानी भाषा का अध्यात्म-गीत

(कर्त्ता अज्ञात्)

रे मन रमिरहु चरण जिनन्द, जाह पठावहिं निहवनि इंद ॥टेक
यहु ससार अमार मुगेप्पिणु, करु जिय धम्मु दयालं ॥
परजय तच्छु मुणहि परमेष्ठिहि, सुमरहि अट्ट गुणाल ॥१
जीउ अजीउ दुविह पुणु आसव, बन्ध मुणहि चउभेयं ॥
संवर निज्जरु मोखु वियाणहि, पुण्यरु पाप विरोधं ॥१
जीउ दुभेउ मुक्त संसारी मुक्त सु मिद्ध वियाणे ।
वमु गुण जुत्त कलङ्कु विवज्जिय, भामिय केवलणारो ॥३
जे ससारि भमहिजिय सकुल, लख जोगी चउराभी ।
थावर वियलिदिय सयलिदिय, ते पुग्गल सहवाणी ॥४
पच अजीव पढम तहि पुग्गल, धम्मु अधम्मु अगास ।
काल अकाउ पंचकायामय, ये छह दव्वपयासं ॥५
आसउ दुविह दव्व-भावहं, पुणु पंच पयार जिणुत्त ।
मिच्छाजिय पमाय कमायहि, जांगह जीव प्रमुत्तं ॥६
चारि पयार बंध पयडिय ठिदि, तह अणुभाव पयेस ।
जोगा पयडि पयेस ठिदायणुभाव कसाय विसेसं ॥७
सुह परिणामे होइ सुहासउ, असुहि असुह वियाणे ।
सुह परिणामु करहु हो भवियह जिम सह होय नियाणे ॥८
संवर करहि जीव जग सुन्दर, आसवदार-निरोहं ।
अरुह मिद्ध गमु आपु वियाणहु सोहं मोहं मोह ॥९
णिज्जर कम्म विणासणु कारणु, जिय जिण वयण संभाले ।
वारह विह तव दसविह सजमु, पंच महावय पाले ॥१०
अटविहि कम्म विमुक्कु परमपउ, परमपय थिर वासो ।
णिच्चलु गाण सुखद अमरापुरि, समरस भाव पयासो ॥११
जाणि असारहु कहो क्या करणा, पंडित मनहि विचारइ ।
जिणवर सासणु भवु पयासणु, सोहिय ब्रुह थिर धारइ ॥१२

जैन दर्शन और उसकी पृष्ठभूमि

प० कैलासचन्द्र जैन शास्त्री, वाराणसी

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने पुण्य प्रदेश बिहार को न केवल अपने जन्म से पवित्र किया था, किन्तु अपनी कठोर साधना के द्वारा उसी प्रदेश की ऋजुकूला नदी के तट पर केवलज्ञान को प्राप्त करके राजगृही नगरी के विपुलाचल पर अपनी प्रथम धर्मदेशना की थी। उस समय राजा बिम्बसार श्रृंगिक मगध के स्वामी थे और रानी चेलना के साथ भगवान् के सम्बन्ध में उपदेश श्रवण के लिये बराबर जाया करते थे। इसी प्रदेश के विद्वदक्षिरोमणि ब्राह्मणवसावर्तम इन्द्रभूति गोतम ने सर्वप्रथम भगवान् महावीर के पादमूल में प्रव्रज्या ग्रहण करके उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था तथा भगवान् के प्रथम गणधर पद को अलङ्कृत करके भगवान् की देशना को बारह अंगों में ग्रथित किया था। गोतम गणधर के द्वारा ग्रथित वे बारह अंग तो कालक्रम से लुप्त हो गये किन्तु उनके ही आधार पर सकलित और रचित जैन-साहित्य आज भी भारतीय साहित्य भंडार को समृद्ध बनाने में यथायोग्य योगदान कर रहा है।

अतः बिहार भूमि का जैन और जिनयासन से गहरा सम्बन्ध है और जैनधर्म के अनुयायियों पर उसका महान् ऋण है। उस ऋण को चुकाने के लिए ही आज भी भारत के कोने-कोने से जैन स्त्री-पुरुष उस पुण्यभूमि की वन्दना के लिए जाते हैं और उसकी पवित्र धूल को अपने मस्तक पर धारण करके अपने को कृतकृत्य मानते हैं। उसका कण कण भगवान् महावीर के चरण-चिह्नो में अंकित है।

भगवान् महावीर से पूर्व इस देश की धार्मिक स्थिति के पर्यवेक्षण के लिए प्राचीनतम वैदिक साहित्य ही यत्किंचित् सहायक हो सकता है। आधुनिक अन्वेषकों के अनुसार आर्य जाति की एक शाखा ने मध्य एशिया से

भारतवर्ष में प्रवेश करके एक नये समाज की स्थापना की थी। वैदिक काल में सिन्धु और सरस्वती का ही यशोगान होता था। उन्हीं के तट पर आर्यों की वसति थी। ऋग्वेद की ऋचाओं का बहुभाग भी सरस्वती के तट पर रचा गया था। शेष तीनों वेद और ब्राह्मणग्रन्थ ऋग्वेद के बाद रचे गए थे। इस काल में वैदिक आर्य दक्षिण पूर्व की ओर बढ़ गए थे और गंगा के प्रदेश में क्रम गए थे। यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों से जिस प्रदेश की सूचना मिलती है वह है कुरुक्षेत्र और पाञ्चालों का देश। सरस्वती और दृपद्वती नदी के बीच का क्षेत्र कुरुक्षेत्र था और उससे लगा हुम्रा, उत्तर-पश्चिम से लेकर दक्षिण-पूर्व तक फैला हुम्रा गंगा और यमुना के बीच का प्रदेश पाञ्चाल था। इसी को मनुस्मृति में (२।७) ब्रह्मावर्त कहा है। यही प्रदेश एक समय ब्राह्मण सम्प्रदाय का घर था।

सिन्धुदेश में ब्राह्मण सम्प्रदाय का विस्तार किधर की हुम्रा, इसका निर्देश शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। उसमें लिखा है 'सरस्वती के तट से अग्निहोत्र ने गंगा के उत्तर तट पर गमन किया और फिर मगध, गण्डक, तथा कोसी नदी को पार करके सदानीरा नदी के पश्चिम तट पर पहुँचा। उगम अग्निहोत्र के मगध अववा दक्षिण बिहार तथा बगाल में प्रवेश करने का उल्लेख नहीं है।

ऐतरेय आरण्यक (२, १-१-५) में वग, वगध और चेरपादों की वैदिक धर्म का विरोधी वक्तव्य है। इनमें वे वग तो बगाल के अधिवासी हैं, 'वगध' अशुद्ध प्रतीत होता है सम्भवतया 'मगध' होना चाहिये। चेरपाद बिहार और मध्य प्रदेश के चेर लोग जान पड़ते हैं। डा० भण्डारकर ने (भण्डारकर इन्स्टीट्यूट पत्रिका जिन १२, पृ० १०५) लिखा है—'ब्राह्मण काल तक आर्यों द्वारा पूर्व ६०० लगभग तक पूर्वीय भारत के चार समूह मगध,

पुण्ड्र, वंग और चेरपाद प्रायः सीमा के अन्तर्गत नहीं आये थे।'

शतपथ ब्राह्मण में विदेह के राजा जनक का बार-बार उल्लेख आता है। उसने अपने ज्ञान से सब ऋषियों को हतप्रभ कर दिया था। पाली टीका परमत्थ जोतिका (जि० १, पृ० १५८-६५) में लिखा है कि विदेह के जनकवंश का स्थान उन लिच्छवियों ने लिया, जिनका राज्य विदेह का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य था, तथा जो वज्जिगण के प्रमुख भागीदार थे। ये लिच्छवि काशी की एक रानी के वंशज थे। इससे प्रकट होता है कि काशी के राजवंश की एक शाखा ने विदेह में अपना राज्य स्थापित किया था (पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्सिएंट इण्डिया, पृ० ७२)।

उपनिषदों के कतिपय उल्लेखों के आधार पर डा० राय चौधरी का मत है कि विदेह राज्य को उलटने में काशीवासियों का हाथ था क्योंकि काशीराज अजातशत्रु विदेहराज जनक की ख्याति से चिढ़ता था। इसी के साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ईस्वी पूर्व ८७७ में काशीराज के घर में जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर पाद्वनाथ का जन्म हुआ था और उनके जन्म से २७८ वर्ष पश्चात् वैशाली में लिच्छवि गणतन्त्र के नायक चेटक की पुत्री त्रिशाला की कुक्षि से भगवान महावीर का जन्म हुआ था।

मनुस्मृति में (अ० १०) लिच्छवियों को 'व्रात्य' कहा है। और व्रात्य शब्द ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में आता है। अतः स्पष्ट है कि 'व्रात्य' बहुत प्राचीन है। यजुर्वेद तथा तै० ब्रा० (३, ४-५-१) में व्रात्य का नाम नरमेघ की बलि सूची में आया है। और महाभारत में व्रात्यों को महापातकियों में गिनाया है। अथर्ववेद के १५ वें काण्ड के प्रथम सूक्त में व्रात्य का वर्णन है। और सायणाचार्य ने उसकी व्याख्या में व्रात्य को 'कर्मपरैः ब्राह्मणैर्विद्विष्ट' जिससे कर्मकाण्डी विद्वान विद्वेष करते थे, लिखा है। अथर्ववेद में ही मागधों का व्रात्यों के साथ निकट सम्बन्ध बतलाया है। इसी से श्री काशीप्रसाद जी जायसवाल ने (माडर रिब्यू १९२६, पृ० ४६६) लिखा था 'लिच्छवि पाटलीपुत्र के अपोजिट मुजफ्फरपुर जिले में राज्य करते थे

वे व्रात्य अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय कहलाते थे। वे गणतन्त्र राज्य के स्वामी थे। उनके अपने पूजा स्थान थे, उनकी अर्वादि पूजा विधि थी, उनके अपने धार्मिक गुरु थे। वे जैनधर्म और बौद्धधर्म के आश्रयदाता थे। उनमें महावीर का जन्म हुआ था, मनु ने उन्हें पतित बतलाया है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। व्रात्य का अर्थ होता है घुमकड़, जो एक स्थान पर स्थिर होकर न रहता हो और वज्जिगण का वज्जि शब्द भी व्रज धातु से बना है जिसका अर्थ होता है चलना। व्रज से ही परिव्राजक शब्द बना जो साधु के अर्थ में व्यवहृत होता है।

डा० हावर ने लिखा है—अथर्व का० १५, सूक्त १०-१३ में लौकिक व्रात्य की अतिथि के रूप में देश में घूमते हुए तथा राज्ञ्यों और जन साधारण के घरों में जाते हुए दिखलाया गया है। तुलना से यह सिद्ध किया जा सकता है कि अतिथि घूमने फिरने वाला साधु ही है। प्राचीन भारत में एक ही व्यक्ति ऐसा है जिस पर यह बात घट सकती है वह है परिव्राजक योगी या सन्यासी। योगियों-सन्यासियों का सबसे पुराना नमूना व्रात्य है। (भारतीय अनुशीलन, पृ० १६)।

अतः प्राचीन व्रात्य यदि उत्तर काल में वज्जि कहे जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। इस तरह भगवान महावीर को जन्म देने वाली पुण्य भूमि बिहार के निवासी विदेहों मगधों का सम्बन्ध भारत की अति प्राचीन उस परम्परा से है जिसने वैदिक क्रियाकाण्ड से शताब्दियों तक अप्रभावित रहकर उस तत्त्वचिन्तन में अपना समय बिताया था, जिसने वेदान्त के रूप में उपनिषदों के निर्माण में भाग लिया था। यहाँ इतना स्थान नहीं है कि मैं उपनिषदों से उन सम्वादों को उपस्थित करूँ जिनमें वैदिक ऋषियों में आत्म-जिज्ञासा की भावना से क्षत्रियों का शिष्यत्व स्वीकार करने के उल्लेख हैं और वैदिक ज्ञान को निकृष्ट और ग्राम ज्ञान को उकृष्ट बतलाया है। इस विषय में डा० दास गुप्ताने अपने भारतीय दर्शन के इतिहास में (जि० १, पृ० ३१) लिखा

है—'यहाँ यह निर्देश करना अनुचित न होगा कि उपनिषदों में बारंबार माने वाले सम्वादों से, जिनमें कहा गया है कि उच्च ज्ञान की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण क्षत्रियों के पास जाते थे, तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के साधारण सिद्धान्तों के साथ उपनिषदों की शिक्षा का मेल न होने से और पाली ग्रन्थों में वर्णित जन-साधारण में दार्शनिक सिद्धान्तों के अस्तित्व की सूचना से यह अनुमान करना शक्य है कि साधारणतया क्षत्रियों में गम्भीर दार्शनिक अन्वेषण की प्रवृत्ति थी, जिसने उपनिषदों के सिद्धान्तों के निर्माण में प्रमुख प्रभाव डाला। अतः यह संभव है कि यद्यपि उपनिषद ब्राह्मणों के साथ सम्बद्ध है किन्तु उनकी उपज अकेले ब्राह्मण सिद्धान्तों की उन्नति का परिणाम नहीं है, ब्राह्मण विचारों ने अवश्य ही या तो उपनिषद सिद्धान्तों का प्रारम्भ किया है अथवा उनकी उपज और निर्माण में फलित सहायता प्रदान की है, यद्यपि ब्राह्मणों के हाथों से ही वे शिखर पर पहुँचे हैं।' अन्य भी अन्वेषक विद्वानों ने इसी तरह के विचार प्रकट किये हैं। वस्तुतः इस देश में प्रवृत्ति और निवृत्ति को दो परम्पराएँ ऋग्वेद के समय में भी प्रचलित थीं। प्रवृत्ति परम्परा को देव परम्परा कहते थे, यज्ञविधि आदि उसी के अंग है। यही परम्परा ब्राह्मण परम्परा के नाम से विख्यात हुई। निवृत्ति परम्परा को मुनि परम्परा कहा जाता था। यही परम्परा श्रमण परम्परा की पूर्वज थी। निवृत्ति-मार्गीय श्रमणों के अनेक सम्प्रदाय महावीर और बुद्ध से पूर्व भी विद्यमान थे। अशोक ने अपने शिलालेखों में उसी आधार पर श्रमण ब्राह्मणों का उल्लेख किया है उसका अभिप्राय ब्राह्मण और श्रमणों की दो पृथक् परम्पराओं के अस्तित्व से था। पतञ्जलि ने पाणिनि के 'येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः' सूत्र पर 'श्रमणब्राह्मणम्' उदाहरण देते हुए सूचित किया है कि श्रमणों और ब्राह्मणों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व चला आता है। इन दोनों परम्पराओं में बहुत कुछ आदान-प्रदान भी हुआ है। श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में सन्यास आश्रम की स्थान मिला, और आचार्य शंकर ने तो दशनामी सन्यासियों के रूप में श्रमणों जैसा ही नया संगठन खड़ा कर

लिया जो आज तक जीवित है। दूसरी ओर ब्राह्मण परम्परा के आचार-विचार का प्रभाव श्रमण परम्परा पर पड़ा। कपिल मूल में निवृत्ति-मार्गीय श्रमण परम्परा के अनुयायी थे। किन्तु उनका केवल दर्शन बचा है सम्प्रदाय नहीं। ज्ञात होता है कि बाद के शैव माहेश्वर सम्प्रदाय में उसका अन्तर्भाव हो गया और उसके दार्शनिक सिद्धान्तों को, जो मूल में घनीश्वरवादी थे, सेश्वरवादी बनाकर एक ओर पाशुपत शैवों ने और दूसरी ओर भागवतों ने अपना लिया।

कपिल का सांख्य दर्शन प्राचीनतम दर्शन माना जाता है। कुछ उपनिषदों में सांख्य के कतिपय मौलिक विचार मिलते हैं। अतः डा० याकोबी का विचार था कि प्राचीनतम उपनिषदों के काल में सांख्य-दर्शन का उदय हुआ। चूँकि योग-दर्शन का निकट सम्बन्ध भी सांख्य के साथ है इसलिए योगदर्शन का उदय भी उसी के साथ माना जाता है। इन दर्शनों के उदय में प्रधान कारण आत्माओं के अमरत्व में विश्वास था, जो उस समय सर्वत्र फैला हुआ था। यह एक ऐसा सिद्धान्त था जिसे मृत्यु के पश्चात् विनाश से भीत जनता के बहुभाग का समर्थन मिलना निश्चित था।

आत्माओं के अमरत्व के सिद्धान्त ने ही तर्कभूमि में आकर जड़त्व की भिन्नता को सिद्ध किया, जिसका प्राचीन उपनिषदों में अभाव है। ये दोनों सिद्धान्त प्रारम्भ से ही जैन और सांख्ययोग जैसे प्राचीनतम दर्शनों के मुख्य भाग हैं। वैशेषिक और न्यायदर्शन का उदय तो बहुत बाद में हुआ है और इन दोनों ने भी उक्त दोनों सिद्धान्तों को अपने में स्थान दिया है। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में वेदान्त दर्शन को निबद्ध किया है। यद्यपि यह कहा जाता है कि उन्होंने उपनिषदों के सिद्धान्तों को ही व्यवस्थित रूप दिया है किन्तु ब्रह्मसूत्र में भी जीव को अनादि और अविनाशी माना है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में भले ही इसके विरुद्ध प्रतिपादन किया है। इसके सम्बन्ध में कलकत्ता के श्रीअभयकुमार गुह का 'ब्रह्मसूत्र में जीवात्मा' शीर्षक निबन्ध पठनीय है।

कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदों में ब्रह्म से आत्माओं

का पृथक् अस्तित्व माना है। यद्यपि उनमें दोनों के ऐक्य का भी समर्थन मिलता है। किन्तु ब्रह्मसूत्र तो उन उपनिषदों से भी एक कदम आगे बढ़ गया है।

इस तरह स्वतन्त्र आत्माओं की अमरता में विश्वास ने ही विचारों को नया रूप प्रदान करने में मुख्य भाग लिया है।

जैन और सांख्ययोग भारत के प्राचीनतम दर्शन हैं जो वैदिक युग के अन्त के साथ ही सम्मुख आते हैं। ये दोनों ही अमर आत्माओं के बहुत्व के तथा जड़ तत्त्व के पृथक्त्व के समर्थक हैं। यद्यपि दोनों ही दर्शनों ने इन विचारों को अपने-अपने स्वतन्त्र ढंग से विकसित किया है फिर भी दोनों में कहीं-कहीं सादृश्य-सा प्रतीत होता है। यहाँ हम विस्तार में न जाकर संक्षेप में दो मुद्दों पर प्रकाश डालेंगे।

जैन और सांख्ययोग इस विषय में एक मत हैं कि जड़ स्थायी है किन्तु उसकी अवस्थाएं अनिश्चित हैं। सांख्यमत के अनुसार एक प्रधान तत्त्व ही नाना रूप होता है, किन्तु जैनधर्म के अनुसार केवल पुद्गल द्रव्य नाना अवस्थाओं में परिवर्तित होता है—आकाश आदि द्रव्य परिवर्तनशील होते हुए भी अखण्ड और अविनाशी रहते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि जब से जड़ और चेतन का भेद विचारकों के अनुभव में आया तभी से जड़ के विषय में उक्त मत मान्य चला आता है। किन्तु उत्तरकाल में उक्त मूल सिद्धान्त में परिवर्तन होना दृष्टिगोचर होता है। यह परिवर्तन है चार या पाँच भूतों का एक दूसरे से एकदम भिन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाना। यह मत चार्वाकों का था। चार्वाक सांख्ययोग में अर्वाचीन है। न्यायशैक्षिक ने भी इसी मत को प्रयत्न कर अपने ढंग से विकसित किया। जैन और सांख्ययोग ने इस मत का एक मत से विरोध किया, जो इस बात का सूचक है कि भूतवादी मत अर्वाचीन होना चाहिए।

जैन पुद्गल को परमाणु रूप में मानते हैं किन्तु सांख्य प्रधान या प्रकृति को व्यापक मानता है। जैनों के अनुसार परमाणुओं के मेल से जीव धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल और आकाश के सिवाय शेष सब वस्तुएँ

उत्पन्न हो सकती हैं। किन्तु सांख्यमत के अनुसार प्रधान में तत्त्व, रज और तम नाम के तीन गुण हैं और इन्हीं के मेल रूप एक प्रधान से महान् अहंकार आदि पाँच तन्मात्रा पर्यन्त तत्त्वों की उद्भूति होती है और उन पाँच तन्मात्राओं से पाँच भूत बनते हैं। अतः मूल सांख्यमत परमाणुवाद को नहीं मानता था। किन्तु सांख्य योग दर्शन के कुछ ग्रन्थकार परमाणुवाद को मानते थे ऐसा प्रतीत होता है। सांख्यकारिका की टीका में गौड़पाद ने बिना विरोध किए परमाणुवाद का कई जगह निर्देश किया है। योगसूत्र (१-५०) में भी उसे स्वीकार किया है, उसके भाष्य में तथा वाचस्पति मिश्र की टीका (१-४४) में भी परमाणुओं का अस्तित्व स्वीकार किया है। इससे प्रमाणित होता है कि परमाणुवाद सिद्धान्त इतना अधिक लोकसम्मत था कि उत्तरकाल में सांख्ययोग ने भी उसे स्वीकार कर लिया। अब आत्मतत्त्व को लीजिये—

आत्मतत्त्व के विषय में जैन और सांख्ययोग कतिपय मूल बातों में महत्त्व है। आत्माएँ सनातन अविनाशी हैं, चेतन हैं, किन्तु जड़ कर्मों के कारण, जो अनादि हैं, उनका चैतन्य तिरोहित है। मुक्ति अवस्था में कर्मों का अन्त हो जाता है।

किन्तु आत्मा के आकार के विषय में जैन-दर्शन का अपना एक पृथक् मत है जो किसी भी दर्शन में स्वीकार नहीं किया गया। जैन-दर्शन मानता है कि प्रत्येक आत्मा अपने शरीर के बराबर आकार वाला है। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल सांख्य इस विषय में अपना कोई स्पष्ट मत नहीं रखते थे। क्योंकि योग भाष्य में (१-३६) पञ्चशिव का मत उद्धृत किया है जिसमें आत्मा को अणुमात्र माना है। जबकि ईश्वर कृष्ण तथा पश्चात् के सभी ग्रन्थकारों ने आत्मा को व्यापक माना है।

आत्मा के कर्म-बन्धन और कर्मों से छुटकारे के सम्बन्ध में भी सांख्ययोग और जैन-दर्शन में बहुत भेद है।

इसके सिवाय जैन-दर्शन मानता है कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति में भी जीव है और उसके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है। सारांश यह है कि जड़ और आत्मा को लेकर जैन-दर्शन और सांख्ययोग में

इतना सुनिश्चित अन्तर है कि उमे देखते हुए यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि जैनों ने सांख्ययोग से या सांख्ययोग ने जैनों से कुछ लिया है। फिर भी सांख्य और जैनदर्शन की आत्म-विषयक कुछ बातों में समानता देखकर कुछ अन्वेषक विद्वानों का ऐसा मत है ये दोनों दर्शन लगभग समकाल में उद्दिन हुए हैं। तथा ये दोनों ही प्राचीनतम भारतीय दर्शन हैं। कौटिल्य के अनुसार उसके समय में (२०० ई० पूर्व) सांख्ययोग और लोका-यत ये दो ही ब्राह्मण दर्शन वर्तमान थे। अतः अवश्य ही ये कौटिल्य काल से प्राचीन हैं।

जैन धर्म के आदि प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव थे और अन्तिम प्रवर्तक थे भगवान् महावीर। भगवान् महावीर ने संगार के दुःखी जीवों के समुद्धार के लिए अहिंसा मयी धर्म का उपदेश सार्वजनिक रूप में दिया था। भगवान् बुद्ध ने भी विश्व को दुःख रूप मानकर क्षणिक कहा था। उनका उद्देश्य भी विश्व को वैराग्य की तरफ ले जाने का था। जिससे प्रत्याचार, अनाचार और हिंसा का लोप हो जाये। किन्तु उनके उत्तराधिकारियों ने क्षणिकवाद के आधार पर मूल्यवाद की प्रतिष्ठा कर डाली। इसके विपरीत भगवान् महावीर ने पर्याय दृष्टि से विश्व को क्षणिक मानकर भी द्रव्यदृष्टि से नित्य माना। उनका कहना है कि इस दृश्यमान जगत में जो प्रतिक्षण परिणाम हुआ करते हैं वे परिणाम ही प्रतिक्षण होते रहने के कारण क्षणिक हैं किन्तु मूल तत्त्व स्वयं क्षणिक नहीं हैं। अन्य दर्शनों ने किसी को नित्य और किसी को अनित्य माना है। किन्तु जैन-दर्शन कहता है—

आदीपमाश्रयोम समस्वभावं
स्याद्वादमुद्धानतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवंकमनित्यमन्यद्

इति त्ववाजा द्विषतां प्रलापाः

अर्थात्—आकाश नित्य हो और दीपक अणिक हो, यह बात नहीं है। आकाश से लेकर दीपक तक सब एक स्वभाव हैं, कोई भी वस्तु उस स्वभावका अतिक्रमण नहीं कर सकती क्योंकि सभी के मुह पर स्याद्वाद या अनेकान्त स्वभाव की छाप लगी हुई है। हे जनेन्द्र ! आप से द्वेष

रखने वाले ही ऐसा प्रश्रय करते हैं कि अमुक वस्तु नित्य ही है और अमुक वस्तु अनित्य ही है।

जैन-दर्शन एक द्रव्य पदार्थ ही मानता है और उसे इस रूप में मानता है कि उसके मानने पर अन्य पदार्थ के मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार में द्रव्य का लक्षण इस प्रकार किया है—

अपरिच्यत्तसहायेणुत्पादव्ययधुवत्तसंजुतं ।

गुणव च सपञ्जायं जं तं दधति बुच्यति ॥

अर्थात्—जो अपने अस्तित्व स्वभाव को न छोड़कर, उत्पाद, व्यय तथा ध्रुव्य से युक्त है एक गुण तथा पर्यायों का आधार है उसे द्रव्य कहा जाता है।

आशय यह है कि गुण और पर्याय के आधार को द्रव्य कहते हैं। गुण और पर्याय उस द्रव्य के ही आत्मस्वरूप हैं अतः वे किसी भी हालत में द्रव्य से जुदा नहीं होते। द्रव्य के परिणाम को पर्याय कहते हैं। पर्याय सदा कायम नहीं रहती, प्रतिक्षण बदलती रहती है। एक पर्याय नष्ट होती है तो उसी क्षण में दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है। इसी से पर्यायों के आधार द्रव्य को उत्पाद-व्यय से संपुक्त कहा जाता है। और जिनके कारण द्रव्य सजातीय से मिलता हुआ और विजातीय से भिन्न प्रतीत होता है वे गुण हैं। गुण अनुवृत्ति रूप होते हैं और पर्याय व्यावृत्ति रूप होती है। इसी से जैन दर्शन में सामान्य और विशेष नाम के दो पृथक् पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

यह द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल के भेद से छह प्रकार है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जीव या आत्मा को अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त, अणवद, भूतों के चिन्हों से अप्राप्य, निराकार तथा चेतन्य रूप माना है। यथा—

अरसमरूपगन्धं अव्यक्तं चैवणागुणमसहं ।

जाण अलिगगहण दधमणिदिट्ठसठाण ॥

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण से युक्त पृथिवी, जल, अग्नि और वायु को पुद्गल कहते हैं। जिसमें पूरण-गलन हो उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गल द्रव्य अणु

और स्कन्ध के भेद से दो प्रकार का है। परमाणुओं के संघात से बने पृथिवी आदि को स्कन्ध कहते हैं।

जीव और पुद्गलों की गति में सहायक को धर्म कहते हैं और स्थिति में सहायक को अधर्म द्रव्य कहते हैं। अवकाश देने वाले पदार्थ को आकाश कहते हैं और द्रव्यों के परिणमन में सहायक द्रव्य को काल कहते हैं। सम्पूर्ण जगत इन्हीं छह द्रव्यों का प्रसार है।

चूँकि यह दर्शन प्रत्येक द्रव्य को परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले नित्य अनित्य, सत् असत् आदि धर्ममय मानता है इसलिये इसे अनेकान्तवादी दर्शन भी कहते हैं। जैसे प्रत्येक वस्तु द्रव्य रूप से नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य है, स्वरूप से सत् है और पर रूप की अपेक्षा असत् है। इसी को अनेकान्तवाद कहते हैं। अर्थात् एकान्त से नित्य, अनित्य आदि कुछ भी नहीं, किन्तु अपेक्षा भेद से सब है। इसी से इसे सापेक्षवाद भी कहा जाता है। अनेक धर्मात्मक वस्तु का बोध कराने के लिए 'स्याद्वाद' का अवतार किया गया है। 'स्याद्वाद' में स्यात् शब्द अनेकान्त रूप अर्थ का वाचक या द्योतक अभ्यय है। अतएव स्याद्वाद और अनेकान्तवाद एकार्थक भी माने जाते हैं। जैन विद्वानों ने स्याद्वाद के निरूपण में और समर्थन में बहुत बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं, और अनेकान्तवाद रही शस्त्र के बल से उन्होंने अन्य दार्शनिकों के मन्तव्यों का निरसन किया। है समन्तभद्र और सिद्धसेन, हरिभद्र और अकलंक, विद्यानन्दि, प्रभावन्द्र तथा हेमचन्द्र जैसे प्रकाण्ड जैन विद्वानों ने अनेकान्तवाद के बारे में जो कुछ लिखा है वह भारतीय दर्शन साहित्य में बड़ा महत्त्व रखता है। इसी से आज जब कोई अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का उच्चारण करता है तो सुनने वाला विद्वान उससे जैन दर्शन का ही भाव ग्रहण करता है।

अनेकान्तवाद जनाचार और विचार का मूल है। उसके ऊपर से जो अनेक वाद जैन दर्शन में अवतरित हुए उनमें से दो मुख्यवाद उल्लेखनीय हैं— एक नयवाद और एक सप्तभंगीवाद। नयवाद में दर्शनों को स्थान मिला और सप्तभंगीवाद में किसी एक ही वस्तु के विषय में प्रचलित विरोधी कथनों या विचारों को स्थान मिला। पहले बाद में सब दर्शन संग्रहीत हैं और दूसरे में दर्शन के विशिष्टकलित मन्तव्यों का संग्रह है।

प्रासय यह है कि भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन के प्रतिरिक्त वैशेषिक न्याय, सांख्य, वेदान्त, मीमांसा और बौद्ध दर्शन मुख्य हैं। इन दर्शनों को पूर्ण सत्य मानने में आपत्तियाँ थीं और सर्वथा असत्य कह देने में सत्य का अपलाप था। अतः उन्हें दृष्टि भेद से आंशिक सत्य स्वीकार करने के लिए नयवाद का अवतार हुआ। इस तरह स्याद्वाद, सप्तभंगीवाद और नयवाद ये तीनों वाद अनेकान्तवादी जैन दर्शन की देन है जो इतर दर्शनों में नहीं मिलते।

जैन दर्शन स्वपर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान को प्रमाण मानता है और चूँकि ज्ञान-स्वरूप आत्मा है इसलिये ग्रन्थ की सहायता के बिना केवल आत्मा से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं और इन्द्रिय आदि की सहायता से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। परोक्ष ज्ञान अपारमार्थिक होने से हेय है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष केवल-ज्ञान ही उपादेय है। इन्द्रियजन्य ज्ञान की तरह इन्द्रिय-जन्य सुख भी अपारमार्थिक होने से हेय है। जैनधर्म का कहना है कि जिन प्राणियों की सांसारिक विषयों में रति है वे स्वभावतः दुःखी हैं क्योंकि यदि वे दुःखी न होते तो सांसारिक विषयों की प्राप्ति के लिए रात दिन व्याकुल क्यों होते। चूँकि वे विषयों की तृष्णा से सताए हुए हैं अतः उस दुःख का प्रतीकार करने के लिए विषयों में उनकी रति देखी जाती है, किन्तु उससे उनकी तृष्णा शान्त न होकर और भी अधिक प्रज्वलित होती है। इसलिए सच्चे सुख की प्राप्ति के लिये इन्द्रियजन्य वैषयिक सुख हेय है।

ज्ञान की तरह सुख भी आत्मस्वरूप है। अतः आत्मोत्थ ज्ञान की तरह आत्मोत्थ सुख ही सच्चा सुख है। क्योंकि उसमें दुःख का लेश भी नहीं रहता। और न उसके नष्ट होने का भय रहता है। अतः जैन दर्शन संसार के सुख में भूले हुए प्राणियों को उसी सच्चे सुख की प्राप्ति की सलाह देता है और उसके लिए मोक्ष का मार्ग बतलाता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य ही मुक्ति का मार्ग है। तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। तत्त्वार्थ सात हैं—जीव, अजीव, प्राप्तव, बन्ध, संबन्ध, निर्जरा और मोक्ष। इन सात में से

मूल पदार्थ तो दो ही हैं जीव और अजीव । इन्हीं दोनों के सम्बन्ध से संसार की प्रवृत्ति हो रही है । जीव की प्रशुद्ध दशा का नाम ही संसार है और जीव की प्रशुद्ध दशा में-जड़ कर्म निमित्त हैं । यह जड़ कर्म जीव में कैसे प्राप्ता है और कैसे उसके माय बन्ध को प्राप्त होता है इन दोनों प्रक्रियाओं को ही आस्रव और बन्ध कहते हैं । ये दोनों ही संसार के कारण हैं । और इनसे बचने की प्रक्रिया को संवर और निर्जरा कहते हैं । नवीन कर्मों के आगमन को रोकना संवर है और पूर्व-बद्ध कर्मों का क्रमशः नष्ट होना निर्जरा है इन दोनों के होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है अतः ये दोनों मोक्ष के कारण हैं । इस तरह मुमुक्षु को जीव और अजीव को, तथा संसार के कारण आस्रव और बन्ध को व मोक्ष और उसके कारण संवर निर्जरा को सविधि जानना चाहिए और उन पर श्रद्धान रखना चाहिए । श्रद्धा-विहीन ज्ञान की कोई कीमत नहीं है उसी तरह आचरण-विहीन ज्ञान का भी कोई मूल्य नहीं है ।

कहा है —

हस्तं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिना क्रिया ।

धावन् क्लान्धको बधः पश्यन्नपि च पशुकः ॥

क्रियाहीन ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियों की क्रिया भी व्यर्थ है । एक जंगल में आग लगने पर एक अन्धा दौड़ते हुए भी जल मरा और एक लंगड़ा देखते हुए भी जल मरा । अतः सम्यक् श्रद्धामूलक ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है सम्यग्ज्ञान-मूलक आचरण ही सम्यक्चारित्र्य है । सम्यक्चारित्र्य ही यथार्थ धर्म है किन्तु उस धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसार में कहा है—

अपर्यवेणाभिगता जीवाजीवा य पुण्णपाथं च,

आसवसवरणिज्जरबन्धो मोक्षो य सम्मतं ॥१४॥

भूतार्थं नय से जाने हुए जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर निर्जरा, बन्ध और मोक्ष सम्यग्दर्शन है ।

आशय यह है कि भगवान् कुन्दकुन्द की व्याख्यान शैली दो नयों पर आश्रित है । वे दोनों नय हैं— व्यवहार और निश्चय । इनमें से उन्होंने व्यवहार को भूतार्थ तथा निश्चय को भूतार्थ कहा है और यह भी कहा है कि भूतार्थ का आश्रय लेने वाला जीव ही सम्यग्-

दृष्टि है । इन्हीं दोनों नय से उन्होंने अपने समयसार में उक्त नव पदार्थों का कथन किया है जिससे मुमुक्षु जीव भूतार्थ को छोड़कर भूतार्थ का आश्रय कर सके । उदाहरण के लिए जीव को ले लीजिये । जीव क्या है ? क्या जिस शरीर में जीव रहता है वह शरीर ही जीव है या वह शरीर जीव का है ? जीव में होने वाले रागादि विकार क्या उसके हैं । इन प्रश्नों का उत्तर व्यवहार और निश्चय नय से इस प्रकार दिया जाता है—

१. जीव और देह एक हैं यह व्यवहार नय का कथन है । जीव और देह एक नहीं हैं पृथक्-पृथक् हैं यह निश्चय नय का कथन है ।

२. रागादिक जीव के हैं यह व्यवहार नय का कथन है ये जीव वे नहीं हैं यह निश्चय नय का कथन है ।

३. शरीर जीव का है यह व्यवहार नय का कथन है और शरीर जीव से भिन्न है यह निश्चय नय का कथन है ।

इन दोनों शैलियों के द्वारा जीव के सोपाधि और निरूपाधि स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और ऐसा होने से मुमुक्षु की दृष्टि सोपाधि स्वरूप से हट कर निरूपाधि स्वरूप पर टिक जाती है । उपाधि चूँकि प्रागन्तुक है अतः वह उपादेय नहीं है निरूपाधि स्वरूप ही यथार्थ स्वरूप होने से उपादेय है । उसी की प्राप्ति के लिये मुमुक्षु व्यवहार का अवलम्बन लेते हुए भी व्यवहार मय नहीं होता । वह व्यवहार को साध्य नहीं मानता, साधन मानता है । साध्य तो निश्चय है, व्यवहार को करते हुए भी उसी पर उसकी दृष्टि केन्द्रित रहती है । इसी से वह व्यवहार विमूढ होकर अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता ।

जैन-धर्म का आचार या चारित्र्य गृहस्थ और साधु के भेद से दो प्रकार का है । अहिंसा, सत्य, धर्मीय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को साधु पूर्ण रूप से पालता है, और गृहस्थ एक दश रूप से पालता है । इसी से साधु महाव्रती कहलाते हैं और गृहस्थ प्रणव्रती कहे जाते हैं । इस द्वाय पालन का एक मात्र लक्ष्य राग-द्वेष से निवृत्ति है । रागद्वेष से निवृत्ति के लिए ही साधु चरित्र का पालन करता है । राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाने पर हिंसा बर्गरह की निवृत्ति स्वतः हो जाती है ।

जिस तरह जैन-दर्शन अनेकान्तमय है उसी तरह जैनधर्म अहिंसामय है। अनेकान्त और अहिंसा ये दो ऐसे तत्त्व हैं जो समस्त जैनाचार और विचार पर छाये हुए हैं। जैसे अनेकान्तविहीन विचार मिथ्या है वैसे ही अहिंसाविहीन आचार भी मिथ्या है। समस्त जैनाचार का मूल एक मात्र अहिंसा है। जिस आचार में जितना ही अहिंसा का अंश है उतना ही उसमें धर्म का अंश है और जितना हिंसा का अंश है उतना ही अधर्म का अंश है। सारांश यह है कि हिंसा अधर्म है और अहिंसा धर्म है किन्तु अपने से किसी के प्राणों का घात हो जाने या किसी को कष्ट पहुँच जाने मात्र से जैन-धर्म हिंसा नहीं मानता। जहाँ कर्त्ता का मन दूषित है—प्रमादी और असावधान है वहाँ बाहर में हिंसा नहीं होने पर भी हिंसा अवश्य है और जहाँ कर्त्ता का मन विशुद्ध है उसकी प्रवृत्ति पूर्ण सावधानता को लिये हुए है वहाँ बाहर में हिंसा हो जाने पर भी हिंसा नहीं है। कहा भी है—

मरकु व जीवकु जीवो अयवाचारस्स णिच्छिवा हिंसा,
पयवस्स णत्थि बंधो हिंसात्तेणेण समिवस्स ”

जीव मरे या जिये, जो अयत्नाचारी है—प्रमादमूलक प्रवृत्ति करता है उसे हिंसा का पाप अवश्य होता है। किन्तु जो अप्रमादी है, सावधानता पूर्वक आचरण करता है उसे हिंसा हो जाने मात्र से पाप का बंध नहीं होता। इसी से कहा है—कि एक बिना मारे भी पापी होता है और दूसरा मार कर भी पाप का भागी नहीं होता।

इस तरह जैन धर्म में अहिंसा की व्याख्या अध्यात्म-मूलक है। यदि ऐसा न मानकर बाह्य हिंसा को ही हिंसा माना जाता तो ससार में कोई अहिंसक हो नहीं सकता था। कहा भी है—

विष्वज्जीवचित्ते लोके वक्क करन् कोऽप्यमोक्षयत् ’

भार्जकसाधनो बन्धमोक्षो चेन्नाभविष्यताम् ’।

यदि बन्ध और मोक्ष का एकमात्र साधन भाव (जीव के परिणाम) न होता तो चहुँ ओर जीवों से भरे हुए इस संसार में विचरण करने वाला कोई भी मनुष्य क्या कभी मोक्ष प्राप्त कर सकता था ?

अतः अपनी आचनिक और कायिक प्रवृत्ति की

विशुद्धि के लिए मानसिक विशुद्धि आवश्यक है। मन के अविशुद्ध रहते हुए अहिंसा का पूर्ण पालन प्रशक्य है। मन के विकार ही मूलतः हिंसा के जनक हैं, इतना ही नहीं किन्तु वे स्वयं हिंसा रूप हैं।

क्योंकि जब हम दूसरों को मारने या सताने का विचार करते हैं तो सर्वप्रथम उस दुर्विचार से अपनी आत्मा का ही घात करते हैं। प्रत्येक मानसिक विकार उसके कर्त्ता के लिये ही सर्वप्रथम अनिष्टकारक होता है। अतः आत्मा को विकारशून्य कर देना ही पूर्ण अहिंसा है। और आत्मा की उस निर्विकार अवस्था को ही मोक्ष कहते हैं। अतः पूर्ण अहिंसा ही मोक्ष का कारण है।

किन्तु हम लोग तो गृहस्थ हैं अतः यद्यपि पूर्ण अहिंसा का पालन करने में असमर्थ हैं तथापि आंशिक अहिंसा का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है। समाज की सुख-शान्ति उसके सदस्यों की अहिंसा-मूलक वृत्ति पर ही निर्भर है। जिस समाज के सदस्यों में जितना ही पारस्परिक सौहार्द और सद्भाव होता है वह समाज उतना ही सुखी होता है। यही बात राष्ट्रों के विषय में भी जानना चाहिये। विश्व के राष्ट्रों में जितना ही सद्भाव होगा उतनी ही विश्व में शान्ति रहेगी। किन्तु जैसे समाज में सभी सज्जन नहीं होते वैसे ही सभी राष्ट्र भी सज्जन नहीं होते और इसलिए जैसे दुर्जनों के बीच में पड़कर सज्जन को भी कष्ट भोगना पड़ता है वैसे ही लड़ाकू राष्ट्रों के बीच में पड़कर शान्ति-प्रेमी राष्ट्र को भी लड़ाकू बनना पड़ता है अन्यथा उसकी स्वतन्त्रता खतरे में पड़ सकती है।

हमारा भारत देश सदा से शान्ति-प्रेमी रहा है उसने कभी किसी बाहरी देश पर आक्रमण नहीं किया, आज भी वह अपनी उस नीति पर दृढ़ है किन्तु फिर भी एक पड़ोसी राष्ट्र ने मित्रता का स्वांग रचकर उस पर आक्रमण किया और आज भी वह हमारी भूमि दबाये बैठा है। ऐसे राष्ट्र पर आक्रमण करके अपनी भूमि हस्तगत करना हिंसा नहीं है, अहिंसा है। लुटेरों की अहिंसा भी हिंसा है और मातृभूमि की रक्षा के लिए जूझने वाले वीरों की हिंसा भी अहिंसा है। हिंसा और अहिंसा का यह पाठ हमें सदा याद रखना चाहिये।

जैनधर्म में मूर्तिपूजा

डा० बिद्याधर जोहरापुरकर, जावर।

१. त्रिविध सौन्दर्य

सौन्दर्य के तीन प्रकार हैं—आत्मिक, शारीरिक तथा बाह्य। शुद्ध आत्मा के ज्ञान दर्शन, चारित्र्य आदि गुणों की उत्कृष्टता आत्मिक सौन्दर्य है। निरावण शरीर का स्वाभाविक रूप शारीरिक सौन्दर्य है। तथा वस्त्रों एवं आभूषणों से प्राप्त सौन्दर्य बाह्य तथा कृत्रिम सौन्दर्य का मोह छोड़ना चाहिए तथा फिर शरीर से भी मुक्त होकर आत्मिक सौन्दर्य में स्थिर होना चाहिए।

२. त्रिविध धर्म

सौन्दर्य के समान धर्म की भी तीन अवस्थाएँ हैं—आत्मिक, व्यावहारिक तथा औपचारिक। आत्मा का निर्मोह, निष्क्रोध समभाव में स्थिर होना यह उत्कृष्ट आत्मिक धर्म है। जैसा कि कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—
चारितं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिहिट्ठो।
मोहबल्लोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥

मुनियों के महाव्रत, समितिया आदि तथा गृहस्थों के अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत व्यावहारिक धर्म में सम्मिलित होते हैं। इनके अतिरिक्त जो धार्मिक कार्य हैं उन का—मूर्तिपूजा, मंदिर प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदि का—औपचारिक धर्म में समावेश होता है। औपचारिक धर्म तभी उपयुक्त होगा जब वह हमें व्यावहारिक (व्रतपालन रूप) धर्म की ओर प्रेरित करेगा।

३. मूर्तिपूजा क्या तीर्थंकर प्रणीत है?

धर्म के इन तीन रूपों का परस्पर सम्बन्ध और तुलनात्मक महत्व भूलने के कारण हम अक्सर मूर्ति पूजा पर बहुत अधिक जोर देते हैं। किन्तु मूर्तिपूजा के साथ कई सामाजिक प्रवृत्तियाँ जुड़ जाती हैं। मूर्ति-मन्दिरों की व्यवस्था के लिए नीकर रखे जाते हैं, उनके वेतन के लिए या मन्दिरों के जीर्णोद्धार आदि के लिए स्थायी सम्पत्ति (घर, दुकान आदि) प्राप्त की जाती है, उस की

व्यवस्था को लेकर समाज में मनमुटाव तथा कलह होते हैं। और इन सब बातों में हिंसा अवश्य ही होती है। इसी बात को देख कर स्वामी पात्रकेसरी ने कहा है कि जीव हिंसा के लिए कारण भूत मन्दिर आदि क्रियाओं का उपदेश केवलज्ञानी भगवान् भरहन्त ने नहीं दिया है, ये क्रियाएँ तो श्रावकों ने स्वयं अपनी भक्ति के कारण शुरू की हैं—

विमोक्षसुखचैत्यवानपरिपूजनाद्यात्मिका :

क्रिया बहुविधासुभुमरणपीडनाहेतवः।

त्वया उवाचितकेवलिन न हि वेशिताः किं नु ताः

त्वयि प्रसूतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः ॥

४. प्राचीन आगमों में मूर्ति पूजा का अभाव ...

इस वर्णन को देखते हुए यह स्वभाविक ही प्रतीत होता है कि जैन साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थों में—जिन की रचना वीरनिर्वाण के बाद की छह-सात शताब्दियों में हुई है—मूर्तिपूजा के उपदेश या उल्लेख नहीं पाये जाते। ग्यारह अंग, बारह उपांग, छह छेदसूत्र तथा चार मूल सूत्र इन सभी आगमों में इस बात का वर्णन नहीं है। आगमों का तात्पर्य जिस ग्रन्थ में आचार्य उमास्वाति ने संकलित किया है उस तत्त्वार्थ सूत्र में भी मूर्तिपूजा का निर्देश नहीं है।

५. व्रतों में मूर्तिपूजा का समावेश—

प्राचीन परम्परा में मूर्तिपूजा का उपदेश न होने से मध्ययुग में जिन आचार्यों ने उसका वर्णन करना चाहा उनके सामने यह कठिनाई उपस्थित हुई कि इसका समावेश गृहस्थों के किस व्रत में या किस प्रतिमा में किया जाय। रत्नकरण्ड में स्वामी समन्तभद्र ने त्रैयानुस्य शिक्षा व्रत का वर्णन करने के बाद देव पूजा का वर्णन कर दिया है। इस प्रकार वे मुनियों की सेवा के साथ देव पूजा को

१. इसी बात को लेकर सन् १४७० में बहुमदावाद में लोकाशाहने मूर्तिपूजा विरोधी स्थानकवासी संप्रदाय का प्रारम्भ किया था।

समाविष्ट करते हैं। गृहस्थों के मूल गुणों में उन्होंने इस का वर्णन नहीं किया है। सोमदेव आचार्य ने यशस्तिलक में सामायिक शिक्षाव्रत में पूजा का अन्तर्भाव किया है... आप्तसेवोपदेशः स्यात् समयः समयाधिनाम् नियुक्तं तत्र यत् कर्म तत् सामायिकमूचिरे ॥

६. जैन मूर्ति पूजा का उद्देश्य—

उपयुक्त वर्णन के बावजूद यह स्पष्ट है कि कम से कम दो हजार वर्षों से जैन समाज में मूर्ति पूजा प्रचलित है। ईसवी सन् के प्रारम्भ के समय की कुछ मूर्तियां मथुरा से प्राप्त हुई हैं उनसे सिद्ध होता है कि तब भी जैन समाज में मूर्ति पूजा प्रचलित थी। अतः यह देखना चाहिए कि इस का कौनसा उद्देश्य जैन दर्शन के अनुकूल हो सकता है। जैन मूर्ति पूजा किसी वैयक्तिक सुख-लाभ (धन मिलना, रोग दूर होना, पुत्र होना) के लिए नहीं की जाती क्योंकि जैनों के आराध्य देव—तीर्थङ्कर—सिद्ध पद को प्राप्त हुए वीतराग महापुरुष हैं—वे ससार के किसी जीव के सुख-दुःख में रुचि नहीं रखते। हम यद्यपि पूजा के प्रारम्भ में कहते हैं कि हे भगवन् अथ आगच्छ अथ तिष्ठ (यहाँ आइये और ठहरिये) तथा अन्त में यह भी कहते हैं कि जिन देवों को यहाँ बुलाया तथा पूजा की वे अपने स्थान को वापस जाये (ते मया-र्घ्याचना भक्त्या सर्वे यान्ति निजालयम्) तथापि यह हमें अच्छी तरह मालूम है कि तीर्थंकर भगवान यहाँ न आते हैं, न वापस जाते हैं। सांसारिक सुख मिलने की आशा से उन की पूजा करना किसी तरह उचित नहीं है। चक्रेश्वरी, पद्मावती, उग्रालामालिनी आदि की पूजा तो सुख की आशा से करने में कोई अर्थ हो सकता है क्योंकि ये देवियाँ सराग हैं अतः कुछ हद तक भक्तों की सहायता कर सकती हैं। किन्तु वीतराग जिनेंद्र की पूजा का यह उचित उद्देश्य नहीं हो सकता। वीतराग जिनदेव किसी पर प्रमत्त होकर सुख नहीं देते अथवा कुपित होकर दुःख नहीं देते। मनुष्य का सुखदुःख उसी के अपने कर्मों का परिणाम है, जैसा कि अमितमक्ति आचम्य ने कहा है—

निर्जाजितं कर्म बिहाय देहिनी
न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन ।

अतः सांसारिक सुख की प्राप्ति यह जैन मूर्तिपूजा का उद्देश्य नहीं है।

जिन भगवान की पूजा का वास्तविक उद्देश्य स्वामी समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र में प्रकट किया है—

न पूजयर्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिनः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

अर्थात्—हे भगवन् आप वीतराग हैं इसलिए आपकी पूजा से लाभ नहीं तथा आप बैरहीन हैं इसलिए आपकी निन्दा से भी लाभ नहीं, फिर भी आपके पवित्र गुणों की स्मृति हमारे मन को पाप रूपी कालिख से मुक्त—पवित्र करे (यही आपकी पूजा का उद्देश्य है)। तात्पर्य—भगवान जिनेंद्र के पवित्र गुणों की स्मृति होना और उन गुणों को प्राप्त करने के प्रयास की ओर प्रेरणा मिलना यही देवपूजा का वास्तविक उचित उद्देश्य है।

७. वर्तमान पूजा पद्धति

अब हमें यह देखना चाहिए कि इस समय जैन समाज में पूजा की जो विभिन्न पद्धतियाँ हैं वे इस उद्देश्य से कहाँ तक सुसंगत हैं। इन पद्धतियों में सबसे अधिक चमक-दमक वाली पद्धति श्वेताम्बर मन्दिर मार्गी भाइयों में रूढ़ है। इस पद्धति में अभिषेक और पूजा के साथ देवमूर्ति को वस्त्र और आभूषण भी पहनाये जाते हैं तथा मूर्ति को भीड़ों के स्थान पर लाख तथा आँखों में काँच या रत्न लगाये जाते हैं। स्पष्टतः यह पद्धति वीतराग भाव का स्मरण कराने वाली नहीं है। साथ ही इससे मूर्तियों का स्वाभाविक सौन्दर्य भी आच्छादित या विकृत होता है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी भगवान ऋषभदेव तथा भगवान महावीर ने निर्वस्त्र रूप में दीर्घकाल तक विहार किया था। उन्हीं की मूर्तियों को वस्त्र-भूषण पहनाना वस्तुतः सुसंगत नहीं है। इस पद्धति से कुछ सदी रीति दिगम्बर समाज के बीसपंथी भाइयों में रूढ़ है। वे मूर्तियों को वस्त्राभूषण नहीं पहनाते या लाख-काँच नहीं लगाते। किन्तु पुष्प-हार मूर्तियों के गले में पहनाते हैं, चरणों को चन्दन

लगाते हैं, अभिषेक में जल के साथ दूध, दही, घी, फलों के रस तथा कल्कचूर्ण (इलायची, लौंग आदि का चूर्ण) मिले हुए जल का प्रयोग करते हैं एवं अष्टद्रव्य पूजा में तरह तरह के पक्वान्नों एवं फलों का प्रयोग करते हैं। यह पद्धति भी बीतराग भाव की पोषक नहीं कही जा सकती। इससे एक सामाजिक प्रश्न भी उपस्थित होता है। इस रीति में भगवान् को जो फल एवं पक्वान्न अर्पित किये जाते हैं वे पूजा के बाद निर्मल्य कहलाते हैं, इस द्रव्य को बहुधा मन्दिर के नौकर (माली) अपने प्रयोग में लाते हैं, किन्तु निर्मल्य द्रव्य का इस तरह उपयोग करना पाप माना जाता है, अतः मन्दिर के नौकरों को इस पापपूर्ण कार्य के लिए मौका देना कहाँ तक उचित है यह प्रश्न सहज ही उठता है। इस पद्धति में सचित्त फल, फूल, पक्वान्न आदि का प्रयोग बन्द करके दिगम्बर समाज के तेरापथी भाइयों ने काफी सारी पूजा पद्धति अपनाई। वे अभिषेक में सिर्फ जल का प्रयोग करते हैं तथा अष्टद्रव्यपूजा में भी मूर्ति को चन्दन या फूल अर्पण नहीं करते, केवल चावल, सूखे फल तथा सूखे

खोपरे के टुकड़े ही काम में लाते हैं। किन्तु इस रीति में पूजा के जो मन्त्र अभी रूढ़ हैं वे बीसपंथी पद्धति के ही हैं। इससे कुछ असत्य भाषण का दोष उत्पन्न होता है। चन्दन, पुष्प तथा अक्षत तीनों के मन्त्र अलग-अलग पढ़े जाते हैं, किन्तु तीनों बार केवल चावल अर्पण किये जाते हैं। इसी तरह नैवेद्य और दीप के मन्त्र अलग-अलग होने पर भी पदार्थ एक ही (खोपरे का टुकड़ा) अर्पित किया जाता है।

हमारी समझ में पूजा का सर्वोत्तम तरीका यह होगा कि भगवान् की निगावण मूर्ति से सम्मुख शान्त भाव से खड़े होकर उनके मुणों का पवित्र हृदय से स्मरण किया जाय, उस प्रकार के स्तोत्रों का पठन किया जाय तथा 'मेरी भावना' जैसी उच्च भावनाओं का चिन्तन किया जाय। जैन मूर्तिपूजा का जो वास्तविक उचित उद्देश है उससे यही पद्धति सुसंगत हो सकती है ऐसी पूजा यदि सामूहिक रूप में की जाय तो उसका प्रभाव अधिक होता है तथा सामाजिक एकता के लिए भी वह बहुत उपयोगी सिद्ध होती है।

संवेग

मुनि श्री नथमल जी

वेग शब्द विज्ञ-पद से बना है। विज्ञ का अर्थ है दौड़ना, कम्पन करना। वेग दो प्रकार का होता है—शारीरिक और मानसिक। भूख, प्यास, रोना, हँसना, मल, मूत्र, वीर्य आदि शारीरिक वेग हैं। क्रोध, अभिमान, कपट लोभ, काम वासना आदि मानसिक वेग हैं। शारीरिक वेग को रोकने से हानि होती है और मानसिक वेग को न रोकने से हानि होती है। आयुर्वेद की दृष्टि से भी शारीरिक वेग को रोकना लाभप्रद नहीं है। दण्डकालिक सूत्र में कहा है—'वचस्वसं न धारय'

मल-मूत्र के वेग को मत रोको, उसे रोकने से अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मुत्सं निरोहे चक्षुः, वचननिरोहे य जीवियं चरति।

उद्धनिरोहे कोष्ठ, मुखनिरोहे भवइ अप्रसं॥

मूत्र का वेग रोकने से चक्षु की उज्योति नष्ट होती है। मल का वेग रोकने से जीवनी शक्ति का नाश होता है उर्ध्ववायु रोकने से कुष्ठरोग उत्पन्न होता है और वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है।

वेग का अर्थ है—स्फूर्ति या तीव्र गति से उपसर्ग

लगने से उसका अर्थ होता है मोक्ष के प्रति तीव्र अभिलाषा। मुमुक्षु साधु ही नहीं गृहस्थ भी हो सकते हैं, यदि मुमुक्षा के भाव प्रबल हों। गांधी जी एक दिन राजेन्द्र बाबू के घर पर गए। द्वारपाल ने उनकी वेप-भूषा देखकर जाने नहीं दिया। दुतकार कर वापस कर दिया। राजेन्द्र बाबू ने इस अपमान की स्थिति को देख लिया। वे दौड़कर नीचे आये और गांधी जी से माफी माँगने लगे। उत्तर में गांधी जी ने कहा—मान अपमान आत्मा का बन्धन है, मैं तो इससे मुक्त होना चाहता हूँ।

ये विचार वही उठते हैं जहाँ समता का भाव आता है मन के अनुकूल कार्य में गर्व की अनुभूति होती है और प्रतिकूल स्थिति में हीन भावना सताती है। यह वृत्ति मनुष्य को बार-बार दुःखी बनाती है। निन्दा और प्रशंसा में सम रहना अति कठिन है। किन्तु मुमुक्षु को उनमें सम रहना चाहिए।

लाभा लाभे, सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तथा।

समो निन्दा पंससासु, तथा माणावमाणयो॥

लाभ और अलाभ, सुख और दुःख जीवन और मरण प्रशंसा और निन्दा, मान तथा अपमान, ये पांच युगल हैं। हर व्यक्ति में मानवीय दुर्बलता होती है। इसीलिए वह पांच युगलों में से लाभ, सुख, जीवन, प्रशंसा और मान को चाहता है, अलाभ, दुःख मरण, निन्दा और अपमान को नहीं चाहता। वास्तव में जिन पाँचों को व्यक्ति चाहता है वे भी बन्धन हैं और उनसे अधिक गहरे हैं, जिनको वह नहीं चाहता। क्योंकि द्वेष और निन्दा की बात समझ में आ जाती है, पर राग और प्रशंसा की बात समझ में नहीं आती। जब यह समझ में आजायेगा कि वे भी बन्धन हैं तभी साधना सफल होगी। साधु बनने मात्र से जीवन ऊपर उठ जाएगा, यह मानना भूल है। जीवन उन्नत तभी होगा जब इनकी साधना फल वती होगी। गृहस्थ की सामायिक मुहूर्त भर तक होती है, साधु उसे जीवन भर के लिए स्वीकार करता है।

सामायिक का अर्थ है—विषमता का संबंधा परिहार लाभ और अलाभ दोनों में जीवन की विषमता है। लाभ पहाड़ है तो अलाभ गड्ढा। दोनों का समतल है

सामायिक या समता पाँचों युगल जीवन की विषमतायें हैं। उनका त्याग ही सामायिक है। साधक में सबसे पहले मुमुक्षा वृत्ति होनी चाहिए उसके सुप्त होने पर सब सुप्त हो जाते हैं। मुमुक्षा वृत्ति का परिणाम है—धर्म के प्रति श्रद्धा या इच्छा उत्पन्न होना। बिना प्रयोजन इच्छा जागृत नहीं होती। बन्धन से मुक्त होने की इच्छा का पहला साधन धर्म है। इसीलिए धर्म के प्रति श्रद्धा होती है फिर उसका आवरण। एक व्यक्ति क्रोध में जल उठता है। दूसरा क्षमा करता है। क्षमा करने वाला आनन्द की अनुभूति करता है। तब वह निश्चय करता है कि क्षमा का मार्ग सुन्दर है।

संवेग से अनुत्तर धर्म के प्रति श्रद्धा होती है और उससे अधिक संवेग बढ़ता है। धर्म के प्रति श्रद्धा है या नहीं इसका सही उत्तर आत्म-निरीक्षण से मिलता है। जिसके मन में श्रद्धा होती है। वह क्षुद्र व्यवहार नहीं करता। जहाँ उसके प्रति श्रद्धा का अभाव होता है वहाँ सब कुछ होता है जो नहीं होना चाहिए।

धर्म की वैज्ञानिकता

धर्म वैज्ञानिक तत्त्व है। वैज्ञानिक तत्त्व यह होता है जो देशकाल से प्रभावित हो जिसका निष्कर्ष सब देश-काल में समान हो। अमरीका में प्रयोग करने से सफलता मिलती है तो भारत में भी उसका प्रयोग सफल होगा। एक वर्ष पहले प्रयोग में असफलता मिल जाती भी उसमें सफलता मिलेगी सर्वत्र और सर्वदा जो प्रयोग में एक रूप रहता है वह वैज्ञानिकतत्त्व होता है। धर्म इस कसौटी में परम वैज्ञानिकतत्त्व है। धर्म आराधना, लंदन में भारत में या अमरीका में कहीं पर भी करो सबको आनन्द मिलेगा। आज कल और परसों कभी उसकी आराधना करो, उसके परिणाम में कोई अन्तर नहीं आएगा। धर्म की आराधना करने वाले सब मुक्त हो गए, वर्तमान में हो रहे हैं और भविष्य में होंगे। इसलिए, धर्म प्रायोगिक है, त्रिकालिक है और देश काल से प्रभावित है। इसीलिए वह परम वैज्ञानिक तत्त्व है।

पाश्चात्य देशों में नए दार्शनिक यह मानने लगे कि अध्यात्म के बिना शान्ति नहीं मिलती। जैन आगमों में यह उल्लेख है कि शैश साधु साधुत्व में रमण करता

हुआ क्रमशः सुखों में आगे बढ़ता है। एक वर्ष की साधना में वह भौतिक जगत के उत्कृष्ट पौदगलिक (सर्वाथिसिद्ध) सुखों का लाभ जाता है। पाँच दश और पन्द्रह वर्षों तक साधुत्वपालने पर भी यदि आनन्द नहीं आता, तब प्रश्न उठता है कि—यह सिद्धान्त सही नहीं है या वह हमारी पकड़ में नहीं आया। पहली बात पकड़ की है। वह सही है या नहीं? इसका निर्णय पकड़ के बाद ही हो सकता है। उसे पकड़ने में ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है। देवताओं का स्तर जैसे-जैसे ऊपर उठता है वैसे-वैसे उनका परिग्रह, ममत्व और शरीर की भवगाहना कम होती जाती है, शान्ति बढ़ती जाती है। निवृत्ति के साथ

सुख बढ़ता जाता है। हमें यथार्थ दृष्टि से देखना चाहिए। उसके बिना हम सत्य तक नहीं पहुँच सकते। यथार्थ दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि भौतिक सुख भी क्षणिक सुख है पर दुख इसलिए माना कि उसका परिणाम सुखद है। उसकी प्राप्ति के लिए ही क्षणिक सुख का त्याग किया जाता है। सुख केवल शारीरिक ही नहीं, मानसिक भी होता है। सब से बड़ा सुख मन की शान्ति है। मनुष्यवाद-विवाद में थकने पर शान्ति की शरण में जाता है। सबसे बड़ा दुख अशान्ति है। उसका मूल आवेग है। उस पर विजय पाना ही संवेग का मार्ग है।

दिल्लीपट्ट के मूलसंघी भट्टारकों का समयक्रम

अध्याय

डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

पूर्व विवेचन से यह स्पष्ट है कि दिल्ली पट्टाधोश भ० शुभचन्द्र की सुनिश्चित रूप से ज्ञात प्रथम तिथि वि० सं० १४७६ है और पूर्ण संभावना इस बात की है कि वह वि० सं० १४७१ में या उसके कुछ पूर्व भट्टारक पद प्राप्त कर चुके थे। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनके पूर्व पट्टधर का देहावसान एवरवयं उनका पट्टारोहण उस समय तक हो चुका था या नहीं। यदि उस समय तक नहीं हुआ था तो १७४१ और १४७६ के मध्य किसी समय हुआ।

उनके पूर्व पट्टधर एवं गुरु भ० पद्मनन्दि का यह काल पट्टावलि के अनुसार वि० सं० १३६५-१४५० लगभग ५६ वर्ष है। यह भ० प्रभाचन्द्र के प्रधान शिष्य एवं पट्टधर थे पद्मनन्दि के समय तक इस उत्तर भारतीय मूलसंघ का पट्टाध्विभाजित था। अजमेर, ग्वालियर आदि के जो दो

१. देखिए अनेकान्त, वर्ष १७ कि० २ (जून १९६४, पृ० ५४, ५६, ७४
२. वही, पृ० ५४

एक शाखा पट्टा बन चुके थे वे भी इस प्रधान पट्टा के ही आधीन थे और उनके भट्टारक अपने समकालीन दिल्ली पट्टाधोश को ही अपना अध्यक्ष एवं गुरु मानते थे, किन्तु भ० पद्मनन्दि के समय में ही या उनके उपरान्त उनके विभिन्न शिष्यों ने जो कई पट्टा स्थापित किये वे आगे से परस्पर स्वतन्त्र चले, अपनी-अपनी पट्टावलियाँ भी वे सब इन भ० पद्मनन्दि से ही प्रारम्भ करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल-नन्दि सघ-बलात्कारगण-सरस्वती गच्छ की जो पट्टावलियाँ प्रचलित हैं और जो भद्रबाहु द्वितीय से प्रारम्भ होकर इन पद्मनन्दि पर समाप्त होती हैं, उनके मूलरूप का निर्माण इन्हीं के समय में हुआ था। शाखापट्टों ने उस मूल पट्टावली प्रायः समान रूप से अपनाकर उसके आगे अपनी-अपनी परम्परा की पट्टावलियाँ उसमें जोड़ दी। जिस एक पट्टावली में प्रारम्भ से लेकर २० वीं शती वि० के पूर्वार्ध तक के प्रत्येक आचार्य का पृथक् २ पट्टारोहण काल प्राप्त होता है वह चित्तौड़-आमेर पट्टा का है। उसमें यह पट्टकाल १६ वीं या १७ वीं शती ई० से

जोड़े जाने प्रारंभ हुए लगते हैं और प्रायः उसी समय संभवतया पूर्वाचार्यों के पट्टकाल भी अनुश्रुति या अनुमान के आधार पर उसमें दर्ज कर दिये गये प्रतीत होते हैं। अतएव उनकी जाँच अपेक्षित है।

नन्दिसंघ के इन भट्टारकों में दिल्लीपट्टाधीश पद्मनन्दि का अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान है। वह एक महान प्रभावक आचार्य, उभयभाषाप्रवीण विद्वान एवं साहित्य-कार और राजमान्य गुरु थे। एक पट्टावली में उन्हें 'शास्त्रार्थवित एवं तपस्वी' विशेषण दिया है^३, दूसरी में इन्हें 'अध्यात्मशास्त्री एवं यथार्यात चारित्र का प्रचारक' बताया है^४ और एक अन्य में विशुद्धमिद्धांतरहस्यरत्न रत्नाकर' तथा 'शाश्वत प्रतिष्ठा-प्रतिमागरिष्ठ'^५। एक पट्टावलि के अन्त में लिखा है कि 'बलात्कारण के अग्रणी इन गुरु पद्मनन्दि ने उज्जयित (गिरनार) गिरि पर सरस्वती की पाषाण प्रतिमा को बुरावा दिया था'^६। इनके शिष्यों प्रशिष्यों आदि ने भी अपने अभिलेखों एवं ग्रन्थप्रशस्तियों में इनका प्रभूत यशोगान किया है। इनकी कृतियों के रूप में श्रावकाचार सारोद्धार, अनेक स्तोत्र, कई पूजाएँ वर्धमान चरित्र आदि प्रसिद्ध हैं इनका शिष्य परिवार भी पर्याप्त विशाल था, जिनमें इनके प्रधान षट्पुत्र शुभचन्द्र मागवाडा, (बागड) एवं ईडर पट्टों के संस्थापक सकलकीर्ति, सूरत पट्ट के संस्थापक देवेन्द्रकीर्ति, मलखेड पट्ट के रत्नकीर्ति, खालियर पट्ट के त्रिलोककीर्ति या (देवेन्द्रकीर्ति), तथा मदनकीर्ति, विशालकीर्ति, नेमिचन्द्र आणिका रत्नश्री कवि जयमित्र हल्ल आदि प्रसिद्ध हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भ० शुभचन्द्र के उल्लेख वि० सं० १४७१ के पश्चात् प्राप्त होते हैं। भ० देवेन्द्रकीर्ति का पट्टारंभ पट्टावलियों में वि० सं० १४४४ और सकलकीर्ति का १४५१ पाया जाता है, किन्तु विशेष ऊहापोह से ऐसा लगता है कि सकलकीर्ति गुरु पद्मनन्दि के पास नैणवाँ में वि० सं० १४६६ में गये तथा उन्हें आचार्य पट्ट की प्राप्ति १४७१ या १४७७ में हुई। उनके

३. जै० सि० भास्कर भा० १, कि० ४, पृ० ८१-८४

४. वही, शुभचन्द्र गुर्वावलि

५. वही, भाग ६, कि० २, पृ० १०८-११६

६. वही, भा० २२, कि० १, पृ० ५१-५६

प्राप्त मूर्तिलेखों की लिपियाँ भी सं० १४६०, १४६२, १४६७ है^७। टोडानगर (संभवतया टोडारायसिंह) में भूगर्भ से निकली २६ जिन प्रतिमाओं पर अंकित लेखों से विदित होता है कि उनकी प्रतिष्ठा सं० १४७० में पद्मनन्दि के शिष्य विशालकीर्ति ने किन्ही गंगवाल गोत्रीय खडेलवाल श्रावक के लिये की थी^८। इसी वर्ष (सन् १४१३ ई०) की इन्हीं विशालकीर्ति द्वारा बिल्हण और उसके पुत्रों के लिये प्रतिष्ठापित मूर्तियाँ टोंक में प्राप्त हुई बताई जाती हैं^९ १४१५ (वि० सं १४७२) में इन पद्मनन्दि के शिष्य नेमिचन्द्र ने आपा नामक किसी व्यक्ति के लिये प्रतिष्ठा की थी और स्वयं उन्होंने (?) असपाल नामक किसी व्यक्ति द्वारा उमी वर्ष पार्श्व प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी^{१०}। सं० १४७२ को ही फागुन ब० १ को जिन भ० पद्मनन्दि ने हूँबड़ जातीय उत्तरेद्वर गोत्रीय श्रावकों के लिये आदिनाथ पंचतीर्थी की प्रतिष्ठा की थी^{११}। वह भी यही पद्मनन्दि प्रतीत होते हैं। उसी वर्ष एवं तिथि के एक अन्य लेख के अनुसार उसी जाति एवं गोत्र के अन्य श्रावकों ने इन्हीं के उपदेश से मुनिसुव्रत जिनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी^{१२}। इस लेख के 'श्री पद्मनन्दिपदेशा श्री नेमिचन्द्र शिष्य' से ऐसा लगता है कि वह प्रतिष्ठा इन्होंने अपने शिष्य नेमिचन्द्र द्वारा कराई थी। इसी वर्ष एवं तिथि को हूँबड़ श्रावकों के लिये ही पद्मचन्द्र (पद्मनन्दि) शिष्य नेमिचन्द्र द्वारा चित्तौड नगर में प्रतिष्ठा करने का एक अन्य लेख मिलता है^{१३}। सं० १४८० का एक लेख उनके किसी पट्टधर का है (नाम खंडित है)^{१४}। यह नेमिचन्द्र वही प्रतीत होते हैं जिनका उल्लेख पद्मनन्दि के प्रपट्ट पर जिनचन्द्र दीक्षा गुरु के रूप में पाया जाता है।

इस सबसे यही फलितार्थ निकलता है कि भट्टारक पद्मनन्दि की उत्तरावधि वि० सं० १४७२ (सन् १४१५

७. शोषांक १६, पृ० २०८-२०९

८. जै० ग्र० प्रशास्ति संग्रह, भा० १, प्रस्तावना पृ० २१

९. कैलाशचन्द जैन—जैनज्म इन राजस्थान, पृ० ७५

वीरवाणी ७ के आधार से

१०. पट्टी, पृ० ७५—अनेकांत, १३, १२६ के आधार से

११. बीकानेर जै० ले० संग्रह, नं० १६४७।

ई०) के आसपास है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि वि० सं १४७० और १४७६ के मध्य किसी समय उनका स्वर्गवास हुआ।

वि० सं १४६१ की पद्मनन्दि के गुरु भाई अभय-कीर्ति की दिल्ली नगर में ही लिखाई गई एक प्रशस्ति में गुरु प्रभाचन्द्र का तो उल्लेख है किन्तु पद्मनन्दि का कोई उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार वि० सं १४५४ में प्रभाचन्द्र के गृहस्थ शिष्य धनपाल कवि द्वारा रचित बाहुबलिचरित में भी म० पद्मनन्दि का कोई उल्लेख नहीं है। इस ग्रन्थ की रचना कवि ने चंदबाड़ के चौहान नरेश अभयचन्द्र के मन्त्री सधाधिप वासाधर की प्रेरणा से की थी। प्रशस्ति में वासाधर के आठ पुत्रों का उल्लेख है। इन्हीं वासाधर के हितार्थ प्रस्तुत म० पद्मनन्दि ने अपना श्रावकाचारसारोद्धार (पद्मनन्दि श्रावकाचार) लिखा था। ग्रन्थ में रचनाकाल नहीं दिया गया है और उसकी प्रशस्ति में वासाधर के पुत्रों का भी कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु उनके पितामह, पिता और सात भाइयों का वर्णन है और उनके पिता सोमदेव के श्रावकाश ग्रहण करने की बात भी ऐसे लिखी है जैसे कि वह थोड़े समय पूर्व की ही घटना हो। इससे प्रतीत होता है कि पद्मनन्दि के उक्त ग्रन्थ की रचना वि० सं १४५४ से पर्याप्त पूर्व संभव है पद्मनन्दि-बीस वर्ष पूर्व हो चुकी वि० सं १४५० में इन्हीं प्रभाचन्द्र शिष्य म० पद्मनन्दि ने चौहान राजा भुवदेव (जो शायद भदावर प्रान्त के कोई नरेश थे) के पुत्र श्री सुवर के राज्य में गोलाराडान्वयी श्रावकों के लिये धातुमयी आदिनाथ समवसरण की प्रतिष्ठा की थी। उपरोक्त के अतिरिक्त इनकी कोई निश्चित तिथि अभी तक ज्ञात नहीं हुई है।

हाँ, बीकानेर प्रदेश में दो प्रतिमा लेख ऐसे प्राप्त हुए हैं जिनमें 'श्री मूलसंधे भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेव गुरुप-

१५. जै० ग्र० प्रशस्ति संग्रह, भाग २, पृ० ३२-३७

१६. वही। राजा अभयचन्द्र की अंतिम ज्ञाततिथि भी वि०-सं० ८४५४ ही है।

१७. जै० ग्र० प्रशस्ति संग्रह, भा० १ पृ० २०-२३

१८. कामताप्रसाद जैन—जै० प्रतिमा लेख संग्रह,

देशेन' रूप में एक पद्मनन्दि का उल्लेख प्राप्त होता है। इन लेखों में से एक संवत् १३७३ का है और दूसरा संवत् १३८७ का है। अब प्रश्न यह है कि क्या यह 'मूलसंधी भट्टारक पद्मनन्दि' हमारे दिल्ली पट्टाधीश म० पद्मनन्दि से अभिन्न हैं जिनका कि अस्तित्व वि० सं० १४७०-७१ तक तो पाया जाता है? यदि ऐसा माना जायेगा तो उनका भट्टारक जीवन या पट्टकाल लगभग एक सौ वर्ष बैठता है जब कि पट्टावलियों के अनुसार भी वह केवल ६५ वर्ष ही है। इसके अतिरिक्त जैसा कि आगे देखेंगे उनके गुरु प्रभाचन्द्र का अस्तित्व वि० सं १४१६ तक संभव है। ऐसी स्थिति में पद्मनन्दि का आचार्य काल (भट्टारक जीवन या पट्टकाल) उसके आसपास या कुछ बाद ही प्रारम्भ होना चाहिए। पट्टा-वलि प्रतिपादित ६५ वर्ष का समय उनके सम्पूर्ण मुनि जीवन का सूचक हो और यह संख्या ठीक हो तो भी वि० सं० १४१६ से पाँच-सात वर्ष पूर्व दीक्षित होने पर वह ठीक बैठ जाता है—उसके पूर्व उनका भट्टारक के रूप में अस्तित्व वहाँ होना असम्भव सा लगता है। मुनि-चित्त ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार से जिस प्रकार उनकी उत्तरावधि वि० सं० १४५० से बीस या पच्चीस वर्ष आगे खिसकानी पड़ी है उसी प्रकार उनकी पूर्वावधि १३८५ में भी उतनी ही, बल्कि उससे कुछ अधिक वर्षों की वृद्धि करनी पड़ेगी। अतएव बीकानेर के उक्त दोनों लेखों की तिथियों के पढ़ने लिखने या छपने में यदि कोई भूल नहीं हुई है तो १६. बीकानेर जैन ल० संग्रह, न० २५६ और ३१८

२०. जैसा कथन किया जा चुका है पट्टावलियों में म० पद्मनन्दि का पट्टकाल वि० सं० १३८५-१४५० दिया है।

किन्तु पं० परमानन्द जी ने (जै० ग्र० प्र० संग्रह भाग १, पृ० १६, २१ पर) न जाने किस आधार पर सं० १३७५ सूचित किया है। इसी प्रकार डा० कलाशचन्द्र ने जैनज्म इन राजस्थान, पृ० ७४/४ पर) भी न जाने किस आधार पर १३२५ ई० (वि० सं० १३८२) कथन किया है।

उनके पद्मनन्दि कोई दूसरे ही पद्मनन्दि हैं— प्रभाचन्द्र के पट्टधर दिल्ली पट्टाधीश पद्मनन्दि नहीं हैं। यदि वे वर्ष (१३७३ और १३८७) शक संवत् के वर्ष हों तो भी उनका अभिप्राय इन पद्मनन्दि से नहीं हो सकता दोनों लेखों को देखने से इसमें भी सन्देह नहीं लगता कि उनमें उल्लिखित पद्मनन्दि परस्पर में अभिन्न हैं। एक पद्मनन्दि (या पंकजनन्दि) भट्टारक ने वि० सं० १३६२ में 'आराधना संग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की थी २१। सम्भव है कि उन लेखों के पद्मनन्दि यह ही हों।

दिल्ली पट्टाधीश पद्मनन्दि के गुरु एवं पूर्व पट्टधर भ० प्रभाचन्द्र और भी महान एवं प्रभावक दिगम्बराचार्य थे। पट्टावली के अनुसार उनका पट्टकाल वि० सं० १३१०-१३८५, लगभग ७५ वर्ष है। किन्तु उनकी सर्व प्रथम सुनिश्चित एवं ज्ञात तिथि वि० सं० १४०८ है— उस वर्ष की उनके द्वारा प्रतिष्ठित दो जिन प्रतिमाएँ फकीरा तीर्थ पर विद्यमान बताई जाती हैं २२। वि० सं० १४१२ में जिन प्रतिष्ठाचार्य प्रभाचन्द्र ने कुछ लंबकच्छुक भावकों के लिए चातुमयी अर्हत् प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी २३। वह यही प्रतीत होते हैं। वि० सं० १४११ और १४१३ के प्रतिमा लेख इन्हीं के हैं २४। वि० सं० १४१६ में इनके शिष्य ब्रह्मनाथूराम ने दिल्ली में ही स्वपठनार्थ आराधना पंजिका की प्रतिलिपि की थी २५। उसकी प्रशस्ति में उन्होंने स्वगुरु प्रभाचन्द्र का जिस प्रकार उल्लेख किया है उससे वह उस समय विद्यमान रहे प्रतीत होते हैं। उसके उपरान्त भी वह विद्यमान रहे या नहीं और रहे तो कितने समय तक यह नहीं कहा जा सकता।

पं० पन्नालाल दूनी वालों के विद्वज्जनबोधक के अनुसार वि० सं० १३०५ में यह प्रभाचन्द्र दिल्ली के बादशाह के निमन्त्रण पर उसके दरबार में गये और

२१. दि० जै० ग्रन्थ कर्त्ता और उनके ग्रन्थ

२२. जैन यात्रा दर्पण, पृ० १६।

२३. कामताप्रसाद जैन— जैन प्रतिमालेख संग्रह

२४. जैन सि० भास्कर, भा० २२, कि० २, पृ० ४-५

२५. ना० रा० प्रेमी— जै० सा० ६०, पृ० ८१ कु० नोट

उसके कहने पर लाल वस्त्र धारण करके रक्ताम्बर हो गये। बखतराम के बुद्धि विलास के अनुसार यह सं० १३७५ में दिल्ली प्राये थे और तभी बादशाह फीरोज शाह के दरबार में इन्होंने राघो और चेतन नामक विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था और अपने मन्त्र बल से अमावस्या के दिन चन्द्रमा दिखला दिया था। कुछ अनुश्रुतियों में यह घटनाएँ अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में हुई बताई जाती हैं। इवेताम्बराचार्य जिन प्रभसूरि (विविध तीर्थकल्प कर्त्ता) के संबंध में भी ऐसी ही दन्त कथाएँ प्रचलित हैं— किन्तु उनका सम्बंध मुहम्मद तुगलक के दरबार से रहा बताया जाता है। यह भी कहा जाता है कि प्रभाचन्द्र अजमेर से समवतया सुलतान के निमन्त्रण पर दिल्ली प्राये थे और फिर अन्त तक यही रहे। दिल्ली में इस पट्ट के वही संस्थापक एवं प्रथम पट्टाधीश थे। इनके शिष्य कवि धनपाल ने अपने पूर्ववर्त बाहूबलिचरित (वि० सं० १४५४) में लिखा है कि 'गुर्जर देश के पल्लवपुर नगर में राजावीसलदेव के शासनकाल में पुरवाडवंशी जिनभक्त राघवश्रेष्ठि भोवई थे, उनके पुत्र सुहृद थे और मुहृद के पुत्र यह धनपाल थे। एक बार महागणि श्री प्रभाचन्द्र भ्रमण करते हुए अनेक शिष्यों सहित उस नगर में पधारे। किशोर धनपाल दर्शनार्थ गये और हाथ जोड़ कर गुरु को नमस्कार किया। उसे देखकर गुरु ने कहा कि यह लड़का मेरे प्रमाद से विचक्षण पुरुष बनेगा। अस्तु धनपाल गुरु की सेवा में रहकर विद्याभ्यास करने लगा और उन्हीं के साथ पट्टण, खमात, धारानगरी, देवगिरि आदि होता हुआ अन्त में योगिनीपुर (दिल्ली) पहुँचा। वहाँ भव्यजनों ने एक सुमहोत्सव किया और प्रभाचन्द्र को रत्नकीर्ति के पट्ट पर अभिषिक्त किया। इन भ० प्रभाचन्द्र ने महमूद साहि के मन को अनुरजित किया था और अपनी विद्या द्वारा वादियों के मान का भंजन किया था। कुछ समय पश्चात् गुरु की आज्ञा लेकर धनपाल गौरपुर की यात्रा के लिए गये। मार्ग में चंदवाड नाम का सुन्दर नगर देखा और वहाँ उनकी जिनभक्त वासाधर से भेंट हुई।' उसके उपरान्त वह फिर दिल्ली आ गये प्रतीत होते हैं। और कालान्तर में वासाधर के निमन्त्रण पर चन्द्रवाड में ही जाकर रहने

लगे। वहाँ उन्हीं की प्रेरणा से उन्हींने अपना बाहुबलि चरित (अपभ्रंश) लिखा जो वि० सं० १४५४ में समाप्त हुआ।

उपरोक्त वर्णनों में उल्लिखित दिल्ली के सुलतानों के तीन नाम प्राप्त होते हैं। फ़ीरोज, अलाउद्दीन और महमूद शाह। खिलजी बंश के प्रथम सुलतान जलालुद्दीन फ़ीरोज ने वि० सं० १३४७ से १३५३ तक राज्य किया। उसके उत्तराधिकारी अलाउद्दीन खिलजी ने वि० सं० १३५३ से १३७३ तक। उसके बाद गयासुद्दीन तुगलक ने १३७७ से १३८२ तक मुहम्मद बिन तुगलक (मुहम्मद शाह) ने १३८२ से १४०८ तक और फ़ीरोज शाह तुगलक ने १४०८ से १४४५ तक।

प्रभाचन्द्र की उत्तरावधि की तथा धनपाल के कथन को ध्यान में रखते हुए प्रभाचन्द्र का दिल्ली आगमन सं० १३०५ में तो हो ही नहीं सकता। यह शक वर्ष ही अर्थात् वि० सं० १४४०) हों तो वह भी असम्भव है। जलालुद्दीन फ़ीरोज के समय में आने की भी संभावना कम है। जायसी की पद्मावत के अनुसार राघो चेतन अलाउद्दीन खिलजी का दरबारी था—किन्तु उसके समय की भी यह घटना प्रतीत नहीं होती। सं० १३७५ की तिथि भी मात्र अनुमान पर आधारित प्रतीत होती है। जिनप्रभसूरि मुहम्मद तुगलक के समय में दिल्ली पधारे थे, उनसे संबंधित अनुश्रुति भी सुलतान के दरबार में उनके द्वारा राघो चेतन की पराजय और अमावस्या को चन्द्रमा दिखाने आदि का वर्णन करती है। अपने आरंभिक शासन काल में यह सुलतान पर धर्म सहिष्णु था, हिन्दू जैन आदि मुसलमानेतर सन्तों का सम्मान करता था और उनके बाद विवादों में रस लेता था। उसने दिल्ली के सरावगियों के हितार्थ एकफर्मान भी जारी किया था २६। उसका उत्तराधिकारी फ़ीरोज तुगलक पर धर्म असहिष्णु कट्टर मुसलमान था। अतएव धनपाल द्वारा उल्लिखित महमूदसाहि जिसने भ० प्रभाचन्द्र का सम्मान किया था, उनसे प्रसन्न था और जिसके दरबार में उन्होंने वादियों का मान भजन किया था, उनसे प्रसन्न था यह मुहम्मद बिन

तुगलक (वि० सं० १३८२-१४०८) ही प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि वे उसके राज्यकाल के आरम्भ में ही उसके निमंत्रण पर यह दिल्ली पधारे थे और यहीं पट्टस्थापन करके रह गये। सुलतान की इच्छानुसार इन्होंने रक्ताम्बर भा धारण कर लिया प्रतीत होता है। अस्तु हो सकता है कि १३७५ के लगभग यह अजमेर में स्वगुरु रत्नकीर्ति के स्वर्गवास के उपरान्त पट्ट पर बैठे हों, १३८२-८३ में दिल्ली पधारे हों, १३८५ में दिल्ली पट्ट की स्थापना की हो। वि० सं० १३८७ के पश्चात् ही सुलतान की प्रवृत्ति बदलने लगी थी, उसकी नृणंसत्ता एवं असहिष्णुता भी बढ़ने लगी थी अतः ऐसी स्थिति में यह देशाटन को निकल गये हों वि० सं० १४०४ के लगभग धनपाल से भेंट हुई और एक दो वर्ष बाद उसी सुलतान के अन्तिम वर्षों में फिर दिल्ली आ गये हों। भव्य जनों ने उनके इस पुनरागमन पर महोत्सव किया हो। वि० सं० १४२० के लगभग धनपाल शौरपुर आदि की यात्रा के लिए गया हो और फिर सं० १४२५ के लगभग गुप्त का स्वर्गवास हो जाने पर चन्द्रवाड़ में ही जाकर रहने लगा हो।

भ० प्रभाचन्द्र के गुरु एवं पूर्व पट्टधर रत्नकीर्ति का पट्टकाल पट्टावली में वि० सं० १२६६-१३१० दिया है, जो अवश्य ही गलत है किन्तु अवधि १४ या १५ वर्ष ठीक हो सकती है। वह अजमेर में ही पट्ट पर बैठे और वही शान्त हुए थे, अतः उनका समय वि० सं० १३६०-७५ के लगभग रहा प्रतीत होता है।

उनके पूर्व पट्टधर भ० धर्मचन्द्र थे जिनका काल वि० सं० १२७१-६६ लगभग २५ वर्ष बताया है। इसमें भी तिथियाँ गलत हैं, वर्ष संख्या ठीक हो सकती है। उनका एक बहुधा प्रयुक्त विशेषण—'हम्मीर भूपाल समर्चित पादपद्म' प्राप्त होता है, जिससे स्पष्ट है कि वह हम्मीर नाम के किसी नरेश से सम्मानित हुए थे। रणथम्भीर के सुप्रसिद्ध चौहान नरेश राणा हम्मीरदेव का समय वि० सं० १३४०-५८ है। और हमारी गणना के अनुसार भ० धर्मचन्द्र का पट्ट काल वि० सं० १२५५-१३६० आता है। अतएव यह दोनों व्यक्ति समकालीन थे और इस बात की पूरी सम्भावना है कि इन्हीं हम्मीर भूपाल द्वारा भ० धर्मचन्द्र सम्मानित हुए थे। रणथम्भीर

भारतीय दर्शनकी तीन धाराएँ

भगवान्वास विज्ञ, एम० ए० (संस्कृत)

जब से पाश्चात्य विद्वानों ने भारत के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन प्रारम्भ किया है तब से भारतीय दर्शन के प्रति कुछ गलत धारणाएँ जम गई हैं। उदाहरण के रूप में कुछ पाश्चात्य विचारकों का मत है कि समस्त भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का उद्गम उपनिषदों से हुआ है। उनका कहना है कि भारत में प्रचलित समस्त धार्मिक परम्पराएँ 'हिन्दु धर्म' की ही विभिन्न शाखाएँ हैं। कुछ एक तो यहाँ तक पहुँच गये हैं कि भगवान् महावीर तथा बुद्ध ने उपनिषद् काल के ऋषियों के कार्य को ही आगे बढ़ाया। इसमें उनको वैयक्तिक कोई देन नहीं है। अतः बौद्ध और जैन दोनों परम्पराएँ अपना भिन्न अस्तित्व न रखकर उपनिषद् परम्परा के ही अतिक्रमण रूप हैं। किन्तु ये विचार कहाँ तक तर्क-संगत हैं, यह ब्राह्मण (हिन्दू), बौद्ध, तथा जैन तीनों परम्पराओं के मूलभूत सिद्धान्तों के विवेचन से पता चलता है। प्रस्तुत लेख में तीनों परम्पराओं के मूलभूत सिद्धान्तों का ही स्पष्टीकरण

किया जायेगा।

भारतीय दर्शन की तीन महत्वपूर्ण धाराएँ हैं। प्रथम ब्राह्मण परम्परा का मूल आधार है उपनिषदों का आत्मवाद, दूसरी बौद्ध परम्परा का अनात्मवाद और तीसरी जैन परम्परा का स्याद्वाद। 'सत्य' पर पहुँचने के लिए तीनों परम्पराओं के सर्वथा भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। उपनिषद् तथा ब्राह्मण परम्परा का अनुसरण करने वाले अन्य सम्प्रदाय 'सत्य' को आन्तरिक शक्ति अर्थात् आत्मा पर आधारित मानते हैं। ये आत्मा को निर्विकार, निर्विकल्प तथा अस्थिर पदार्थों से सर्वथा भिन्न मानते हैं। इन परम्पराओं का अभिमत है कि 'आत्मा' का बाह्य पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसे 'आत्मवाद' का सिद्धान्त कहते हैं। अपने मौलिक सिद्धान्त के रूप में अद्वैत वेदान्त बाह्य दिखाई देने वाली अस्थिर वस्तुओं को सत्य नहीं मानता, बल्कि उन्हें माया के आवरण के कारण मिथ्या दृष्टि का परिणाम

का यह चौहान वंश अजमेर के ही चौहान वंश की शाखा था और राणा हम्पीर देव सुप्रसिद्ध पृथ्वीराज चौहान के ही वंशज थे।

इस प्रकार इन मूलसंघी भट्टारकों के पट्टकाल निम्न प्रकार स्थिर होते हैं—

धर्मचन्द्र	वि० सं० १३३५-१३६०	(१२७८-१३०३) ई० लगभग
रत्नकीर्ति	१३६०-७५	(१३०३-१३१८ ई०) लगभग
प्रभाचन्द्र	१३७५-१४२५	(१३१८-१३६८) ई० लगभग

पद्मनन्दि	वि० सं० १४२५-१४७५	(१३६८-१४१८ ई०) लगभग
शुभचन्द्र	१४७५-१५०७	(१४१८-१४५० ई०) लगभग
जिनचन्द्र	१५०७, १५७१	(१४५०-१५१४ ई०) लगभग

इससे स्पष्ट है कि जिनचन्द्र से पूर्व की सब तिथियाँ पट्टावली में १६ वीं वा १७ वीं शती में केवल अनुमान से दर्ज करवा दी गई हैं, वे सही नहीं हैं।

मानता है। 'आत्मा' और परमात्मा में कोई भेद नहीं है, ऐसा शंकराचार्य ने स्वीकार किया है। संक्षेप में अद्वैत वेदान्त आत्मा को परिवर्तन रहित एवं स्वप्रकाश चैतन्य स्वरूप मानता है।

सांख्य दर्शन यद्यपि इतनी दूर तो नहीं जाता, परन्तु फिर भी आत्मा की स्थिरता एवं शाश्वतता को स्वीकार करता है। सांख्य में आत्मा के स्थान पर पुरुष शब्द का प्रयोग किया गया है। न्याय तथा वैशेषिक आत्मा के सत्य स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार आत्मा अद्वितीय है। वे आत्मा तथा उसके गुणों को समान रूप देते हैं। ये परम्पराएँ आत्मा के अस्तित्व को केवल स्वीकार ही नहीं करतीं, बल्कि इच्छा, अनिच्छा, सुख-दुःख आदि को आत्मा के ही गुण मानती हैं। इनके अनुसार आत्मा शाश्वत तथा विनाशहीन है। यह 'विभु' मानो गई है, क्योंकि समय अथवा देश आदि का इस पर प्रभाव नहीं पड़ता है। दोनों परम्पराओं के अध्यात्म शास्त्र ज्ञानशास्त्र तथा आचारशास्त्र का एक मात्र केन्द्र है—आत्मा। ज्ञानशास्त्र में आत्मा ही अनुभव का ऐक्य तथा पूर्णता स्थापित करती है। ये परम्पराएँ दूसरी विचार-पद्धतियों की अपेक्षा, अनुमान, स्मृति तथा वैयक्तिक साम्य का अच्छी तरह से विवेचन करती हैं। यहाँ बन्ध, आत्मा का मिथ्याज्ञान माना गया है अथवा यूँ कह सकते हैं कि अनात्मा का आत्मा के साथ साम्य हो गया है। 'आत्मन्यनात्मा ध्यासे' इसके विपरीत मोक्ष आत्मा तथा अनात्मा का स्पष्टीकरण है। अतः यह स्पष्ट है कि ये सब परम्पराएँ आत्मा को मुख्यता देती हैं। इन परम्पराओं का मूल आधार उपनिषद् विचार पद्धति है जहाँ आत्मा को ही परमात्मा माना गया है।

दूसरी परम्परा बौद्धों की है जिसमें आत्मा तथा इससे सम्बन्धित अन्य तत्त्वों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता। आचार्य शान्तरक्षित के अनुसार नैरात्म्यवाद भगवान् बुद्ध के विचारों को १—न्याय-भाष्य १-१-१०

सर्वथा भिन्न मानता है :—

एतच्च युगतसेष्टम् आद्यो नैरात्म्यकीर्तनात्।

सर्वतोऽप्यङ्गतां तस्मात् स्थितो मूर्धान तथागतः ॥

टी० ए० ३३४०

इस परम्परा के अनुसार वस्तुओं में कोई निर्विकार तथा निर्विकल्प नाम का आन्तरिक तत्त्व नहीं है। परन्तु प्रत्येक वस्तु प्रवाह समान है। बौद्धों के लिए अस्तित्व क्षणिक स्वलक्षण तथा धर्मपात्र है। यह नश्वर तथा अमूर्त रूप है। अतः यहाँ आत्मा की शाश्वतता को भ्रान्तिजनक माना गया है जो कि अविद्या के कारण मिथ्या विचारों की उत्पत्ति है। इसे केवल रूप विषयक सत्यता कहा जा सकता है। इस प्रकार से बौद्ध अपने ज्ञानशास्त्र तथा आचार शास्त्र के साथ अध्यात्मविद्या का साम्य स्थापित करते हैं। यही नहीं अनुमान, अनुभव तथा मानसिक रचना का विकल्प भी आत्मा की अस्थिरता पर आधारित है। यहाँ तक कि इस सिद्धान्त का कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त के साथ भी समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। अविद्या जो कि समस्त दुःखों का मूल कारण है, आत्मा में मिथ्या विश्वास है। ज्ञान का अर्थ है— इस मिथ्या विश्वास का हट जाना तथा इससे उत्पन्न बुराइयों का सर्वथा उन्मूलन।

प्रस्तुत विचार पद्धतियाँ ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों, एक दूसरे का विरोध करती हैं। जहाँ ब्राह्मण परम्परा आत्मा की नित्यता को स्वीकार करती है, वहाँ बौद्ध परम्परा केवल आत्मा ही नहीं परन्तु दूसरे तत्त्वों को भी शून्य मानती है। बौद्ध आत्मा की स्थिति को कुछ एक विचार शृंखला को रूप में ही स्वीकार करते हैं।

तोसरी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक परम्परा है 'जैन' जहाँ ब्राह्मण परम्परा तथा बौद्ध एक दूसरे का विरोध करती हैं, वहाँ जैन दोनों के विरोध का समन्वय करती है अर्थात् यह आत्मा तथा इसके पर्यायों की समान सत्यता प्रदान करती है। द्रव्य 'आत्मा' के बिना पर्याय का अस्तित्व नहीं है, तथा पर्याय के

बिना द्रव्य (आत्मा) का अस्तित्व नहीं है। सत्यता अनेकान्तात्मक है, अतः स्वभाव भी विभिन्न प्रकार का है। एकात्मक होते हुए भी पार्थक्य लिए हुए है, सार्वलौकिक होकर भी विशेष रूप से स्थायी होकर भी परिवर्तनशील है।

इस प्रकार से जैन दार्शनिकों ने अपने ज्ञान-शास्त्र का निर्माण इस विचारपद्धति पर किया तथा स्याद्वाद के तर्क का प्रतिपादन किया। यहाँ स्याद्वाद पर दो शब्द उपयुक्त होंगे।

स्याद्वाद अथवा 'प्रत्येक निर्णय सापेक्ष है' का सिद्धान्त जैन परम्परा की आधार-शिला है। इसने ही जैन धर्म को 'सहिष्णु धर्म' के नाम से प्रसिद्ध किया। जैन विचारकों का कथन है कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं से सम्बन्धित तत्कालीन अथवा कालीन ज्ञान जो हमारे पास है वह यह सिद्ध करता है कि प्रत्येक वस्तु अथवा द्रव्य के अनेक गुण हैं। एक सर्वज्ञ 'केवल ज्ञान' के द्वारा अनेक गुणों वाले द्रव्य का तत्कालीन ज्ञान प्राप्त कर सकता है, परन्तु

१--द्रव्य पर्याय विद्युर्ल पर्याया द्रव्य वजिताः।

क कदा केन कि रूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥
सन्मतितर्क

अज्ञानो तथा अनभिज्ञ ऐसा नहीं कर पाता। अतः दिन प्रतिदिन के जीवन में जो हम किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह केवल विशेष समय तथा परिस्थितियों पर आधारित होता है। अतः हमारा ज्ञान सीमित तथा हितों के विपरीत होता है। हमारे दिन प्रतिदिन के भगड़ों का भी एकमात्र यही कारण है। यहाँ पर चार अर्थों का भी उदाहरण दिया जाता है जिन्होंने हाथी का स्वरूप विभिन्न प्रकार से दिया, क्योंकि उन्होंने हाथी को सम्पूर्ण रूप से न देखकर एक-एक अंग को छूकर देखा।

अतः यह जैन विचार पद्धति तीसरी धारा है जो दो प्रतियों अर्थात् 'आत्मा है' तथा 'आत्मा नहीं है' के मध्य मार्ग को अपनाती है। अतः यह परम्परा अब्राह्मण तथा अब्बौद्ध भी कहो जाती है। अब्राह्मण इसलिए क्योंकि इस परम्परा ने वेदान्त के आत्मवाद के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से अस्वीकार नहीं किया और अब्बौद्ध इसलिए क्योंकि इसने बुद्ध धर्म के अनात्मवाद के सिद्धान्त को भी स्वीकार नहीं किया।

२--उमा स्वाति तत्त्वार्थ सूत्र ५

अनेकान्त के ग्राहक बनें

'अनेकान्त' पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थानों, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों और जैनश्रुत को प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे 'अनेकान्त' के ग्राहक बनें और बनावें।

देवताओं का गढ़ : देवगढ़

श्री नीरज जैन, सतना

आज से तीस वर्ष पूर्व मेरे पिता जी ने बुन्देलखंड की तीर्थ बन्दना की थी। तब मैं केवल आठ वर्ष का था परन्तु बेलगाड़ियों पर लम्बे समय तक घूमते रहने के कारण उस यात्रा की अनेक भूँधली परन्तु अमिट स्मृतियाँ आज भी मेरे मस्तिष्क में सुरक्षित हैं। देवगढ़ की याद उन सब में प्रमुख है जहाँ मूर्तियों के अम्बार लगे थे और एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर तक जाने के लिए मूर्तियों के टुकड़ों पर से ही होकर जाना पड़ता था। जब तक श्रद्धालु यात्रियों ने दर्शन पूजन का पुण्य लूटा, तब तक हम अज्ञान बालकों ने कलात्मक मूर्ति खण्डों का एक छोटा ढेर ही एकत्र कर लिया था।

इस यात्रा के बाद देवगढ़ में गजरथ की बात सुनी, जीर्णोद्धार के समाचार पढ़े, डाकुओं से आतंक की खबरे सुनी और अंत में दो तीन वर्ष पूर्व सुना कि देवगढ़ की अनेक महत्वपूर्ण सुन्दर मूर्तियों का सिर काट कर कुछेक नराधम आधुनिक मूर्ति-भंजक तस्करों ने चगेज खाँ और औरंगजेब को भी मात कर दिया है, पर देवगढ़ दर्शन का सुयोग केवल इसी माह मिल सका।

देवगढ़ की मूर्ति कला समय की अपेक्षा उत्तर गुप्त काल से लेकर १८ वीं शताब्दी तक की मजिलो से गुजरी है और प्रायः सभी कालों के शिलालेख यहाँ उपलब्ध हैं जिनसे भारत में जैन वास्तु शिल्प के क्रमिक विकास और नागरी लिपि के विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जैन शासन देवताओं का भी जितना वैविध्य-पूर्ण और सांगोपांग अंकन देवगढ़ में पाया जाता है उतना अन्यत्र बहुत कम देखा गया है। यहाँ अंकित कला की इन विश्रामों का विश्लेषण एक छोटे से लेख में कर सकना संभव नहीं है इसलिए इस विषय पर अलग से लिखने का प्रयास मैंने प्रारम्भ किया है। यहाँ तो इस महत्वपूर्ण क्षेत्र की साधारण जानकारी कराना ही मेरा अभीष्ट है।

दिल्ली बम्बई रेल मार्ग पर ललितपुर एक प्रमुख स्टेशन है यह एक अच्छा व्यापारिक केन्द्र है और उत्तर प्रदेश भाँसी जिले का एक प्रमुख स्थान भी है। यही से एक पक्की सड़क देवगढ़ तक जाती है जिस पर प्रतिदिन मोटर बस चलती है, ललितपुर से देवगढ़ केवल १८ मील है। क्षेत्र पर एक चौगान में धर्मशाला तथा चैत्यालय है और इसी के दो कमरों में कुछ महत्व की मूर्तियों को एकत्र करके एक छोटे संग्रहालय का रूप दे दिया गया है। यहाँ एक शिलालेख है जिस पर अद्वैतवादी भाषाओं का अंकन है तथा जिसे “ज्ञान शिला” कहा गया है। यहाँ चैत्यालय में एक उपदेश बेटे हुए आचार्य की उत्तिष्ठ पद्मासन मूर्ति है जिस पर शिला लेख भी है।

धर्मशाला से लगभग पौनमील की दूरी पर विन्ध्य की शाखा एक सुन्दर पहाड़ी है और उसको अपनी लपेट में लेती हुई बेतवा नदी एक अद्भुत सुन्दरता का सृजन करती हुई प्रवाहित हो रही है। इसी पहाड़ी पर देवगढ़ के अति प्राचीन मन्दिरों और ध्वंसावशेषों के रूप में जैन पुरातत्त्व का अपार भण्डार हमारी उपेक्षा और काल की कठोरता पर हँसता मुसकराता हुआ पड़ा है। एक बड़े परकोटे के अन्दर छोटे बड़े कुल ३१ जिनालय और अनेक मानस्तम्भ भी यहाँ दर्शनीय हैं ही; साथ ही दीवार के सहारे तथा मन्दिरों के पीछे सैकड़ों नही हजारों मूर्ति खण्ड अभी भी उपेक्षित पड़े हुए हैं। जब जमीन के ऊपर की यह दशा है तब देवगढ़ के भूगर्भ में हमारी जो निधियाँ छिपी पड़ी हैं उनकी खर्चा करने को तो—ऐसा मान लेना चाहिए कि—अभी समय ही नहीं आया है।

इस परकोटे के बीचों बीच सबसे विशाल मन्दिर (मंदिर न० १२) स्थित है जिसकी कलात्मक भित्ति, उत्तुंग शिखर और विशालता देखते ही बनती है। इसी मंदिर की बाह्य भित्ति पर जीबीसों तीर्थंकरों की

प्रतिमाओं के नीचे उनकी शासन सेविका यक्षिणियों की मूर्तियाँ तथा उनके नाम अंकित हैं जो जैन पुरातत्व का एक बल्लभ और महत्वपूर्ण अंग है। भगवान् नेमिनाथ के इस मंदिर का प्रवेश द्वार भी अपनी कलापूर्ण सज्जा और विशाल आकार-प्रकार के कारण अनोखा है तथा इसी मंदिर में भगवान् नेमिनाथ की यक्षी देवी अम्बिका की तटाकार सुन्दर मूर्तियाँ हैं। प्रथम तीर्थंकर की यक्षी चक्रेश्वरी की सर्व सुन्दर और २४ भुजा वाली अद्भुत मूर्ति भी इसी मंदिर की देव-कुलिकाओं में से एक में स्थापित है। इनके गर्भगृह में नेमिनाथ की जो प्रतिमा स्थापित थी वह ग्यारह हाथ ऊँची रही होगी ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं। कालान्तर में वह प्रतिमा नष्ट हो जाने पर जीर्णोद्धार के समय सत्रहवीं शताब्दी में एक आठ फुट ऊँची शांतिनाथ की मूर्ति यहाँ प्रतिष्ठित कर दी गई है जो आज भी प्रसिद्ध है।

इसी मंदिर को घेर कर एक छोटा परकोटा जीर्णोद्धार के समय बना दिया गया था जिसके दोनों ओर लगभग एक हजार प्रतिमाएँ बड़ी बेतरतीबी और क्रमहीनता से चित दी गई हैं, उन तीर्थंकरों तथा अम्बिका, चक्रेश्वरी, धरणेन्द्र-पद्मामवती आदि की प्रतिमाएँ प्रमुख हैं जो सातवीं शती ईसा पूर्व से लेकर सत्रहवीं शती ईसा पूर्व तक की कला का प्रतिनिधित्व करती हैं। मेरा तो अनुमान है कि इस दीवार के बीच में भी प्रचुर मात्रा में वंशवृक्षों का उपयोग किया गया होगा; क्योंकि जीर्णोद्धार के जमाने में वही सबसे सस्ता और सहज सुलभ पाषाण देवगढ़ में प्राप्य था, साथ ही हम खंडित मूर्तियों के कलात्मक महत्व को भूल चुके थे।

मंदिर नं० २५ में लगी हुई सामग्री संभवतः इस क्षेत्र की प्राचीनतम सामग्री है। मेरा विश्वास है कि इस मंदिर में स्थापित जिन बिम्ब तथा गंगा यमुना और इन्द्र, विद्याधर तथा शासन देवियों के गठन से उनका निर्माण काल गुप्त काल का उत्तरी भाग आकरना उचित होगा। इसी मंदिर के मूलनायक भगवान् सम्मति की

एक सर्वांग सुन्दर मूर्ति का चित्र इस लेख के साथ दिया जा रहा है। इस मूर्ति की सज्जा, परिकर और इन्द्रादिक तो बोलते से प्रतीत होते हैं तथा मूर्ति की सीम्यता और मनोज्ञता में अनन्त शान्ति के दर्शन होते हैं। मूर्ति के भागण्डल के चारों ओर अग्नि शिखा का अंकन "ध्यान अग्नि कर कर्म-कलक सबे दहे" का स्मरण दिलाती है और अपने ढंग की अद्वितीय बन पड़ी है।

अन्य मंदिरों तथा स्तम्भों पर यत्र तत्र उत्कीर्णित हजारों तीर्थंकर मूर्तियाँ, संकड़ों आचार्य, मुनि, आर्यिका प्रतिमाएँ, अनेक शासन देवियों की मूर्तियाँ और कुछेक विरल कृतियाँ भी दर्शनीय हैं। ऐसी प्रतिमाओं में शची-सेवित शयन करती हुई तीर्थंकर की माता की प्रतिमा, शास्त्रार्थ करते हुए मुनियों की प्रतिमाएँ तथा आचार्यों की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

देवगढ़ अपने कोष में अनन्त सौंदर्य के अक्षय भण्डार को लेकर हमारी यश और गौरव गाथा का वाहक—प्रचारक बन कर खड़ा है। हमें इसकी व्यवस्था, उन्नति और प्रचार पर ध्यान देना चाहिए। श्रावक-शिरोमणि, दानवीर साहु शांतिप्रसाद जी द्वारा बुन्देलखंड के अहार, पपीरा, चन्देरी, कन्धार, धूबौन, बानपुर आदि जिन क्षेत्रों पर जीर्णोद्धार का कार्य हो रहा उनमें देवगढ़ भी शामिल है। और यहाँ काम हो भी रहा है "अपेक्षाकृत देवगढ़ की महत्ता को देखते हुए श्री साहु जी के दान के द्रव्य का जो अंश देवगढ़ को चाहिए वह अभी उसे प्राप्त नहीं हो पा रहा। उनकी ओर से काम कराने के लिए बाबू विश्वनचंद जी एक ओवरसियर यहाँ रह रहे हैं जो एक उत्साही और पुराने सामाजिक कार्यकर्ता हैं; इस क्षेत्र का निरीक्षण यदि कभी श्रीमान साहु जी करेंगे तो निश्चित ही इसके काम में प्रगति और विशिष्टता हो जायगी।

हम और आप भी क्षेत्र की बन्दना करके उसके उद्धार-यज्ञ में यथा शक्ति आहुति तो छोड़ ही सकते हैं।

शोध-कण

परमानन्द जैन शास्त्री

अनेकान्त वर्ष १६ किरण ४ में शोधटिप्पण के अन्त-
र्गत पंचास्तिकाय की 'एक महत्वपूर्ण प्रति' नामक एक
टिप्पण डा० विद्याधर जोहरापुरकर का लिखा हुआ प्रका-
शित हुआ है। जिसमें पंचास्तिकाय के टीकाकार जयमेन
और ब्रह्मदेव (द्रव्यसंग्रह-टीकाकर्ता) दोनों विद्वानों को
अभिन्न बतलाने का प्रयास किया है। ब्रह्मदेव को सं०
१४६८ में पहले का विद्वान घोषित किया है। इस पर
विचार करना ही इस शोध-कण का विषय है।

पंचास्तिकाय ग्रन्थ का सटीक प्रकाशन रायचन्द्र शा-
स्त्रमाला में जिन हस्तलिखित प्रति पर से हुआ था वह
सं० १३६६ की लिखी हुई थी १। उसमें ब्रह्मदेव का समय
सं० १४६८ में ही नहीं किन्तु उसमें एक गताब्दी पूर्व
सं० १३६६ में भी पूर्ववर्ती है। इसमें उक्त संवत् वाली
प्रति की कोई महत्ता नहीं रह जाती, क्योंकि पंचास्ति-
काय टीका के प्रारम्भ में टीकाकार जयमेन ने स्वयं अग्र-
'सोमश्रेष्ठ निमित्त द्रव्यसंग्रहादौ' २ वाक्य दिया हुआ
२। इस से इतना कहा जा सकता है कि टीकाकार जयमेन
ब्रह्मदेव द्वारा सोमश्रेष्ठी के लिये रची गई द्रव्यसंग्रह
टीका में परिचित थे। इसी में उन्होंने उक्त उल्लेख किया
है। किन्तु उसमें दोनों विद्वानों की अभिन्नता का सम्बन्ध
नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि शोधटिप्पण में डा०
जोहरापुरकर ने दोनों की एकता के साधक कोई प्रबल
प्रमाण या युक्ति बल उपस्थित नहीं किया। मात्र कथन-
शैली या टीका सरणि का अध्यत्म होने के कारण साम्य
होना ही अभिन्नता का द्योतक नहीं है। दोनों ही टीका-
कारों के ग्रन्थों की प्रामाणिक जांच करने पर परस्पर कुछ
विशेषता अवश्य दृष्टि गोचर होगी। हो सकता है कि एक
ही टीकाकार को हमारे की टीका देखने का अवसर मिला

१—वि० नवत् १३६६ वर्षोराश्विन शुद्ध. १ भौमदिने।

पंचा० टी० पृ० २२५

२—पंचास्तिकाय टीका रायचन्द्र शास्त्रमाला पृ० ६

हो या एक ने हमारे का अनुकरण किया हो।

डा० विद्याधर जोहरापुरकर की यह कल्पना ता-
और भी विविध जान पड़ती है कि पहले इनका नाम
जयमेन होगा बाद में ब्रह्मदेव हो गया हो। पर
इसका क्या प्रमाण है? उसका कोई उल्लेख नहीं किया।
ब्रह्मदेव कोई उपनाम नहीं है और न उपाधि सूचक ही
है, किन्तु गृह्यदेव और ब्रह्मदेवों नामों का उल्लेख मिलता
है।

एक ब्रह्मदेव मूलसंघ सूरस्थगण के विद्वान थे। उन्हें
भानुकीर्ति मिदान्तः के गृहस्थ शिष्य कलुकणि-नाथ
के नामक मामन्त-मेखिय नायक ने हेडविदि हवर्वाडि में
एक ऊँचा चैत्यालय बनवाया और पार्श्वनिर्गम की स्थापना
कर, पूज्य-ोवा, मन्दिर मरम्मत और आहार दान आदि
के लिये उक्त ब्रह्मदेव को पाद प्रक्षालन पूर्वक 'भरुहन-
हल्लि' नाम का गाव दान में दिया था। शिलालेख का
काल एक संवत् १०६४ (वि० सं० १११६) है ३।
ब्रह्मदेवों का उल्लेख बधेरा के मूर्तिलेखों में पाया जाता
है। जिनमें सं० १२४५ में जिन मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई
थी। इन उल्लेखों में स्पष्ट है कि ब्रह्मदेव और ब्रह्मदेवी
नाम प्रामाणिक हैं, जयमेन में ब्रह्मदेव हो गया हो ऐसा
नहीं है। यदि ऐसा हुआ है तो उसका सप्रमाण उल्लेख
करना चाहिये, केवल कल्पना में यह समझ नहीं है।

द्रव्य संग्रह के कर्ता नेमिचन्द्र और ब्रह्मदेव दोनों सम
सामयिक हैं। इसकी पुष्टि द्रव्य संग्रह के टीकाकार ब्रह्म-
देव की टीका के निम्न उत्थानिका वाक्य में स्पष्ट है—

“अथ मालव देशे धारानामनगराधिपतिराजा-भोज
देवाभिधान-कलिकाल चक्रवर्ती-सम्बन्धितः श्रीपाल-महा-
मण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्री मुनिसुवत-
तीर्थकर-चैत्यालये शुद्धात्मद्रव्य-मवित्ति-समुत्पन्न-मुखा-
मृतरसा-स्वाद-विपरीत-नारकादि दुःखभयभीतस्य पर-

३—देखो, जैनशिलालेख सं० भा० ३ पृ० ४२

आत्मभावनोत्पन्न-मुखमुधारसपिपासितस्य भेदाभेद
तत्रयभावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्यरीकस्य भाण्डागा-
। अनेक नियोगाधिकारि सोमाभिधान राजश्रेष्ठिनो
निमित्तं श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्त देवैः पूर्व षड्विंशति गाथा-
भर्तृपुत्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विशेषवत्त्वापरिज्ञानार्थं
वग्विनस्य बृहद्-द्रव्यसंग्रहस्याधिकार शुद्धि-पूर्वकत्वेन
मूर्ति प्रारम्भ्यते ।

इसमें टीकाकार ने मूलग्रन्थ के निर्माणादि का सम्बन्ध बतलाते हुए, पहले नेमिचन्द्रसिद्धान्तदेव द्वारा 'सोम' नाम के राजश्रेष्ठि के निमित्त आश्रम नामक नगर के मुनिमुत्तम चैत्यालय में २६ गाथात्मक द्रव्यसंग्रह के लघु-रूप में रचे जाने, और बाद में विशेष तत्त्व परिज्ञानार्थ उन्हीं नेमिचन्द्र के द्वारा बृहद्द्रव्यसंग्रह की रचना हुई । उस बृहद्द्रव्यसंग्रह के अधिकारों के विभाजन पूर्वक यह वृत्ति (टीका) प्रारंभ की जाती है । साथ में यह भी सूचित किया है कि उस समय आश्रम नाम का यह नगर धाराधिपति भोजदेव नामक कलिकाल चक्रवर्ती सम्बन्धी श्रीपाल नामक महामण्डलेश्वर (प्रान्तीय-शासक) के अधिकार में था, और सोम नाम का राजश्रेष्ठि भाण्डागार (कोष) आदि अनेक नियोगों का अधिकारी होने के साथ साथ, तत्त्वज्ञानरूप मुधारस का पिपासु था । ब्रह्मादेव का उक्त घटना-निर्देश और लेखनशैली यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये सब घटनाएँ उनके समय में घटी हैं । और नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव तथा सोमश्रेष्ठि उस समय मौजूद थे, और उनके समय में ही लघु तथा बृहत् दोनों द्रव्यसंग्रहों की रचना हुई है । ब्रह्मादेव ने दो स्थानों पर 'अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठि, तावयों के द्वारा तथा टीकागतप्रश्नोत्तर सम्बन्ध से उसकी और भी पुष्टि होती है । क्योंकि नामोल्लेख पूर्वक प्रश्न बिना समक्षता के नहीं हो सकते ।

यहाँ नेमिचन्द्र के सम्बन्ध में विचार करना भी अनुपयुक्त न होगा । नेमिचन्द्र नाम के अनेक विद्वान् हो गये हैं उनमें कौन से नेमिचन्द्र द्रव्य संग्रह के कर्ता हुए हैं और उनका समय क्या है ? यह विचारणीय है ।

१—प्रथम नेमिचन्द्र वे हैं, जो पंडित नेमिचन्द्र कहलाते थे और स० ५६ वर्ष में चैत्र वदी २ को धारागञ्ज में

उक्त नेमिचन्द्र के शिष्य पंचाणचंद की मूर्ति बनी थी १ ।
२—दूसरे नेमिचन्द्र वे हैं, जो अभयनन्दी आचार्य के शिष्य थे, और जिन्होंने वीर नन्दी और इन्द्रनन्दी को भी अपना गुरु बतलाया है । ये सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि से समलंकृत थे । और गोम्मटसार लब्धिसार क्षणणामार, त्रिलोकसार के कर्ता थे । इन्होंने गंगवशी राजा राचमल्ल के मंत्री और सेनापति चामुण्डराय के अनुरोध से गोम्मटसार की रचना की थी । चूंकि चामुण्डराय ने अपना चामुण्डराय पुराण (त्रैलोक्यशलाका पुरुष पुराण) शक सं० ६०० (वि० सं० १०३५) में बनाया था । अतः नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती का समय भी विक्रम की ११ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है ।

३—तीसरे नेमिचन्द्रनयनन्दि के शिष्य थे । जिनके सम्बन्ध में कोणूर' लेख में निम्न पद्य दिया हुआ है —
आ मुनिमुख्यनशिष्यं श्रीमच्छारित्रचक्रि सुजन विलासं ।
भूमियकिरीयताडित कोमलनखरश्मिनेमिचन्द्र मुनि ।

इस शिलालेख का समय सन् १०८७ ई० दिया है, यह वि० सं० ११४४ अर्थात् विक्रम की १२ वीं शताब्दी के विद्वान् हैं । आचार्य वमुनन्दि ने भी वमुनन्दि श्रावकाचार की प्रशस्ति में नयनन्दि के शिष्य के रूप में अपने गुरु नेमिचन्द्र का उल्लेख किया है २ । बहुत संभव है कि दोनों ही नेमिचन्द्र परस्पर अभिन्न हो ।

४—चौथे नेमिचन्द्र वे हैं जो मूल संघ देशियगण पुस्तकगच्छ कौण्ड कुन्दान्वय के विद्वान् नयकीर्तिके शिष्य थे । इनका उल्लेख हलेवीड के शिलालेख में पाया जाता है, जिसका समय सन् ११३३ (वि० सं० ११६०) है ३ ।

५—पांचवें नेमिचन्द्र वे हैं जो एक कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं । और जिसने वीर बल्लाल देव और लक्ष्मणदेव इन दो राजाओं की राजसभा में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी ।

६—छठवें नेमिचन्द्र वे हैं । जो प्रवचन परीक्षा के कर्ता हैं, और जिनका समय सन् १३७५ ई० से १४२५ ई० के मध्य बतलाया जाता है ।

७—सातवें नेमिचन्द्र वे हैं जो भ० विद्यानन्द के सधर्मा थे । इन्होंने पोम्बुच्यं में पार्श्वनाथ बस्ती (मन्दिर)

१ सं० ५८ वर्ष चैत्र वदी २ सोमे धारागञ्ज प० नेमिचन्द्र शिष्य पंचाणचन्द मूर्ति । जैन शिलालेख २ भाग पृ० १६

२—देखो जैन शिलाले० सं० भा० २ पृ० ३३७

३—देखो हुम्मचशिलालेख

तीन मजिल की बनवाई थी। और बड़ी भक्ति के साथ इसकी प्रतिष्ठा की थी।

८--घाठवे नेमिचन्द्र वे हैं, जो धनंजय कवि के द्विसप्तान काव्य की टीका 'पदकोमुदी' के कर्ता हैं, और विनयचन्द्र पंडित के ग्रन्थवासी देवन के शिष्य थे। जिन्होंने त्रैलोक्यकीर्ति के चरण प्रसाद से उक्त टीका की रचना की थी। टीका कर्ता ने टीका में अपना कोई समय नहीं दिया है। इस लिये इन नेमिचन्द्र का ठीक समय निश्चित करना कठिन है। पदकोमुदी टीका की एक प्रति पार्श्वनाथ मन्दिर भंडार जयपुर में सं० १५०६ की लिखी हुई ७८ पत्रात्मक मौजूद है। जिसका बंठन नं० ११३ है। इससे नेमिचन्द्र की उत्तराब्धि सं० १५०६ से पूर्ववर्ती है। हो सकता है कि वे १४वीं या १५ वीं शताब्दी के विद्वान हों। ९-नीचे नेमिचन्द्र वे हैं जो गोमटसार की जीवतत्वप्रदीपिका टीका के कर्ता हैं, जो मूलसूत्र, बलात्कारगण, शारदागच्छ और कुन्दकुन्दान्वय नन्दी आम्नाय के विद्वान थे और जो भट्टारक ज्ञानभूषण के शिष्य थे और प्रभाचन्द्र ने जिन्हें आचार्य पद प्रदान किया था। इनका समय ईसा की १६ वीं शताब्दी का प्रथम चरण है।

इन सब नेमिचन्द्र नाम के विद्वानों में से प्रथम और द्वितीय नेमिचन्द्र तो 'द्रव्यसंग्रह' के कर्ता नहीं हो सकते। प्रथम नेमिचन्द्र तो इसके कर्ता हैं ही नहीं, किन्तु कुछ विद्वान दूसरे नेमिचन्द्र को द्रव्यसंग्रह का कर्ता बतलाते हैं। यद्यपि उन्होंने अपने को द्रव्यसंग्रह का कर्ता कभी प्रकट नहीं किया, और न कोई ऐसा पुरातन उल्लेख ही उपलब्ध हुआ है। जिसमें उनके द्वारा द्रव्यसंग्रह के रचे जाने का उल्लेख हो। फिर भी जनसाधारण में उनके कर्तृत्व का प्रचार है। लघुद्रव्य संग्रह के कर्ता ने अपने को नेमिचन्द्रगणी, और बृहद्द्रव्य संग्रह में उन्होंने तनु-सुतधरेण, अल्पश्रुतधर बतलाया है। टीकाकार ने उन्हें 'सिद्धान्त देव भी बतलाया है' किन्तु सिद्धान्त चक्रवर्ती नहीं बतलाया।

जब कि गोमटसार के कर्ता ने सिद्धान्त चक्रवर्ती की

उपाधि का गोमटसार कर्मकाण्ड गाथा ३६७वे में उल्लेख किया है। दूसरे गोमटसार के कर्ता ने भावाश्रय के भेदों में प्रमाद की परिगणना नहीं की, और अविरति के १२ भेद भी दूसरी तरह से समझीये किये हैं। जब कि द्रव्यसंग्रह कार ने भावाश्रय के भेदों में प्रमाद को गिनाया है और अविरति के पांच भेद भी स्वीकार किये हैं। ऐसी स्थिति में मान्यता भेद के कारण द्रव्यसंग्रह के कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती नहीं हो सकते, क्योंकि एक ही ग्रन्थकार अपनी रचना में इन प्रकार का मत-भेद व्यक्त नहीं करता।

तीसरे नेमिचन्द्र, जो नयनान्दि के शिष्य थे, और जिनका समय कोणूर शिलालेख में सन् १०८७ (वि०-सं० ११४४) दिया है, या वे नेमिचन्द्र जो श्रीनन्दि के शिष्य नयनान्दि के शिष्य होने के साथ वसुनन्दि के गुरु थे। दोनों में से कोई एक द्रव्यसंग्रह के कर्ता अथवा दोनों के अभिन्न सिद्ध हो जाने पर भी वे द्रव्यसंग्रह के कर्ता हो जो बहुत सम्भव हैं क्योंकि वे सिद्धान्त के पारगामी भी थे और लोक में विख्यात थे शेष नेमिचन्द्र नाम के विद्वान द्रव्यसंग्रह के रचयिता नहीं हो सकते। क्योंकि वे बाद के विद्वान ठहरते हैं।

ऊपर के इस सब विवरण पर में स्पष्ट है, कि ब्रह्मदेव का पहला नाम जयसेन नहीं था, और न वे बाद को ब्रह्मदेव हो बने। किन्तु ब्रह्मदेव और जयसेन दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। आशा है इससे डा० विद्यावर, जोहरा पुरकर का समाधान होगा।

१ मिच्छत अविरमण कसाय जोगाय आसवा होति ।
पणवारस पणवीस पणारसा होति तब्भेया ॥

गो० क० ७५६

२ मिच्छता ऽ विरदि-पमा-जोग-कोहादधोऽथ विण्णया ।
पण पण पणदह नियच्चु कमसो जोगा दु पुव्वस्स ।
द्रव्य स ३०

३ मिस्सो तस्म जिणागम-जलणिहि वेलानरगधोयमणो ।
संजाओ सयलजए विक्खाओ नेमिचन्द्रुत्ति ॥

वसुनन्दि भा० प्रशस्ति

कविवर भाऊ की काव्य साधना

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम० ए० पी० एच० डी०

[प्रस्तुत निबन्ध के पहले पैराग्राफ से ऐसा बिदित हुआ कि लेखक कवि भाऊ का निश्चित रचना काल बताने जा रहा है; किन्तु द्वितीय पैराग्राफ का अन्तिम वाक्य लिपिकाल ही बता कर मौन हो गया। जिस कवि ने अपनी किसी रचना में निर्माण-काल का सकेत तक न किया हो, उसकी प्राचीन-से-प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर केवल अनुमान ही करना पड़ता है। यदि डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल भाऊ का निश्चित रचना काल खोज सके तो हिन्दी पाठक उनके आशीर्वाद में रहेंगे।

मुनि कान्तिसागर ने 'भाऊ' की 'आदित्य-कथा' की प्राचीन प्रति सं० १७२० की लिखी हुई खोजी थी डा० कासलीवाल को स १६२६ की लिखी हुई मिली है और मैने भाऊ की अन्य कृति 'नेमिनाथ रास' की स १६६६ वाली प्रति का उल्लेख अपने ग्रन्थ 'जैन हिन्दी भक्ति काव्य और कवि' में किया है। तीनों ही उनके रचना काल मापने के पैमाने हैं। निश्चित समय नहीं है।

कवि 'भाऊ' की 'आदित्यवार कथा' और 'नेमिनाथ रास' में दूसरी रचना ही साहित्यिक है, पहली की लोक-प्रियता जैन-समाज में रचित के अधिक प्रचलन के कारण थी। मेरी दृष्टि में 'भाऊ' ऐसे कवि नहीं थे कि उनकी रचनाओं को 'काव्य-साधना' का नाम दिया जा सके।

— प्रेमसागर जैन]

हिन्दी जैन कवियों में भाऊ कवि का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। कवि हिन्दी के अच्छे विद्वान थे और काव्य रचना में रुचि रखते थे। उन्होंने अपने जीवन में कितनी कृतियाँ लिखी इसकी निश्चित जानकारी अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। अब तक कवि की दो रचनाएँ एवं एक पद उपलब्ध हुआ। इन कृतियों में कवि न उनके रचना काल का उल्लेख नहीं किया और न किसी समकालीन एवं परवर्ती विद्वान ने कवि के सम्बन्ध में कुछ लिखा है इस लिये कवि के काल के सम्बन्ध में कितनी ही धारणाएँ हैं। अभी नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६७ अंक ४ में मुनि कान्तिसागर जी ने भाऊ के सम्बन्ध में दो स्थान पर अपने विचार लिखे हैं। पत्रिका के पत्र ३०६ पर कवि को १८ वीं शताब्दी का माना गया है और पृष्ठ ३३३ पर कवि के समय के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं लिखा गया। इसी तरह डा० प्रेम सागर जी ने अपनी नवीन कृति 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' में कवि के समय का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया और प्रतियों के लेखन काल को गिना कर उनके समय का अनुमान करने का काम पाठको पर छोड़ दिया। कवि की सबसे प्रसिद्ध कृति 'आदित्य वार कथा' है। राजस्थान में वह अत्यधिक लोकप्रिय रचना रही है इस लिए उसकी सैकड़ों प्रतियाँ राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में उपलब्ध होती हैं। अधिकांश प्रतियाँ गुटकों

में मगूहीत मिलती हैं अब तक उपलब्ध प्रतियों में जयपुर के पार्श्वनाथ मन्दिर के शास्त्र भण्डार में संवत् १६२६ की प्रति सबसे प्राचीन है। जो एक गुटके में सगूहीत है और जिमकी लिपि आमेर में हुई थी। यदि इस प्रति को कवि के समय का आधार मान लिया जावे तो कवि का समय १६ वीं शताब्दी अथवा इससे भी पूर्व का हो सकता है।

परिचय—कवि अग्रवाल श्रावक थे। गण उनका गोत्र था। उनकी माता का नाम कुवरी तथा पिता का नाम मल्लूक था। कवि न अपनी ये सभी रचनाएँ व्यवसाय करते हुये लिखी थीं। त्रिभुवनगिरि इनका निवास स्थान था जिसका उल्लेख आदित्यवार कथा में निम्नप्रकार है :

अग्रवालि यह कीयो बख्शाए,
कुवरी जननि तिहुवण गिरि थान।

गर्गहि गोत मल्लुकी पूत,
भाऊ कवित जन भगति सजुत ॥१५५॥

आदित्यवार कथा—यह कवि की सबसे लोकप्रिय रचना है जिसके पठन पाठन एवं स्वाध्याय का किसी समय अत्यधिक प्रचार था। एक प्रति में इसका दूसरा नाम पार्श्वनाथ कथा भी मिलता है। रचना में रविवार के व्रत का महात्म्य दिया हुआ है। रविवार पार्श्वनाथ का दिन है इसलिये उस दिन विधिपूर्वक व्रत करने से

अपार पुण्य लाभ होता है तथा सम्पदा एवं वैभव की प्राप्ति होती है। कवि ने रविव्रत के महात्म्य को निम्न शब्दों में वर्णन किया है।

पारसनाह रविव्रत सार,
सेवत नव विधि होइ अपार।
नारि पुरुष जो मनु धरि सुनई,
नासइ पाप भाउ कवि भणई ॥

भरो लोह दुख संकट सहै,
कुष्ट व्याधि जो पीड़ा हरे।

विग्रह बेधी होय नरिद,
सुमिरत सेवइ पाम जिणद ॥१४६॥

रचना २४ तीर्थकरो के स्तवन से प्रारम्भ होती है। फिर वाराणसी नगरी और उसके नगर सेठ मतिसागर का वर्णन है। सेठ के यहाँ हीरे जवाहरात का काम होता था। वह धन सम्पन्न होते हुए भी प्रतिदिन जिन पूजन करता था और दान देने से तो एक क्षण के लिए भी विमुख नहीं हुआ।

नगरी धनी बसइ बहु लोग,
कीजइ पान फूल कउ भोग।
मतिसागर कीडी धज साह,
आदर बहुत करइ नर नाह ॥१४॥
वणिजे हीरा पदारथ लाल,
बेचइ मोती सुरग प्रवाल।
कमे कसौटी परखे दाम,
आदर बहुत रायदे ताम ॥१५॥
देव पूज नित भोजन करइ,
राग दोष नवि मनमहि धरइ।
समल कुट्य वहै अपार,
स लहहि विषराय साधार ॥१७॥
विधि सुदान सुपार्जहि देइ,
दश लक्षण को धर्म करेइ।
जीव दया पालइ बहु भाइ,
ताकी उपमा दोजे काइ ॥१८॥

उसी मतिसागर के सात पुत्र थे। सभी पुत्र दयावान एवं बुद्धिमान थे। सबसे छोटे पुत्र को उसने पढ़ने भेजा। व्युत्पन्न मति होने के कारण उसने सभी विद्याएं सीख लीं। एक बार नगर के महसूक्त चैत्यालय में जैन संत आये तो नगर के सभी जन उनकी बन्दनार्थ गये। मुनि श्री ने सभी उपस्थित श्रोताओं को धर्मोपदेश दिया तथा ससार की असारता बतलाते हुए रविव्रत पालने के लिए निम्न विधि बतलाई—

सुदि अषाढ़ जब रवि दिन होइ

सत सजम आरम्भहु सोइ।
खीर धार दीजहु मन लाई,
सुपातहु दीजहु दान वोलाई ॥
वरस वरस दिन नव नववार,
नवह वरस करहु इकसार।
अथवा एक वरसि निकताय,
वारह मास करहु मन लाय ॥
धान इक्यासी अथ बिजोर,
नीब सरम सदाफल और।
सारु सकति चुन फल करउ,
पास जिणद चलण अणुसरउ ॥
इतना फल अइसी विधि जाणि,
नो घर देहु सरावा वाणि।
हरि हरि वरस करहु इच्छ जोग,
दुख कलक न व्यापइ रोग ॥

मतिसागर के घर में दागिद्र ने डेरा डाल दिया। उसके सब मोती जवाहरात छिन गये। सेठ को बड़ी चिन्ता हुई। उसे अपने कार्यों पर पश्चाताप होने लगा। पौराणिक महापुरुषों के जीवन को याद किया। माता-पिता को दुखी देखकर उनका सबसे छोटा पुत्र विदेश रवाना हो गया लेकिन पुत्र को भी विदेश प्रवास में अनेक दुख उठाने पड़े। रविव्रत पालने के कारण आखिर उसका सकट दूर हो गया और उसे पहिले से भी अधिक सम्पत्ति प्राप्त हुई। आगे कथा की भाँउ कवि ने रोचक ढंग से वर्णन किया है।

कवि ने कथा में धन की बहुत प्रशंसा की है इस से कवि के जीवन का भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। कवि के शब्दों में धन की प्रशंसा पढ़िये—

नासइ बुधि होइ तनु खीण,
कहिये बुरे पुरिष धन हीण।
धन विणु सेवगु सेव नही करइ,
धन विनु नारि पुरिषु परिहरइ।
धन विणु मान महत कौ होइ,
नही कपूत कहइ सब कोइ।
धन विणु परघरि काम कराइ,
धन विणु भोजन लूखी खाइ ॥

कवि की यह रचना चौपई छन्द में है। पद्यों की संख्या सभी प्रतियों में समान नहीं है। एक प्रति में १५३ हैं तो दूसरी में १५६ है। श्रौंग इसी तरह अन्य प्रतियों में भी छन्द सख्या में असमानता है। रचना की भाषा सरल एवं प्रवाह रूप है। कवि ने कहीं कहीं

सूक्तियों का भी प्रयोग किया है । दो उदाहरण देखिये—

- (१) जो नर अभाग्यो खेती करई,
बैल मरे कि सूका पड़े ।
(२) जब दिन बुरे पड़त हइ आइ,
गुण कहियो औगुण वै भाइ ॥

कथा का आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है —
आदि भाग —

श्री रिसहनाह पण विजइ जिराद,
जा प्रसन्न चित्त होइ आणन्द ।
पणबहु अजित पणासउ पापु,
दुख दालिद भउ हरै सतापु ॥
संभवनाथ तरणी श्रुति करूँ,
जह प्रसन्न भव दुत्तरुतरूँ ।
अभिनन्दन सेवहु वरवीर,
जा प्रसन्न आरोगि शरीर ॥

अन्तिमछन्द —

कारण कथा करण मति भइ,
तो यहु धर्मकथा अरठइ ।
मनधरि भाउ सुणी जो कोइ,
सो नर सुरग देवता होइ ॥१५६॥

नेमिनाथरास—नेमिनाथरास कवि की दूसरी रचना है जिसकी एक मात्र प्रति लेखक को प्राप्त हुई है और जो जयपुर के पाटोदी के मन्दिर के शास्त्र भण्डार में संगृहीत है । पूरे रास में १५५ पद्य हैं । सभी चौपई छन्द में हैं ।

नेमिनाथरास की मुख्य कथा में २२ वें तीर्थकर नेमिनाथ के जीवन की संक्षिप्त घटनाओं का वर्णन निहित है । यह एक भावात्मक प्रबन्ध है जिनमें काव्य के नायक के विवाह एवं वैराग्य इन दो घटनाओं को प्रमुख स्थान मिला है । काव्य के सभी वर्णन सुन्दर एवं अनूठे हैं । काव्य में शृंगार एवं विरह दोनों ही रसों का समावेश है । जहाँ एक ओर राजुल के शृंगार भाव को पढ़ कर चित्त प्रसन्न होता है वहाँ उभरी विरह वेदना हृदय को तोड़फाँदने वाली भी है । क्योंकि राजुल और नेमिनाथ के मिलन की वेला विरह एव शोक में परवर्तित हो गई थी । लेकिन उक्त वर्णन के अतिरिक्त काव्य में नेमिनाथ का शक्ति प्रदर्शन आत्मचित्त तथा शिवादेवी एव नेमि-

नाथ का सवाद आदि भी अति रोचक प्रसंग हैं इनमें काव्यत्व की अच्छी झलक मिल सकती है । कवि ने जगत के स्वरूप का हृदयहारी वर्णन किया है—

धन जोवन गरवीयो गवार,
प्रोतम नारि देखि परिवार ।
रहटमाल ज्यों यह जीउ फिरइ,
छोड़े एक एक सौ करइ ॥१५५॥
कबहूँ स्वर्ग देव अवतर,
कबहूँ नरक घोर सो परै ।
कबहूँ नरक बहूँ सिरपच,
निपजै जीव करै परपच ॥१५६॥
कबहूँ उत्तम कबहूँ नीच,
कबहूँ स्वामी कबहूँ मीच ।
कबहूँ धनी निरधनी भयो,
इहि संसार फिरत जमु गयो ॥१५७॥

इधर नेमिनाथ ने भी वैराग्य धारण कर लिया और उधर राजुल जो कुछ समय पूर्व फूली नहीं समा रही थी, संसार की बात सुनकर मूर्छित होकर गिर पड़ी, नेमिनाथ के अभाव में उसका सारा जीवन फीका हो गया । हार शृंगार तथा वंभव सभी दुखदाई लगने लगे ।

सुणतु कुवारि जावै चौपासु,
माथौ धुनि धुनि लेइ उसास ॥१००॥
आव ते दई कहा यह कियो,
जिरा बिछोहु मोकहु दुख दियो ।
जिरा बिनु घडी वरिस वरजाइ,
जिरा बिगु घर वाहिर न सुहाइ ॥१०१॥
जिरा बिनु मेरी फटे होयो,
जिन बिनु जनमु अकारथ जियो
जिन बिनु जोवनु काजे काइ,
जिन बिनु रुप लहु सवनाइ ॥१०२॥
जिरा बिगु नाहि सबै सिंगार,
जिरा बिनु सूनौ यह संसार ।
जिरावर गुणगहि दिसा घरी,
जिरावर बिना रहि कहाँ करौ ॥१०३॥

इस प्रकार नेमिनाथरास एक सुन्दर काव्य है जिसके सभी वर्णन सजीव हैं । रास की भाषा ब्रज भाषा के अधिक समीप है । रचना में कवि ने अपने नामोल्लेख

मासिक कहानी

...और आंसू ढुलक पड़े

डा० नरेन्द्र आनाबत, एम० ए०, पी० एच० डी०, जयपुर

एक

श्रीर महावीर लौट पड़े ।

अभिग्रह पूरा हुआ । महीनों बीत गये घूमते घामते । प्रतिदिन नई समस्याएँ सामने आती । कोई कहता यह बड़ा घुमक्कड़ है । इधर से उधर, उधर से इधर बराबर घूमता रहता है । न कुछ देता है न कुछ लेता है ।

दूसरा प्रतिवाद करता— है बड़ा तपस्वी ! सुनते हैं किसी राजा का लडका था पर राजसी ठाठ-वाट को टोकर भागकर भरी उमर में यह साध बनकर निकल पड़ा ।

पाम ही खड़ी स्त्री बोल उठती—‘मेरी यह चटोरी जीभ तो उस बूढ़ी काकी की तरह जूठे पातल तक चाटने को लालायित रहती है पर इस युवक मुनि ने तो उम दिन नगर सेठ के छप्पन भोगों को आँख भर के भी नहीं देखा, है यह कोई न कोई विलक्षण पुरुष ।’

महावीर सब सुनते, मुस्कगते और चल देते । जहाँ भी जाते वहाँ उनके सामासिक पक्ष के सँकड़ों शिष्टेदार मान-मनुहार करते । कोई खीर-पूड़ी लेकर आता और वात्सल्य भरे शब्दों से कहता—‘बेटा भूखा न रह । यह कंचन की काया राख बन जायगी । इसे खीर-पूड़ी की घाग में तपा-तपाकर कुन्दन बना ।’

वे क्या बोलते ? ‘तपस्या ही अग्नि है, कष्ट ही कसीटी है’ कहकर चुप रह जाते ।

कभी चेबर, बर्फी और लड्डू में थाल मजाकर कोई बहिन कहती—‘भैया ! रुक जा । यों न भाग । तब तो तू ने मेरी कलाइयों में राखी बाधकर मेरी रक्षा करने का भार अपने कंधों पर लिया था और आज भैया-दूज पर तू बिना कुछ खाये पिये मुँह मोड़कर चला जा रहा है ।’

वे कोमल स्वर में इतना ही कहते—‘संसार में कोई किसी का रक्षक नहीं । स्वयं की आत्मा ही रक्षक और मक्षक है ।’

मित्र लोग टोलिया बनाकर जगह २ इन्हे घेरने के लिए मोर्चाबन्दी करते । कोई जलेबी उछालकर कहता—‘याद है वरदान ! इसी तरह बचपन में गंद उछाल २ ‘कर जलेबी खाई’ थी ।’ कोई पत्तल में गुलाबजामुन लेकर आता और स्नेह भरे शब्दों में कहता—‘तुम्हें हो क्या गया महावीर ! पाँच माह बीत रहे हैं और तुम भूखे आस दौड़ रहे हो । देखो न ये गोल-गोल रस भरे जामुन । उसी दिन ‘डाल कामड़ी’ खेलते २ तुमने पचास-साठ गुलाब जामुन एक २ कर ऊपर से मुँह में भँसे थे ।’ पर महावीर चुप । कोई प्रतिक्रिया नहीं ।

पच्चीस दिन और गुजर गये । महावीर के पाव एक अट्टालिका की ओर बढ़ चले । मुनसान वातावरण अट्टालिका की भव्यता और कलात्मकता पर व्यंग कर रहा था । वे प्रकोष्ठ में पहुँचे तो उन्हे अपने अभिग्रह का चित्र उभरता सा दिखाई दिया—

इयोड़ी के बीच एक अनुपम सुन्दरी खड़ी है । उसके लावण्य का कटोरा अपने आप में न समा सकने के कारण फूट २ कर बाहर बह रहा है । उसकी देहस्थली में कामार्थ का वसन्त क्रीड़ा कर रहा है, पवित्रता की कोकिला कूक रही है और शालीनता की बयार रोम-रोम में कंपन भर रही है । वह रूप में रंभा और शील में सती है पर उसके हाथों में रग-बिरंगी मोहक चूड़ियों के स्थान पर कठोर लोहे की हथकड़ियाँ हैं, पाँवों में छूँप छनन २ की भँकार पैदा करने वाली पायलों के स्थान पर स्वतन्त्रता की अपहरण करने वाली बेड़ियाँ हैं । मुखचन्द्र का गुधामान करने वाले ‘नीलघन शावक से सुकुमार’ घु घरासे रेशमी बालों के स्थान पर सिर मुड़ा हुआ है । शरीर पर तारों खचित नील परिधान के स्थान पर वल्कल है । वह निर-पराधना है । तीन दिन से भूखी है । पारणा के लिए उबाले हुए उड़द के बाकले उसके हाथ में हैं, उन्हें भी

दान देने के लिए वह किसी अतिथि की राह में प्रसन्नता की आँखें गड़ाये हुए है।

पर यह क्या ? महावीर लौट पड़े। उनका यह अभिग्रह-चित्र अधूरा रहा। प्रसन्नता की आँखों में सात्विक भावों के आंसू वहाँ छलछलाये नहीं।

लो आँखों में आंसू दुलक पड़े।

चन्दना का प्रायश्चित्त ही जैसे पिघल कर बह गया। वह अपने आप को धिक्कारने लगी।

‘मेरे भाग्य ही छोटे हैं। भगवान भी मुह मोड़कर चलते बने। जिनसे आशा थी वे भी किनारा कर गये। मैंने कौनसा अपराध किया ? मैं जीवन भर अविवाहित रही। कभी किसी को धोका नहीं दिया। कभी किसी का दिल नहीं दुखाया। मैं कोई पतित नहीं, दुष्टा नहीं। फिर भगवान तुम क्यों चले गये ? तुम तो दीनानाथ हो न ? कृष्ण सागर हो न ? अब कौन तुम्हें इन नामों से पुकारेगा ? मेरे पास गजमी वैभव नहीं, षटरस व्यंजन नहीं, मेरे शरीर पर स्वर्णकार नहीं, मेरी मूर्ति मन मोहिनी नहीं। पर इनमे क्या ? तुम तो इनसे कोसों दूर हो न, तुम तो स्वयं इन्हे लात मारकर निकले हो न ? तुम तो शुद्ध-प्रबुद्ध वीतरागी हो न ? फिर यह कोप-दृष्टि क्यों ? भक्त की यह उपेक्षा क्यों ? भगवन् ... एक बार फिर ...’

दो

दो आंसू और दुलक पड़े।

चन्दना का चिन्तन रुका नहीं। पूर्व-जीवन की स्मृतियाँ एक २ कर उसके आगे उभरने लगी—

‘चन्दना राजबाला है। अपने पिता की इकलौती बेटी है। रत्नजटित भूले में भूल रही है। नन्दन वन की समता करने वाले उद्यान में फूलों के साथ हँस रही है, मोर के साथ नाच रही है, कोयल के साथ गा रही है। सब उसे प्यार कर रहे हैं। उसके पाव धरती पर नहीं टिकते। वह हाथों हाथ उठाई जा रही है।

मन ने अचानक पल्टा खाय। उसके सामने युद्ध का दृश्य आ गया। चम्पा नगरी पर कौशाम्बी के राजा शतानिक ने, उसके ही मौसा ने धावा बोल दिया है।

टिड्डी दल की भाँति शत्रु दूट पड़े हैं। खून की नदियाँ बह चली हैं। दुश्मन नगरी लूट रहे हैं। श्रीमन्तों की तिजोरियों के तालें तोड़ दिये गये हैं। गरीबों की भोप-झियाँ जला दी गई हैं। स्त्रियों और बच्चों को बन्दी बना लिया गया है। सैनिक दैत्य बनकर नाच रहे हैं।

यह क्या ? चन्दना चौंक पड़ी। राजमहल में शत्रु घुस आये ? अन्तःपुर में हाहाकार मच गया। रथारोही सैनिक चन्दना और उसकी माता धारिणी को लिए बड़े वेग से बढ़ा जा रहा है।

घनघोर जंगल आ गया। सैनिक का पशुत्व उभर पड़ा। धारिणी के रूप का लोभी बनकर वह उसके चारों ओर मड़राने लगा। धारिणी ने शील की रक्षा के लिए अपनी जीभ खींच ली।

चन्दना काप रही है—वह भी जीभ खींचना चाहती है। पर रथारोही ने आगे बढ़कर उसका हाथ पकड़ लिया है। वह ग्लानि से भरकर बोल रहा है—‘बेटी अब इस महापाप से मुझे कलकित न कर। मैं पापात्मा हूँ, दुष्ट हूँ। तू सती है, साध्वी है। ‘मा पाहि मां पाहि।’

चन्दना ध्यानस्थ हो गई। मन उर्ध्वगामी हुआ। उसने देखा—

सैनिक की पत्नी नागिन बनकर फुफकार रही है। ‘तू यह सौत कहा से उठा लाया ? मुझे यह नहीं चाहिये, मुझे चाहिये हीरे, जवाहरात, सोना, चाँदी। इसे बेच आ। नहीं तो ...’

और दम मिनट बाद चन्दना बाजार में खड़ी है। उसे बेजान वस्तु की भाँति बेचा जा रहा है। उसकी बोली लग रही है। बीस लाख मुहरों में वह बिक गई है। एक वेश्या ने उसे खरीदा है।

वह काप गई है। उसने दुःखता से कहा—‘मैं वेश्या वृत्ति नहीं करूँगी। मेरा विचार आत्मा का विचार है, शरीर का नहीं। मैं रूप की रानी बनकर नहीं रहना चाहती, मैं अरूप की आराधिका बनकर जीना चाहती हूँ।’

चन्दना का चेहरा चमक उठा। उस पर दृढ़ निश्चय और आत्म-बल की रेखाएँ खिच गईं। बन्दरी की एक टोली उसे नजर आई। उसने वेश्या को लहू-

बुझान कर दिया, वह चीन्हा कर भाग खड़ी हुई।

अब चन्दना घनावह सेठ की दासी है। जी तोड़ काम करती है। सेठ जने बेटी की तरह दुलारता है 'अधिक काम न कर बेटी और चन्दना पिता तुल्य सेठ की सेवा करना अपना परम कर्त्तव्य समझती है।

सेठ बका-मांदा बाहर से लौटा है। चन्दना गर्म बानी लाकर उसके पाँवों को धो रही है। उसके लम्बे २ बाल धरती को छू रहे हैं। सेठ वास्तव्य भाव से उन्हें उठा १ कर उसकी पीठ पर रख रहा है।

अचानक चन्दना का हाथ सिर पर गया—लम्बे २ बाल वहाँ न थे। उसे याद आया—

'अभी तीन दिन ही हुये, सेठानी मूला ने बदला लेने की भावना से उसे कोठरी में बन्द कर रखा है। उसके लम्बे २ बाल कतर डाले हैं, उसके सिर में घाव कर दिया है हाथ में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ डाल दी हैं। वह तीन दिन से भूखी है।' अनायास ही उसकी दृष्टि अपने हाथों की ओर गई। उसने देखा—

उबाले हुए सड़क के बाकले हाथों में हैं। वह सोच ही रही थी कि किसी अतिथि का स्वागत कर इन्हें खाऊँ। इतने में उसे भगवान महावीर सामने आते हुए

दिखाई दिये। उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। वह अपने को धन्य मानने लगी।

पर यह क्या? महावीर लौट पड़े। इस गरीबनी का अतिथि स्वीकार नहीं किया? उसकी आँखें भर आईं और दो साँस तुलक पड़े।

तीन

महावीर ने ज़मकर देखा। उसका अभिग्रह-चित्र जी तब तक धधुरा था, आसुओं की आर्द्रता कोमलता पाकर पूरा हो गया। वे वापिस लौट पड़े। चन्दना के राखे धधुरो पर मुस्कराहट फैल गई। उन्होंने उड़क के बाकलों की भिक्षा ली। साभिग्रह छमासी पूरा हुआ। आकाश में 'अहो दान, अहो दान' की दुन्दुभि बज उठी।

चन्दना आत्म-विभोर हो गई। उसकी प्रसन्नता का पारावार उमड़ पड़ा, वह आत्मा के विभ्रत कुंज में इतनी तन्मय होकर नाची, कि सृष्टि का कण २ उसके साथ नाच उठा। उसकी बेड़ियाँ फूलमाला बन गई। मुँडित मस्तक पर नागिन सी वेणी लहुरा उठी। रत्नजटित आभूषणों से शरीर जगमगा उठा।

पर चन्दना ने यह सब कब चाहा था? उसने जो चाहा था वह उसे महावीर के चरणों में मिला। वह छद्बीस हजार साध्वियों की प्रवर्तिनी बनी।

(पृ० १७४ का शेष)

के अतिरिक्त और कोई परिचय नहीं दिया है। गम में कवि ने सरस्वती बन्दना के समय अपने नाम का उल्लेख किया है—

सरस्वती माता बुद्धि दाता करह पृथक् लेई
उर पहिरि हार करि सिंगार हस चढी वर देई ॥७॥
सेवत सुरन नवहि मुनिवर छहों दरिसग तोहि।
कवि अपउ भाउ करि पमाउ बुद्धि फलु मोहि ॥८॥

रचना का आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है—

आरम्भ—प्रथम तीर्थकर पणउ चौबीस,
सब जिरिन्द जपि लेउ जमीस।

चलण सीस धरि बारम्बार,
तिरिण कि सत्ति तिरौ भव पार ॥६॥

अन्तिम भाग—और तिर आपुण तिरै,
चहु सघ जिग रक्षा करौ।
पशु पंखी दीन्हा मुकलाय,
चढि गिरनार कियो तपु जाइ ॥१४४॥

सुर नर बन्दनीकु जो भयो,
सो श्री नेमिसभा कौ गयो ॥१४६॥

भाउ कवि का एक पद जयपुर के पाटीदी मन्दिर के शास्त्र भण्डार में संगृहीत है। पद "बलि जइयो नेमि-जिनंद की" से आरम्भ होता है। पद स्तुति परक है।

अजीमगंज भंडार का रजताक्षरी कल्पसूत्र

भंडाराल नाहटा

स्वेताम्बर जैन समाज में कल्पसूत्र का महत्व अत्यधिक है। पशुपति के आठ दिनों में इस शास्त्र को हाथी आदि पर आरुढ़ करके गाजे बाजे के साथ लाकर गुरु महाराज के पास बहुमान के साथ श्रवण करने की प्राचीन प्रथा है। ऐसे शास्त्रों के लिखवाने में जैन समाज ने प्रचुर द्रव्य राशि व्यय की और स्वर्णाक्षरी, रजताक्षरी गंगा-जमनी, स्वर्ण व विविध रंग व हांसिये के चित्रों वाले कल्पसूत्र व कालिकाचार्य कथा की प्रतियां लिखवाते रहे। काली स्याही से लिखी सचित्र प्रतियां तो सैकड़ों की संख्या में उपलब्ध हैं पर स्वर्णाक्षरी, रौप्याक्षरी की प्रतियां तो प्रायः अच्छे अच्छे ज्ञान भंडारों में मिल जाती हैं। भारतीय प्राचीन कला की और आकर्षण बढ़ाने से पूर्व ही विदेशी लोग बहुत सी कला सामग्री कौड़ी के मोल में खरीद कर ले गये और इनके दलालों ने छोटे छोटे गांवों तक में पहुंच कर जिस किसी प्रकार से तिकड़म बाजी द्वारा भण्डार के भण्डार खाली कर दिये। अज्ञानियों के अधि-कार में रही वस्तु तभी सुरक्षित रह सकती है जबकि उनके हृदय में उसके प्रति बहुमान गौरव एवं ज्ञान की आसा-तना का भय हो। अन्यथा कई जगह ऐसा देखा गया है कि खुले पत्रों को अपूर्ण समझ कर गत या मकान की नींव में दे दिये गये। कई ग्रन्थ राशि व खण्डित जिन प्रतिमाओं को नदी सरोवरादि में प्रवाहित कर दिया गया। कुछ लोगों ने स्वर्णाक्षरी शास्त्रों को सोना निकालने के लिये जला तक डाले, यहां तक सुना गया है। प्राचीन शास्त्रों की यह दशा देखसुनकर हृदय कांप उठता है। अज्ञानी द्वारा शास्त्रों की भवहेलना हुई यह तो हुई पर उसके मर्मज्ञ और ज्ञानी कहे जाने वाले व्यक्तियों ने भी शास्त्र भण्डारों से ग्रन्थों को उड़ाने में कसर नहीं रखी। यदि कोई शास्त्र न उड़ा सका तो उसके कुछ पत्रों को ही चुरा कर ऊंचे दामों में क्लृप्ताग्नेयी व्यक्तियों को बेच डाले। क्योंकि पूरे शास्त्र के जतने दाम नहीं उठते जितने एकाध पत्र के। सैकड़ों पत्रों के लिए बड़ी भारी धनराशि चाहिए।

एकाध चित्र को हर व्यक्ति फ्रेम में जड़वा कर अपने कक्ष की शोभा वृद्धि कर सकता है। इस दुरभिसंधि से ग्रन्थों के चित्रों को निंदयता पूर्वक कतर कर फ्रेम में मढ़वा दिये गए। क्या साधु और क्या श्रावक और क्या दलाल व बयूरियों के व्यापारी इस पाप कार्य से बच न सके। उनके हृदय में जिनाज्ञा व भव-भ्रमण का भय न रहा और अपनी इस दुष्प्रवृत्ति में भी शुभ कार्य कर रहे हैं, अधिकांश अज्ञानियों के हाथ में न रह कर हम मर्मज्ञ और अधिकारियों के हाथ में आने से वस्तु का महत्व बढ़ेगा और उत्कर्ष ही होगा। इस स्वकल्पित मान्यता ने बहुत बड़ा घनचंकर डाला। प्रसंगवश एतदिष्यक विचारों को प्रगट कर आशा की जाती है कि समाज अपनी पुरातत्व संपत्ति की रक्षा के लिए विशेष उपाय सोच कर प्रबन्ध करेगा।

कल्पसूत्रादि शास्त्रों की विशिष्ट प्रतियों को प्राचीन काष्ठ से ही जान भंडार के संरक्षकों ने उन्हें सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया था उनमें सांपकी काचली, मगरैता जड़ी बूटी आदि रख कर जीवजन्तुओं से सुरक्षित किया गया। कई प्रतियों के नष्ट पत्रों को दक्ष व्यक्तियों के पास उसी रंग व कागजादि पर लिखवा कर चिपका कर जीर्णोद्धार कराया गया और जो ग्रन्थ विवेकी व्यक्तियों की नजर में न आये नष्ट भी हो गए। आज के वैज्ञानिक युग में शास्त्रों को जीर्णोद्धारित कर उन्हें चिर-स्थायी किया जा सकता है। और दिल्ली के पुरातत्व विभागादि द्वारा आगम प्रभाकर पुण्यमूर्ति मुनिराज श्री पुष्प विजय जी महाराज ने शास्त्रोद्धार का बड़ा भारी आदर्श उपस्थित किया है। इसी प्रकार आवश्यकता है कि जिनके पास भी जीर्ण दशा में शास्त्र हों उन्हें जीर्णो-द्धारित करवा के चिरस्थायी कर देना चाहिए।

अभी अजीमगंज के भण्डार की एक स्वर्णाक्षरी और एक रौप्याक्षरी प्रति कल्पसूत्र की अवलोकन में आई।

इसमें से स्वर्णाक्षरी प्रति का परिचय एक अन्य लेख में दिया गया है. यहाँ रौप्याक्षरी प्रति का परिचय देना अभीष्ट है। यह प्रति जीर्ण शीर्ण और कुछ पत्र बिहीन भी है। यह सचित्र प्रति पत्रांक ४ से ६३ तक की सचित्र है, प्रादि के ३ पत्र नहीं है अन्त में पत्र ८७ में कल्पसूत्र समाप्त हो जाने के बाद पक्ष्म की कालकाचार्य कथा प्रारम्भ होती है जो पत्रांक ६३ तक पूर्ण रह गई है। इस प्रति को दो काठन में त्रिवा गया है और चारों ओर दिये गये बोर्डर (हासिये) में विभिन्न प्रकार की फूट पत्तियाँ व हंस, बत्त, शुक्रादि की पवित्रता चित्रित हैं ग्रथ के अक्षर बहुधा काले पड़ गये हैं व प्रति भी जीर्ण हो गई है। पत्रांक ११, २६, ३०, ३४, ३५, ३६, ४१, ४३, ५३, ५९, ६०, और ६३ वा शताब्दी पूर्ण ही काँचे अक्षरों से नये लिवा कर डाले गये थे अगले और भी पत्र कम हुए ही हैं। इस प्रति के विषय सुन्दर और सुन्दरे हैं। पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ कल्पसूत्र और कालकाचार्य कथा के चित्रों की सूची दी जा रही है:—

- १ पत्रांक १२ में हरिणगमेषी देव
- २ पत्रांक १३ में वीर गर्भावहार
- ३ पत्रांक २१ में मज्जन साला में सिद्धार्थ
- ४ पत्रांक २५ में स्वप्न फल पाठक
- ५ पत्रांक ३१ में भगवान महावीर का जन्म
- ६ पत्रांक ३२ में इन्द्र द्वारा प्रभु का जन्माभिषेक
- ७ पत्रांक ३७ में महावीर प्रभु की दीक्षा
- ८ पत्रांक ३८ में ऊँच दीक्षा नीचे प्रभु के कानों में कोला ठोंकना,
- ९ पत्रांक ३८ बी में ध्यानस्थ प्रभु महावीर
- १० पत्रांक ४० में महावीर समवशरण
- ११ पत्रांक में ४२ में केवली गौतम गजधर
- १२ पत्रांक ४६ में पार्श्वनाथ माता के ऊपर १४ स्वप्न और नीचे जन्म
- १३ पत्रांक ४८ में पार्श्वनाथ (सप्त फल मंडित) ध्यानस्थ
- १४ पत्रांक ५० में पार्श्वनाथ निर्वाण

- १५ पत्रांक ५१ में एक तरफ नेमिनाथ सपरिकर प्रतिमा
 - १६ पत्रांक ५१ में चौदह स्वप्न व नेमिनाथ जन्म
 - १७ पत्रांक ५१ में नेमिनाथ का विवाह के लिए जाना पशुओं का बाड़ा देख कर रथ मोड़ना।
 - १८ पत्रांक ५२ में नेमिनाथ दीक्षा
 - १९ पत्रांक ५४ में नेमिनाथ समवशरण
 - २० पत्रांक ५५ में दस तीर्थंकर
 - २१ पत्रांक ५६ में दस तीर्थंकर
 - २२ पत्रांक ५८ में ऋषभदेव जन्म व इन्द्र द्वारा धनित।
 - २३ पत्रांक ६७ में स्मृतमद्र स्वामी मुक्ता में ताडितों के साथ व सिंह रूप धारी
 - २४ पत्रांक ६७ में वार वृद्धों के साथ आचार्य महाराज
 - २५ पत्रांक ७२ में आचार्य महाराज दोषार्थों को दोषा देते हुए।
 - २६ पत्रांक ८७ में आचार्य महाराज के समक्ष अनुविश्रम व कालकाचार्य कथा:—
 - २७ पत्रांक ८८ में राजा-रानी (कालकाचार्य के माना-पिता)
 - २८ पत्रांक ८९ गर्दभिल्ल, सरस्वती व कालकाचार्य
 - २९ पत्रांक ९० अश्वारोही राजा व कालकाचार्य
 - ३० पत्रांक ९२ माही (शाकी) राजा के सामने कालकाचार्य
 - ३१ पत्रांक ९२ में ईंट के भट्टे से कालकाचार्य द्वारा स्वर्ण सिद्धि
 - ३२ पत्रांक ९३ में गर्दभिल्ल का गर्दभी विद्या साधन व कालकाचार्य का तीर संधान।
- इस समय इस प्रति में ३२ चित्र हैं, जो पत्र नष्ट हो गए उनमें भी कतिपय चित्र अवश्य रहे होंगे। पृष्ठ भूमि लाल व क्वचित् ब्लू रंगदि भी है। इस कल्पसूत्र की लेखन प्राशस्त न होने से किस संस्कृत में व किसके द्वारा लिखी गई यह नहीं कहा जा सकता। पर अनुमानतः यह पंद्रहवीं शती में लिखी गई प्रतीत होती है।

मोक्षमार्ग की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का निरूपण

सरना राम जैन, बड़ोत

ज्ञान का कार्य पदार्थ को जानना है जैसे दीपक का कार्य प्रकाश करना है।

ज्ञान कुल पांच होते हैं मति, क्षत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। जिनमें मति, अवधि, मनःपर्यय तो मोक्ष मार्ग में कोई खास प्रयोजन भूत है नहीं। श्रुतज्ञान, जब मिथ्यात्व का अभाव हो जाता है तब सम्यग्ज्ञान हो जाता है। उस समय से मोक्षमार्ग का अंग बन जाता है और जीव का गुणस्थान चौथा हो जाता है। चौथे, पांचवें, छठवें में जिस जीव के गुणस्थानानुसार जितनी कषाय का अभाव हुआ है उतना तो अन्तरंग में शुद्ध है जो हर समय सत्वर निर्जरा का कार्य करता है और कुछ अंश शुभ राग द्वारा द्वादशांग के सूत्रों के विचार में प्रयुक्त होता है क्योंकि इन तीन (चौथे पांचवें छठे) गुणस्थानों में शुद्धि के साथ शुभ राग भी है अर्थात् बुद्धिपूर्वक शुभ विकल्प है। इसलिये इसके अखण्ड परिणमन को व्यवहार सम्यग्ज्ञान ही कहते हैं। इसमें जितने अंश में शुद्धता है उतने अंश में सत्वर निर्जरा है और जितने अंश में राग है उतने अंश में पुण्यबन्ध है।

सातवां गुणस्थान जब आता है उस समय उस श्रुत सम्यग्ज्ञान की दशा एक दम पलट जाती है। सूत्रों का बुद्धिपूर्वक विचार बिलकुल समाप्त हो जाता है और सम्पूर्ण प्रयोग निज शुद्ध आत्मा का आश्रय करके उसमें अडोल, अकम्प एवं स्थिर हो जाता है। अबुद्धिपूर्वक कुछ राग रहता है अवश्य, पर वह कोई खास गिनती में नहीं है, क्योंकि उसकी सामर्थ्य इतनी हीन हो गई है कि वह अगले भव की देवायु का बन्ध नहीं कर सकता और बिना बंध के अगला जन्म कैसे हो सकता है? नहीं होता। इसलिये वहाँ से वह श्रुतज्ञान बीतराग गिना जाता है और उसका फल केवलज्ञान माना जाता है। सातवें से बारहवें गुणस्थान तक इसकी शुद्धि के उत्तम अंश बढ़ते ही रहते हैं पर, दशा इसकी एक ही

है—“निज शुद्ध आत्मा में स्थिरता।” यह श्रुतज्ञान साधोपशमिक ज्ञान है। ज्ञायक का वास्तविक रूप नहीं है। इसलिये इसकी बारहवें गुण० तक व्यवहार सम्यग्ज्ञान संज्ञा है। सातवें से बारहवें गुणस्थान के सम्यग्ज्ञान का फल केवलज्ञान है, क्योंकि बारहवें के अन्त में इसका व्यय होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

‘आद्ये परोक्षम्’—इस सूत्र के अनुसार श्रुतज्ञान परोक्ष ही होता है। वस्तु स्थिति से यह परोक्ष ज्ञान ही है पर द्रव्यानुयोग तथा अध्यात्म की ऐसी कुछ शैली है कि सातवें से बारहवें तक इसकी प्रत्यक्ष संज्ञा भी है। इसके लिये आगम में हेतु यह दिया है कि यहाँ मुनि को आत्मा का कोई अलौकिक संवेदन होता है और वह इतना परमानन्द रूप है कि उस समय होने वाली किसी परीषद् तथा उपसर्ग का भी वेदन नहीं होने देता। इसलिये इस सातवें से बारहवें गुणस्थान तक के श्रुतज्ञान को वस्तु सत्यादा के अनुसार तो परोक्ष ही कहा जाता है पर आत्मानुभव की अपेक्षा प्रत्यक्ष भी कहते हैं। यह हमने आगम प्रमाण से लिखा है। हमको स्वयं इसका कोई अनुभव नहीं है क्योंकि हम तो अभी अविरत सम्यग्दृष्टी हैं। इस आत्मानुभव में इतनी ताकत है कि यह दृढ़बद्ध धातिकर्मों को जड़ मूल से नष्ट कर देता है और केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदय हो जाता है यहाँ जीव का मोक्ष इसलिये नहीं हो पाता कि श्रुतज्ञान में अघाति कर्म को नष्ट करने की सामर्थ्य ही नहीं है। वह सामर्थ्य केवलज्ञान में है।

केवलज्ञान के उत्पन्न होते ही गुणस्थान तेरहवां बन जाता है। ज्ञान परोक्ष से पूर्ण प्रत्यक्ष हो जाता है और व्यवहार सम्यग्ज्ञान से निश्चय सम्यग्ज्ञान बन जाता है। इसका फल अघाति कर्मों का नाश करके सिद्ध पद की प्राप्ति कराना है।

उपरोक्त लेख का सार यह है कि सम्यग्ज्ञान की तीन दशा हैं। पहली दशा चौथा पांचवां छठा गुणस्थान

जहाँ तत्त्वों की जानकारी है। दूसरी दशा सातवें से बारहवा गुणस्थान जहाँ आत्मा का संवेदन है और तीसरी दशा तेरहवाँ चौदहवाँ गुणस्थान जहाँ इसकी पूर्ण प्रत्यक्ष आत्म-दशा है। व्यवहार निश्चय की अपेक्षा दो ही दशा हैं। चौथे से बारहवें तक व्यवहार सम्यग्ज्ञान और तेरहवें चौदहवें में निश्चय सम्यग्ज्ञान। प्रत्यक्ष परोक्ष की अपेक्षा तीन दशा हैं। चौथे पाँचवें छठे में परोक्ष ही है। तेरहवें चौदहवें में प्रत्यक्ष ही है। और सातवें से बारहवें तक कथञ्चित् प्रत्यक्ष और कथञ्चित् परोक्ष है। यह मोक्षमार्ग की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का कथन है।

अध्यात्म में सबसे पहली विचारणीय बात यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि को इस श्रुत सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो? इसका उत्तर यह है कि जो जीव भव्य पवेन्द्रिय सजी हो और काल आदि लब्धियाँ जगत्की पक गई हों, उस का काम बनता है ऐसा कुछ वस्तु नियम है। वस्तु की मर्यादा ही ऐसी है। इसमें अपने वस की बात नहीं है। हाँ ऐसा समय आ जाने पर इस जीव को क्या पुरुषार्थ करना पड़ता है जिससे इसका मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है वह है स्व-पर का “भेद विज्ञान” जो श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने सम्यग्ज्ञान के इस लक्षण में अंकित किया है।

सम्यग्ज्ञान का लक्षण (चौथे से बारहवें गुणस्थान तक का)

अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयतच्चाण ॥५२॥

संशयविमोहविभ्रमविवर्जित्यं होदि सण्णाणं ॥५१॥

नियमसार

अर्थ—हेय (पर) और उपादेय (स्व) तत्त्वों के जानने रूप भाव सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान संशय विमोह और विभ्रम रहित होता है।

भावार्थ—अपना निज शुद्ध आत्मा (ज्ञायक-अन्त-स्तत्त्व) उपादेय है और शेष सब कुछ (बहिस्तत्त्व) हेय है। इस प्रकार संशय विपर्यय, अनध्यवसाय रहित निस्सन्देह निश्चित रूप से जानना सम्यग्ज्ञान है।

उपरोक्त भाव पर से ही द्रव्यसंग्रहकार ने यह गाथा रची है—

ससयविमोहविभ्रमविवर्जित्यं अप्परसत्त्वस्स ।

गहण सम्मण्णाणं सायारमणोयभेय तु ॥४२॥

द्रव्य संग्रह

अर्थ—अपनी शुद्ध आत्मा के स्वरूप का और पर के स्वरूप का संशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित आकार सहित (भेद सहित) जानना सम्यग्ज्ञान है और वह सम्यग्ज्ञान अनेक भेद बाला है।

भावार्थ—साकार कहकर हमें दर्शनोपयोग से भिन्न किया है और ‘अनेक भेद’ कहकर चौथे से बारहवें गुणस्थान में श्रुतज्ञान को शायोपशमिक ज्ञान होने के कारण, जो अनेक तरतम रूप शुद्धि के भेद हैं उनका संकेत किया है। केवल श्रुतज्ञान के अवान्तर शुद्धि के भेदों की बात है सिद्धान्त दृष्टि के भेद प्रभेदों से यहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है और यह अनेकभेद की बात केवलज्ञान में नहीं है ऐसा भी इससे प्रगट किया है। जैसे ‘माकार’ लिखकर हमें निराकार दर्शन से भिन्न किया है ऐसे ही ‘अनेकभेद’ लिखकर अभेदरूप केवलज्ञान से भिन्न किया है।

इस श्रुतज्ञान का ऐसा कुछ अनादि का विकृत रूप है कि इसमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीन दोष रहा करते हैं। सो स्व के स्वरूप की जानकारी में और पर के स्वरूप की जानकारी में इतना परिश्रम करना होगा कि ये दोष बिलकुल न रहें। ठोक बजाकर पक्का निर्णय हो। अचल, अकम्प, अडोल जिसको संसार की कोई ताकत इधर उधर न कर सके। हिला भी न मके। तब श्रुतज्ञान सम्यक् श्रुतज्ञान नाम पाता है।

अब विचारना यह है कि वह स्व पर क्या वस्तु है जिसका भेदज्ञान करना है वह स्व वस्तु है निज शुद्ध आत्मा जो कि अमूर्तिक है और सिद्ध समान है और शेष सब कुछ पर है। उस आत्मा को मात्र केवलज्ञान ने जाना है। अतः सर्वप्रथम सर्वज्ञ देव जिन भगवान की श्रद्धा करनी होगी और फिर उसके कहे हुए आगम की। वह आगम सर्वथा सर्वज्ञ के वचनानुसार लिखा हुआ होना चाहिए। इसलिये मुमुक्षु को अनेक अप्रामाणिक आगमों को छोड़कर सच्चे प्रामाणिक आगम को ढूँढना होगा। सर्वज्ञ का कहा हुआ अनेकान्तरूप पूर्वापर दोषों से रहित

फिर उसमें से छः द्रव्य, पचास्तिकाय, नवपदार्थों का यथार्थ अनेकान्त स्वरूप जानना होगा। ये तो सब पर द्रव्य हैं। प्रजीव तत्त्व है। इनमें रहने वाला एक अनादि अनन्त, स्वसिद्ध अहेतुक शुद्ध जीवास्तिकाय नामा चेतन द्रव्य है जो संसारी जीव के इन ६ पदार्थों में गुप्त रूप से निहित है जिसके ऊपर ये नव तत्त्व तिरते हैं। वह ऐसा लक्ष्य में आयेगा जैसा सिद्ध। उसमें और सिद्ध में एक बाल भर का अन्तर नहीं है। बस वह स्व तत्त्व है। नित्र शुद्ध आत्मा है। उपादेय है जीव तत्त्व है। जेप छः द्रव्य पचास्तिकाय और नव पदार्थ सबकुछ हैं प्रजीव तत्त्व है पर है। इसको देय उपादेय और स्व पर कहने है। इनका स्वरूप जैसा कुछ है वैसा ही लक्ष्य में आना चाहिये। जैसा सर्वज्ञ ने देखा है ठीक वैसा। न कमती, न वेशी, न उल्टा, जैसा का तैसा, सन्देह रहित, पक्के अटल विश्वास को लिए हुए ज्ञान में आना चाहिए जब वह सत्य विपर्यय, अनव्यवसाय रहित ज्ञान में आ जाएगा तब स्व पर का ज्ञान होगा और तभी सम्यग्दर्शन पूर्वक अनादि का कुम्भतज्ञान मुद्भूत में परिणत हो जाएगा। उस समय चौथा गुणस्थान आयेगा और जीव सम्यग्दृष्टी नाम को प्राप्त होगा। फिर पाँचवें छठे गुणस्थान में अणुव्रतों महाव्रतों को धारण करता हुआ इस भेद विज्ञान का निरन्तर अभ्यास करके डेढ़ विशेष उज्ज्वल और दृढ़ बनाता रहेगा। एक क्षण के लिये भी इसका विरह न होने देगा। इस प्रकार इन तीन गुणस्थानों की दशा को पार करेगा।

शिष्य—यदि जीव उपरोक्त परिश्रम न करे और दिग्गम्बर भिक्षु हो जाय तो क्या फिर उसका काम न बनेगा? उत्तर गुरु महाराज स्वयं गाथा में देते हैं—

आगमहीनो समगो रोक्त्वाप्यणं पर वियाणादि ।

अविज्ञानं तो अदुःखं त्वदेवि कम्माणि किञ्च भिक्खू ॥३-३३॥

प्रबन्धनसार

अर्थ—आगमज्ञान रहित भ्रमण आत्मा को (निज को) और पर को नहीं जानता है। पदार्थों को नहीं जानता हुआ साधु कर्मों को किस प्रकार धारण करे? नहीं कर सकता।

भावार्थ—क्या आप गुरु देव के भाव को समझें? वे यह कहना चाहते हैं कि आगे सातवा गुणस्थान है। उसमें उपयोग की, जिसको पर तत्त्व निश्चय किया है

उसमें से बिल्कुल हटाना है, और जिसको स्व तत्त्व निश्चय किया है उसमें उपयोग को सर्वथा जोड़कर ध्यान करना है। यह वह कार्य है जो कर्मों को धारण करना है। इस कार्य को बिना स्व पर के जाने कैसे ही मुनि बना हुआ व्यक्ति कैसे करेगा? तीन काल में नहीं कर सकता। इसलिए स्व पर का जानना अत्यन्त जरूरी है और इतना जरूरी है कि छठा गुणस्थान तो क्या उस स्व पर के जाने बिना चौथा गुणस्थान ही नहीं आता।

शिष्य—यदि पर को न जाने और स्व ही स्व को जान ले तो क्या आपत्ति है?

गुरु—पर को जानने की इसलिये जरूरत है कि उसमें से उपयोग को हटाना है और स्व को इसलिये जानने की जरूरत है कि उसमें उपयोग को जोड़ना है। दूसरे इमलिय भी स्व पर को जानने की आवश्यकता है कि पर का कोई अंश स्व में ना आ जावे और स्व का कोई अंश पर में न चला जाय। यदि जरा भी किसी अंश में गड़बड़ी हो गई तो फिर भेदविज्ञान न होगा। तीसरे भेदविज्ञान हमेशा दो मिले हुए पदार्थों में ही किया जाया करता है जैसे दूध पानी में। सोना कीट में आदि। उन दोनों को जानकर फिर भिन्न भिन्न किया जाता है।

शिष्य—उस भेदविज्ञान द्वारा कैसा अपना निज शुद्ध आत्मा हाथ लगेगा जिससे सातवा गुणस्थान वाला आत्मध्यान द्वारा अनुभव करेगा? इसका उत्तर स्वयं आचार्य महाराज निम्न गाथा द्वारा देते हैं—

जो पस्सवि अप्पाणं अब्बपुट्ठं अणण्णमविसिंसं ।

अपवेससन्तमज्झं पस्सवि जिणसासणं सव्वं ॥५॥

समयसार

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टी मुनि आत्मा को अब्बस्पृष्ट अनन्य, अविशेष, तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त इन पाँच भावों वाला देखता है... अनुभव पूर्वक जानता है वह सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है—जानता है कि जो जिन शासन बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अन्त्यन्तर ज्ञान रूप भाव श्रुत वाला है।

(१) अब्बस्पृष्ट—व्यवहार से आत्मा द्रव्यकर्म से बद्ध और नोकर्म से स्पृष्ट होने के कारण बद्धस्पृष्ट है किन्तु निश्चय से इनसे रहित होने से अब्बस्पृष्ट है।

(२) अणण्ण—व्यवहार नय से नर, नारक आदि नाना पर्यायरूप होने से अण्ण अण्ण है पर निश्चय से इन से रहित होने से अनन्य है।

(६) निश्चय—व्यवहार से ज्ञान, दर्शन आदि के पर्याय में अविभाग प्रतिच्छेदों की हानि वृद्धि होने से मति ज्ञान आदि ज्ञान तथा चक्षु दर्शन आदि दर्शन रूप परिणमता होने से अनियत है किन्तु निश्चय से ज्ञान और दर्शन आदि से परिपूर्ण होने से नियत एकरूप है।

(४) अविशेष—व्यवहार से ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व आदि गुणों से, अगुणलघु की पर्यायों से तथा असंख्यात प्रदेशों से विशेषतावाला है क्योंकि इनके साथ उस कालक्षय लक्षण भेद है पर निश्चय से सब विशेषताओं से रहित अविशेष है।

असंयुक्त—व्यवहार से मिथ्यात्व, क्रोध आदि राग भावों से संयुक्त होता है पर निश्चय से इन भावों से रहित होने के कारण असंयुक्त है।

ऐसे पांच भावों से युक्त आत्मा को जो अप्रमत्त दशा में आकर अनुभव करता है मानो वह सारे द्रव्य भावरूप श्रुत का अनुभव करता है क्योंकि सम्पूर्ण श्रुत का मन्त्रन यह आत्मा ही है। जिसने इनको अनुभव कर लिया उसने सभी आगम को जान लिया।

बिल्कुल इसी बात को श्री प्रवचनसार में भव्य शब्दों में इस प्रकार कहा है—

जो हि मुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणमं सहावेण ।
त सुयेकेवलमिसिणो भण्ति लोयपदीवयरा ॥३३॥

समयसार ६, प्रवचनसार ३३

अर्थ—जो श्रुतज्ञान के द्वारा स्वभाव से ज्ञायक (ज्ञायक स्वभावी) आत्मा को जानता है उसे लोक के प्रकाशक ऋषीश्वरगण निश्चय से श्रुतकेवली कहते हैं।

आचार्य—कुछ विद्वान इस गाथा को चौथे गुणस्थान की कहते हैं पर ऐसा नहीं है। यह गाथा तो सातवें से बारहवें गुणस्थान की है। इसका भाव ऐसा है कि जो सम्यग्दृष्टि मुनि सातवें गुणस्थान में ज्ञायक स्वभावी अपने निज शुद्ध आत्मा को भाव श्रुतज्ञान द्वारा अनुभव करता है वह निश्चय से श्रुतकेवली है। चाहे गणधर भी हो, जो पूर्ण द्वादशांग को जानने वाला है वह जब

तक छठ गुणस्थान में है तब तक वह तो व्यवहार से श्रुतकेवली है और जो सारे द्वादशांग को भले न जानता हो किन्तु उसके मन्त्रन स्वरूप निज शुद्ध आत्मा को अप्रमत्त दशा में अनुभव करता है वह तो निश्चय से श्रुतकेवली है। इतनी इस सम्यक् श्रुतवान की महिमा है। ये सातवें से बारहवें गुणस्थान तक के सम्यक्ज्ञान का निरूपण करता है।

आगे तेरहवें चौदहवें गुणस्थान के सम्यग्ज्ञान का निरूपण इस प्रकार है—

जाणदि पस्सदि सर्व्वं व्यवहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि गियमेण अप्पाणं ॥१४६॥

नियमसार

अर्थ—व्यवहार नय से केवली भगवान सब को जानते हैं और देखते हैं। निश्चय से केवलज्ञानी आत्मा को (स्वयं—निज शुद्ध आत्मा को) जानते हैं देखते हैं।

शिष्य—बारहवें गुणस्थान से इसमें क्या अन्तर पडा ?

गुरु—वहाँ छपस्थ पुरुषार्थपूर्वक अपने उपयोग को पर से हटाता था और स्व में स्थित करता था। महान् पुरुषार्थ करना पड़ता था जिसको कोई भी छपस्थ अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं कर सकता। उसके फलस्वरूप धातिकर्म का नाश होता है और उस धाति कर्म ने जो आत्मा का स्वभाव तिरोभूत कर दिया था वह स्वयं आविर्भूत हो जाता है। इसकी स्वयंभू संज्ञा हो जाती है। फिर वह स्वतः अनन्त काल तक स्व में स्थित रहता है। उपयोग को पुरुषार्थ पूर्वक स्व में जोड़ने की आवश्यकता नहीं रही और इतना ही नहीं। उपयोग को जो पुरुषार्थ पूर्वक पर से हटाता था उसकी भी आवश्यकता नहीं रही अर्थात् उपयोग लगाकर पर का जानना ही नहीं रहा किन्तु पर स्वतः भ्रलकता है और स्वतः जाना जाता है जिसको केवली का व्यवहार से पर का जानना कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान की अन्तिम उत्कृष्ट दशा है जिसको निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

जैनसमाज के समक्ष ज्वलंत प्रश्न

कुमार चन्द्रसिंह बुधोरिया, कलकत्ता

[श्री बुधोरिया जी ने प्रस्तुत निबन्ध में, जैन समाज के बिखरे तत्त्वों को एक सूत्र में आबद्ध होने का निमन्त्रण दिया है। एकता की बात नई नहीं पुरानी है, समय-समय पर चली है और चल-चल कर छूटती रही है। यह सच है कि आज की परिस्थितियाँ कुछ अधिक प्रतियोगात्मक हो गई हैं और हमें एक होना चाहिए। प्रश्न केवल महावीर जयन्ती के प्रकाश का ही नहीं है और भी अनेक हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय में 'बौद्ध चेत्य' स्थापित है 'महावीर पीठ' नहीं, आगरा विश्वविद्यालय में जैन दर्शन का कोई स्वतन्त्र प्रश्नपत्र नहीं है, उत्तरप्रदेशीय विश्व विद्यालयों में प्राकृत-भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन का कोई सुचीता नहीं। यह सब एकात्मता के बल पर ही निर्भर है। हो कैसे ?

—सम्पादक]

जैन-समाज के अतीत और वर्तमान का चित्र जब कभी दृष्टि के सामने खड़ा होता है तो लार्ड कर्जन के इस कथन की ओर कि—“हिन्दुस्तान की धन-दौलत का अर्धश जैनियों के हाथ से गुजरता है”— ध्यान आना पाम ही प्राकृष्ट हो जाता है। शोषिता से बदलने वाली अर्थ-व्यवस्था और धन-सम्पदा के विकेन्द्रीकरण के इस काल में यह कोई बहुत अच्छी मिशाल नहीं मानी जायेगी। फिर भी, इस कथन से कम से कम इतना तो स्थिर हो जाता है कि, लार्ड कर्जन के जमाने में जैनियों की जो स्थिति थी उसमें और आज की स्थिति में कितना अन्तर आ गया है।

जैन-समाज की उपलब्धियों का एक बड़ा कारण यह रहा है कि, समाज के नेतागण पुरुषार्थी जीवन व्यतीत करने के साथ ही समाज के अधिकार एवं सामूहिक हित के लिए सदा-सर्वदा जागरूक रहते थे। आर्थिक साधनों के अभाव में जो व्यक्ति अपने गुणों और हुनरों का विकास नहीं कर पाते थे, समाज के सम्पन्न व्यक्तियों के ध्यान में यह बात आते ही तत्काल उनकी सहायता की व्यवस्था हो जाती थी। समाज के सुख-दुःख में शामिल होने के साथ ही समाज के उत्थान एवं अस्तित्व की भावनाये उस समय समाज के नेताओं के हृदय में कूट-कूट कर भगी हुई थी।

लेकिन कालान्तर के प्रभाव से हो अथवा वर्तमान

पीढ़ी के नेताओं और कर्णधारों की शिथिलता के कारण, आज स्थिति बिल्कुल भिन्न और विपरीत है। समाज आज स्वार्थपरता, फिरकापरस्ती और दलगत भावनाओं से आक्रान्त है, जिसका परिणाम सारे समाज को भोगना पड़ रहा है। जिस जैन-समाज की जन-जीवन के क्षेत्र में प्रमुखता रही, आज वह परमुखापेक्षी बनता जा रहा है। देश का यह अग्रणी समाज आज लगातार उपेक्षित होता जा रहा है।

देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के बाद भारत की विभूतियों की जयन्तियाँ एवं पुण्य-तिथियाँ मनायी जाने लगी हैं। दिवंगत विभिन्न नेताओं की जयन्तियों पर विशेष डाक टिकट जारी होने लगे हैं और उन दिनों सरकार की ओर से छुट्टियाँ घोषित की जा रही हैं। लेकिन घोर सन्ताप की बात है कि, सारे संसार को अहिंसा, अपरिग्रह और समभाव का अमूल्य सन्देश देने वाली मानवजाति की महान विभूति—भगवान् महावीर की जन्म अथवा निर्वाण-तिथियों पर अखिल भारतीय स्तर पर समारोह करने की बातें तो दूर रही, हम इस परम पावन दिवस पर सरकारी छुट्टी भी स्वीकृत नहीं करा पाये हैं। इसका प्रधान कारण समाज की शिथिलता है।

पुरुषार्थ और बुद्धिकौशल पर आधारित जो जैन-समाज वाणिज्य-व्यवसाय के क्षेत्र में ही नहीं, जन-जीवन

के प्रत्येक क्षेत्र में अपना प्रमुख स्थान रखता था वह आज क्रमशः पिछड़ता जा रहा है, इसके कारणों की गहराई में प्रवेश करने की क्या हमने कभी कोशिश की है ?

शायद इसके दो प्रमुख कारण हैं। पहला संगठन का अभाव और दूसरा समाज की इकाइयों तथा परिवार एवं व्यक्ति की प्रतिभा, आर्थिक क्षमता में क्रमशः ह्रास।

जैन समाज को यदि फिर से देश का अग्रणी समाज बनना है, तो उसके लिए उसे अपने संगठन एवं अपनी इकाइयों की शक्ति को दृढ़ करना होगा और उन्हें वर्तमान वातावरण के अनुकूल मोड़ना होगा।

हमारे देश में गणतान्त्रिक प्रणाली का उदय हो रहा है। गणतान्त्रिक प्रणाली में व्यक्ति का नहीं, समुदाय का महत्व होता है। व्यक्ति कितना ही गुणशाली एवं बड़ा हो, जब तक उसके पीछे समुगठित जन-समुदाय की शक्ति नहीं होती तब तक उसका महत्व नहीं होता। गणतान्त्रिक जागृत प्रणाली के उदय की इस वजह से जो समाज या समुदाय शिथिल रहेगा, अकर्मण्य रहेगा और अपने सामूहिक अधिकारों के प्रति सजग और जागरूक नहीं रहेगा, वह अपना महत्व खो देगा। उस समाज की कोई प्रतिष्ठा नहीं रहेगी। यही बात हमारे जैन समाज पर भी लागू है।

जैन समाज एकबद्ध होकर, एक स्वर में "महावीर जयन्ती एवं निर्वाण दिवस" पर मार्चजनि कछुटी के लिए आवाज बुलन्द करे और इसके लिए समुगठित प्रयास करे तो फिर इस मांग को ठुकराना किसी के वश की बात नहीं रह जायेगी। सरकार को समाज की सामूहिक मांग पर झुकने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

लेकिन यह तभी सम्भव है, जब हममें समाज के एकाकरण की भावना का उदय हो। वर्तमान युग में जनशक्ति और संगठन का बहुत बड़ा महत्व है। जैन-समाज एक तो अन्य समाजों की तुलना में आकार में यो ही छोटा है, तिस पर भी, इस समय फिरकापरस्ती का शिकार है।

समाज के विभिन्न हिस्से अपनी-अलग-अलग डफली बजा रहे हैं और अलग-अलग राग बलाप रहे हैं, जिसके

कारण आज समाज विभूक्त है। उसकी आवाज का आज कोई प्रभाव नहीं है। हम चाहे तो रहपंथी हों अथवा स्थानकवासी या मन्दिर मार्गी, श्वेताम्बर हों या दिगम्बर सम्प्रदाय-गत संकीर्ण भावनाओं को त्याग कर एकता के दृढ़ पाश में आवद्ध हो और एक जैन समाज के रूप में सोचे और कार्य करे—जैन समाज अस्तित्व कायम रखना चाहता है तो—इसके अतिरिक्त और दूसरा मार्ग नहीं है।

परिवर्तित परिस्थितियों में सोचने, विचारने और कार्य करने के तीर-तरीक भी बदले हैं और भीषणता से बदलने रहेंगे। समाज को एकता के सूत्र में आवद्ध कर एवं उसमें संगठन की भावना जड़ करने के लिए समाज के अग्रणी और कर्णधारों को नये कार्यक्रम ग्रहण करने होंगे। बदली हुई परिस्थितियों में केवल पञ्च कल्याणक पूजन एवं व्याख्यानमालाओं के आयोजन मात्र से ही अपक्षित एकता का आतिर्भाव नहीं होगा। सामाजिक संगठन एवं प्रगति के लिये हमें आध्यात्मिक क्षेत्र के बाहर भी व्यापक कार्यक्रम बनाने होंगे।

स्वतन्त्रता की उलटि के बाद हमारे देश में जनजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नयी उथल-पुथल मची हुई है। प्रत्येक समाज आंग बढ़ने के लिए हाथ पाँव फैला रहा है। लेकिन यह माघन सम्पन्न जैन-समाज ही है, जिसमें आज अजीब निर्जीवता छायी हुई है। स्वतन्त्रता के इन १५-१६ वर्षों के बाद भी हमारे समाज के नेताओं एवं सामाजिक सस्याओं के सामने समाज का वास्तविक चित्र नहीं है। और न इसके लिए उनके पास समय ही प्रतीत होता है।

समाज के अतीत की गुणगारिमा के बखान मात्र में ही वर्तमान पीढ़ी के कर्णधारों और नेताओं का अधिकांश समय व्यतीत हो जाता है। समाज एवं आज के नव-युवकों के सामने क्या क्या समस्याएँ हैं और उनका निराकरण कैसे हो सकता है, उसके प्रति हम उदासीन होते हैं। न तो सामूहिक रूप से चिंतन, मनन एवं विचार विमर्श की कोई व्यवस्था है और न उसकी कोई जरूरत ही महसूस की जाती है।

देश में परिवर्तनों की बाढ़ सी आ गयी है। जिसपर दृष्टि जाती है, वहीं परिवर्तनों की भरमार बिछाई देती है। जन-जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं, जो परिवर्तनों के प्रवाह से अछूता हो।

स्वाधीनता लाभ करने के बाद हमारी राष्ट्रीय सरकार की योजनाएँ और गतिविधियाँ भारतीय समाज और उसकी इकाइयों-सम्प्रदायों के ढाँचे को तेज रफ्तार से बदल रही हैं। धन सम्पदा के उत्पादन एवं वितरण की पुरानी प्रणालियाँ शीघ्रगति से परिवर्तित हो रही हैं। साथ ही, सामाजिक आदर्श भी तेजी से बदल रहे हैं और जीवन के नये मूल्यों का निर्माण हो रहा है।

हमारा नवजात प्रजातन्त्र समाजवादी समाज-व्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहा है। दृष्टिकोण एवं जीवन यापन के तरीकों के साथ समुक्त परिवार का ढाँचा भी बदल रहा है।

यह प्रतियोगिता का युग है। प्रारम्भ से ही व्यक्ति को शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश के लिए, रोजगार के लिए, वाणिज्य व्यवसाय में सफलता के लिए प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है—यहाँ तक कि विवाह के इच्छुक नवयुवकों और नवयुवतियों को भी प्रतियोगिता का शिकार होना पड़ता है।

हमारे देश की वर्तमान शिक्षा एवं प्रशिक्षण पद्धति में आधुनिक प्रतियोगी विश्व की आवश्यकताओं को पूरा करने की सामर्थ्य नहीं है। इसके अलावा, पाठ्यक्रमों में अनिवार्य सांस्कृतिक एवं सृजनात्मक कार्य-कलाओं का समावेश न होना छात्रों के व्यक्तित्व के विकास में भारी बाधक है। और वर्तमान युग में वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा के बिना जीवन में आर्थिक सफलता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करना बहुत ही कठिन है।

अब समय आ गया है, जबकि प्रत्येक भारतीय नागरिक, कुटुम्ब, सम्प्रदाय निरन्तर अपनी योग्यता एवं सक्षमता की जाँच करें कि प्रतियोगिता का वह किस प्रकार सरलतापूर्वक सामना कर सकता है। अतएव, जो समाजसत्तजागरूकनहीं रहेगा, वह अपने अस्तित्व को ही खो देगा। ऐसी परिस्थितियों में कोई प्रगतिशील सम्प्रदाय

सारी जिम्मेदारी सरकार पर छोड़ कर हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठ सकता।

समाज को शीघ्रता से परिवर्तित होनेवाली परिस्थितियों और नये वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए परिपूर्ण जागरूकता और तैयारी की पग पग पर आवश्यकता है। हमें सुनियोजित एवं योजनाबद्ध पद्धतियों से अग्रसर होना होगा। तभी हम इन परिवर्तनों का लाभ उठा सकते हैं।

बदली हुई परिस्थितियाँ और प्रबाध रूप से होने वाले ये परिवर्तन समाज के नेताओं के लिए नया दायित्व लेकर आये हैं। हमें अपने लिए ही नहीं, भावी पीढ़ी के प्रति भी अपने गुरुतर दायित्व का निर्वाह करना है

समाज के नेताओं, कर्णधारों, विचारकों और शुभ-चिन्तकों को परिवर्तनशील स्थितियों के प्रति पूर्णरूप से जाग्रत रहना होगा और इस नये उत्तरदायित्व को ग्रहण करना होगा एवं बदली हुई स्थितियों के अनुरूप समाज का नेतृत्व तथा मार्ग दर्शन करना होगा।

हमारा अतीत जितना गौरवमय रहा हो, आज उसकी गुण गरिमा का बखान करने मात्र से काम नहीं चलेगा। वर्तमान स्थिति के प्रति आत्ममूढ़ कर बैठे रहना समाज के प्रति खतरनाक साबित होगा।

प्रश्न यह पैदा होता है कि, हम समाज को इस घोर प्रतियोगिता के लिए कैसे तैयार करें? इसके लिये हमें कोई भी कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व समाज की वास्तविक स्थिति का पता लगाना होगा। यह देख कर दिल को ठेस लगती है कि, साधन सम्पन्नता के बावजूद भी अपने समाज की वास्तविक स्थिति का सम्पूर्ण चित्र हमारे सामने नहीं है। इसे जानने के लिए कल्पना या अन्दाज से काम नहीं चल सकता। इसके लिए हमें आधुनिक वैज्ञानिक तरीकों को अपनाना होगा। सांख्यिक पद्धतियों द्वारा सामाजिक सर्वेक्षण (Sociological Survey by Statistical Methods) से समाज की स्थिति का वास्तविक चित्र उपलब्ध हो सकता है।

स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात् प्रजातान्त्रिक ढाँचे के अन्तर्गत देश के राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक एवं जन जीवन के अन्य विविध क्षेत्रों में हुए [लेख पृ० १६२ पर]

संत श्री गुणचन्द्र

परमानन्द शास्त्री

भट्टारक गुणचन्द्र मूलसद्य सरस्वतिगच्छ बलात्कार-
गण के भट्टारक रत्नकीर्तिके प्रशिष्य, और रत्नकीर्ति द्वारा-
दीक्षित भ०यशःकीर्ति के शिष्य थे। यशःकीर्ति अपने
समय के अच्छे विद्वान् थे। यशःकीर्ति का स्वर्गवास
भीलोडा (गुजरात) में स० १६१३ में हुआ था १। और
इसी वर्ष स० १६१३ में गुणचन्द्र का पट्टाभिषेक सावल
गाँव में हुआ था २। यशः कीर्ति संस्कृत और हिन्दी भाषा
के अच्छे विद्वान् और कवि थे। आपकी दो कृतियाँ संस्कृत
भाषा में उपलब्ध हैं। अनन्तनाथ पूजा जिसे कवि ने
स० १६३० में हुंभड वशी सेठ हरकचन्द दुर्गादास नामक
वर्णिक की प्रेरणा से, सागवाड़ा के आदिनाथ मंदिर में
रहकर उन्हीं के व्रत उद्यापनार्थ बनाई थी। दूसरी रचना
'मीनव्रत कथा है जिसे उन्होंने संस्कृत में रचा है ३। आप
संस्कृत के साथ हिन्दी भाषा के अच्छे विद्वान् थे, आप
की अनेक रचनाएँ पद्य में लिखी गई हैं। अनेक पद
भी मिलते हैं। परन्तु उन रचनाओं की भाषा पर राज-
स्थानी और गुजराती का भी प्रभाव अंकित मिलता है।
अजमेर शास्त्र भंडार के एक गुच्छक में आपकी अनेक
हिन्दी रचनाएँ संगृहीत थी, उन्हें देखकर ही कुछ नोट्स
लिए थे। उनका सार प्रस्तुत लेख में दिया गया है।
भट्टारक यशःकीर्ति ने स० १६५३ में सागवाड़ा में
देहोत्सर्ग किया था ४।

उक्त गुच्छक में आपकी निम्न रचनाएँ उपलब्ध हैं -
राजमति सतुरामु। दयारस रास, आदित्यव्रत कथा, बारह
भासा, बारह व्रत, वीनती, स्तुति नेमिजिमैन्द्र, ज्ञानचेतानु-
प्रेक्षा, पशु वाणी और पद। इन में प्रथम रचना २०४

१. जैन सि० भा० भा० १३ पृ० ११३।
२. जैन सि० भा० भा० १३—पृ० ११३।
३. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संगृह भा० १ पृ० ३४, ८०।
४. जैन सि० भा० भा० १३ पृ० ११३।

पद्यों में समाप्त हुई है, और दूसरी रचना ६५ पद्यों में
पूर्ण हुई है अन्य सभी रचनाएँ इनसे परिमाण में छोटी हैं।

प्रस्तुत 'राजमतिरास' में जैनियों के २२वें तीर्थङ्कर
भगवान् नेमिनाथ और राजमति का जीवन-परिचय दिया
गया है जब भगवान् नेमिनाथ का विवाह सम्बन्ध राजा
उग्रसेन की पुत्री राजकुमारी (राजुल) के साथ होना
निश्चित हुआ और जब बारात सज धजके चली तब बारात
में नेमिकुमार रथ में बैठे हुए जा रहे थे। मार्ग में एक
बाड़े में घिरे हुए पशु समूह के चीत्कार शब्दों को सुनकर
और निरपराध पशु समूह को देखकर नेमिकुमार का हृदय
दया से भर गया, नेमिकुमार ने सारथी से रथ रुकवाकर
पूछा कि ये पशु क्यों घिरे हुए हैं? सारथी ने कहा प्रभो,
आपके विवाह में समागत अतिथियों के लिए इनका वध
किया जायगा। इतना सुनते ही नेमिकुमार रथ से उतर
पड़े और सोचने लगे कि मुझे उस विवाह से क्या प्रयोजन
है। जिसके लिए निरपराध पशुओं को सताया जाय।
उन्होंने तत्काल ही पशुओं को छुड़ा दिया और हार-
कण मुकुट आदि बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को उतार कर
फेंक दिया, और वे गिरनार पर्वत पर चढ़ गए। और दीक्षा
ले तपश्चरण द्वारा आत्म-साधना करने लगे। इधर जब यह
समाचार राजमतीको मिला, तब वह मूर्छित होगई, शीतलोप-
चार द्वारा जब मूर्छा दूर हुई, तब माता पिता ने पुत्री को
बहुत समझाया परन्तु राजुलने उत्तर दिया, कि इस भव के
पति देव तो नेमिकुमार ही हैं। अन्य से मुझे प्रयोजन ही
क्या है? मैं भी जिनदीक्षा लेकर तपश्चर्या द्वारा आत्म-
साधना करूँगी। उक्त रासा में कवि ने राजुल और सखी
के सवाद तथा प्रश्नोत्तर को कितने सुन्दर शब्दों में व्यक्त
किया है उससे राजुल के सतीत्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता
है।

सखी राजकुमारी से कहती है कि वर्षा ऋतु आ गई है, आषाढ़ का महीना है, देश में चारों ओर बादल घुमड़ रहे हैं, नन्ही-नन्ही बूँद भी पड़ रही है, चातक 'पिउ-पिउ' शब्द सुना रहा है, बिजली जोर से कड़क रही है, जो बिरह की ससूचक है। नारी जन पंचम स्वर में पति के गीत गाती है, दादुर बोल रहे हैं, हृदय उमड़ रहा है, वह स्थिर नहीं रहता। समार में भोग भले है राजकुमारी मेरी बात सुनो, दूध भात मीठा है। अन्य जन्मों को कौन देखने गया है, अतएव जब तक हम शरीर में हैं, तब तक ही यह सब व्यवहार है, हे मखि स्वर्ग नरक कुछ भी नहीं है, समार यो ही भूल रहा है। भोगों के किये पति का समागम ही भना है, सो जब तक शरीर में उच्छ्वास है, तब तक प्रेम का परित्याग न करना चाहिए। जैसा कि कवि के निम्न वाक्यों से प्रकट है—

‘तब सखि भणइ न जानसि भावा,
रति असाढ कामिनि सरलावा ॥
बाबर उमडि रहे चहुँ बेसा,
बिरहनि नयन भरइ अलिकेसा ॥३७॥
नन्हीं नन्हीं बूँद घनागमु आवा,
चातक पिउ पिउ शब्द सुनावा ।
बामिनि बमकित है अति भारी,
बिरह बियोग लहरि अनिवारी ॥३८॥
भामिनि पियगुन लवइ अपारा,
पंचम गति मधुर भुणकारा ।
दादुर बोल गहिर अरमोरा,
हिमउ उमगधरत नहि तोरा ॥३९॥
भोगु भले सुनि राजकुमारी,
हमरी बात सुनहु जगसारी ।
दूधभातु मीठउ उमरी मइया,
अवर जनम को देखन गइया ॥४०॥

बोहा—जब लगु हंस सरीर महि,
तब लगु सबु बिबहार ।
हे सखि सुरग न नरकु कूँहइ,
भूला सबु संताप -१४१॥
सोरठा—कीजइ भोग विलास,
पिय संगसु सखि हइ भला ।

जब लगु रहइ उसासु,
तब लगु पेम न छाडिए ॥४१॥

राजकुमारी सखी की रागरस भरी बातों को सुनकर जो उत्तर देती है वह कितना सुन्दर है और शील की दृढ़ता को व्यक्त करता है। हे सखि तू सती के स्वभाव का नहीं जानती। अपना पति अमृत के समान है, और पर पुरुष विष के समान। ऋतु आषाढ़ में हृदय उमड़ता है, तब सती पति के पावन गुणों का स्मरण करती है, उसका मन हर समय पति के गुणों में अनुरक्त रहता है, वह उनके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी रहती है। सती का मन पति से दूर नहीं रहता। हे सखि, स्वर्ग और नरक यही पर है, तू इनका विचार क्यों नहीं करती, जो पर पुरुष से राग करती है वह पाप के फल स्वरूप नरक को जाती है और वहाँ अनेक प्रकार का सताप सहती है, किन्तु जो शील संयमादिका दृढ़ता से पालन करती है वह कभी दुर्गति में नहीं जाती। और न उसे दुःख ही भोगना पड़ते है। शील के पालन से देवगति मिलती है। हे बाला ! तू शील की महत्ता को नहीं जानती। नारी का शील ही भूषण है, वही ससार के दुःखों से जीवका संरक्षण करता है। जो शील का पालन नहीं करते, उन्हें ससार में व्यर्थ ही भ्रमण करना पड़ता है। और जन्म भी उनका सफल नहीं हो पाता है।

यह शरीर हड्डी, मज्जा, चर्बी, खून और पीब आदि मलो से भरा हुआ है, दुर्गन्धित है, क्षणभंगुर है—विनाशीक है, ऐसे शरीर से भव-भीरु पुरुष कैसे राग कर सकता है ? अतएव जब तक आयु नहीं गलती तब तक धर्म का साधन करो, जब धर्म का पालन होने लगता है तब अनायास ही सुख मिलने लगता है, और मातृव जन्म भी सफल हो जाता है। जैसा कि कवि के शब्दों से प्रकट है —

राजमती सुनि बोलत वयमा,

पिउ अपना अन्नत रसचारा,
अवर पुरिब बिब क्षम अवचारा ॥

—कमलः

साहित्य-समीक्षा

फूल और अंगारे, लेखक—मुनि श्री नयमल जी, प्रकाशक—सेठ चाँदमल जी बाँठिया ट्रस्ट, पारवनाथ जैन लायब्रेरी, जयपुर ५०, ८३, मूल्य ३ रु०, बि० स०—२०१७।

इस ग्रन्थकाय पुस्तक में मुनिजी की ६१ कविताओं का संकलन है। वे वि० स २००४ से २०१६ के मध्य समय-समय पर लिखी गई हैं। मुनिजी एक माने-जाने अग्रजिज्ञात विद्वान् है। दर्शन और शोध में उनकी महज गति है। वहीं उनका मुख्य विषय है। मैंने देखा है कि दर्शन की सूक्ष्म परतों में घंघता दाशनिक कवि बन जाता है और कविता की अनुभूतियों में रमता कवि दाशनिक हो उठता है। मेरी दृष्टि में 'दर्शन' कोरा विस्तृत नहीं है। उसकी तह में पड़ी 'दृश' धातु भावोन्मेष के बिना सावक को दृश्य नहीं बनने देती। इसी कारण जैनाचार्यों ने 'दर्शन' का अर्थ 'अज्ञान' लिया है। उसका भावना से सीधा सम्बन्ध है। तो मुनि जी का 'दर्शन' जब उमड़ा, कविता के रूप में बह पड़ा। 'दर्शन' का यह भावपरक प्रवाह जैन परम्परा के अनुकूल ही है। अनेक जैन कवियों ने 'दर्शन' को भावनाओं की थपकियों में महेजा है मुनिजी ने मानव जीवन के इस महज सत्य को कि उसमें कठोरता, कोमलता दाहकता शीतलता तथा स्थूलता और सूक्ष्मता का समन्वय होता है, महज भाव-भीगी भाषा में अभिव्यक्त किया है। उनकी यह कृति मानवदर्शन की सहज अभिव्यक्ति है। 'निर्विकल्प' के साधक की यह कल्पना पाठक को 'निर्विकल्प' में लीन कर देती है, कोई इसे आश्चर्य माने, मैं तो सहज स्वाभाविक ही कहता हूँ।

मुनि जी की विशेषता है—मरलता और उन्मुक्तता। वह उनकी समूची कविताओं में झलकती है, चाहे बात अंगारों की हो या कठोरता की। अभी तक तो उन पर किसी 'वाद' का प्रभाव नहीं है। वे काव्यशास्त्र की, रुढ़ियों की और वादों के घेरों की बन्दिशों में बंधने वाले जीव नहीं हैं। दूसरी ओर अंग्रेजी कविता के अनुकरण पर हिन्दी में लय और विदेशी भावनाओं के महारे नवीनता की डींग भी उन्होंने नहीं हकी है। उनके विचार सूक्ष्म और मौलिक हैं। उन्हें सहज बोध अभिव्यक्ति देने में भी वे अकेले हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य को उनकी यह देन अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस कृति में उनकी प्रत्येक कविता वन की लहलहाती टहनी-सी खूबसूरत है। 'नीड़ और विहग' की कतिपय पंक्तियाँ देखिए—

रंग क्या वह आह मिश्रित, अश्रुकण से घुल न जाए।

ग्रन्थि क्या वह प्रेमके आघात, से जो खुल न जाए।

अश्रु वन मिलते रहो तुम धार वन चलता रहूँगा।

विजय क्या वह हार की, अनुभूति ले जो मुड न जाए ?

हृदय क्या यह वेदना के, तार से जो जुड़ न जाए।

नीड़ वन मिलते रहो तुम, विहग वन पलता रहूँगा ॥

जैन दर्शन के मौलिक तत्व, प्रथम भाग, लेखक—मुनि श्री नयमल जी, प्रबन्ध सम्पादक—छगनलाल शास्त्री, प्रकाशक—मोतीलाल बंगानी बेरिटेबल ट्रस्ट, ११४ सी. खगेन्द्र चटर्जी रोड, काशीपुर, कलकत्ता-२, प्रबन्धक—आदर्श साहित्य संघ बूक (राजस्थान), पृष्ठ संख्या—५४६, मूल्य—१० रु०।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन दर्शन के मौलिक तत्व' का पहला भाग है। इसमें पाँच खण्ड हैं—जैन संस्कृति का प्राग-ऐतिहासिक काल, ऐतिहासिक काल, जैन साहित्य, जैन धर्म का समाज पर प्रभाव तथा संघ व्यवस्था और चर्चा। इन खण्डों में ३१ अध्याय हैं। ग्रन्थ में आचार्य तुलसी विरचित 'जैन सिद्धान्त दीपिका' और 'भिक्षुन्याय कणिका' का सार है और कुछ विषय अतिरिक्त भी हैं। मुनि जी ने पहले और दूसरे खण्ड को हृदयहारी बना दिया है। इनमें

ऋषभदेव, भरत और बाहुबली से सम्बन्धित घटनाओं का इतिवृत्त है, किन्तु उनके निरूपण में इतिवृत्तारमकता नहीं है। भावुक स्थलों पर लेखक भी भावुक हो उठा है। इससे इतिहास की रूक्षता का परिहार हुआ है। इसे पढ़ते-पढ़ते पाठक विभोर हो उठेगा और उपन्यास जैसा प्रानन्द आयेगा। ज्ञान और प्रमाण का विवेचन ऐसे सहज तथा विशद रूप में प्रस्तुत किया गया है कि साधारण जन भी आसानी से समझ जाता है। इससे मुनिजी का विषय के साथ तादात्म्य स्पष्ट ही है। विषय पर अधिकार हो, शैली बोधगम्य हो और भाषा में सरलता एवं प्रवाह हो तो दार्शनिक विवेचन कभी भी उबा देने वाला नहीं हो सकता। इस ग्रन्थ का कोई स्थल ऐसा नहीं, जिसे पढ़कर पाठक थकान का अनुभव करे। मुनिजी ने जैनदर्शन का तलस्पर्शी अध्ययन किया है। दूसरी ओर उनका अनुभूति परक दिल अपना है। ग्रन्थ का अभिनन्दन होगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

ग्रन्थ में पाँच परिशिष्ट हैं—टिप्पड़ियाँ, जैनागमसूक्त, जैनागम-परिमाण, जैनदार्शनिक और उनकी कृतियाँ तथा पारिभाषिक शब्दकोष। इन्हें पढ़कर ही विद्वान् समझ सकेंगे कि वे कितने उपादेय और उपयोगी हैं।

सम्बोध रचयिता—मुनि श्री नथमल जी, अनुवादक—मुनि मीठालाल, प्रकाशक—सेठ चौदमल बांठिया ट्रस्ट, पार्श्वनाथ जैन लायब्रेरी, जयपुर, पृष्ठ—१७६, वि० सं०—२०१८।

इस पुस्तक में १६ अध्याय और ३४४ श्लोक हैं। श्लोकों की रचना मुनि श्री नथमल जी ने की है। संस्कृत आसान है। प्रारम्भिक ज्ञान रखने वाला भी समझ सकता है। उनका हिन्दी अनुवाद मुनि मीठालाल जी ने किया है। वह मूल के अनुरूप ही है।

पुस्तक का प्रारम्भ एक प्रसिद्ध कथानक से हुआ है। महाराजा श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार ने भगवान् महावीर से दीक्षा ले ली। राजपुत्र दीक्षित साधु बन गया। किन्तु पहली रात मुश्किल से बीती। भूमि कठोर थी, वहाँ निश्चिन्त साधु अधिक थे और वह मार्ग में सो रहा था, जिससे माने-जाने वाले साधुओं की ठोकें लगती थीं रात शत-शत प्रहरों को लिट् बीती। प्रातः वह भगवान् के पास गया, दीक्षा समाप्त करने का मन लिए। भगवान् ने सम्बोधा। भगवान् की वाणी अनेक आगम ग्रन्थों में संगृहीत है। उनका सार मुनिजी ने लिया। कवि विषय कहीं से ले; किन्तु उसके भाव-अनुभाव भी उसमें घुले मिले बिना नहीं रह सकते। जाने-अनजाने उनका स्वर बज ही उठता है। वाणी भगवान् की है। मुनिजी ने जिस श्रद्धाभाव से उसे अभिव्यक्त किया है वह उनका अपना है। मुनिजी का पुण्य बढ़ा तो पाठकों का भी विकसित हो सकता है। इसी दृष्टि से पुस्तक की उपादेयता सिद्ध है। हम स्वागत करते हैं।

डा० प्रेमसागर जैन

[पृ० १८८ का शेष]

गति से होने वाले परिवर्तनों के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक रहने की आवश्यकता अनुभव की जाती है। क्योंकि अबाधरूप से होने वाले इस परिवर्तनों के प्रति जो समाज या सम्प्रदाय उदासीन रहेगा, वह सदैव के लिए पिछड़ जायेगा।

परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल समाज को मोड़कर ही सामाजिक जीवन को मुखरित एवं समुन्नत बनाया जा सकता है, जिसका लाभ भावी पीढ़ी को भी पहुँचेगा। इस दृष्टि से, जैन समाज के अन्तर्गत विभिन्न समुदायों शाखा प्रशाखाओं, संगठनों, परिवारों एवं व्यक्तियों को परिवर्तित वातावरण के प्रति पूर्णरूप से जाग्रत रखना एवं नव निर्माण के लिए प्रेरित करना समय की एक बड़ी और अपरिहार्य आवश्यकता है। अतएव, देश के

विभिन्न भागों में बसे हुए जैन समाज का सांख्यिक पद्धति द्वारा सामाजिक सर्वेक्षण नितान्त आवश्यक है। इस सर्वेक्षण द्वारा जहाँ जैन भाई बहनों की संख्या का सकलन होगा, वहाँ उनकी वित्तीय, शैक्षणिक, सामाजिक एवं रोजगार की स्थिति का भी जीवित विवरण उपलब्ध होगा।

समाज के प्रति हमारे नेताओं के कर्तव्यपालन का मूल्यांकन इस बात से नहीं होगा कि हमने कितने मंदिरों का निर्माण कराया, कितने सभा सम्मेलनों की अध्यक्षता की, कितने सामूहिक भोजों का आयोजन किया। समाज के प्रति वर्तमान नेताओं के कर्तव्यपालन को खरी कसौटी तो यह होगी कि, उन्होंने बदलती हुई स्थितियों का सामना करने के लिए किस सीमा तक समाज को तैयार किया।

राजस्थान डायरेक्टरी का प्रकाशन

राजस्थान डायरेक्टरी के प्रकाशित करने का आयोजन किया गया है। जिसमें विविध स्वीकृतियों पर लेख रहेंगे, जिनमें दर्शन, जैन साहित्य, जैन धर्म के विविध भेद-प्रभेद, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, तीर्थ दर्शन, जैन मन्दिर, शिक्षण संस्थाएँ, जैन पत्र, व्यापारिक संस्थान, जैन पदाधिकारी, जैन जागृति के अभ्युदय, विज्ञापन उद्योग आदि।

इसकी सम्पूर्ण आय परोपकार के कार्यों में व्यय की जावेगी। सभी महानुभाव सुभाव, सन्देश, शुभ कामनाएँ और परिचय लेख आदि भेजें।

निवेदक—डा० ताराचन्द जैन ब्रह्मरी

M.A., LL.B. वर्यभा भवन, न्यू कालोनी, जयपुर।

वीर-मेवा-मन्दिर और “अनेकान्त” के सहायक

१०००) श्री मिथीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता	११५०) श्री चम्पालाल जी सारावमी, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, दम्प	११५०) श्री जगमोहन जी सरावमी, कलकत्ता
श्री साहू शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता	११५०) श्री करतूरचन्द जी आनदीनलाल, कलकत्ता
१०००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड संस, कलकत्ता	११५०) श्री कन्हैयालाल जी मोनाराम, कलकत्ता
१०००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता	११५०) श्री प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
१०००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता	११५०) श्री मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
१०००) श्री वैजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता	११५०) श्री प्रतापमल जी मदनलाल पाड्या, कलकत्ता
१०००) श्री गननलाल जी भाभगी, कलकत्ता	११५०) श्री भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
११५१) श्री रा० वा० हरचन्द जी जैन, रांची	११५०) श्री शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
११५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाड्या), कलकत्ता	११५०) श्री मुनेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
११५१) श्री म० मि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी	१०१) श्री आरवाही कि० जैन (सम्पन्न), व्यान्नर
११५१) श्री मेठ मोहनलाल जी जैन,	१०१) श्री दिगम्बर जैन समाज, के.के.डी.
मैमम मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता	१०१) श्री सैठलाल करतूरचन्द जी, बम्बई न०.२
११५१) श्री लाला जयप्रसाद जी जैन	१०१) श्री लाला अमनिलाल तारागी, दरियागज द्विर्ल
स्वस्तिक मेन्टल ववस, जगाधरी	१०१) श्री सैठ भवरीलाल जी वाक्कलीवाल, इम्फाल
११५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गाधी, उम्मानावाद	१०१) बा० शान्ति प्रसाद जी जैन
११५०) श्री वन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता	जैन नुक मजेन्सो, नई दिल्ली
११५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता	१००) श्री बद्रीप्रसाद जी आनाराम जी, पटना
११५०) श्री मिर्छी कुन्दलाल जी, कटनी	१००) श्री सचचन्द जी जैन, कलकत्ता
११५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता	१००) श्री जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोग्या
११५०) श्री वी० आर० जैन, सी० कलकत्ता	इन्दौर
११५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द जी, कलकत्ता	१००) श्री बाबू नृपेन्द्र कुमार जी जैन, कलकत्ता
११५०) श्री बजरगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता	

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल्य-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुल्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्वकी ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा. ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-स्वार्ज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बडा, साहज सजिल्द १२)
- (२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)
- (३) स्वयम्भुक्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुल्तार श्रीजुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २)
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुल्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)
- (५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दीअनुवाद-सहित १॥)
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुल्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १॥)
- (७) श्रीपुरपाशर्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥)
- (८) शासनचतुस्त्रिशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्तिकी १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित ॥)
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुल्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं परमानन्दशास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ४)
- (११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्त्व की रचना, मुल्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित १)
- (१२) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभावचन्द्रीय)—मुल्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... १)
- (१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतार्थ १)
- (१४) महावीर का सर्वोदय तार्थ (३), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका (३)। (१६) महावीर पूजा १)
- (१७) बाहुबली पूजा जुगलकिशोर मुल्तार कृत १)
- (१८) अध्यात्म रहस्य—पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुल्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित १)
- (१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अपभ्रंशके १२२ अप्रकाशित ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंका महत्त्वपूर्ण संग्रह ५५ ग्रन्थकारों के इतिहासिक ग्रंथ-परिचय और उनके परिशिष्टों सहित। सम्पादक पं परमानन्द शास्त्री मूल्य सजिल्द १२)
- (२०) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ... ५)
- (२१) कषायपोहुड सूक्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालाल जी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बडी साहज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज, और कपडे की पक्की जिल्द। २०)
- (२२) Reality आ० पूज्यवाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजीमें अनुवाद बडे आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० (६

प्रकाशक—प्रेमचन्द जैन, वीरसेवामन्दिर के लिए, पवन प्रिन्टिंग वर्क्स, ३०१, दगीबा, दिल्ली में मुद्रित

अनेकान्त



देवगढ़ के मन्दिर और मानस्तम्भ

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. श्रीपद्मप्रभ-जिनस्तवन—समन्तभद्राचार्य	१६३
२. भीतर और बाहर (कविता)—भूधरदाम	१६४
३. भारतीय संस्कृति में बुद्ध और महावीर —मुनि श्री नथमल	१६५
४. अपभ्रंश का एक प्रेमाख्यानक काव्य-विलास- वई कहा—डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	१६६
५. समयसार नाटक—डा० प्रेमसागर जैन	२०३
६. मगध और जैन संस्कृति— —डा० गुलाबचन्द चौधरी एम. ए. पी. एच. डी	२१२
७. प्राचीन मथुरा के जैनों की सघ-व्यवस्था —डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ	२१७
८. जैन समाज के लिए तीन सुभाष —आचार्य श्री तुलसी	२२०
९. दशवैकालिक के चार शोध-टिप्पण —मुनि श्री नथमल जी	२२२
१०. नेमिन'ह चरित—श्रीअगरचन्द नाहटा	२२६
११. कल्पसूत्र: एक सुभाष —कुमार चन्द सिंह दुधौरिया कलकत्ता	२३०
१२. जैन सघ के छ अंग —डा० विद्याधर जोहरा पुरकर जावरा	२३१
१३. जैन सन्त श्री वीरचन्द की साहित्य-सेवा —डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम. ए. पी. एच. डी. जयपुर	२३३
१४. तृतीय विश्व धर्म सम्मेलन —डा० बूलचन्द जैन	२३६
१५. साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	२३६



सम्पादक-मण्डल
डा० आ० ने० उपाध्ये
डा० प्रेमसागर जैन
श्री यशपाल जैन



अनेकान्त को सहायता

१०) जैन समाज के प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् श्री प० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपनी ८८वीं जन्म जयन्ति के उपलक्ष में निकाले हुए दान में से दस रुपया अनेकान्त को प्रदान किये हैं इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

५) प० रूपचन्द जी गार्गीय पानीपत के सुपुत्र चि० सुरेश कुमार के विवाहोपलक्ष में निकाले हुए दान में से पांच रुपया सधन्यवाद प्राप्त।

५) जयपुर निवासी प० सुरज्ञानी चन्द जी न्यायतीर्थ के सुपुत्र श्री भवरलाल जी के विवाहोपलक्ष में पाँच रुपया डा० कस्तूर चन्द जी कामलीवाल की मार्फत सधन्यवाद प्राप्त हुए।

अनेकान्त के स्थायी सदस्य बनें

अनेकान्त के प्रेमी पाठको से अनुरोध है कि वे अपने मित्रों को ग्राहक बनायें। साथ ही विद्वानों और समाज के कार्यवाहको से निवेदन है कि वे अनेकान्त के स्थायी सदस्य बनें। और अपने मित्रों आदि को बनाने का यत्न करें। स्थायी सदस्य फीस १०१) रु० है। आशा है, माधर्मी महानुभाव अनेकान्त के स्थायी सदस्य बनकर जैन धर्म और जैन संस्कृति के विक्रम में अपना सहयोग प्रदान करेंगे।

—व्यवस्थापक

अनेकान्त

बीर सेवा मन्दिर २१ बरियागंज,
दिल्ली।



अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपये
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ न० पैसे

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं है।



ओम् अहम्

अनेकान्त

परमागस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलमिताना विरोधरुथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १७ }
किरण-५ }

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण मवन् २४६१, वि० म० २०२१

{ दिसम्बर
सन् १९६४ }

श्रीपद्मप्रभ-जिन-स्तवन

बभार पद्मां च सरस्वतीं च ।
भवान् पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ॥
सरस्वतीमेव समग्र-शोभां ।
सर्वज्ञ-लक्ष्मी-ज्वलितां विमुक्तः ॥२॥

—समन्तभद्राचार्य

आपने प्रतिमुक्ति-लक्ष्मी की प्राप्ति के पूर्व—अहन्त-अवस्था में पहले—लक्ष्मी और सरस्वती दोनों को धारण किया है—उस समय गृहस्थावस्था में आप यथेच्छ धन-सम्पत्ति के स्वामी थे, आपके यहाँ लक्ष्मी के अट्ट भण्डार भरे थे, साथ ही अवधिजानादि लक्ष्मी में भी विभूषित थे और सरस्वती आपके कण्ठ में स्थित थी । बाद में विमुक्त होने पर—जीवन्मुक्त (अहन्त) अवस्था को प्राप्त करने पर—आपने उस पूर्ण शोभा वाली सरस्वती को—दिव्यवाणी को ही धारण किया है, जो सर्वज्ञ-लक्ष्मी से प्रदीप्त थी—उस समय आपके पास दिव्यवाणीरूप सरस्वती की ही प्रधानता थी, जिसके द्वारा जगत के जीवों को उनके कल्याण का मार्ग सुझाया गया है ।

भीतर और बाहर

ग्वता नहो तन की खबर, ग्रनहद वाजा वाजिया ।
घट-बीच मडल बाजता, बाहर सुना तो क्या हुआ ॥१॥
जोगी तो जगम मेवडा, बहुलाल कपडे पहिरता ।
उम रंग मे महरम नही, कपडे रगे तो क्या हुआ ॥२॥
काजी किताबे खोलता, नसीहत बतावै ग्री को ।
अपना अमल कीन्हा नही, कामिल हुआ तो क्या हुआ ॥३॥
पोथी के पाना वाचता, घर-घर कथा कहना फिरै ।
निज ब्रह्म को चीन्हा नही, ब्राह्मण हुआ तो क्या हुआ ॥४॥
गाजारु भाग अफीम है, दारु शरावा पोशता ।
प्याला न पीया प्रेम का, अमली हुआ तो क्या हुआ ॥५॥
शतरज चौपरगंजफा, बहुमर्द खेलै है सभी ।
बाजी न खेली प्रेम की, ज्वारी हुआ तो क्या हुआ ॥६॥
'भूधर' बनाई वीनती, श्रोता मुनो सब कान दे ।
गुरु का वचन माना नही, श्रोता हुआ तो क्या हुआ ॥७॥

भारतीय संस्कृति में बुद्ध और महावीर

मुनिश्री नथमल

हाई हजार वर्ष पहले का काल धर्म-दर्शन का उत्कर्ष का काल था। उस समय विश्व के अनेक अंचलो में महान् धर्म-पुरुष अवतीर्ण हुए थे।

उसी समय भारतीय क्षत्रिय पर दो पुरुष अवतीर्ण हुए। दोनों क्षत्रिय, दोनों राजकुमार और दोनों जन-मन्त्राक्त राज्य के अधिवासी। एक का नाम था मिद्धार्थ और एक का नाम था वर्धमान। मिद्धार्थ ने नेपाल की तराई में कपिलवस्तु में जन्म लिया। वर्धमान का जन्म वैशाली के उपनगर क्षत्रिय कुण्डपुर में हुआ। मिद्धार्थ के माता-पिता थे माया और शुद्धोदन। वर्धमान के माता-पिता थे त्रिशला और मिद्धार्थ। दोनों श्रमण परम्परा के अनुयायी थे। दोनों श्रमण बने और दोनों ने उसका उन्नयन किया।

मिद्धार्थ का धर्म-चक्र प्रवर्तन

मिद्धार्थ गुरु की शोध में निकले। वे कालाम के शिष्य हुए। मिद्धान्तवादी हुए, पर उन्हें मानसिक शान्ति नहीं मिली। वे वहाँ से मुक्त होकर उदक के शिष्य बने। समाधि का अभ्यास किया पर उसमें भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। वे वहाँ से मुक्त हो गया के पास उरुवेल गाँव में गए। वहाँ देह-दमन की अनेक क्रियाओं का अभ्यास किया। उनका शरीर अस्थिपज्ज हो गया पर शान्ति नहीं मिली। देह-दमन में उन्हें कोई मार नहीं दीखा। अब वे स्वयं अपने मार्ग की शोध में लगे। वैशाखी पूर्णिमा को उन्हें बोधि लाभ हुआ। महाभिनिष्क्रमण के ६ वर्ष बाद बुद्ध बने। मार्गनाथ में उन्होंने धर्म-चक्र प्रवर्तन किया।

वर्धमान का धर्म-तीर्थ प्रवर्तन

वर्धमान प्रारम्भ में ही अपने निश्चित मार्ग पर चले। उन्होंने कोई गुरु नहीं बनाया न केवल कठोर तप ही तपा और न केवल ध्यान ही किया, तप भी तपा और ध्यान भी किया। उन्हें अपनी साधना-पद्धति में पूर्ण सन्तोष था। महाभिनिष्क्रमण के साढ़े बारह वर्ष पश्चात् उन्हें

केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। वे वर्धमान में महावीर बन गए। मध्यम पावापुरी में उन्होंने धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया।

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति श्रवण और वैदिक इन दोनों धाराओं का गगन है। फिर भी कुछ विद्वान् इस विषय में उलझे हुए हैं। श्रमण संस्कृति को वैदिक संस्कृति की शाखा मानने में गौरव का अनुभव करते हैं। लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने लिखा है—जैन तथा बौद्धधर्म भी वैदिक संस्कृति की ही शाखाएँ हैं। यद्यपि सामान्य मनुष्य इन्हें वैदिक नहीं मानता। सामान्य मनुष्य की इस भ्रान्त धारणा का कारण है मूलतः इन शाखाओं के वेद-विरोध की कल्पना। सच तो यह है कि जैन और बौद्धों की तीन अन्तिम कल्पनाएँ—कर्म-विपाक, समार का बन्धन और मोक्ष या मुक्ति—अन्ततोगत्वा वैदिक ही हैं।

हिन्दू संस्कृति को वैदिक संस्कृति का विकास तथा विस्तार मानने में सीमा हुई मदी के उन आधुनिक विद्वानों को आपत्ति है जिन्होंने भारतीय संस्कृति और हिन्दू-धर्म का अध्ययन किया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि विद्यमान हिन्दू संस्कृति अमल में वैदिक तथा अवैदिक, आर्य और अनार्य लोगों की विविध संस्कृतियों का सम्मिश्रण स्वरूप है। इन मनीषियों के मत में मूर्तिपूजा करने वालों की पौराणिक संस्कृति अवैदिक एवं अनार्य समूहों द्वारा निमित्त संस्कृतियों की उत्तराधिकारिणी है और जैन तथा बौद्धधर्म वैदिकी धर्म के प्रतिद्वन्द्वी हैं, वैदिकों को परास्त करने वाले प्रबल विद्रोही हैं। इनके कथनानुसार विद्यमान हिन्दू संस्कृति भिन्न-भिन्न विचारकों की चार धाराओं के मेल में बनी है। पहली धारा है वेदों के पूर्ववर्ती अनार्यों की मूल संस्कृति की, दूसरी वेदों के पूर्ववर्ती काल के भारतीय अनार्यों पर विजय पाने वाले आर्यों द्वारा स्थापित वैदिक संस्कृति की, तीसरी

वेदों के विरुद्ध विद्रोह करने वाले जैनो तथा बौद्धों के द्वारा निर्मित सस्कृति की और चौथी वेद-पूर्व सस्कृति के आविष्कार के रूप में अवस्थित मूर्तिपूजक पौराणिक धर्म की १।

शास्त्री जी ने जिन अन्तिम कल्पनाओं—कर्म-विपाक, समार का बन्धन और मोक्ष या मुक्ति को अन्ततोगत्वा वैदिक कहा है, वे मूलतः अवैदिक हैं।

वैदिक साहित्य में आत्मा और मोक्ष की कल्पना ही नहीं है। इनके बिना कर्म-विपाक और बन्धन की कल्पना का विशेष अर्थ नहीं रहता। ए० ए० मैकडोनेल का अभिमत है—बाद में विकसित पुनर्जन्म के सिद्धान्त का वेदों में कोई मकेत नहीं मिलता, किन्तु एक 'ब्राह्मण' में यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् मस्कारादि नहीं करते वे मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेने हैं और बार-बार मृत्यु का प्रास बनते रहते हैं २।

वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व

वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व हैं—यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था। यज्ञ के मुख्य प्रकार तीन हैं—पाक-यज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ ३।

ऋण तीन प्रकार के माने जाते थे—देव-ऋण, ऋषि ऋण और पितृ-ऋण। यज्ञ और होम में देव-ऋण चुकाया जाता है। वेदाध्ययन के द्वारा ऋषि-ऋण चुकाया जाता है। सन्तान उत्पन्न कर पितृ-ऋण चुकाया जाता है ४।

'शतपथ-ब्राह्मण' में चौथे ऋण—मनुष्य ऋण का भी उल्लेख है। उसे औदार्य या दान में चुकाया जाता है ५।

वर्ण-व्यवस्था का आधार है मृष्टि का उत्पत्ति-क्रम। ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य ऊरु से और शूद्र पैरों से ६।

१. वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ १५, १६
२. वैदिक माइथोलोजी, पृष्ठ ३१६
३. विशद विवरण के लिए देखिए वैदिक कोष, पृष्ठ ३६१-४२५

४. तैत्तिरीय संहिता ६।३।१०।५

५. शतपथ ब्राह्मण १।७।२।१-६

६. ऋग्वेद संहिता १०।६०।१२

ब्राह्मणोऽस्य मुखं मासीद्, बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरु तदस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायतः ॥

यज्ञ की कल्पना लौकिक और पारलौकिक दोनों है। उसका लौकिक फल है सुख-शान्ति और पारलौकिक फल है स्वर्ग ७। ऋण और वर्ण-व्यवस्था इन दोनों का फल है समाज की स्थापना और सघटना। तीन ऋण ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन दो आश्रमों के मूल हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर वेदाध्ययन किया जाता और गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर सन्तान का उत्पादन। वानप्रस्थ और सन्यास जैसे आश्रम उन व्यवस्था में अपेक्षित नहीं थे।

वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त ने जातिवाद को तात्त्विक रूप दिया और ऊँच-नीच आदि विषमताओं की मृष्टि की। **श्रमण-संस्कृति के मूल तत्त्व**

श्रमण-संस्कृति के मूल तत्त्व हैं—व्रत, मन्यास और समता। व्रत और सन्यास का मूल है मोक्षवाद। समता का मूल है आत्मवाद। आत्मा का ध्येय है बन्धन से मुक्ति की ओर प्रयाण। श्रमण-संस्कृति में समाश्वस्त समाज का ध्येय भी यही है। इसीलिए सामाजिक जीवन समानता की अनुभूति से परिपूर्ण हुआ। आर्थिक जीवन को व्रत से नियमित किया गया। वैयक्तिक जीवन को सन्यास से साधा गया। इस प्रकार जीवन के तीनों पक्ष—वैयक्तिक, आर्थिक और सामाजिक—विशुद्धि में प्रभावित किए गए। इन्हीं तत्त्वों के आलोक में बुद्ध और महावीर ने वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्वों—यज्ञ-ऋण और वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था।

संस्कृति सगम

वैदिक और श्रमण संस्कृति का यह विचार-द्वन्द्व बुद्ध-महावीर कालीन नहीं था। वह बहुत पहले से ही चला आ रहा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध ने उस विचार क्रान्ति को इतना तीव्र स्वर दिया कि हिंसा अहिंसा के मामले में निष्प्राण बन गई है। 'अहिंसा परमोधर्म' का स्वर प्रबल हो उठा। 'अपुत्रस्यपतिर्नास्ति' के स्थान पर सन्यास की महिमा गाई जाने लगी। जन्मना-जाति का स्वर कर्मणा-जाति के स्वर में विलीन हो गया। भगवान् पार्श्व के काल में श्रमण और वैदिक संस्कृति का जो सगम आरम्भ हुआ था, वह अपने पूरे जीवन पर पहुँच गया।

७. वैदिक माइथोलोजी, पृष्ठ ३२०

श्रमण परम्परा मुख्यतः क्षत्रियो और वैदिक परम्परा ब्राह्मणों की है। क्षत्रियो ने आत्म-विद्या और अहिंसा का विस्तार किया और आगे चल वे दोनों परम्पराओं की मगम स्थली बन गई। क्षत्रियो ने आर्य शब्द वैदिक आर्यों से लिया।

क्षत्रियो ने वैदिक परम्परा या आर्य जाति का महत्व देते हुए आर्य शब्द को अपनाया किन्तु उसका अर्थ अपनी परम्परा के अनुसार किया। वैदिक आर्य यज्ञानुष्ठान में हिंसा करते थे उसके प्रतिपक्ष में क्षत्रिय परम्परा में यह घोष उठा कि प्राणियों की हिंसा करने वाला आर्य नहीं होता। आर्य वह होता है जो किसी की हिंसा न करे—अर्थात् अहिंसा ही आर्य है१। सब प्राण, भूत, जीव और मत्त्व हन्तव्य है, यह अनार्य वचन है। सब प्राण, भूत, जीवन और मत्त्व हन्तव्य नहीं है, यह आर्य वचन है२।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति का वर्तमान रूप अनेक धाराओं का मगम है।

बुद्ध-महावीर की भारतीय संस्कृति को देन

व्रत, सन्यास और समता की स्थापना तथा यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था का प्रतिकार बुद्ध और महावीर की देन नहीं है, वह श्रमण-परम्परा की देन है। उसमें इन दोनों व्यक्तियों का महान् योग है। उन्होंने प्राचीन परम्परा की ममृद्धि में केवल योग ही नहीं दिया किन्तु उसे नए उन्मेष भी दिए।

बुद्ध ने दो नए दृष्टिकोण प्रस्तुत किए—प्रतीत्य-समुत्पादवाद और आर्य-चतुष्टय।

प्रतीत्य समुत्पाद

भिक्षुओ ! जो कोई प्रतीत्य (समुत्पाद) को समझता है, वह धर्म को समझता है जो धर्म को समझता है, वह प्रतीत्य समुत्पाद को समझता है। जैसे भिक्षुओ जो 'से दूध, दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी, घी से घीमाण्डा होता है। जिस समय में दूध होता है, उस समय न उसे दही कहते हैं, न मक्खन, न घी, न घी का

माण्डा। जिस समय वह दही होता है, उस समय न उसे दूध कहते हैं, न मक्खन, न घी, न घी का माण्डा। इसी प्रकार भिक्षुओ, जिस समय मेरा भूतकाल में जन्म था उस समय मेरा भूतकाल का जन्म ही सत्य था, यह वर्तमान और भविष्यत् का जन्म असत्य था। जब मेरा भविष्यत् काल का जन्म होगा, उस समय मेरा भविष्यत्काल का जन्म ही सत्य होगा, यह वर्तमान और भूतकाल का और भविष्यत्काल का जन्म असत्य होगा। यह जो अब मेरा वर्तमान में जन्म है, सो इस समय मेरा यही जन्म सत्य है, भूतकाल का और भविष्यत्काल जन्म असत्य है।

भिक्षुओ यह लौकिक सजा है, लौकिक निरुक्तियाँ हैं, लौकिक व्यवहार है, लौकिक प्रजातियाँ हैं—इनका तथागत व्यवहार करने है, लेकिन इनमें फनने नहीं। भिक्षुओ, "जीवन (आत्मा) और शरीर भिन्न-भिन्न हैं" ऐसा मत रहने में श्रेष्ठ-जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता और जीव (आत्मा) तथा शरीर दोनों एक हैं, ऐसा मन रहने से भी श्रेष्ठ जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता।

इसलिए भिक्षुओ, इन दोनों मित्रों की बातों को छोड़कर तथागत बीच के धर्म का उपदेश देने हैं—

अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नामरूप, नामरूप के होने से छ आयतन, छ आयतन के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म, जन्म के होने से बुढ़ापा, मरना, शोक, गेना-पीटना, दुःख, मानसिक, चिन्ता तथा परेशानी होती है।

इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख-स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। भिक्षुओ, इसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं१।

आर्य चतुष्टय

आर्य सत्य चार हैं—१. दुःख, २. दुःख समुदाय, ३. दुःख निरोध, ४. दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग।

भिक्षुओ ! दुःख-आर्य सत्य क्या है ?

पैदा होना दुःख है, बूढ़ा होना दुःख है, मरना दुःख

१. बुद्धवचन, पृष्ठ २६-३०

१. धम्मपद धम्मट्ठवग्ग

न तेन अरियोहोति, येन पारएणि हिमति।

अहिंसा सब्ब पाणानं, अरियोति ववुच्चति॥१५॥

२. आचाराग १।४।२ सूत्र

है, शोक करना दुःख है, रोना-पीटना दुःख है, पीड़ित होना दुःख है, चिन्तित होना दुःख है, परेशान होना दुःख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है, थोड़े में कहना हो तो पाँच उपादान स्कन्ध ही दुःख है १।

भिक्षुओ यह जो फिर-फिर जन्म का कारण है, यह जो लोभ तथा राग में युक्त है, यह जो कही-कही मजा लेती है, यह जो तृष्णा है, जैसे काम-तृष्णा, भव-तृष्णा तथा विभव-तृष्णा यह तृष्णा ही दुःख के समुदय के बारे में आर्य सत्य है २। भिक्षुओ, दुःख के निरोध के बारे में आर्य सत्य क्या है? उसी तृष्णा में सम्पूर्ण वैराग्य, उस तृष्णा का निरोध, त्याग, परित्याग, उस तृष्णा में मुक्ति, अनासक्ति—यही दुःख के निरोध के बारे में आर्य सत्य है ३।

अष्टांगिक मार्ग दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला है, जो कि ४ है—

१. सम्यक् दृष्टि	}	प्रज्ञा
२. सम्यक् सङ्कल्प		
३. सम्यक् वाणी		
४. सम्यक् कर्मन्ति	}	शील
५. सम्यक् आजीविका		
६. सम्यक् व्यायाम		
७. सम्यक् स्मृति	}	समाधि ४
८. सम्यक् समाधि		

महावीर ने तीन नए दृष्टिकोण प्रस्तुत किये—

१ त्रिपदी, २ रत्नत्रयी, ३ स्याद्वाद।

त्रिपदी—

गौतम ने पूछा—भन्ते ! तत्त्व क्या है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—उत्पन्न होना।

फिर पूछा—भन्ते ! तत्त्व क्या है ?

फिर उत्तर मिला—विपन्न होना।

प्रश्न आगे बढ़ा—तत्त्व क्या है ?

उत्तर मिला—बने रहना।

फलित यह हुआ—जो उत्पन्न और विपन्न होते हुए

१. दीर्घनिकाय, पृष्ठ २२

२. वही, पृष्ठ २२

३. वही, पृष्ठ २२

४. सयुक्तेनिकाय, पृष्ठ २२

भी बना रहता है अथवा जो अपना अस्तित्व रहते हुए भी उत्पन्न और विपन्न होता है, वही सत् है और जो सत् है वही तत्त्व है।

रत्नत्रयी

गौतम ने पूछा—भन्ते ! क्या ज्ञानयोग मोक्ष का मार्ग है ?

भगवान्—नहीं।

तो भन्ते ! दर्शन योग (भक्ति-योग) मोक्ष का मार्ग है ?

भगवान्—नहीं।

तो भन्ते ! चार्ित्र-योग (कर्म-योग) मोक्ष का मार्ग है ?

भगवान्—नहीं।

तो फिर मोक्ष का मार्ग क्या है ?

भगवान्—ज्ञान, दर्शन और चार्ित्र की समन्विति ही मोक्ष का मार्ग है।

स्याद्वाद

महावीर सत्याश और पूर्ण सत्य—इन दोनों को न सर्वथा अभिन्न मानते थे और न सर्वथा भिन्न। पूर्ण रूप में सर्वथा वियुक्त होकर सत्याश मिथ्या हो जाना है और पूर्ण सत्य में सर्वथा अभिन्न होकर वह वचन द्वारा अगम्य बन जाना है। अतः सत्य की उपलब्धि के लिए अनेकान्त और उसके प्रतिपादन के लिए स्याद्वाद अपेक्षित है। एकान्तवादी धाराणाएँ इसीलिए मिथ्या हैं कि वे पूर्ण सत्य में वियुक्त हो जाती हैं। नित्यता मिथ्या नहीं है, क्योंकि एक बार भी जिसका अस्तित्व प्रमाणित होता है, उसका अस्तित्व पहले भी था और बाद में भी होगा। अनित्यता भी मिथ्या नहीं है। क्योंकि रूपान्तरण की प्रक्रिया अस्तित्व का अनिवार्य अंग है। किन्तु नित्यता और अनित्यता दोनों अविच्छिन्न हैं। वे सापेक्ष रहकर सत्याश बनते हैं और निरपेक्ष स्थिति में वे मिथ्या बन जाते हैं। खुले रत्न रत्न की कहलाएँगे। एक धागे में पिरो लेने पर उसका नाम हार होगा। इसी प्रकार जो दार्शनिक दृष्टियाँ निरपेक्ष रहती हैं, वे सम्यग् दर्शन नहीं कहलाती। वे परस्पर सापेक्ष होकर ही सम्यग्-दर्शन कहलाती हैं १।

महावीर की इस चिन्तन धारा ने सत्य को सर्व-सग्राही बना दिया। उसके फलित हुए—सह-अस्तित्व और समन्वय इन तत्त्वों ने भारतीय मानस को इतना प्रभावित किया कि ये भारतीय-संस्कृति के मूल आधार बन गये।

१. सन्मति प्रकरण १।२२-२५

अपभ्रंश का एक प्रेमाख्यानक काव्य: विलासवईकहा

डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री

अपभ्रंश-साहित्य के अनुशीलन में जब यह तथ्य स्पष्ट हो गया है कि हिन्दी भाषा में लिखे गए सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्यों की प्रसार-भूमि के लिए पहले में ही भारतीय-साहित्यिक काव्य-परम्परा में ऐसे रूपों की रचना हो चुकी थी जो इस देश की सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना को विभिन्न विद्याओं में मुखरित कर चुके थे। अपभ्रंश में ही नहीं, प्राकृत-साहित्य में भी बहुत से यह पहले ही इस प्रकार की रचनाएँ लिखी जा चुकी थी। अतएव परवर्ती रचनाओं पर इनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। वर्ण्य-विषय, शैली, छंद तथा प्राकृत-अपभ्रंश काव्यों के प्रबन्ध-शिल्प के अनुरूप जो सूफी प्रेमाख्यानक या प्रेमकाव्य लिखा गया उसका मूल स्रोत उक्त काव्य-साहित्य कहा जा सकता है जो चिराचरित प्रबन्धरूप में भारतीय साहित्य में प्रतिष्ठित हो चुका था। इसलिए उसके बाद जो साहित्य लिखा गया वह उस माडल के अनुरूप ही छन्दोबद्ध शैली में रचा गया। अपभ्रंश में ऐसे कई प्रेमाख्यानक काव्यों की लम्बी परम्परा मिलती है जो प्राकृत के प्रेमाख्यानक काव्यों से विकसित हुए हैं। इस लेख में अपभ्रंश के एक ऐसे ही प्रेमाख्यानक काव्य का परिचय दिया जा रहा है जो विषय-वस्तु, शैली और प्रबन्ध-रचना में सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों से बहुत कुछ समानता रखता है। जन-जीवन में प्रचलित रहने वाली लोक कथाओं को अपना कर लिखे जाने वाले काव्य मध्ययुगीन-भारतीय साहित्य के विशिष्ट अंग रहे हैं। उस युग के काव्यों की लगभग सभी विशेषताएँ आलोच्यमान काव्य में उपलब्ध होती हैं।

वस्तुतः “विलासवईकहा” या “विलासवती” कथा की ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट नहीं हो

सका है। इसी प्रकार चारण कवि गणपति कृत “माधवानल कामन्कन्दला” की ओर भी विशेष ध्यान नहीं है। अपभ्रंश के ये दोनों ही उत्कृष्ट प्रेमाख्यानक काव्य कहे जा सकते हैं। अभी तक “विलासवईकहा” की केवल दो ताडपत्र प्रतियाँ जेमलमेर के ग्रन्थभण्डार में उपलब्ध हो सकी हैं। इस कथाकाव्य का सर्वप्रथम परिचय प० बेचरदास जी दोसी ने “भारतीय विद्या पत्रिका” में दिया था। तदनन्तर सन् १९५६ में डा० शम्भूनाथ मिह ने “हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास” नामक अपने शोध-प्रबन्ध में इसका अत्यधिक सक्षिप्त परिचय दिया था। तब से कई बार श्री अग्रचन्द जी नाहटा प्रभृति विद्वानों ने इनकी चर्चा की, किन्तु आलोचनात्मक दृष्टि ने अभी तक इसका अनुशीलन नहीं किया गया। अपने शोध-प्रबन्ध में हम प्रेमाख्यानक कथाकाव्य का हमने विस्तृत विवेचन किया है, और इसकी विशेषताओं पर पूर्ण प्रकाश डाला है।

विलासवतीकथा के लेखक दयेताम्बर जैन साधु सिद्धमेन मूर्ति थे। उनका गुरुस्थ दशा का नाम “साधारण” था। इसलिए उन्हें साधारण सिद्धमेन मूर्ति कहा जाता है। जैन-साहित्य में सिद्धमेन नाम के चार विद्वान एवं आचार्यों का पता लगता है। साधारण सिद्धमेन “न्यायवतार” तथा “सन्मति तर्क” के रचयिताओं में सर्वथा भिन्न थे। पहले आचार्य सिद्धमेन दिवाकर थे, दूसरे सिद्धमेन, तीसरे साधारण सिद्धमेन और चौथे सिद्धमेन मूर्ति। इस प्रकार साधारण सिद्धमेन दार्शनिक सिद्धमेन मूर्ति से भिन्न थे। केवल साहित्यिक रूप में उनकी प्रसिद्धि प्राप्त होती है। कवि ने कुछ स्तोत्र भी लिखे थे पर आज वे उपलब्ध नहीं होते। परन्तु उस समय उनके बनाए हुए स्तोत्र तथा स्तुतियों को विभिन्न प्रदेशों में अत्यन्त चाव में लांग पड़ते थे। कवि का जन्म मूलकुल के वारिण्य तथा गण कौटिक शाखा के वज्र वंश में हुआ था। कवि काव्यकला के मर्मज्ञ तथा कवियों की सन्तान में उत्पन्न हुआ था। वह साधारण नाम से ही प्रसिद्ध था। जान पड़ता है कि कवि

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य है—“भविसयत्तकहा और अपभ्रंश-कथाकाव्य” शीर्षक लेखक का शोध-प्रबन्ध।

काव्य-रचना में अत्यन्त निपुण था और साधु-दीक्षा लेने के पूर्व ही उसकी प्रसिद्धि फैल चुकी थी। परन्तु 'विलास-वईकहा' की रचना मुनिदशा में ही की गई। भीनमाल (मिल्लमाल) कुल के शिरोमणि लक्ष्मीधरशाह के कहने पर यह कथाकाव्य लिखा गया। गुजरात प्रदेश में अहमदाबाद के निकट धन्धुका नाम के नगर में इस प्रेमाख्यानक-काव्य की रचना हुई। काव्य का लेखक गुजरात प्रदेश के ही किसी भाग को अलकृत कर चुका था। गुजरात का यह कवि वास्तव में अपनी इस सुन्दर रचना के कारण अमर हो गया, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस कथाकाव्य की रचना वि०स० ११२३ को गुजरात के धन्धुका नाम के नगर में हुई थी। यह वही नगर है जिसे आ० हेमचन्द्र सूरि और "मुपामचरिय" के लेखक लक्ष्मणगणि जैमे विद्वानों को जन्म देने का मौभाग्य प्राप्त हुआ था। काव्य-ग्रन्थ ३६२० श्लोक रचना प्रमाण है। यह काव्य सन्धिवद्ध है। इसमें ग्यारह सन्धियाँ हैं। पहली सन्धि में सनत्कुमार और विलासवती का समागम, दूसरी में विनयधर की सहायता, तीसरी में समुद्र-प्रवाह में नौका-भग, चौथी में विद्याधरी-मयोग, पाचवी में विवाह-वियोग, छठी में विद्या-साधना सिद्धि, सातवी में दुर्मुखवध, आठवी में अन्नगरतिविजय और राज्याभिषेक, नवी में विनयधर-मयोग, दसवी में परिवार समागम और ग्यारहवी में सनत्कुमार तथा विलासवती के निर्वाण-गमन का वर्णन है। इस प्रकार विलासवती और सनत्कुमार की कथा रोमाचक शैली में इस समूचे कथाकाव्य में वर्णित है।

काव्य-रचयिता ने इस महाकाव्य की विषय-वस्तु को आ० हरिभद्र सूरि कृत 'समराइच्चकहा' से उद्धृत किया है। यह कथा ज्यो-की-त्यो उद्धृत की गई है। इसलिए

१. एवकारमहि सएहि गएहि तेवीम वरिसअहिगहि ।

पोस चउदमि सोमे सिप्रा धधुबकय पुरम्मि ॥

—अन्तिम प्रशस्ति

२. एसा य गणिज्जंति पाएणा णुट्ठभेण छदेण ।

सपुण्णाइ जाया छत्तीस सयाइ वोसाह ॥ वही

३. समराइच्चकहाउ उद्धरिया सुद्धमधिबघेण ।

कोऊहलेण एमा पसन्नवयणा विलासवई ॥

६. अन्तिम प्रशस्ति ।

कथा में कवि की कोई मौलिक उद्भावना नहीं लाक्षत होती है। परन्तु हँसी का वियोग-वर्णन वास्तव में कवि की कल्पना प्रसूत है। यथा—

खणे गयणह उडुहि खणे जलि बुडुहि विरहजलणसंतावियइ
खणे तीरलयावणे संकमति सुरसरिहि पुलिणे विरलइ भमंनि
निमुणेवि सददु एवकाहि मिलनि पुणु चक्कवाय संकए छलनि
तो गरुय सोय अभिभूययाह हुय मरण वेवि कय निच्छयाइ
सुरसरिहि सौति बुडुत्ति जाम्व पक्खालिउ कुकुम सयल ताम्व
पेक्खाव परोप्परु धवलकाउ तो दोण्हवि पच्चमि जाणु जाउ

अर्थात्—विरह की ज्वाला में संतप्त हो वह हँसी क्षण भर में आकाश में उडती और छिन-छिन में उम जलाशय में डुबकी लेती। दूसरे क्षण में व्याकुल हो वह सरोवर के तीर पर आ जाती और वन में तथा पुलिनो पर व्यथित हो भ्रमण करती। इस के समान शब्द सुन कर वह चौक पडती। किन्तु फिर चत्रवाक का मशय होने पर वह भ्रम से दुखी हो जाती। इस प्रकार गुरुतर शोक से अभिभूत हो उस हँसी ने मरण का निश्चय किया। और वह उसी समय सुरसरिता के सोते में जा कर जैसे ही डूबी वैसे ही उसका समस्त शरीर कुकुम प्रक्षालित हो गया।

इस प्रकार उक्त पक्तियों में लेखक ने नाटकीय दृश्य तथा वातावरण प्रस्तुत करते हुए नायक सनत्कुमार की मनोव्यथा को प्रकृति में अत्यन्त सुन्दर त्रिधि से चित्रित किया है और प्रकृति के माध्यम से अनेक कार्य-व्यापारों का सुन्दर चित्र अंकित किया है। समस्त काव्य में ऐसे कई सुन्दर चित्र अंकित हुए हैं जो बिम्बों से स्फीत तथा सौन्दर्य-बोध से सयुक्त हैं। प्रत्येक सन्धि में विविध स्थलों पर कवि ने प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णन के द्वारा मनुष्य के आन्तरिक भावों को अभिव्यक्त किया है। काव्य पढ़ते-पढ़ते हठात् बाण भट्ट की समस्त पदावली का स्मरण हो आता है। जैसे कि—

लडियतडविडविनवडंतसडियफला । कुररकारबंकल-
हमकोलाहल । कुचववकायसागमियसदाउला । तवसुमह-
ल्लकल्लोलमालाउलविउलविउलंत संखलवेलाउल ।

प्रकृति के विविध वर्णनों में सौन्दर्य के स्पष्ट चित्र अंकित हैं। शब्द-विन्यास में कवि की सुष्ठुता विशेषरूप

मे लक्षित होती है। इसके साथ ही विभिन्न प्रसंगों में कवि ने मानसिक दशाओं का विशेष चित्रण किया है। काव्य में कई मार्मिक भाव पूर्ण स्थल मिलते हैं जिनमें काव्य की वृत्ति विशेष रूप से रसदशा को अभिव्यक्त करने में समर्थ हुई है। समुद्र में नौका भग्न हो जाने पर मनत्कुमार की मन स्थिति का कवि ने अत्यन्त मजीब वर्णन किया है। कहीं कहीं भाषा अत्यन्त सरल और स्फीत है। यथा—

हा सुमित हा गुणरयणायर,

भो वसुभूइ कत्थमह सायर।

हा किह जलहिहि मज्जवि वन्नउ,

तह विणु कि करेमि हउं सुनउं ॥

इसी प्रकार—

कहिंवि आरत्त दीमंत वर विदुमं,

कहिंवि लहरीहि लहल्लंत तीरदुमं।

कहिंवि उटंत जावत्त अह दुगमं,

कहिंवि अन्नेन जल वन्न नह संगमं ॥

विभिन्न स्थलों पर गीति शैली के दर्शन होते हैं। काव्य में कई स्थान उपन्यास जैसे रोचक तथा मधुर हैं। कादम्बरी की भाँति विभिन्न घटनाएँ प्रकृति-स्थलों में घटित होती हैं। देवी मयोंग और आकस्मिक घटनाओं की मयोजना में काव्य में आदि में अन्त तक उत्सुकता और कुतूहल बना रहता है। कथा में पागे जाने वाले तत्त्व किसी न किसी रूप में प्रेमाख्यानक काव्यों में भली-भाँति विकसित मिलते हैं। अतएव नाटकीय दृश्यों की योजना तथा वातावरण अत्यन्त प्रेरक एवं विगद परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए विलासवती के वियोग में अत्यन्त व्यथित तथा समुद्रीय नौका के भग्न हो जाने पर अकेला भटकता हुआ मनत्कुमार जब वनस्थली के सघन कुज के निकट पहुँचता है तब वह एक मधुर माधवी लता को बाहु-पाशों में बद्ध देखता है। नायक के हृदय में तुरन्त ही स्मृतियों का संचार होने लगता है और वह सहकार (कलमी आम) वृक्ष के नीचे बैठ जाता है। मगुन होने लगते हैं। देखता है—उस वन में सामने में कोई मगनयनी नीचा मुख किये हुए चली आ रही है। जिसका मन में चिन्तन कर रहा था—वहीं सामने थी। उसके आगमन से वन के सूखे पत्ते बिखर गये थे। मगमर ध्वनि

सुनाई पड़ रही थी। इस प्रकार कवि ने विभिन्न स्थलों पर कुतूहल तथा उत्सुकता को बढ़ाते हुए नाटकीय दृश्यों की संयोजना की है। उक्त प्रसंग को पढ़ते ही विलासवती के आगमन तथा पूर्ववर्ती घटनाओं के अनेक रंगीनी चित्र आँखों के सामने भूलने लगते हैं। पाठक के मन में तरह-तरह की कल्पनाएँ उठने लगती हैं। कवि अलबम की भाँति एक-एक कर मुन्दर चित्रों की भाँती प्रकृति की रंगस्थली में अंकित करता जाता है। विलासवती कथा की यह विशेषता वस्तुतः बहुत कम काव्यों में परिलक्षित होती है।

काव्य सूक्तियों, कहावतों और मुहावरों से बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

अमिलाण कुसुम समु जोव्वणपि।

अर्थात्—यौवन टटके हुए प्रमूनों की भाँति होता है। वास्तव में नात्र फलों में जो मौरभ और मधुरता होती है वही यौवन में देखी जाती है। और उसी मोन्दर्य का आकर्षण होता है।

अहवा खयकाति समुट्ठयाहं,

उट्ठतिय पल्ल पिपीलियाहं।

अर्थात् मृत्यु के समय चींटियों के भी पर निकल आते हैं।

एक्कहिं दिसि अच्छइ नवु विसालु,

अन्नाहिं वि बाधु दाढा करालु।

अर्थात् एक ओर विशाल नदी है और दूसरी ओर विकराल बाघ है।

इस ओर नदी है और उस ओर लार्ह।

जिह सप्पु मरइ न लट्ठियावि,

भज्जइ तिहि चित्तिह बुद्धि कावि।

अर्थात् जिस प्रकार साप मरे और लाठी भी न टूटे—उस प्रकार विचार कर बुद्धिमान् मनुष्य को कार्य करना चाहिए।

१ अन्नहिं दियहे भमतएण माहविलय आलगिउ दिट्ठु।

अह मणहू महरायत्तु तस्म समीवे कुमर उवविट्ठु।

सामुह हरिणि लोयण वणम्मि,

जा अच्छइ चित्तिनउ मणमि।

ता मुक्कह पन्नह वित्थरउ,

आयनिउ मग्गमर २५। ५, २४

साँप मरे न लाठी टूटे ।

इस प्रकार अनेक स्थलों पर सुभाषित तथा कहावतें मिलती हैं, जिससे भाषा और भावों में सर्जावता लक्षित होती है । संक्षेप में, काव्य-कला की दृष्टि से विलासवती-कथा अपभ्रंश के प्रेमाख्यानक काव्यों में उत्कृष्ट रचना

है । भाव, भाषा और शैली में यह अन्यन्त स्फीत तथा प्रसाद गुणोपेन काव्य है । प्रायः सभी रसों की मयोजना इस काव्य में हुई है । परन्तु मुख्य रूप से विप्रलम्भ शृङ्गार की अभिव्यजना परिलक्षित होती है ।

‘समयसार’ नाटक

डा० प्रेमसागर जैन

कवि बनारसीदास ने ‘नाटक समयसार’ की रचना की थी । वे अपने युग के प्रख्यात साहित्यकार थे । यद्यपि उनका जन्म एक व्यापारी कुल में हुआ था १ ‘किन्तु वे अपने भावाकुल अन्त मानस को क्या करने, सदैव कविता के रूप में प्रस्फुटित रहने के लिये बेचैन रहता था । उन्होंने १५ वर्ष की आयु में ही एक नवरस रचना लिख डाली, जिसमें एक हजार दोहे-चौपाइया थी । इस रचना में भले ही ‘आसिखी का विसैस वरनन’ था, किन्तु काव्य-कला की दृष्टि से वह एक उत्तम कोटि का काव्य था । एक दिन जब बनारसी ने उस कृति को गौतमी में बहा दिया, तो मित्र हा हा करते हुए घर लौटे । बनारसीदास की दूसरी कृति है नाममाला । एक छोटा-सा शब्दकोश है । इसमें १७५ दोहे हैं । उसका मुख्य आधार धनञ्जय की नाममाला है । किन्तु इसमें केवल संस्कृत का ही नहीं, अपितु प्राकृत और हिन्दी का भी समावेश है, अतः यह एक मौलिक रचना है । ऐसा सरस शब्दकोश अन्य नहीं है ।

आगरा के दीवान जगजीवन ने वि० सं० १७०१ में बनारसीदास की विखरी ६५ मुक्तक रचनाओं को एक ग्रन्थ के रूप में संकलित किया था और उसका नाम रक्खा था ‘बनारसी विलास ।’ अब बनारसीदास की कुछ अन्य रचनायें भी प्राप्त हुई हैं, जो ‘बनारसी विलास’ में संकलित नहीं हैं । कुछ पद जयपुर के शास्त्र-भंडारों में

मिले हैं । माझा और मोहविवेक युद्ध भी नवीन है । इन सब कृतियों में अध्यात्म या भक्ति ही प्रमुख है । बनारसीदास ने एक आत्मचरित भी लिखा था जो समूचे मध्यकालीन साहित्य का एकमात्र आत्मचरित्र है । हिन्दी जगत में उसकी पर्याप्त प्रशंसा हुई है । बनारसीदास ने ही उसका नाम ‘अर्थकथानक’ रखा था । इसका बम्बई और प्रयाग से प्रकाशन हो चुका है ।

बनारसीदास की सर्वोत्कृष्ट कृति ‘नाटक समयसार’ है । उसकी रचना आगरे में वि० सं० १६६३, आश्विन सुदी १३, रविवार के दिन पूर्ण हुई थी । उस समय बादशाह शाहजहाँ का राज्य था । इस कृति में ३१० सौरठा-दोहा, २४५ सवैया इकतीमा, ८६ चौपाई, ३७ तेईमा सवैया, २० छप्पय, ७ अडिल्ल और ४ कुडियाँ हैं । समूचे भक्ति-युग में आध्यात्मिक भक्ति का निदर्शन ऐसी अन्य रचना नहीं है ।

नाटक समयसार की पूर्वाधार

‘नाटक समयसार’ का मूलधार था आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार पाहुड़ । आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम संवत् की पहली शती में हुए हैं । उनके रचे हुए तीन ग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय अत्यधिक प्रसिद्ध हैं । जैन परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् की भाँति ही पूजे जाते हैं । श्री देवसेन ने वि० सं० १६६० में अपने दर्शनसार नाम के ग्रन्थ में लिखा है कि यदि कुन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञान न दिया होता तो आगे के मुनि जन सम्यक् पथ को भूल जाते । श्रुतसागरसूरि कृत षट्प्राभृत की टीका

१. इनके पिता का नाम खडगसेन था, वे हीरा-जवाहरात का व्यापार करते थे : अर्थकथानक ।

के अन्त में उनको कलिकाल सर्वज्ञ कहा गया है। चन्द्र-गिरि और विन्ध्यगिरि के शिलालेखों में उनकी अत्यधिक प्रशंसा की गई है। समयसार अध्यात्म का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। अपने स्वभाव और गुण-पर्यायों में स्थिर रहने को ‘समय’ कहते हैं। ऐसा होने के कारण ही जैन मान्यता-नुसार छ. द्रव्य ‘समय’ मज्ञा में अभिहित किये गये हैं। इनमें भी आत्मद्रव्य ज्ञायक होने के कारण सारभूत है। उसका मुख्यतया विवेचन करने से इस ग्रन्थ को समयसार कहते हैं। इसमें प्राकृतभाषा में लिखी गई ४१५ गाथाएँ हैं। इसका प्रकाशन बम्बई, बनारस और मारौठ आदि कई स्थानों से हो चुका है।

इन प्रावृत्त गाथाओं पर आचार्य अमृतचन्द्र ने वि० म० की ९ वीं शती में ‘आत्मख्याति’ नाम की टीका संस्कृत कलशो में लिखी। आचार्य अमृतचन्द्र बहुत बड़े टीकाकार थे। उन्होंने केवल समयसार की ही नहीं, अपितु पचास्ति-काय और तत्त्वसार की भी टीकाएँ लिखीं। टीका की विशेषता है कि उसका मूल ग्रन्थ के साथ पूर्ण तादात्म्य होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि अमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्द की प्रतिभा में घुस कर ही टीका का निर्माण किया है। आचार्य अमृतचन्द्र विद्वान् थे और कवि भी, किन्तु आत्मख्याति टीका, समयसार पाठ्य का सच्चा प्रतिनिधित्व करती है, अतः उसमें दार्शनिकता ही अधिक है, कवित्व कम। आचार्य अमृतचन्द्र ने जिन अन्य ग्रन्थों का निर्माण किया है, वे भी दार्शनिक ही हैं। ‘पुरुषार्थसिद्धयुपाय’ उनकी मौलिक कृति है।

वि० म० की १७वीं शती में प० रायमल्ल ने ‘समय-सार’ पर बालबोधिनी नाम की टीका लिखी, जो हिन्दी गद्य में थी। प० रायमल्ल की विद्वत्ता की ख्याति चतुर्दिक् व्याप्त थी। वे हिन्दी और संस्कृत दोनों ही के विद्वान् थे। उनका व्यक्तित्व भी आकर्षक और ममुन्नत था। विद्वत्ता के समन्वय ने उसे और भी निखार दिया था किन्तु अर्धकथानक में लिखा है कि इस टीका को पढ़-

कर बनारसीदास को आत्मा के विषय में भ्रम हुआ था। इसका अर्थ यह हुआ कि प० राजमल जी समयसार का सही अर्थ समझने में असमर्थ थे। समयसार एक कठिन ग्रन्थ है, बड़े बड़े पण्डित भी चकरा जाते हैं। प० राजमल ने भी कहीं कहीं भूल की हो तो आश्चर्य क्या है। बनारसीदास के नाटक समयसार पर उपर्युक्त तीनों आचार्यों का प्रभाव है।

नाटक समयसार की मौलिकता

नाटक समयसार आचार्य अमृतचन्द्र के संस्कृत कलशो का अनुवाद भर ही नहीं, अपितु यथेष्ट रूप से मौलिक भी है। अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका में केवल २७७ कलशे हैं, जबकि नाटक समयसार में ७२७ पद्य हैं। अतः का १४वा ‘गुणस्थान अधिकार’ तो बिल्कुल स्वतंत्र रूप से लिखा गया है। प्रारम्भ और अन्त के १०० पद्यों का भी आत्मख्याति टीका से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिनका सम्बन्ध है वे भी नवीन हैं। उनमें कलश का अभिप्राय तो अवश्य लिखा गया है, किन्तु विविध दृष्टान्तों, उपमा और उन्प्रेक्षाओं में ऐसा रस उत्पन्न हुआ है, जिसके समक्ष कलश फीका जँचता है। तुलना के लिये एक उदाहरण देविए—

नाशने विषयसेवनेऽपि यस्त्वं फलं विषयसेवनेऽपि ना ।

ज्ञानबेभवविरागताबलान्तेवकोऽपि तदसौऽसेवक ॥

अमृतचन्द्राचार्य के इस संस्कृत कलश पर नाटक समय-सार का हिन्दी पद्य इस प्रकार है—

जैसे निशिवासर कमल रहे पंक ही में,

पकज कहाँ पे न बाके डिग पंक है ।

जैसे सन्त्रवादी विषय सो गहावे गात,

सन्त्र की शक्ति बाके बिना विष डंक है ।

जैसे जीभ गहे चिकनाई रहे रूखे धंग,

पानी में कनक जैसे काई से अटक है ।

तैसे ज्ञानवान नाना भीति करतूत ठाने

किरिया ते भिन्न माने पाते निकलंक है ॥

१. बनारसीदास नाटक समयसार, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, ७।१५ पृ० १६७-६८। इसी के नीचे फुटनोट में अमृतचन्द्राचार्य का श्लोक दिया है।

वही, उत्थानका, १९वाँ पद्य, पृ० १७।

१. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, वि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ (मारवाड़), फरवरी, १९५३। दूसरी गाथा, अमृतचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका, पृ० ८-९।

यहाँ स्पष्ट है कि "ज्ञानवान नाना कार्यों को करता हुआ भी उनसे पृथक् रहता है" नाम का दार्शनिक सिद्धान्त सस्कृतकलश की अपेक्षा नाटक समयसार में अधिक सजीव है। उसमें वह उपयुक्त शब्दों के चयन, पंक्तियों के गठन, प्रसादगुण और दृष्टान्तश्रलकार की सहायता में भावक्षेत्र का भी विषय बन सका है। सच तो यह है कि समयसार और उसकी टीकाएँ दर्शन में सम्बन्धित हैं, जब कि बनारसीदास का 'नाटक समयसार' साहित्य का ग्रन्थ है। उसमें कवि की भावुकता प्रमुख है जब कि समयसार में दार्शनिक का पारिण्डित्य। दर्शन के रखे सिद्धान्तों का भावोन्मेष वह ही कर सकता है, जिसने उन्हें पचाकर आत्मसात् कर लिया हो। कवि बनारसीदास ने अपनी आध्यात्मिक गोष्ठी में समयसार का भनीभाति अध्ययन, पाठ्यपण और मनन किया था। इसमें उन्होंने अनेक वर्ष खपा दिये थे। बीच में गलत अर्थ समझने के कारण उन्हें कुछ भ्रम हो गया था, जो पाण्डे रूपचन्द्र से गोम्मट-सार सुनकर दूर हो गया। पाण्डे रूपचन्द्र की समूची शिक्षा-दीक्षा बनारस में हुई थी। वे एक ख्याति प्राप्त विद्वान् थे। सही अर्थ समझने के उपरान्त बनारसीदास ने अपने माथियों के साथ एक बन्द कोठरी में नग्न मुनि बनने का प्रयास समाप्त कर दिया और मनन में अधिक समय व्यतीत करने लगे। पणिमवज्ञान अर्थ अधिकाधिक स्पष्ट हो गया। किन्तु केवल अर्थ ज्ञान होना और बात है तथा उसकी अनुभूति दूसरी। अनुभूति तभी हो सकती है जब कि अर्थ को समझा ही नहीं अपितु पचाया भी गया हो। पचाने का अर्थ है उसका साक्षात् करना। अर्थात् अनुभूति के लिए ज्ञाता ही नहीं, अपितु द्रष्टा होना भी आवश्यक है। बनारसीदास ने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की गाथाओं का अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका के माध्यम में अध्ययन किया, आध्यात्मिक गोष्ठी में मनन किया और एकान्त में साक्षात् किया। इस भाति जाग्रत हुई अनुभूति ने नाटक समयसार को जन्म दिया। बनारसीदास की दृष्टि में सच्ची अनुभूति सच्चा ब्रह्म ही है। तज्जन्य आनन्द परमानन्द ही है। वह कामधेनु और चित्रावेलि के समान है। उसका स्वाद पंचामृत भोजन

१. अनुभूति की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभूति को स्वाद पच अमृत को कोर है।

जैसा है। नाटक समयसार में यह पंचामृत भोजन पग-पग पर उपलब्ध है। "देह विनाशवान है, उसकी ऊपरी चमक धोखा देती है" इस तथ्य पर वनी बनारसीदास की एक अनुभूति देखिए—

रेत की सी गढ़ी किधौ मढ़ी है मसान के सी,
अन्दर अन्धेरी जैसी कन्दरा है सैल की।
ऊपर की चमक बगक पटभूखन की,
धोखे लगे भली जैसी कली है कनैल की।
ओगुन की ओंडो महा भौंडी मोह की कनौडी,
माया की मसूरति है मूरति है मँल की।
ऐसी देह याहि के सनेह याकी सगति सों,
ह्व रही हमारी मति कोलू के से बैल की ॥

'समयसार' की 'नाटक' मज्ञा

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार को नाटक मज्ञा से अभिहित नहीं किया था। सर्वप्रथम आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार को नाटक कहा। किन्तु केवल कह देने मात्र से कोई ग्रन्थ नाटक नहीं बन जाता। उसमें तदनुरूप भावोन्मेष की आवश्यकता बनी ही रहती है। आत्मख्याति टीका में भावोन्मेष नहीं है। बनारसीदास की भावपरकता ने समयसार की 'नाटक' मज्ञा को सार्थक किया और इसी कारण उनके ग्रन्थ का 'नाटक समयसार' नाम उपयुक्त ही है।

उसमें सात तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष अभिनय करते हैं। इनमें प्रधान होने के कारण जीव नायक है और अजीव प्रतिनायक। उनके प्रतिस्पर्द्धी अभिनयो ने चित्रमयता को जन्म दिया है। जीव को अजीव के कारण ही विविध रूपों में नृत्य करना पड़ता है। आत्मा के स्वभाव और विभाव को नाटकीय ढंग से उपस्थित करने के कारण इसको नाटक समयसार कहते हैं। यह एक आध्यात्मिक रूपक है। इसमें आत्मा रूपी नर्तक सत्त्वरूपी रंगभूमि पर ज्ञान का स्वाग बना कर नृत्य करता है। पूर्वबध का नाश उसकी गायक विद्या है, नवीन बंध का संवर ताल तोड़ना है, निश्चित आठ अंग उसके सहचारी हैं, समता का आलाप स्वर्ग का उच्चारण है और निर्जरा की ध्वनि ध्यान का मृदंग है।

वह गायन और नृत्य में लीन होकर आनन्द में सराबोर है—

पूर्वबन्ध नासं सो तो संगीत कला प्रकासं,
नव बन्ध रुंधि ताल तोरत उछरि कै ।
निसंकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि,
समता अलापचारी करे सुर भरि कै ॥
निरञ्जरा नाव गाजे ध्यान मिरदग बाजे,
छक्यो महानन्द मै समाधि रीझि करि कै ।
सत्तारंग भूमि मै मुक्त भयो तिहूँ काल,
नाचं शुद्ध वृष्टि नट ग्यान स्वांग धरि कै ॥

आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञान तो समुद्र ही है, जब वह मिथ्यात्व की गाठ फोड़कर उमगता है, तो त्रिलोक में व्याप्त हो जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में यो कहा जा सकता है कि जब आत्मा मिथ्यात्व को तोड़कर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो ब्रह्म बन कर घट-घट में जा विगजता है। इसी को कवि ने एक रूपक के द्वारा प्रस्तुत किया है। रूपक में आत्मा को पातुरी बनाया गया है। वह वस्त्र और आभूषणों से सजकर रात के समय नाट्य-शाला में, घट को आड़ा करके आती है, तो किसी को दिखाई नहीं देती, किन्तु जब दोनों ओर के शमादान ठीक करके पर्दा हटाया जाता है, तो सभा के सब लोग उसको भनीभाति देख लेते हैं। यही दशा आत्मा की है—
जैसे कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,

आवति अखारे निति आड़ो पट करि कै ।
डुहुँ ओर दीवटि सँवारि पट दूरि कीजे,
सकल सभा के लोग देखें वृष्टि धरि कै ।
तैसे ज्ञानसागर मिथ्याति प्रथि भेवि करि,
उमग्यो प्रगट रह्यो तिहूँ लोक भरि कै ।
ऐसो उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
शुद्धता सँभारें जग जाल सो निसरि कै ॥

जीव एक नट है और वह घट-वृक्ष के समान है। घट-वृक्ष में अनेक फल होते हैं, फल में बीज होते हैं और प्रत्येक बीज में नट-वृक्ष मौजूद रहता है। बीज में घट और घट में बीज की परम्परा चलती रहती है। उसकी अनन्तता कम नहीं होती। इसी भांति जीवरूपी नट की एक सत्ता में अनन्त गुण, पर्याएँ और कलाएँ हैं। जीव और

उसके गुणो-पर्यायों की परम्परा भी आदि काल से चली आ रही है। जीव अपनी गुण पर्यायों को लेकर नृत्य करता है। उसका वह नृत्य विलक्षण है—

जैसे घट वृक्ष एक, तामे फल है अनेक,
फल फल बहु बीज, बीज बीज घट हैं ।
घट माहि फल, फल माहि बीज तामे घट,
कीजे जो विचार, तो अनन्तता अघट है ॥
तैसे एक सत्ता में, अनन्त गुण पर जाय,
पजे में अनन्त नृत्य तामे अनन्त ठट है ।
ठट में अनन्त कला, कला में अनन्त रूप,
रूप में अनन्त सत्ता, ऐसो जीव नट है ॥

इस सत्तारूपी रंगशाला में यह चेतन जो विविध भाति के नृत्य करता है, वह अचेतन की मगति से ही। तात्पर्य है कि अचेतन उसे समार में भटकाना है। चेतन का समार में भटकना ही उसका नाचना है। यदि अचेतन का नग छूट जाय तो उसका यह नृत्य भी बन्द हो जाय। इसी को कवि बनारसीदास ने लिखा है—

बोलत विचारत न बोले न विचारे कछु,
भेख को न भाजन पे भेख को धरत है ।
ऐसो प्रभु चेतन अचेतन की सगति सों,
उलट पुलट नटवाजो सी करत है ॥

जब चेतन अचेतन की मगति छोड़ देता है, तो वह उस नाटक का केवल दर्शक भर रह जाता है, जो अम-युक्त, विशाल एवं महा अविवेकपूर्ण अखाड़े में अनादि-काल में दिखाया जा रहा है। यह अखाड़ा जीव के घट (हृदय) में ही बना है। वह एक प्रकार की नाट्यशाला है। उसमें पुद्गल नृत्य करता है और वेप बदल बदल कर कोतुक दिखाता है। चिन्मूर्ति जो मोह में भिन्न और जड़ में जुदा हो चुका है, इस नाटक का देखने वाला है। अर्थात् चेतन मोह और जड़ से पृथक् होकर शुद्ध हो जाता है, अतः वह सासारिक कृत्यों को केवल देखता भर है। उनमें मलग्न नहीं होता। यह रूपक इस प्रकार है—

या घट में अम रूप अनावि,
विशाल महा अविवेक अखारी ।
तामहि और स्वरूप न दोसत,
पुगल नृत्य करे अति भारी ।

फेरत भेष दिखावत कौतुक,
सौंजि लिये बरनाबि पसारी ।
मोह सों भिन्न जुदौ जड़ सों,
चिन्मूरति नाटक देखनहारौ ॥

एक नट जब रंगमंच पर अभिनय करता है, तो अभिनयोपयुक्त वेशभूषा और वातावरण में अपने को भूल जाता है। किन्तु नाटक की तन्मयता से उभरने ही वह अपने सच्चे रूप में आ जाता है। उसे विदित हो जाता है कि नाटकीय दशा मेरी वास्तविक अवस्था नहीं थी। चेतन का भी यही हाल है। वह घट में बने रंगमंच पर अनेक विभावो को धारण करता है। विभाव का अर्थ है कृत्रिम भाव। जब मुद्रुष्टि खोलकर वह अपने पद को देखता है, तो उसे अपनी असलियत का पता चल जाता है। चेतन रूपी नट के इस कौतुक को देखिये—

ज्यों नट एक धरं बहु भेल,
कला प्रगटं बहु कौतुक देखें ।
आपु लखें अपनी करतूति,
वहै नट भिन्न विलोकत पखें ॥
त्यों घट में नट चेतन राव,
विभाउदसा घरि रूप विलेखें ।
खोलि मुद्रुष्टि लखें अपनी पद,
बुद विचारि दसा नहि लेखें ॥

चेतन मूर्ख है, वह अचेतन के धोखे में मदैव फंसा रहता है। अचेतन चेतन को या तो भटकाता है अथवा मोह की नींद में मुला देता है, अपना रूप नहीं देखने देता। 'नाटक समयसार' में चेतन की मुपुप्तावस्था का एक चित्र अंकित किया गया है। वह काया की चित्रमारी में माया के द्वारा निर्मित सेज पर सो रहा है। उस सेज पर कल्पना (तडपन) की चादर बिछी है। मोह के भूकोरो से उसके नेत्र ढँक गये हैं। कर्मों का बलवान उदय ही श्वास का शब्द है। विषय भोगों का आनन्द ही स्वप्न है। इस भाँति चेतन मस्त होकर सो रहा है। वह मूढ़-दशा में तीनों काल मस्त रहता है। भ्रम-जाल में फँसा रहता है। उससे कभी उभर नहीं पाता—

काया चित्रसारी में करम परजंक भारी,
माया की संवारी सेज चादर कल्पना ।

शून करे चेतन अचेतनता नींद लिये,
मोह की मरोर यहै लोहन को डंपना ॥
उबें बल जोर यहै श्वास को शब्द घोर,
विषं सुखकारी जाकी दौर यहै सुपना ।
ऐसी मूढ़ दशा में मगन रहै तिहुँ काल,
धावें भ्रम-जाल में न पावे रूप अपना ॥

'नाटक समयसार' में वीरगम के अनेक चित्र हैं, जिनमें से एक में आस्रव और ज्ञान का युद्ध दिखाया गया है। कर्मों के आगमन को आस्रव कहते हैं। वह बहुत बड़ा योद्धा है, अभिमानी है। ससार में स्थावर और जगम के रूप में जितने भी जीव हैं, उनके बल को तोड़ फोड़कर आस्रव ने अपने वश में कर रक्खा है। उसने मूछों पर तब देकर रणस्तम्भ गाड़ दिया है। अर्थात् उसने अपने को अप्रतिद्वन्द्वी प्रमाणित करने के लिए अन्य योद्धाओं को चुनौती दी है। अचानक उस स्थान पर ज्ञान नाम का एक सुभट, जो सवाये बल का था, आ गया। उसने आस्रव को पछाड़ दिया, उसका रण-थभ तोड़ दिया। ज्ञान के शौर्य को देखकर बनारसीदास नमस्कार करते हैं—

जेंते जगवासी जीव थावर जंगम रूप,
ते ते निज बस करि गाले बल तोरि के ।
महा अभिमानी ऐसी आस्रव अगाध जोधा,
रोपि रन थंभ ठाढ़ो भयो मूछ मोरि के ।
आयो तिहि थानक अचानक परम धाम,
ज्ञान नाम सुभट सवायो बल फोरि के ।
आस्रव पछार्यो रनथंभ तोरि डार्यो ताहि,
निरखि बनारसी नमत कर जोरि के ॥

नाटक समयसार में भक्ति-तत्त्व

निष्कल और सकल अर्थात् निर्गुण और सगुण की उपासना का समन्वय जैन भक्ति की विशेषता है। कोई जैन कवि ऐसा नहीं जिम्ने दोनों की एक साथ भक्ति की हो। जैन सिद्धान्त में आत्मा और जितेन्द्र का एक ही रूप माना गया है, अतः वह शरीरी हो अथवा अशरीरी, जैन भक्त को दोनों ही पूज्य है। नाटक समयसार में इस परम्परा का पालन किया गया है। कवि बनारसीदास ने यदि एक ओर निष्कल ब्रह्म की आराधना की है, तो

दूसरी ओर ‘सकल’ के चरणों में भी श्रद्धा क पुष्प चढ़ाये है।

निष्कल का दूसरा नाम है ‘सिद्ध’। कर्मों के आवरण से मुक्त आत्मा को सिद्ध कहते हैं। नाटक समयसार में शुद्ध आत्मा के प्रति गीतों की भरमार है। एक स्थान पर कवि ने लिखा है कि शुद्धात्मा के अनुभव के अभ्यास से ही मोक्ष मिल सकता है, अन्यथा नहीं ? उनका यह भी कथन है कि आत्मा के अनेक गुण-पर्यायों के विकल्प में न पड़कर शुद्ध आत्मा के अनुभव का रस पीना चाहिए। अपने स्वरूप में लीन होना और शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही श्रेयस्कर है। सिद्ध शुद्धात्मा के ही प्रतीक है। उनके विशेषणों का उल्लेख करते हुए कवि ने उनकी जै जागर की है। वह पद्य देखिए—

अविनाशी अविकार परमरस-धाम है,
समाधान सरबंग सहज अभिराम है।

शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त है,
जगत शिरोमणि सिद्ध सब जयवन्त है।

एक दूसरे स्थान पर कवि ने शिवलोक में विराजमान ‘शिवरूप’ की बन्दना की है। उनका कथन है कि जो अपने आत्मज्ञान की ज्योति से प्रकाशित है, सब पदार्थों में मुख्य है, निष्कलक है, सुख-सागर में विश्राम करता है, संसार के सब जीव और अजीवों के घट-घट का जानने वाला है और मोक्ष का निवास है, उसे भव्य जीव सदैव नमस्कार करते हैं। भक्त के बन्दीय को ‘शिवरूप’ तो होना ही चाहिए, साथ ही तेजवान भी, किन्तु तेज भौतिक न होकर दिव्य हो, वह तभी हो सकता है

उद्धरण

१. शुद्ध परमात्म कौ अनुभौ अभ्यास कीजै,
यहै मोख-पथ परमाग्रह है इतनी।
—नाटक समयसार, बम्बई, १०१२५, पृ० ३८८।
२. गुन परजै मे द्विष्टि न दीजै,
निरकिलप अनुभौ रस पीजै।
आप समाह आप मे लीजै,
तनुपौ मेष्टि अपनुपौ कीजै॥

—वही, १०११७, पृ० ३८३।

जबकि सासारिक कलक निकल जाय। तभी उसे अनंत सुख और केवलज्ञान उपलब्ध हो सकता है। वह सिद्ध-लोक का शाश्वत निवासी भी तभी बन सकता है। ऐसे भगवान के भक्त का भक्तिपरक मापदण्ड निश्चय रूप से ऊँचा है।

जो अपनी दुति आप विराजत,
है परधान पवारथ नामी।
चेतन अंक सब निकलक,
महासुख सागर कौ बिसरामी॥
जीव अजीव जिते जग मे,
तिनकौ गुन जायक अन्तरजामी।
सो सिवरूप बसै सिवधान,
ताहि विलोकि नमै सिवनामी॥

निर्गुनिये सन्तो की भाति ही बनारसीदास ने यह स्वीकार किया कि जिनगाज घट-मन्दिर में विराजमान रहता है। उसमें ज्ञान-शक्ति विमल आरसी की भाति जाग्रत हो जाती है। उसके दर्शन में महारस उपलब्ध होता है। महारस वह है, जिसमें एक ओर मन की चपलता नहीं रहती, तो दूसरी ओर योग में भी उदासीनता आ जाती है। अर्थात् आत्मा सहजयोगी का रूप धारण कर लेती है। सहजयोगी का तात्पर्य है कि परम महारस के प्राप्ति हो जान से योगी को योग की दुरुह साधना में स्वतः निवृत्ति मिल जाती है। वह साधना के बिना स्वाभाविक ढंग से ही योगी बना रहता है। बनारसीदास की ‘सहजता’ में ब्रज्या-नियों के सहजयानी सम्प्रदाय का ‘सहज’ नहीं है, इसमें आत्मा का स्वाभाविक रूप ही प्रमुख है। अर्थात् बनाग्मी-दास पहले महारस प्राप्त करते हैं, तब सहजता स्वाभाविक ढंग से आ ही जाती है। सहजयानी पहले सहजता प्राप्त करते हैं फिर महारस की ओर आँख लगाते हैं। कुछ भी हो बनारसीदास घट में शोभायमान सहज-योगी चेतन की बन्दना करते हैं।

१. जामैं लोकान्तो के सुभाव प्रतिभाये सब,
जगी ग्यान सकति विमल जैसी आरसी।
दसन उद्योत लीयी अन्तराय अत कीयी,
गयी महामोह भयी परम महारसी॥

जैन आचार्यों ने पञ्च महारस में इन्हीं आत्मा को ब्रह्म कहा है। बनारसीदास ने भी उसे ब्रह्म कहा और उसके स्याद्वादरूप का विवेचन किया। उन्होंने लिखा है कि वह एक भी है और अनेक भी, अर्थात् वह आत्म-सत्ता में एकरूप है और परमत्ता में अनेक रूप। वह ज्ञानी है और अज्ञानी भी, अर्थात् शुद्ध रूप में ज्ञानी और कर्म संगति में अज्ञानी है। इसी भाँति वह प्रमादी है और अप्रमादी भी। वह जब अपने रूप को भूल जाता है तो प्रमादी और जब अपने रूप को जाग्रत होकर स्मरण करता है तो अप्रमादी। अपेक्षाकृत दृष्टि से ही वस्तु का वास्तविक निरूपण हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस दृष्टि को ही स्याद्वाद कहते हैं। यह सिद्धान्त आत्मा पर भी घटित होता है। आत्मा का ऐसा निष्पक्ष और सत्य विवेचन अन्यत्र दुर्लभ ही है। बनारसीदास ने उस आत्म-ब्रह्म की प्रशंसा की है।—

बेखु सखी यह ब्रह्म विराजित,
याकी दसा सब याहो को सोहै।
एक में अनेक अनेक में एक,
बुबु लिये बुविषामह वो हैं ॥
आपु संभारि लखे अपनो पद,
आपु विसारि कं आपुहि मोहै।
व्यापक रूप यहै घट अन्तर,
ग्यान मै कौन अग्यान मै को है ॥

बनारसीदास ने 'सकलब्रह्म' के भी गीत गाये। सकल ब्रह्म वह है, जो केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भी आयु कर्म के अवशिष्ट रहने में विश्व में शरीर महिन मौजूद रहता है। अर्थात् उसके धानिया कर्मों का क्षय हो जाता है, अतः उसकी आत्मा में ब्रह्मत्व तो जन्म ले ही लेता है, किन्तु आयु के क्षीण होने तक उसे ससार में रुकना पड़ता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त अर्हन्त

मन्यामी सहज योगी जोग सो उदासी जामे,
प्रकृति पचामी लागि रही जरि छारसी।
सोहै घट मन्दिर मैं चेतन प्रगट रूप,
ऐमो जिनराज ताहि बन्दत बनारसी ॥

—नाटक समयसार, बम्बई, १८२६, पृ० ५६।

की यह ही दशा होती है। उन्हें जीवन्मुक्त कहा जा सकता है। वे सशरीरी ब्रह्म हैं। आचार्य 'जोइन्दु' ने उन्हें 'सकल ब्रह्म' की सज्ञा से अभिहित किया है। मूर और तुलसी ने ऐसे ब्रह्म को सगुण कहा है। बनारसीदास ने सकल ब्रह्म की भक्ति से भक्त का निर्भय होना स्वीकार किया है। भगवान् पार्श्वप्रभु का शरीर सजल-जलद की भाँति है। उनके गिर पर सप्तफणियों का मुकुट लगा है। उन्होंने कमठ के अहंकार को दल डाला है। ऐसे जिनेन्द्र की भक्ति से भक्त के सब डर भाग जाते हैं। फिर तो वह यमराज से भी डरता नहीं। भगवान् उसके पापों को हरण कर लेता है, इतना ही नहीं उसे भव-समुद्र से भी पाग लगा देता है। वह भगवान् काम-देव को भस्म करने के लिए रुद्र के समान है। भक्त जन मदैव उसकी जै जै के गीत गाते हैं। जिनेन्द्र की भक्ति की सामर्थ्य का बखान करते हुए लिखा है कि जिनेन्द्र की भक्ति कभी तो मुबुद्धि रूप होकर कुमति का हरण करती है, कभी निर्मल ज्योति बन कर हृदय के अन्धकार को दूर भगाती है, कभी करुणाद्रं होकर कठोर हृदयों को भी दयालु बना देती है, कभी स्वयं प्रभु की लालसा रूप होकर अन्य नेत्रों को भी तद्रूप कर देती है। कभी आरती का रूप धारण कर भगवान् के सन्मुख आती है और मधुर भावों को अभिव्यक्त करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति भक्त को प्रभु की तद्रूपता का आनन्द

१. मदन-कदन-जित परम-धरमहित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी।
सजल-जलद-तन मुकुट सप्त-फन,
कमठ-दलन जिन नमत बनारसी ॥

—वही, मंगलाचरण, पृ० २।

२. पर अघ-रजहर जलद,
सकल जन-तन भव-भय-हर।
जमदलन नरकपद-छयकरन,
अगम अतट भव जल तरन ॥
वर-सकल-मदन-वन-हरदहन,
जय जय परम अभय करन ॥

—वही, मंगलाचरण, पृ० ३।

देती है। वह पद्य देखिए.—

कबहूँ सुमति हूँ कुमति को विनाश करे,
कबहूँ विमल ज्योति अन्तर जगति है।
कबहूँ दया हूँ चित्त करत दयाल रूप,
कबहूँ सुलालसा हूँ लोचन लगति है॥
कबहूँ आरती हूँ कं प्रभु स्नमुख आवे,
कबहूँ सुभारती हूँ बाहरि बगति है।
धरं दसा जैसी तब करे रीति तैसी ऐसी,
हिरवें हमारे भगवन्त की भगति है॥

एक स्थान पर भक्त कवि ने जिनेन्द्र की मूर्ति अथवा बिम्ब का विवेचन करते हुए लिखा है कि—उसे देखकर जिनेन्द्र की याद आती है। उनके गुणों को प्राप्त करने की चाहना उत्पन्न होती है। जिनेन्द्र में कुछ ऐसा सौन्दर्य होता है, जिसके समक्ष इन्द्र का वैभव तुच्छ-सा प्रतिभासित होता है। उनके यश का गान हृदय के तमस को भगा कर प्रकाश में भर देता है। अर्थात् जिनेन्द्र का यशोगान एक मन्त्र की भांति है, जिसमें ‘तमसो मा ज्योतिर्गमय’ की पूर्ण सामर्थ्य है। उससे बुद्धि की मलिनता शुद्धता में परिणत हो जाती है। इस भांति जिनेन्द्र बिम्ब की छवि की महिमा स्पष्ट ही है।

बनारसीदास ने केवल निष्कल और सकल ब्रह्म की ही नहीं, अपितु उन सब साधुओं की भी वन्दना की है, जो सदगुणों से युक्त हैं। उन्होंने लिखा है कि मुनिराज ज्ञान के प्रकाश के प्रतीक तो होते ही हैं, वे सहज सुख-सागर भी होते हैं। अर्थात् ज्ञान के उत्पन्न होते ही उन्हें परम सुख स्वतः ही उपलब्ध हो जाता है। उसके लिए

१. जाके मुख दरस सौ भगत के नैननि की,
धिरता की बानि बढै चचलता विनसी।
मुद्रा देखि केवली की मुद्रा याद आवै जहाँ,
जाके आगै इन्द्र की विभूति दोमै तिनसी॥
जाकी जस जपत प्रकास जगै हिरदे में,
सोइ सुद्धमति होइ हृती जु मलिन सी।
कहत बनारसी सुमहिमा प्रगट जाकी,
सोहै जिनकी छवि सुविद्यमान जिनसी॥

—वही, १३।२, पृ० ४६८।

उन्हें कोई प्रयास ही करना पड़ता। वे शरणागतों की रक्षा करते हैं, शरणागत भले ही पापी हों। उन्हें मौत का डर नहीं सताता। वे धर्म की स्थापना और भ्रम का खण्डन करते हैं। वे कर्मों से लड़ते हैं किन्तु विनम्र होकर, क्रोध और भावावेश के साथ नहीं। ऐसे मुनिराज विश्व की शोभा बढ़ाते हैं बनारसीदास उनका दर्शन कर नमस्कार करते हैं।

भक्त आराध्य की वाणी में भी श्रद्धा करता है। उसकी महिमा के गीत गाता है। जिनवाणी जिनेन्द्र के हृदयरूपी तालाब से निकलती है और श्रुत-सिन्धु में समा जाती है, अर्थात् वह एक सरिता के समान है। इस वाणी के द्वारा सत्य का वास्तविक रूप प्रगट हो जाता है। सत्य अनन्त नयात्मक है। अनेक अपेक्षाकृत दृष्टियों से वह विविध रूप है। उसका कोई एक लक्षण नहीं, एक रूप नहीं। उसे समझने के लिए भी सात्विकता से युक्त सामर्थ्य चाहिए। अर्थात् सम्यग्दृष्टि ही उसे समझ सकता है, अन्य नहीं। बनारसीदास का कथन है कि वह जिन-वाणी सदा जयवन्त हो :—

तासु हवें-ब्रह्म सौ निकसी,
सरिता सम हूँ श्रुत-सिन्धु समानी।
याते अनन्त नया तम लच्छन,
सत्य स्वरूप सिद्धन्त बखानी।
बुद्ध लखे न लखे बुरबुद्ध,
सदा जगमाहि जगं जिनवानी॥

कवि बनारसीदास ने नवधा भक्ति का निरूपण किया है। उन्होंने लिखा है, “श्रवण, कीर्तन, चितवन, सेवन, वेदन ध्यान। लघुता, समता, एकता नौधा भक्ति प्रवान।” नाटक समयसार में इस नौधा भक्ति के उद्धरण बिखरे हुए हैं।

नाटक समयसार की भाषा

कवि बनारसीदास ने अपने अर्धकथानक की भाषा को ‘मध्य देस की बोली’ कहा है। डा० हीरालाल जैन ने उसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि—बनारसीदास जी ने अर्धकथानक की भाषा में ब्रजभाषा की भूमिका लेकर उस पर मुगलकाल में बढ़ते हुए प्रभाव वाली खड़ी

१. वही, मंगलाचरण, पृ० ६।

बोली की पुट दी है और इसे ही उन्होंने 'मध्य देस की बोली' कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि यह मिश्रित भाषा उस समय मध्य देस में काफी प्रचलित हो चुकी थी। डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है 'यद्यपि मध्यदेस की सीमाएँ बदलती रही है, पर प्रायः सदैव ही खड़ी बोली और ब्रजभाषी प्रान्तों को मध्यदेस के अन्तर्गत माना जाता है और प्रगट है कि अर्धकथानक की भाषा में ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली का किंचित् सम्मिश्रण है। इसलिए लेखक का भाषा विषयक कथन सर्वथा सगत जान पड़ता है।" यह सत्य है कि अर्धकथानक में खड़ी बोली और ब्रजभाषा का समन्वय है। इस भाँति यह जनमाधारण की भाषा है। प० नाथूराम प्रेमी ने 'बोली' को बोलचाल की भाषा कहा है। 'मध्यदेस' की बोली ही मध्यदेस की बोलचाल की भाषा थी।

बनारसीदास ने अर्धकथानक बोलचाल की भाषा में लिखा, किन्तु उनके अन्य ग्रन्थ साहित्यिक भाषा में है। साहित्यिक का तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें खड़ी बोली और ब्रजभाषा निकल कर दूर जा पड़ी हो। रही दोनों किन्तु संस्कृत निष्ठ हो जाने से उन्हें साहित्यिक की मजा से अभिहित किया गया। अर्धकथानक में प्रत्येक स्थान पर 'श' को 'स' किया गया है, जैसे 'शुद्ध' को 'सुद्ध', 'वश' को 'वस' और 'पाश्र्व' को 'पास'। किन्तु नाटक समयसार में अधिकांशतया श' का ही प्रयोग है, जैसे—चेतना, अशुभ, शशि, विशेष, निशिवासर और शिवसता आदि। अर्धकथानक में 'ष' स्थान पर 'स' का आदेश देखा जाता है, किन्तु नाटक समयसार में सब स्थानों पर 'ष' का ही प्रयोग है। उस समय 'ष' का 'ख' उच्चारण होता था, अतः लिपि में वह 'ख' लिखा हुआ मिलता है,

१ अर्धकथानक : संशोधित संस्करण, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई, भूमिका, अर्धकथानक की भाषा, डा० हीरालाल जैन लिखित, पृ० १६।

२. अर्धकथा. हिन्दी परिपद, प्रयाग विश्वविद्यालय इलाहाबाद, डा० माताप्रसाद गुप्त लिखित, भूमिका, पृ० १४-१५।

किन्तु फिर भी अधिकांशरूप में 'ष' का ही प्रयोग हुआ है। विषधर, भेष, दोष, विशेष और पिऊष में ष तथा पोख अभिलाख, विशेषिये में 'ख' देखा जाता है।

अर्धकथानक में 'ऋ' कही कही ही सुरक्षित रह पाया है, किन्तु नाटक समयसार में उसका कही पर भी स्वरादेश नहीं हुआ है। वहाँ अर्धकथानक की भाँति दृष्टि को दिष्टि नहीं किया गया है, अपितु 'दृष्टि' ही सुरक्षित है। इसी भाँति कृपा, कृपाण, मृषा आदि शब्द भी ऋकारान्त ही हैं।

संस्कृत के सयुक्त वर्णों को स्वरभक्ति या वर्णलोप के द्वारा आमान बनाने की प्रवृत्ति नाटक समयसार में भी पायी जाती है। जैसे—निहचै (निश्चय), हिरदै (हृदय), विवहार (व्यवहार), सुभाव (स्वभाव), शक्ति (शक्ति), सासत (शाश्वत), दुन्द (द्वन्द्व), जुगति (युक्ति), थिर (स्थिर), निरमल (निर्मल), मूरनीक (मूर्तिक), सरूप (स्वरूप), मुकति (मुक्ति), आभग्रन्तर (आभ्यन्तर), अध्यातम (अध्यात्म), निरजरा (निर्जरा), विभचारिनी (व्यभिचारिनी), रतन (रत्न) और आचारज (आचार्य), आदि। नाटक समयसार में 'य' के स्थान पर पूर्णरूप से 'ज' का ही प्रयोग हुआ है, जैसे—जथा (यथा), जथारथ (यथारथ), जथावत (यथावत), जोग (योग), विजोग (वियोग) आदि। कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ 'य' का प्रयोग हुआ हो।

तदभव परक प्रवृत्ति के होते हुए नाटक में संस्कृत-निष्ठा को कोई व्याघात नहीं पहुँचा है। भले ही परपर-णति कर दिया गया हो, किन्तु शब्द तो संस्कृत का ही है। निर्मल को निरमल और निर्जरा को निरजरा कर देने से न तो वह 'चलताऊ' बना और न उर्दू-फारसी का। इसके अतिरिक्त संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी बहुत अधिक प्रयोग हुआ है, जैसे—ज्ञानवन्त, कलावत, सम्यक्त्व मोक्ष, विचक्षण और निर्विकल्प आदि। अर्धकथानक में उर्दू-फारसी के शब्द भरे पड़े हैं, किन्तु समूचे नाटक समयसार में बदफैल और खुराफाती जैसे शब्द दो चार से अधिक नहीं मिलेंगे। बनारसीदास उर्दू-फारसी के अच्छे जानकार थे। उन्होंने जौनपुर के नवाब के बड़े बेटे चीनी किलिच को उर्दू-फारसी के माध्यम से ही संस्कृत पढ़ाई

थी। किन्तु नाटक समयसार का विषय ही ऐसा था, जिसके कारण वे फारसी के शब्दों का प्रयोग नहीं कर सके। बनारसीदास ने विषयानुकूल ही भाषा का प्रयोग किया है। यह उनकी विशेषता थी।

भाषा का सौन्दर्य उसके प्रवाह में है, सरकृत अथवा फारसी-निष्ठा में नहीं। प्रवाह का अर्थ है भाव का गुम्फन के साथ अभिव्यक्तीकरण। नाटक समयसार के प्रत्येक पद्य में भाव को सरसता के साथ गूथा गया है। कहीं विशृङ्खलता नहीं है, लचरपन नहीं है। यह एक गुलदस्ते की भाँति सुन्दर है। दृष्टान्तों की आकर्षक शृङ्खलियों ने उसके सौन्दर्य को और भी पुष्ट किया है। विचारों की अनुभूति जब भावपरक होती है तो उसका प्रकट करना आसान नहीं है, किन्तु बनारसीदास ने सहज में ही प्रकट कर दी है। इसका कारण है उनका सूक्ष्मावलोकन। उन्हें बाह्य मसार और मानव की अन्तःप्रकृति दोनों का सूक्ष्म-ज्ञान था। इसी कारण वे भावानुकूल दृष्टान्तों को चुनने और उन्हें प्रस्तुत करने में समर्थ हो सके। एक उदाहरण देखिए—

जैसे निशिवासर कमल रहै पंकहि में,
पंकज कहावें पं न वाके ढिग पंक है।
जैसे मन्त्रवादी विषधर सों गहावें गान,
मन्त्र की सकति वाके बिना विष डंक है ॥
जैसे जीभ गहै चिकनई रहै रुखे अंग,
पानी में कनक जैसे कोई सों अटक है।
तैसे ज्ञानवन्त नाना भाँति करतूति ठाने,
किरिया को भिन्न माने याते निकलंक है ॥

दृष्टान्तों के अतिरिक्त उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपकों की छटा भी अवलोकनीय है। अनुप्रासों में सहज सौन्दर्य है। बनारसीदास को अलंकारों के लिए प्रयास नहीं करना पड़ा। वे स्वतः ही आये हैं। उनकी स्वाभाविकता ने रस-

परकता को अभिवृद्ध किया है। बनारसीदास एक भक्त कवि थे। उनके काव्य में भक्तिरस ही प्रमुख है। उनकी भक्ति अलंकारों की दासता न कर सकी, अपितु अलंकार ही भक्ति के चरणों पर सदैव अप्रति होते रहे। वे रस स्कूल के विद्यार्थी थे। रस प्रमुख रहा और अलंकार गौण। शरीर की विनश्वरता दिखाने के लिए उत्प्रेक्षा के लालित्य के साथ रस का सौन्दर्य देखिये—

धोरे से घका के लगें ऐसे फट जाय भानो,
कागद की पुरी किधों चाबर है चंल की ॥

छन्दों पर तो बनारसीदास का एकाधिपत्य था। उन्होंने नाटक समयसार में सर्वैया, कवित्त, चौपाई, छप्पय, अडिल्ल, कुण्डलिया और दोहा-सोरठा का प्रयोग किया है। सर्वैया तो वैसे भी एक रोचक छन्द है, किन्तु बनारसीदास के हाथों में वह और भी अधिक सुन्दर बन गया है। दोहा-सोरठा के बाद उन्होंने सबसे अधिक सर्वैया लिखे और उनमें भी ‘सर्वैया इकतीमा’। सर्वैया तेईसा भी है किन्तु कम। जैसे भैया भगवतीदास को कवित्तों का राजा कहते हैं, वैसे बनारसीदास को सर्वैया का। समूचे मध्य-कालीन हिन्दी साहित्य में ऐसे सर्वैया अन्य नहीं रच सके।

कहने का तात्पर्य यह है कि बनारसीदास ने जैन आध्यात्मिक विचारों का हृदय के साथ तादात्म्य किया अर्थात् उन्होंने जैन मन्त्रों को पढ़ा और समझा ही नहीं, अपितु देखा भी। इसी कारण मन्त्रदृष्टाया की भाँति वे उन्हें चित्रवत् प्रकट करने में समर्थ हो सके। ऐसा करने में उनकी भाषा सम्बन्धी शक्ति भी सहायक बनी। वे शब्दों के उचित प्रयोग, वाक्यों के कोमल निर्माण और अलंकारों के स्वाभाविक प्रतिष्ठापन में निपुण थे। उनकी भाषा भावों की अनुवर्तिनी रही, यही कारण था कि वह निर्गुण मन्त्रों की भाँति अटपटी न बन सकी।

मगध और जैन-संस्कृति

डा० गुलाबचन्द चौधरी एम. ए. पी. एच. डी.

प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र मगध देश का गौरवपूर्ण नाम इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णक्षरो में अंकित है। यहाँ का इतिहास, निःसन्देह, न केवल भारत में, बल्कि विश्व में बेमिसाल रहा है। ऐसे बिरले ही देश होंगे, जहाँ से एक साथ साम्राज्यचक्र और धर्मचक्र की धुराएँ अपने प्रबल वेग से शताब्दियों तक जगती-तल पर चलती रही हों। मगध को ही श्रमण-संस्कृति के लिए जीवनदान, संवर्धन एवं पोषण करने का श्रेय प्राप्त है तथा विश्व में उसके परिचय देने और प्रसार का कार्य यहीं से सम्पन्न हुआ था। भारत के विशाल भूभाग को एकछत्र के नीचे लाने वाले साम्राज्यवादर्ूपी नाटक के अनेक दृश्य यही खेले गए थे। वर्धमान महावीर और तथागत बुद्ध की सर्वप्रथम अमरवाणी मुनने का सौभाग्य इसी स्थल को मिला था और जैन तथा बौद्धधर्म के उत्कर्ष के दिन इसी भूमि ने देखे थे। इतना ही नहीं, आजीवक आदि अनेक सम्प्रदायों और दर्शनों को जन्म देने और उन्हें सदा के लिए इतिहास की वस्तु बना देने का गौरव भी इसी क्षेत्र को प्राप्त है। इसी महीखण्ड पर आध्यात्मिक विचारधारा और भौतिक सभ्यता ने गठ-बन्धन कर भारतीय राष्ट्रवाद की नींव डाली थी। प्रतापी राजा बिम्बसार श्रेणिक एवं अजातशत्रु, नन्दवशी राजा, सम्राट् चन्द्रगुप्त और उसका पौत्र प्रियदर्शी अशोक शुगवशाय सेनानी पुष्यमित्र तथा पीछे गुप्त साम्राज्य के दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त और उनके वंशजों ने इसी प्रदेश से ही विस्तृत भूभाग पर शासन कर इसे विश्व की सारी कला, नाना ज्ञान-विज्ञान और अनेक भौतिक समृद्धि का केन्द्र-स्थल बनाया था। यहाँ के कलाकारों, मेधावियों और राजनीतिज्ञों की जगत् में प्रशंसा होती थी। प्रसिद्ध कवि अश्वघोष, महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य और कामन्दक, महावैयाकरण वररुचि और पतञ्जलि, छन्दकार पिङ्गल, महान् ज्योतिर्विद् आर्यभट्ट और तार्किक

धर्मकीर्ति, शांतिरक्षित आदि विद्वान् इस प्रान्त की विभूतियाँ थे। ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी से लेकर छठवीं शताब्दी पश्चात् तक यहाँ से राज्यधुरा का चक्र परिचालित होता रहा। पीछे बंगाल के पाल और सेनवंशी राजाओं की अधीनता में पहुँचने पर यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से इस क्षेत्र का महत्व कुछ कम हो गया हो, पर सभ्यता और संस्कृति की गरिमा की दृष्टि से इसे जो अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त थी उसमें तनिक भी कमी नहीं हुई। नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों द्वारा मगध ने अपना अन्तर्राष्ट्रीय उत्कर्ष पाया। इन विश्वविद्यालयों में ७-८ सौ वर्षों तक भारतीय दर्शनों की, धर्म और साहित्य की, कला और संगीत की तथा भूगोल एवं रसायन शास्त्र की शिक्षा देश-विदेश के विद्यार्थियों को बिना किसी भेदभाव के साथ दी जाती थी। मगध के इतिहास का पृष्ठ यदि राजगृह और पाटलिपुत्र के उत्थान के साथ खुलता है तो वह नालन्दा के पतन के साथ बन्द हो जाता है। इतना विशाल गौरव पाने का श्रेय बिरले ही देशों को मिला होगा। इसी कारण से सारा प्रान्त आज बिहार नाम में पुकारा जाता है। इस प्रदेश की महिमा न केवल भारतीय विद्वानों ने बल्कि अनेक विदेशी यात्रियों—प्लुटार्ख, जस्टिन, मेगस्थनीज, फाहियान, ह्वानच्वांग आदि—ने मुक्तकण्ठ से गायी है।

श्रमण-संस्कृति का केन्द्र

भारतवर्ष सनातनकाल में ही अनेक संस्कृतियों का मगधस्थल रहा है। उन संस्कृतियों में एक बहुत प्राचीन संस्कृति श्रमणधारा का क्षेत्र पूर्वोक्त भारत था। मगध के इतिहास की यदि हम सांस्कृतिक पृष्ठभूमि टटोले तो हमें सुदूर अतीत से ही यह श्रमण-संस्कृति का केन्द्र मालूम होता है। तथाकथित वैदिक संस्कृति के प्रभाव से यह एक प्रकार से मुक्त था। इसकी अपनी भाषा, साहित्य और कला-कौशल था। प्राचीन मगध की राजधानी राजगृह के

आस-पास की खुदाई से प्राप्त पकी मिट्टी (टेसावटा) के खिलौनों से, जिनमें स्त्री, पुरुष, राक्षस और पशुओं के चित्र हैं, मालूम होता है कि इस क्षेत्र का सम्बन्ध मोहे-जो-दारो और हरप्पा आदि की प्राचीन संस्कृतियों से अवश्य रहा है। आर्यों के आगमन के पहले के कुछ अवैदिक तत्त्वों से मालूम होता है कि यहाँ पाषाणयुगीन पुरुषों के वंशज रहते थे। यहीं कृष्णागों (नेगरिट) और आग्नेयों (अस्टरिक) की संस्कृति का सम्मिश्रण हुआ था। आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का आदान-प्रदान विशेषतः इसी प्रान्त में हुआ था। आर्यों ने यहाँ के विद्वानों से कर्मसिद्धांत, पुनर्जन्म और योगाभ्यास की शिक्षा ली और अपनी होम विधि के मुकाबले में उनकी पूजा विधि अपनाई। वेदों में यहाँ के निवासियों को ब्रातृ नाग, यक्ष आदि नामों से कहा गया है। ऋग्वेदादि ग्रन्थों में ब्रातृयों की निन्दा और स्तुति के अनेक प्रसंग मिलते हैं। अथर्ववेद के पन्द्रहवें काण्ड में ब्रातृय शब्द का अर्थ और ब्रातृय प्रजापति का सुन्दर वर्णन प्रायः श्रमण नामक ऋषभदेव को लक्ष्य कर कहा गया लगता है। वहाँ यह भी लिखा है कि ब्रातृय की नारी श्रद्धा थी, 'मागध' उनका मित्र था और विज्ञान उसके वस्त्र थे। यहाँ मगध-मागधवासी शब्द इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है। मगधवासियों के नेतृत्व में पूर्वीय जन समुदाय ने आर्यों की दासता से बचने के अनेक प्रयत्न किये थे। ब्राह्मण-संस्कृति के पुरातन ग्रन्थों में श्रमण संस्कृति के अनुयायी मगधवासी एवं पूर्वीय जनवर्ग तथा उनके भू भाग को बहुत ही हेयता और घृणा के भाव से देखा गया है। ऋग्वेद से लेकर मनुस्मृति तक के अनेक ग्रन्थों में इस बात के प्रमाण भरे पड़े हैं। मागध (मगध-जनवासी) शब्द का अर्थ ब्राह्मण लोगों में चारण या भाट है। संभव है, जीविकार्जनार्थ कुछ लोग मगध से चारण, भाटों का पेशा करते हुए आर्य देशों में जाते हों, जहाँ उन्हें मगध शब्द से कहने-कहते पीछे उसी अर्थ में मागध शब्द की रूढ़ि हो गई हो। मनुस्मृति में गिनाए गये ब्रह्मर्षि देशों में मगध का नाम शामिल नहीं है। वहाँ मगध शब्द का अर्थ वर्ण संकर से है। इस क्षेत्रवासियों ने पुरोहितों और वैदिक देवताओं की सर्वोच्च सत्ता प्रायः न के बराबर स्वीकारी थी। इसलिए पुरोहित वर्ग इस क्षेत्र को अपवित्र मानते हैं और

यहाँ तक कि इस क्षेत्र में प्राण-त्याग भी पाप गिनते हैं— 'मगध मरे सो गदहा होय'। आज भी मिथिला के ब्राह्मण गंगा पार मगध की भूमि में मृत्यु के अवसर को टालते हैं। श्रौत-सूत्रों से यहाँ रहने वाले ब्राह्मण को ब्रह्म बन्धु कहते हैं, जिसका अर्थ जातिमात्रोपेत ब्राह्मण है, शुद्ध ब्राह्मण नहीं। आज कल भी यहाँ ब्राह्मण 'बाबाजी' नाम से पुकारे जाते हैं और किसी काम के बिगड़ जाने व किसी वस्तु के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर उसे भी उपहास रूप 'यह बाबाजी हो गया' कहते हैं। यद्यपि महावीर और बुद्ध के उदय होने के काफी पहले से मगध आर्यों के अधीन हो गया था, पर यहाँ पुरोहित वर्ग को वैसा सम्मान कभी नहीं मिला, जैसा उसे आर्य देशों में मिला है। वैदिक संस्कृति एक प्रकार से यहाँ के लिए विदेशी थी, इसीलिए पीछे महावीर और बुद्ध के काल में, वहाँ उसका जो थोड़ा-बहुत प्रभाव था, वह भी उठ गया।

मगध से जनधर्म की प्राचीनता और विकास :

मगध से जहाँ तक जनधर्म और संस्कृति का सम्बन्ध है वह साहित्यिक आधारों पर भगवान् महावीर से पहले जाता है। बौद्ध ग्रंथ दीघनिकाय के सामञ्जस्य सूत्रों में भगवान् पाश्वनाथ की परम्परा के चार्तुयाम सवर (अहिमा, सत्य, अस्तेय एवं अपरिग्रह) का उल्लेख है। उत्तराध्ययन के केशी गौतम सवाद में और भगवती-सूत्र में पाश्वर्पिन्यों (पाश्वरपरम्परा के मुनियों) के सम्वाद से मालूम होता है कि मगध में भगवान् पाश्वनाथ की शिक्षाओं एवं उनके समय के व्यवहारों का प्रचलन था। भगवान् महावीर का समकालीन आजीवक मकखलि गोमाल अपने समय के मनुष्य समाज के छह भेद करता है, जिसमें तीसरा भेद 'निग्रन्थ' समाज था। इसमें विदित होता है कि निग्रन्थ मगधन पहले में ही एक उल्लेखनीय मगधन रहा है। आचाराग सूत्र में मालूम होता है कि भगवान् महावीर के माता-पिता श्रमण भगवान् पाश्व के उपामक थे। इन तथा अन्य मगध प्रमाणों में सिद्ध है कि मगध में जनधर्म भगवान् महावीर से बहुत पहले से था। मगध की राजधानी राजगृह में जनो के बीसवें तीर्थङ्कर मुनिमुद्गलनाथ के—गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान—य चार कल्याणक हुए थे।

भगवान् महावीर ने दीक्षा काल से निर्वाण प्राप्ति तक के वयालीस वर्षों में १४-१५ चतुर्मास इसी मगध में नालन्दा, राजगृह और पावापुरी में बिताए थे। यहाँ की पावनभूमि को ही सौभाग्य प्राप्त है कि उन्हें केवल-ज्ञान इस क्षेत्र की एक नदी ऋजु क्ला (वर्त० कि ऊल) नदी के किनारे जूभक गाँव (वर्तमान जमुई का क्षेत्र) में प्राप्त हुआ था और उनका प्रथम उपदेशागत राजगृह या पावापुरी में मगध की जनता को सुनने को मिला था। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध के समय मगध में जैनो के कई केन्द्र थे, जिसमें नालन्दा, राजगृह और पावा प्रमुख थे। मज्झिम निकाय के अनुसार नालन्दा में ही अनेक धनी जैन रहते थे। मगध के कई प्रभावक जैन श्रावक और श्राविकाओं का नाम बौद्धग्रन्थों में मिलता है, जैसे राजगृह का सचक, नालन्दा का उपाधि गृहपति आदि।

भगवान् महावीर के समय राजगृह अनेक विद्वानों और प्रसिद्धवादियों का केन्द्र था। उनके प्रथम उपदेश को समझने और धारण करने वाला प्रथम शिष्य इन्द्र-भूति, जो गौतम गणधर नाम से प्रसिद्ध हुआ, इसी स्थान का एक विशिष्ट ब्रह्मण था भगवान् के ग्यारह गणधरों में छह तो इसी प्रदेश के थे। कहते हैं कि राजगृह से भगवान् महावीर का जन्म-जन्मान्तरो से सम्बन्ध था। और पवित्र पाँच पर्वतों से घिरा हुआ यह नगर अनेक महापुरुषों की लीला-भूमि तथा मुक्ति-प्राप्ति का स्थान रहा है। केवलज्ञान प्राप्ति के समान ही भगवान् महावीर को निर्वाण पद देने का सौभाग्य मगध की पावन-भूमि को ही प्राप्त है। ईसापूर्व ५२७ में 'पावा' से वर्धमान मोक्ष प्राप्त हुए थे। पटना के कमलदह (गुल-जार बाग) नामक स्थान से महाशीलवान् सुदर्शन सेठ ने समाधि पाई थी।

महाभारत और पुराणों से विदित होता है कि प्रागैतिहासिक-युग में मगध के प्रतापी नरेश जरासन्ध ने समस्त भारत पर राज्य स्थापित किया था। वह भगवान् नेमिनाथ का युग था। पुनः ईसा की छठवीं शताब्दी पूर्व श्रेणिक बिम्बसार के नेतृत्व में मगध ने ऐसे साम्राज्यवाद की नींव डाली जो पीछे जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त और

उसके उत्तराधिकारियों के सरक्षकत्व में सारे भारत पर छा गया था। जैन शास्त्रों के अनुसार श्रेणिक भगवान् महावीर का अनुयायी हो गया था। उसकी रानी चेलना और उसके अनेक पुत्र जैन-मुनियों के परम भक्त थे। जैनागमों का कुणिक और श्रेणिक का उत्तराधिकारी-अज्ञात-शत्रु जैनधर्मानुयायी था। उसका बेटा उदयभट्ट अपने पिता के समान ही पक्का जैन था। पाटलिपुत्र को प्रकर्ष देने का श्रेय उदायि को ही है। जैनागम ग्रन्थ आवश्यक सूत्र के अनुसार उसने नई राजधानी के मध्य एक जैन चैत्य गृह बनवाया था और अष्टमी चतुर्दशी को प्रोषध का पालन करता था। उदायि ने अनेकों बार उज्जैन के राजा को पराजित किया था।

उदायि के बाद मगध का साम्राज्य अनेक राजनीतिक एवं धार्मिक प्रतिद्वंद्विताओं का शिकार बन गया, पर जन-हृदय पर जैनधर्म के प्रभाव की धारा कम ही क्षीण हो सकी। जैन-ग्रन्थों में उदायि के बाद और नव-नन्दों के आविर्भाव के बीच के राजाओं का नाम नहीं मिलता। नन्द राजा और उनके मन्त्रीगण भी जैन थे। उनका प्रथम मन्त्री कल्पक था, जिसकी सहायता से नन्दों ने क्षत्रिय राजाओं का मान-मर्दन किया था। नवमे नन्द का मन्त्री शकटाल भी जैन था, जिसके दो पुत्र थे—स्थूलभद्र और श्रीयक। स्थूलभद्र तो जैन साधु हो गया, पर श्रीयक ने मन्त्रि-पद ग्रहण किया। नन्द राजा जैन धर्मानुयायी थे, यह बात मुद्राराक्षस नाटक से भी मालूम होती है। नाटक की सामाजिक पृष्ठभूमि में जैन प्रभाव स्पष्ट काम कर रहा है। नन्दों के जैन होने के अकाट्य प्रमाण सम्राट् खारवेल का शिलालेख है, जिसमें उल्लेख है कि नन्द राजा कलिग देश से आदिनाथ की प्रतिमा अपनी विजय के चिन्ह स्वरूप मगध ले आया था। नन्दों के समय मगध का साम्राज्य चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था।

नन्दों के बाद भारत की विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने वाला, सारे भारत को एकछत्र के नीचे लाने वाला सम्राट् चन्द्रगुप्त निर्विवाद रूप से जैन था। बौद्ध अनुश्रुति में उसे मोरिय नामक ब्राह्म क्षत्रिय जाति का युवक बताया है। जैन ग्रन्थ 'तिलोय पण्णत्ति' में उसे उन सम्राटों में अन्तिम कहा गया है, जिन्होंने जिन-दीक्षा

लेकर अन्तिम जीवन जैन मुनि के रूप में व्यतीत किया था। वह श्रुत-केवली भद्रबाहु की परम्परा का अनुयायी था और ई० पू० २६० के लगभग दक्षिण भारत में कर्नाटक देश के श्रवणबेल गोला स्थान में उसने समाधि मरणपूर्वक देहत्याग किया था। आचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व के अनुसार सम्राट् चन्द्रगुप्त का महाराजनीतिज्ञ मन्त्री चाणक्य भी अपने जीवन के शेष दिनों में जैनधर्म की शरण आया था। उसके अन्तिम दिनों का वर्णन इसी लिए हमें जैन शास्त्रों के अतिरिक्त कहीं नहीं मिलता।

आगमों का संग्रह

जैनागमों का सर्वप्रथम सकलन इमी मगध देश की राजधानी पाटलिपुत्र में आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में हुआ था। उस सकलन की एक रोचक कहानी है। भगवान् महावीर का जो उपदेश इस मगध की धरा पर हुआ था, वह उनके शिष्यों द्वारा १२ अंग और १४ पूर्वों में विभक्त किया गया था, जो श्रुत परम्परा से चल कर शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा कालान्तर में विस्मृत होने लगा था। यह बात नन्द-मौर्य साम्राज्य के सक्रमण काल की है। इस समय तक बौद्धों ने अपने आगमों को राजगृह और वैशाली की दो सर्गातियों द्वारा बहुत कुछ व्यवस्थित कर लिया था। पर जैनों की ओर से कोई सामूहिक प्रयत्न नहीं हुआ था। नन्द-मौर्य राज्यतन्त्र के सक्रमण काल में जैन सघ के प्रमुख आचार्य भद्रबाहु थे। हेमचन्द्राचार्य के परिशिष्ट-पर्व के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय मगध में बारह-वर्ष-व्यापी भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था। उस दुष्काल में जब साधुओं को भिक्षा मिलना कठिन हो गया था, तब साधु लोग निर्वाह के लिए समुद्र-तट की ओर चले गए और उन्होंने बारह वर्ष के महाप्राण नामक ध्यान की आराधना की थी। दिगम्बर अनुश्रुति के अनुसार भद्रबाहु दक्षिण की ओर अपने संध सहित चले गये थे। मगध में कुछ जैन मुनि आचार्य स्थूलभद्र की प्रमुखता में रह गये थे। भीषण दुर्भिक्ष के कारण मुनि संध को अनेक विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं। अन्त में आगम ज्ञान की सुरक्षा के हेतु आ० स्थूलशद्र के नेतृत्व में एक परिषद् का सगठन हुआ जिसमें अवशिष्ट आगमों का सकलन हुआ। भद्रबाहु के अनुयायी मुनिगण जब मगध

लौटे, तो उन्होंने सकलित आगमों की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया और तत्कालीन साधु-सघ जो श्वेत वस्त्र का आग्रह करने लगा था, को मान्यता प्रदान नहीं की। इस तरह इस मगध की धरा पर ही दिगम्बर और श्वेताम्बर नाम से जैन सघ के स्पष्ट दो भेद हो गये। यहाँ जो आगम संग्रह किया गया, उसे दो भागों में बाँटा गया—एक तो वे जो महावीर से श्रमण-परम्परा में प्रचलित थे, इसलिए उन्हें पूर्व कहा गया और महावीर के उपदेश को '१२ अंग' नाम से संगृहीत किया गया।

आगमों की भाषा

मगध देश की भाषा मागधी या मगही कहलाती है। इसका जैन आगमों की भाषा पर खासा प्रभाव है। जैनागमों की भाषा अर्धमागधी कही जाती है। अर्धमागधी का अर्थ उस भाषा से है, जो प्राये मगध में बोली जाती थी अथवा जिसमें मागधी भाषा की प्राचीन प्रवृत्तियाँ पाई जाती थी। हो सकता है कि मगध की भाषा को ही अधिक समुदाय के लिए बोध्यगम्य बनाने के हेतु उसमें पड़ोस के कोशल शूरमेन आदि प्रदेशों के प्रचलित शब्द शामिल कर लिये गये हों, भाषाविदों के अनुसार मागधी भाषा की मुख्यतः तीन विशेषताएँ थी—(१) 'र' का उच्चारण 'ल' होना (२) तीनों प्रकार के ऊष्म 'श स, प' वर्णों के स्थान पर केवल तालाव्य 'श' पाया जाना, (३) अकारान्त कर्तृकारक एक वचन का रूप 'ओ' के स्थान पर 'ए' प्रत्यय होना। इन तीन मुख्य प्रवृत्तियों में अन्तिम प्रवृत्ति अर्धमागधी में बहुलता से पाई जाती और र का ल होना कहीं-कहीं पाया जाता है। इसकी शेष प्रवृत्तियाँ शौरसेनी प्राकृत से मिलती हैं, जिससे अनुमान होता है कि इसका रूपान्तर मगध के पश्चिम देशों में हुआ होगा। जो हो, जैनों ने पूर्वी भाषा (मागधी) का कुछ परिवर्तन संस्कार तो अवश्य किया पर बहुत हद तक वे उसे ही पकड़े रहे। उनके आगम जिस अर्ध-मागधी भाषा में हैं, उसमें बौद्धागमों की भाषा पालि से मगध की भाषा के अधिकतत्त्व पाये जाते हैं। जैन, प्राकृतों के 'एगो, दुगो' आदि अनेक शब्द मगध में आज भी बोले जाते हैं। वर्तमान जैन आगमों में अर्धमागधी भाषा के अनेक स्तर परिलक्षित होते हैं। उनमें आचा-

राग आदि कुछ तो प्राचीनतम स्तर वाले हैं पर अधिकांश ग्रन्थों में मध्य युगीन आर्य भाषा के दूसरे स्तर की प्रवृत्तियाँ—समीकरण, सगुलीकरण एवं वर्ण लोप आदि प्रवेश कर गई हैं। सम्भवतः ये उन आगमों की मौखिक परम्परा के कारण ही काल क्रम से घुस गई हैं।

मगध में चौदह वर्ष व्यापी दुर्भिक्ष की घटना जैन धर्म के इतिहास की वह भयंकर घटना थी, जिसने सघ भेद के साथ-साथ जैन धर्म के पैर मगध की भूमि पर कमजोर कर दिये। वह धीरे-धीरे इस भूमि के जन मानस से विस्मृत-सा होने लगा और अपने विस्तार का क्षेत्र पश्चिम और वाराणसी मथुरा की तरफ, पूर्व में बंगाल दक्षिण पूर्व कलिंग तथा दक्षिण भारत में दूढ़ने लगा। पर मगध के वक्ष स्थल पर जैन इतिहास की जो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी थी, उससे वह जैनो की पुण्यभूमि तो बन चुका था। आज भी राजगृह की पंच पहाड़ियाँ, नालन्दा, पावा, गुणावा और पाटलिपुत्र एक साथ जैनो के ये पाँच तीर्थ स्थान इसी मगध की पुण्यभूमि हैं और इसके पड़ोसी प्रदेश हजारीबाग में सम्मेलिशिखर, कोलुआ पहाड़ तथा मानभूम जिले के अनेक ध्वंसावशेष जैन धर्म के गौरव को उद्घोषित कर रहे हैं।

उपसंहार

मौर्य वंश के बाद मगध पर शुङ्ग और कण्ववंश का राज्य हुआ। इन वंशों के नरेश ब्राह्मण धर्म के अनुयायी एवं पोषक थे। इनके समय में मगध हतप्रभ था और विदेशियों को भारत में राज्य स्थापना करने

का मौका मिल गया। पर मगध की श्रमण-संस्कृति का प्रभाव व्यर्थ नहीं गया। उसने अन्य संस्कृतियों से सम्बन्ध कर उनके रूप निखारने में सहयोग दिया। नवीन ब्राह्मण वर्ग को उसने देवी-देवताओं की भक्ति, उपासना, मूर्ति पूजा एवं जीव दया आदि बातें प्रदान की और वैदिक धर्म के पुनरुद्धार काल में वह शक्तिहीन एवं अव्यवस्थित हो गया और कुछ अंश उनमें समा गया।

इतना सब होने पर भी जैन जनता युगों-युगों में मगध से अपना सम्बन्ध बनाये रही। जैन कवियों ने उसे अपनी पुण्यभूमि को तीर्थ रूप में सदा स्मरण किया है। इस बात का प्रकाश हमें नालन्दा बडगाँव के जैन मन्दिर से पाल वंशी राजा राज्यपाल के समय (१०वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) के एक लेख से मिलता है। लेख में मनोरथ का पुत्र वणिग श्रीवैद्यनाथ अपनी तीर्थ-वन्दना का उल्लेख करता है।

आज मगध के प्रमुख स्थानों में जैन जनता वाणिज्य के लिए बसी है। मगध के जैन सांस्कृतिक केन्द्र उनकी सहायता की राह देख रहे हैं। चारों ओर विकास की योजनाएँ लागू हो रही हैं। क्या वह मगध जिसने जैन संस्कृति को जन्म क्षण से पाला पोसा है, आज फिर उसके विकास के लिए पात्र नहीं हो सकता? तीर्थ-यात्रा के नाम पर जैन जनता हजारों रुपये इस भूमि पर आकर खर्च करती है, पर जैन-संस्कृति के प्रसार सबधी उपादानों से, यह प्रान्त आज भी वंचित है, जो बड़े खेद की बात है।

अनेकान्त की पुरानी फाइलें

अनेकान्त की कुछ पुरानी फाइलें अवशिष्ट हैं जिनमें इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन और साहित्य के सम्बन्ध में खोजपूर्ण लेख लिखे गए हैं जो पठनीय तथा सग्रहणीय हैं। फाइलें अनेकान्त के लागन मूल्य पर दी जावेंगी, पोस्टेज खर्च अलग होगा। फाइलें वर्ष ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६ वर्षों की हैं। थोड़ी ही प्रतियाँ अवशिष्ट हैं। संग्रह की शीघ्रता करें।

मैनेजर 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।

प्राचीन मथुरा के जैनो की संघ-व्यवस्था

[डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ]

उत्तर प्रदेश का प्रसिद्ध मथुरा नगर चिरकाल पर्यन्त जैनधर्म और उसकी संस्कृति का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। मौर्य काल के प्रारम्भ से लेकर गुप्त काल के अन्त पर्यन्त लगभग एक सहस्र वर्ष का काल मथुरा जैन मध का स्वर्ण युग था और उसमें उसकी मध्यवर्ती तीन शताब्दियाँ (लगभग १०० ईसा पूर्व से सन ई० २०० तक) उसका चरमोत्कर्ष काल था। साहित्यिक अनुश्रुतियों के अतिरिक्त मथुरा नगर के विभिन्न भागों तथा उसके आसपास के प्रदेश में पुरातात्विक शोध खोज में प्राप्त विपुल सामग्री, और उसमें भी विशेष रूप में बहुमूल्यक शिलालेख इस बात के जीवन्त प्रमाण हैं।

मथुरा से अब तक लगभग अठ्ठाई सौ शिलालेख प्राप्त हो चुके हैं जिनमें से दो तिहाई के लगभग जैनो से संबंधित हैं। उनमें ८० शिलालेख ऐसे हैं जिनमें विविधित धर्मकार्यों के प्रेरक साधु और साध्वियों के नाम भी अंकित हैं। इस प्रकार उस काल में मथुरा में विचरने वाले लगभग ८५ विभिन्न जैन मुनियों और २५ आयिकाओं के नाम प्राप्त होते हैं। साधु साध्वियों के नामांकित शिलालेखों में ६५ ऐसे हैं जिनमें उल्लिखित साधु साध्वियों के गण, शाखा, कुल आदि का भी निर्देश है, इन शिलालेखों में से ५१ तिथियुक्त भी हैं।

जिन लेखों में केवल दान देने वाले श्रावक या श्राविका का ही उल्लेख है वे इन लेखों में सर्वाधिक प्राचीन मान्य किये जाते हैं और उनमें से अधिकतर संभवतया मौर्य-शुंग काल लगभग (३००-१०० ईसापूर्व) से सम्बन्धित हैं। जिनमें साधु साध्वियों के नाम तो हैं किन्तु उनके गण, शाखा, कुल आदि का कोई उल्लेख नहीं है वे प्रायः ईस्वी सन् के पूर्व और पश्चात् की दो शतियों के अनुमान किये जाते हैं। प्रथम शती ई० के अभिलेखों में कहीं केवल 'गण' का, कहीं 'कुल' का

और कहीं मात्र 'शाखा' का उल्लेख भी पाया जाता है। किन्तु जिन अभिलेखों में गण, शाखा और कुल, तीनों के ही स्पष्ट नाम साथ-साथ मिलते हैं वे निश्चित रूप में कुषण कालीन, अर्थात् सम्राट कनिष्क चतुर्थ राज्य वर्ष (सन ८२ ई०) के उपरान्त के हैं।

इसमें प्रतीत होता है कि उससे पूर्व के मथुरा के जैन साधुओं में गण-गच्छ-शाखा-कुल आदि का विशेष मोह नहीं था। यह भेद उनकी उदार एवं समन्वयात्मक विचारधारा के अनुकूल नहीं थे, भेदभाव के ही पोषक थे। वह सब तो मात्र जैन साधु थे और मथुरा के थे। इस प्रत्यक्ष तथ्य की घोषणा करना भी निरर्थक था। भेदभावों को प्रोत्साहन या प्रश्रय देने वाले दक्षिणी एवं पश्चिमी, दोनों ही दलों से वे पृथक् थे।

किन्तु जैसे जैसे मथुरा में जैनधर्म का प्रभाव बढ़ता गया और उत्कर्ष होता गया उत्तर भारत के अन्य जैन केन्द्रों के साधुगण भी उसकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होने लगे और यहाँ आकर अपने-अपने अधिष्ठान या केन्द्र स्थापित करने लगे। उच्चनगर, वरण (मभवतया वर्गन जिसे उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर में चीन्हा जाना है, इसी का एक भाग उच्चनगर भी कहलाता था), कोल (उ० प्र० में अलीगढ़ के निकट कोल या कोइल), अहिच्छत्रा (जिला बरेली का रामनगर), मकिया (जिला फर्रुखाबाद में), माध्यमका (राजस्थान में चित्तौड़ के निकट नगरी), ब्रजनगरी, हस्तिनापुर, राठ (बगाल) इत्यादि में आकर मथुरा में स्थायी हो जाने वाले इन साधुओं को पृथक् पृथक् चीन्हने के लिए उन्हें अथवा उनकी शिष्य परम्परा को संभवतया उक्त स्थानों के नाम सहित पुकारा जाने लगा। शनैः शनैः इन साधु सघों में ये नाम रूढ़ होने लगे। और मभवतया उन सबसे स्वयं को भिन्न सूचित करने के लिए ठंठ मथुरा वाले साधुगण अपने-अपको 'स्थानिय कुल' का कहने लगे।

प्रथम शताब्दी ई० के मध्य के उपरान्त इस भेद सूचक प्रवृत्ति ने अधिक बल पकड़ा दीखता है जो अकारण नहीं था। इस समय के लगभग तक दक्षिणापथ के जैनाचार्यों ने अपनी परम्परा में सुरक्षित आगम ज्ञान के बहु-भाग को कसाय पाहुड, पट्खडागम, मूलाचार, कुन्दकुन्द प्रणीत पाहुड ग्रन्थों आदि के रूप में यथावत या सार रूप सकलित एवं लिपिबद्ध कर लिया था। इसमें सभवतया मथुरा का सरस्वती आन्दोलन भी पर्याप्त प्रेरक रहा था। दूसरी ओर पश्चिमी एवं मध्य भारत का साधुदल इस प्रकार आगम सकलन एवं लिपिबद्धीकरण तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रणयन का भी विरोधी ही बना हुआ था। इसी समय के लगभग एक वृद्धमुनि सम्मेलन में दक्षिणापथ के सधाध्यक्ष आचार्य अहंद्बलि ने उक्त सध को, जिसे मूलसध कहा जाने लगा था, नदि सिंह, देव, सेन, भद्र, आदि उपसधों में सगठित होने की अनुमति दे दी थी मूल सध में यह उपसधोकरण उसके कुछ पूर्व ही अस्तित्व में आ चुका होगा, तभी तो उसे उक्त सम्मेलन में मान्यता प्रदान की गई। दक्षिणापथ के साधुओं के इन दोनों कार्यों (शास्त्र लेखन एवं सध-सगठन) का ही यह परिणाम हुआ प्रतीत होता है कि वि० स० १३६ (सन् ७६ ई०) में गुजरात की बलभी नगरी में उस केन्द्र के साधु सध ने स्वयं को दक्षिणी साधु सध से पृथक् स्वतन्त्र घोषित कर दिया। या तो उन्होंने स्वयं अथवा दक्षिणी साधुओं ने उन्हें प्रायः उसी काल से श्वेताम्बराम्नायी कहना प्रारम्भ कर दिया था। सभवतया इसी की प्रतिक्रिया के रूप में महावीर निर्वाण स० ६०६ (सन् ८२ ई०) में दक्षिण के मूलसध साधुओं ने भी, विशेषकर रथवीरपुर में स्वयं को श्वेताम्बरों से भिन्न सूचित करने के लिए दिगम्बराम्नायी के नाम से घोषित कर दिया।

इस समय श्वेताम्बर संघ के नायक वज्रस्वामि के पट्टधर वज्रसेन थे जिनका निधन ६३ ई० में हुआ। इन्हीं आचार्य वज्रसेन ने नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति एवं विद्याधर

नाम के चार उपसधों की स्थापना की बताई जाती है, और कहा जाता है कि उनके शिष्य चन्द्रसूरि ने चन्द्र गच्छ को और प्रशिष्य सामन्तभद्र ने बनवासीगच्छ की स्थापना की थी। वज्रसेन के पूर्व भी—शुग-शककाल में—शायद कुछ एक गणगच्छ आदि स्थापित हो चुके थे, ऐसा कतिपय पट्टावलियों से ध्वनित होता है, किन्तु किसी भी पट्टावली में उन पूर्ववर्ती गणगच्छादि की उत्पत्ति एवं विकास का कोई इतिहास, या सक्षिप्त सूचनाएँ भी, उपलब्ध नहीं होते। मथुरा के इन शिलालेखों में अवश्य ही उनमें से कुछ के नाम प्राप्त होते हैं।

वस्तुतः प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध में जैन संसार में घटित होने वाली उपरोक्त क्रान्तिकारी घटनाओं के प्रभाव से मथुरा के जैनी अछूते नहीं रह सकते थे। क्या आश्चर्य है जो उन्होंने भी अपने गण-शाखा-कुल आदि उन नामों के आधार पर जिन्हें वे सुविधा के लिए विशिष्ट स्थानों से आने वाले का विशिष्ट गुरु की परम्परा में होने वाले साधुओं को चीन्हने के लिये सौ दो सौ वर्ष से ही प्रयुक्त करना प्रारम्भ कर चुके थे अब (प्रथम शती ई० के उत्तरार्ध में) ही विधिवत व्यवस्थित एवं सगठित किया हो।

मथुरा के इन शिलालेखों में तीन गण—कोटिय, वारण और उद्देहकिय; ६ शाखा—वइरी, उच्चैनगरी, विद्याधरी, मज्झमिका, हरितमालगढीय, पचनागरी, वज्रनागरी, साकिष्य और पोतपुत्रिका, तथा १४ कुल—स्थानीय, ब्रह्मदासीय, चेडिय (चेतिय), वच्छलिका, सतिनिक, पेटिवामिक, हट्टिकिय, कन्यस्त (या अय्यम्यस्त), कन्यासिका, पुष्यमित्रिय, नाडिक, मौहिक, नागभूतिय और परिधासिका—के नाम उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त दसवीं-न्यारहवीं शती ई० के तीन मूर्तिलेखों में से एक में 'भोधाय गच्छ' का और दो में (६८१ ई० और १०७७ ई० के में) श्वेताम्बर माधुर सध का उल्लेख प्राप्त होता है। १०२३ ई० में एक प्रतिमा सर्वतोभद्रिका दिगम्बर आम्नाय की भी यहाँ प्रतिष्ठित हुई थी, किन्तु उसमें किसी गण-गच्छ का उल्लेख नहीं है। 'भोधायगच्छ' का श्वेताम्बर परम्परा के ८४ गच्छों अथवा दिगम्बरों के अनेक सध-गण-गच्छों में से किसी के साथ समीकरण

१. दर्शनसार, भावसंग्रह, भद्रबाहु चरित आदि में निबद्ध दिगम्बर अनुश्रुति।

२. तपागच्छ पट्टावली, विशेषावश्यक भाष्य आदि में निबद्ध श्वेताम्बर, अनुश्रुति।

नहीं बैठता। श्वेताम्बर माथुर संघ के ये उल्लेख भी विरल हैं, अन्यत्र कहीं इस संघ का उल्लेख पाया गया नहीं जान पड़ता। दिगम्बर परम्परा के माथुर संघ की स्थापना मुनि रामयेन ने मथुरा नगर में वि० सं० ६५३ में की थी ऐसा देवमेन कृत दर्शनसार से सूचित होता है। यह तिथि कुछ सदिग्ध हो सकती है किन्तु उक्त संघ के उल्लेख मथुरा के निकटवर्ती आगरा आदि स्थानों में ११-१२वीं शती से मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं अन्यत्र भी। अतएव ऐसा लगता है कि १०वीं शती ई० के मध्य लगभग दोनों ही परम्पराओं ने मथुरा में अपने सस्थानों के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया था—प्राप्त अवशेषों से सिद्ध होता है उस काल में, प्रायः तभी निर्मित एक दिगम्बर तथा श्वेताम्बर मन्दिर ककाली टीला स्थित प्राचीन स्तूप के आस-पास विद्यमान थे। अतएव यह कहना तो कठिन है कि किसने किसका अनुकरण किया, संभव है दोनों ने सहयोग सद्भाव पूर्वक ही यह पुनरुद्धार कार्य किया हो और उसी उपलक्ष में इस कार्य का नेतृत्व करने वाले उभय सम्प्रदाय के आचार्यों में अपना-अपना माथुर संघ स्थापित किया हो। एक बात और ध्यान देने की है कि मथुरा में इसके पूर्व दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद लक्षित नहीं होता। और जबकि उसमें प्राचीन शिलालेखों से अकित (तथा लेख रहित भी) सभी जिन प्रतिमाएँ पूर्णतया दिगम्बर हैं, उन लेखों में उल्लिखित उपरोक्त गण-गच्छादि में से अनेक का उल्लेख केवल श्वेताम्बर अनुश्रुतियों में ही प्राप्त होता है, किसी दिगम्बर ग्रन्थ में अभी तक नहीं हुआ है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की पट्टावालियों-गुर्वावालियों आदि में कल्पसूत्र धेरावली और नदीसूत्र पट्टावली ही सर्वप्राचीन मानी जाती है। इन दोनों के मूल रचयिता श्वेताम्बर आगमों के सकलन एवं पुस्तकारूढ़ कर्त्ता देवद्विगणी क्षमाश्रमण (४५३-४६६ ई०) बताये जाते हैं। कतिपय निर्युक्तियों (छठी शती ई०), वसुदेव हिडि (६-७वीं शती), हरिभद्रिय विशेषावश्यक भाष्य (८वीं शती ई०) भद्रेश्वर की कथावली (११वीं शती) और

हेमचन्द्राचार्य के परिशिष्टपर्व (१२वीं शती) में उक्त दोनों पट्टावलियों में उल्लिखित प्राचीन गुरुओं के संबन्ध में अनेक सूचनाएँ एवं कथाएँ मिलती हैं, और तेरहवीं से लेकर १६वीं शती तक लिखी जाने वाली जो दर्जनों पट्टावलियाँ उपलब्ध हैं उनमें महावीर निर्वाण से लेकर आगमों की संकलना तक, लगभग १००० वर्ष के बीच होने वाले श्वेताम्बर परम्परा सम्मत गुरुओं के विवरण उन दोनों पट्टावलियों के आधार पर ही निबद्ध हुए हैं। इन प्राचीन पट्टावलियों (धेरावलियों) की प्राचीनतम उपलब्ध प्रतियों में १२वीं शती से अधिक प्राचीन नहीं प्राप्त होती, अतएव उनके आधार पर उनके मूलपाठ की वास्तविक प्राचीनता निश्चित करना भी कठिन है। यह संभव है कि वे देवद्विगणी के उपरान्त भी कई बार परिवर्तित, संशोधित, संशोधित आदि हुई हों।

जिस रूप में भी ये उपलब्ध हैं, नन्दी सूत्र की पट्टावली में तो गण-शाखा-कुलो का कोई उल्लेख ही नहीं है। कल्पसूत्र धेरावली के दो संस्करण प्राप्त होते हैं—एक 'संक्षिप्त वाचना', दूसरी 'विस्तार वाचना'। संक्षिप्त वाचना में भगवान् महावीर ११ गणधरो के नाम और गोत्र तथा उनके उपरान्त सुधर्म से लेकर वज्रसेन पयन्त १५ धेरो के नाम और गोत्र अनुक्रम से दिये हैं। उसमें ६वें नम्बर पर सुहस्ति के शिष्य युगल-सुस्थित और सुप्रतिबद्ध का नाम दिया है और उनका समुच्चय विशेषण 'कोडिय काकदण' बताया है। इन दोनों का धेर पद स वत रहा सूचित होता है। अंतिम धेर वज्रसेन के चार शिष्यों—नाइल, पोमिल, जयन्त और तापस से नाइली, पोमिला, जयन्ती और तपस्वी नामक चार शाखाओं के चल निकलने का निर्देश करके यह पट्टावली समाप्त हो जाती है। किन्तु इसके उपरान्त 'विस्तार वाचना' में उपरोक्त १५ धेरो के सम्बन्ध में कतिपय ग्रन्थ सूचनाएँ भी दी हैं जिनमें प्राचीन गण, शाखा, कुलो आदि की उत्पत्ति की कथाएँ उल्लेखनीय एवं इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण हैं।

(क्रमशः)

जैन समाज के लिए तीन सुझाव

आचार्य श्री तुलसी

विगत दो ही दशको में हम सबने सामाजिक और राष्ट्रीय स्थितियों में इतने विराट परिवर्तन देख लिए हैं, जितने हमारे पूर्वज शताब्दियों और सहस्राब्दियों में देखा करते थे। शासन-तन्त्र बदला है, अर्थ-तन्त्र बदला है व नाना सामाजिक मूल्य बदले हैं। वर्तमान स्थितियों में उस वर्ग व उस समाज के लिए स्वाभिमान का जीवन जी लेना कठिन है, जो केवल अपने ढर्रे पर ही अवलम्बित रहता है।

आज मजदूर, किसान व हरिजन सभी अपने संगठन के बल पर आगे बढ़ रहे हैं, अपने आचार-विचार व रहन-सहन की पद्धतियाँ बदल रहे हैं और विभिन्न क्षेत्रों में प्रभाव अर्जित कर रहे हैं। जैन समाज तो सदा से ही दूरदर्शी समाज रहा है। देश-काल के साथ उसने सदा ही सामंजस्य बैठाया है। वह जितना अर्थ-प्रधान है उतना बुद्धि-प्रधान भी है। इस समाज के आचार्य व मुनि भी युग-द्रष्टा रहे हैं। देश-काल के अनुरूप अनुसूचन वे सदा से ही समाज को देते रहे हैं। नाना वादों व नाना भौतिक विचार-सरणियों से सकुल वर्तमान युग में उनका दायित्व और बढ़ जाता है कि वे यथासमय यथोचित मार्ग-दर्शन समाज का करें। वर्तमान युग में जीने की और विकासोन्मुख बने रहने की पहली शर्त है—संगठन। जैन समाज अनेक शाखाओं व उप-शाखाओं में बँटा है। बीसपथ और तेरापथ—ये दो उपशाखाएँ दिगम्बर समाज की हैं तथा मूर्तिपूजक, स्थानकवासी व तेरापथ—ये तीन उपशाखाएँ श्वेताम्बर समाज की हैं। कुछ अन्य भी अवान्तर शाखाएँ होंगी। सभी शाखा-प्रशाखाओं में मौलिक भेद बहुत कम है। जो है उसे और कम करना, आज हमारा सबका कर्तव्य है। इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए मैं वि० स० २०२१ तथा वीर निर्वाण स० २४६१ के वीर निर्वाण दिवस-दीपावली पर्व पर समग्र जैन समाज के सम्मुख तीन सुझाव प्रस्तुत करता हूँ।

संवत्सरी पर्व

जैन-समाज की भावात्मक एकता के लिए अत्यन्त अपेक्षित है कि समग्र जैन समाज का संवत्सरी पर्व एक हो। इससे जैन-समाज में एक नया उल्लास व नया बल आयेगा, ऐसा विश्वास है। विगत के इतिहास को देखते हुए यह कार्य कठिन लगता है, किन्तु वर्तमान की अपेक्षाओं को समझते हुए हमें इसे सरल बना लेना चाहिए। आग्रह हर समन्वय को कठिन बनाता है और उदारता उसे सरल। श्वेताम्बरों में संवत्सरी सम्बन्धी मतभेद चतुर्थी या पंचमी बस इतने में समा जाते हैं। दिगम्बरों में दश लाक्षणिक उम्मी पंचमी से प्रारम्भ होता है। श्वेताम्बर परम्पराएँ यदि चतुर्थी या पंचमी के विकल्प से केवल पंचमी के विकल्प को अपना लेती हैं तो वे परस्पर में एक हो ही जाती हैं साथ ही दिगम्बर समाज को भी वे एक-सूत्रता में जोड़ लेती हैं। उस स्थिति में दिगम्बर समाज का भी नैतिक दायित्व हो ही जाता है कि वह अपने दश लाक्षणिक पर्व के अन्तिम दिन की तरह आदि को भी आध्यात्मिक महत्व देकर जैन एकता की कड़ी को और सुदृढ़ करे।

इस परिकल्पना में न किसी परम्परा की न्यूनता है, न किसी परम्परा विशेष की अधिकता। यत् किञ्चित् सभी को बदलना पड़ता है और बहुत कुछ सभी का सुरक्षित रह जाता है। प्रश्न रहता है चिरतन परम्पराओं में यत्किञ्चित् भी परिवर्तन करने का हमारा अधिकार रहता है क्या? इसका उत्तर परम्पराएँ हाँ स्वयं दे देती हैं। इतिहास ऐसी अनगिनत परम्पराएँ हमारे सामन रखता है जो देश-काल के साथ बनती हैं और देश-काल के साथ बदलती रही हैं। शास्त्रीय परम्पराओं की भी समय-समय पर नवीन व्याख्याएँ बनी हैं। एकान्तवादिता से हटकर सोचने से ऐसे अनेक मार्ग सहज ही मिल सकते हैं जो शास्त्र और परम्परा से अवरोध रहकर हमें रास्ता दे सकते हैं।

अखिल भारतीय जैन प्रतिनिधि संगठन

समग्र जैन समाज के प्रतिनिधित्व के लिए एक सुदृढ़ अखिल भारतीय जैन प्रतिनिधि मण्डल की नितांत अपेक्षा है। सभी प्रमुख सम्प्रदायों अथवा सम्प्रदायों की प्रतिनिधि संस्थाओं द्वारा प्रेषित प्रतिनिधि संयुक्त रूप से जैनधर्म के सार्वभौम हितों के संरक्षण व विकास पर विचार कर सके व तदनुकूल प्रवृत्त हो सके, यह उस मण्डल का ध्येय हो। संयुक्त राष्ट्रसंघ इस बात का उदाहरण है कि परम्परा विरोधी राष्ट्र भी एक मण्डल में आ सकते हैं तथा मानव-हित की अनेक प्रवृत्तियाँ संयुक्त रूप से वे चला सकते हैं। जैन शाखा-प्रशाखाओं के तो मतभेद ही नगण्य हैं। स्याद्वाद सबका आधार है। जैनत्व के संरक्षण और विकास में सबका रस है। ऐसी स्थिति में यह जगत् भी अमम्भव नहीं लगता कि ऐसा सर्वमान्य मण्डल जैन समाज बना ही नहीं सकता व उसकी उपयोगिता से लाभ उठा ही नहीं सकता। अपेक्षा है कुछ ही सक्रिय लोगों के आगे बढ़ कर कदम उठाने की।

भगवान महावीर की २५वीं निर्वाण-शताब्दी

यह सुविदित है कि आज से ठीक १० वर्ष बाद महावीर-निर्वाण के २५०० वर्ष पूर्ण हो रहे हैं। सभी जैन परम्पराएँ एतद् विषयक काल-गणना में एक मत हैं। जैनधर्म की प्रभावना का यह सुन्दर अवसर है। बौद्धों ने मिहली परम्परा के ग्रन्थ 'महावश' की काल-गणना के अनुसार कुछ ही वर्ष पूर्व बुद्ध निर्वाण के २५०० वर्ष उत्प्रेक्षणीय समारोह से मनाये थे। सब बौद्ध परम्पराएँ महावश की इस काल गणना से सहमत नहीं थी, फिर भी उस समारोह को अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने के लिए साथ दिया। विश्व के कोने-कोने में एक साथ बुद्ध का सन्देश प्रतिध्वनित हुआ। जैन समाज के सामने भी ऐसा ही अवसर है। काल-गणना में जिस प्रकार समस्त जैन-मान्यताएँ एक हैं, उसी प्रकार यदि समग्र जैन समाज

संगठित होकर २५वीं महावीर-निर्वाण शताब्दी विशेषकर त्याग और तपस्या से मनाएँ तो सचमुच ही जैनधर्म को एक नव-जावन मिल सकता है। उसका गौरवपूर्ण इतिहास, उसका स्याद्वाद मूलक दर्शन व अहिंसा मूलक आचार एक साथ विश्व के सामने आ सकता है। त्याग, तपस्या व धर्म-प्रभावना मूलक आयोजनों से जैन समाज कृतार्थ हो सकता है। अपेक्षा है व्यवस्थित व योजनाबद्ध उपक्रम की।

इस समारोह की सफलता के लिए यथासमय अखिल भारतीय जैन प्रतिनिधि मण्डल बनने की तथा सवत्सरी पर्व भी तब तक हमारा एक होने की अपेक्षा है। इस स्थिति में हम सभी को अविलम्ब इस दिशा में दत्तचित्त हो जाना चाहिए।

संक्षेप में मैंने ये तीन बातें जैन समाज को सुझाई हैं। आशा है, सभी शाखा-प्रशाखाओं के आचार्य, उपाध्याय, मुनि तथा प्रतिनिधि मण्डल इन पर सहृदयता से विचार करेंगे। इस अपेक्षाशील युग में भी यदि जैन समाज ने कुछ करके नहीं बताया तो आने वाली पीढ़ी वर्तमान पीढ़ी की अकर्मण्यता व अदूरदर्शिता पर अनुताप करेगी।

जैन शिखर सम्मेलन

उक्त सारी परि कल्पनाओं को साकार रूप देने के लिए समग्र जैन आचार्यों व प्रभावशाली मुनियों का एक शिखर-सम्मेलन शीघ्र ही आयोजित होने की अपेक्षा है, जिसमें सभी समाजों के अग्रणी श्रावकों का सम्मिलित होना उचित होगा। यह सम्मेलन कहाँ हो, कब हो, और कैसे हो, ये सभी प्रश्न विचारणीय हैं। अपेक्षा है, सभी मुनि व अग्रणी श्रावक इस विषय पर विचार करें व अपने-अपने मुझाव प्रस्तुत करें। इस प्रकार का शिखर सम्मेलन हम सब मिलकर कर सके तो जैन-शासन के लिए सचमुच ही वह एक स्वर्णिम घटना होगी।

दशवैकालिक के चार शोध-टिप्पण

मुनिश्री नथमल जी

दशवैकालिक सूत्र में अनेक शब्द ऐसे हैं जो प्राचीन परम्पराओं और संस्कृति के द्योतक हैं। हम यहाँ 'धूम-नेत्रि', 'हृड', 'सिणाण' और 'पद्मग' इन चार शब्दों की मीमांसा प्रस्तुत करते हैं। इसका आधार अगस्त्यसिंह स्थविर तथा जिनदास चूणि द्वय और हरिभद्रसूरि की टीका है।

१. धूम-नेत्र (धूम-नेत्रि)

शिर-रोग से बचने के लिए धूम-पान करना अथवा धूम-पान की शलाका रखना अथवा शरीर व वस्त्र को धूप खेना—यह अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या है^१। जो क्रमशः धूम, धूम-नेत्र और धूपन के आधार पर हुई है।

धूम-नेत्र का निषेध उत्तराध्ययन में भी मिलता है^२। यद्यपि टीकाकारों ने धूम और नेत्र को पृथक् मानकर व्याख्या की है पर वह अभ्रान्त नहीं है। नेत्र को पृथक् मानने के कारण उन्हें उसका अर्थ अजन करना पड़ा^३, जो कि बलात् लाया हुआ-सा लगता है।

१. अगस्त्य चूणि ।

धूम पिबति 'मा सिररोगातिणो भविस्सन्ति'
आरोगपडिकम्म, अहवा "धूमणे" ति धूमपानसलागा,
धूवेत्ति वा अप्पाणं वत्थाणि वा ।

२. उत्तराध्ययन, १५।८

.....वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं ।

आउरे सरणं तिगिच्छिय च त परिचाय परिव्वए स भिक्खू ॥

३. उत्तराध्ययन १५।८ नेमिचन्द्रिया वृत्ति, पत्र २१७ ।

नेत्तं ति नेत्रशब्देन नेत्तसंस्कारकमिह समीराजनादि गृह्यते ।

जिनदासमहत्तर के अनुसार रोग की आशंका व शोक आदि से बचने के लिए अथवा मानसिक आह्लाद के लिए धूप का प्रयोग किया जाता था^४।

निशीथ में अन्य तीर्थिक और गृहस्थ के द्वारा घर पर लगे धूम को उतरवाने वाले भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है^५। भाष्यकार के अनुसार दद्रु आदि की औषधि के रूप में धूम का प्रयोग होता था^६।

यह उल्लेख गृह-धूम के लिए है किन्तु अनाचार के प्रकरण में जो धूमनेत्र (धूम-पान की नली) का उल्लेख है, उसका सम्बन्ध चरकोक्त वैरेचनिक, स्नेहिक और प्रायोगिक धूम से है। प्रति दिन धूम-पानार्थ उपयुक्त होनेवाली वृत्ति को

४. जिनदास चूणि पृ० ११५

धूवेत्ति नाम आरोग्यपडिकम्म करेइ धूमपि, इमाए मोगाडणो न भविस्सति, अहवा अन्न वत्थाणि वा धवेई ।

५. निशीथ १।५७, जे भिक्खू गिहधूम अण्णउत्थिएण वा गारित्थिएण वा परिसाडावेत्तं वा सातिज्जति ।

६. (क) निशीथ भाष्य गाथा ७६८

घरधूमोसहकज्जे, ददु किडिभेदकच्छुअगतादी ।

घरधूमम्मि णिबधो, ताज्जातिअ सूयणट्ठाए ॥

(ख) चरकसंहिता सूत्र ३।४-६, पृ० २६

कुष्ठ, दद्रु, भगन्दर, अर्श पामा आदि रोगों के नाश के लिए कई योग बतलाए हैं। उनमें छठे योग में और वस्तुओं के साथ गृह-धूम भी है—

मन शीलाले गृहधूम एला काशीसमुस्तार्जुनरोध्र-सर्जा ॥४॥

कुष्ठानि कृच्छाणि नवं किलासं सुरेन्द्रलुप्त किटिमं सदद्रु ।

भगन्दराशस्यपची सपामां हन्दुः प्रयुक्तास्त्वचिरान्न-राणाम ॥६॥

प्रायोगिकी वृत्ति, स्नेहनाथं उपयुक्त होनेवाली वृत्ति को स्नेहिकी-वृत्ति और दोष-विवेचन के लिए उपयुक्त होने वाली वृत्ति को वैरेचनिकी वृत्ति कहा जाता है। प्रायोगिकी वृत्ति के पान की विधि इस प्रकार बतलाई गई है—घी आदि स्नेह से चुपड कर वृत्ति का एक पार्श्व धूम-नेत्र पर लगाए और दूसरे पार्श्व पर आग लगाए। इस हितकर प्रायोगिकी-वृत्ति द्वारा धूम-पान करै१।

उत्तराध्ययन के व्याख्याकारों ने धूम को मेनसिल आदि से सम्बन्धित माना है२। चरक में मेनसिल आदि के धूम को शिरो-विवेचन करने वाला माना गया है३।

धूम-नेत्र कैसा होना चाहिए, किसका होना चाहिए और कितना बड़ा होना चाहिए तथा धूम-पान क्यों और कब करना चाहिए, इनका पूरा विवरण प्रस्तुत प्रकरण में है। सुश्रुत के चिकित्सा-स्थान के चालीसवें अध्याय में धूम का विषद वर्णन है। वहाँ धूम के पाँच प्रकार बतलाए हैं।

चरकोक्त तीन प्रकारों के अतिरिक्त 'सधन' और 'वामनीय' ये दो और हैं।

सूत्रकृताग में धूपन और धूप-पान दोनों का निषेध है४। शिलाक सूरि ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि मुनि शरीर और वस्त्र को धूप न दे और खासी आदि को मिटाने के लिए योग-वृत्ति-निष्पादित धूम न पीए५।

सूत्रकार ने धूप के अर्थ में 'धूवण' का प्रयोग किया है और सर्वनाम के द्वारा धूप के अर्थ में उसी को ग्रहण

१. चरक सूत्रस्थानम् ५।२१

शुष्कां निगर्भा ता वृत्ति धमनेत्रापिता नरः।

स्नेहाक्तामग्निसप्लुष्टा पिवेत्प्रायोगिकी सुखाम् ॥

२. उत्तराध्ययन १५।८ नेमिचन्द्रिया वृत्ति, पत्र २१७
धूम—मनः शिलादिसम्बन्धि।

३. चरक सूत्रस्थानम् ५।२३

श्वेता जोतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला।

गन्धाश्चागुरुष्वपत्राद्या धूमः शीर्षविवेचनम् ॥

४. (क) सूत्रकृताग २।१।१५ पत्र २६७

णो धूवणे, णो तं परिआविण्ज्जा।

५. (ख) वही, २।४।६७, पत्र ३७०

णो धूवणित्तं पिआदते।

किया है। इससे जान पड़ता है कि तात्कालिक साहित्य में धूप और धूम दोनों के लिए 'धूवण' शब्द का प्रयोग प्रचलित था। हरिभद्र सूरि ने भी इसका उल्लेख किया है।

प्रस्तुत श्लोक में केवल 'धूवण' शब्द का ही प्रयोग होता तो इसके धूप और धूम ये दोनों ही अर्थ हो जाते, किन्तु यहाँ 'धूप-णेत्ति' शब्द का प्रयोग है इसलिए इसका सम्बन्ध धूम-पान से ही होना चाहिए। वमन, विरेचन और वस्तिकर्म के साथ 'धूम-नेत्र' का निकट सम्बन्ध है६। इसलिए प्रकरण की दृष्टि से भी 'धूपन' की अपेक्षा 'धूम-नेत्र' अधिक उपयुक्त है।

अगस्त्यसिंह स्वविर ने 'धूवणेत्ति' पाठ को मूल माना है७ और 'धूमणेत्ति' को पाठान्तर। हरिभद्र सूरि ने मूल पाठ 'धूवणेत्ति' मानकर उसका संस्कृत रूप धूपन किया है और मतान्तर का उल्लेख करते हुए उन्होंने इसका अर्थ धूम-पान भी किया है८। अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर चूणकारों के अनुसार मुख्य अर्थ धूम-पान है और धूप-खेना गौण अर्थ है। टीकाकार के अभिमत में धूप-खेना मुख्य अर्थ है और धूम-पान गौण। इस स्थिति में मूलपाठ का निश्चय करना कठिन होता है, किन्तु इसके साथ जुड़े हुए 'इत्ति' शब्द की अर्थ-हीनता और उत्तराध्ययन में प्रयुक्त 'धूमणेत्त' के आधार पर ऐसा लगता है कि मूल- 'धूमणत्त' या 'धूवणेत्त' रहा है। बाद में प्रतिलिपि होते-होते यह 'धूवणे' ति के रूप में बदल गया—ऐसा सम्भव है। प्राकृत के लिए अतन्त्र होते हैं, इसलिए सम्भव है कि यह 'धूवणेत्ति' या 'धूमणेत्ति' भी रहा हो।

बौद्ध-भिक्षु धूम पान करने लगे तब महात्मा बुद्ध ने उन्हें धूम-नेत्र की अनुमति दी९। फिर भिक्षु सुवर्ण, रोप्य

६. सूत्रकृताङ्ग १।१।५, टीका पत्र २६६

तथा नो शरीरस्य स्वीयवस्त्राणा वा धूपन कुर्यात्
नापि कासाद्यपनयनार्थं धूपं योगवृत्तिनिषदितमा-
पिबेदिति।

७. चरक सूत्रस्थान ५।१७।३७

८. अगस्त्यसिंह चूणि-धूवणेत्ति सिलोगो।

९. हरिभद्रदीय टीका, पत्र ११८

धूपनमित्यात्मवस्त्रादेरनाचरितम्, प्राकृतशील्या
अनागतव्याधिनिवृत्त्ये धूमपानमित्यन्ये व्याचक्षते।

आदि के धूम-नेत्र रखने लगे । इससे पता लगता है कि भिक्षुओं और सन्यासियों में धूम पान के लिए धूम-नेत्र रखने की प्रथा दी, किन्तु भगवान महावीर ने अपने निग्रन्थों में इसे रखने की अनुमति नहीं दी ।

२ हट (हडो)

सूत्रकृताङ्ग में 'हड' को 'उदक-संभव' वनस्पति कहा गया है । वहाँ उसका उल्लेख उदक, अवग, पणग, सेवाल, कलम्बुग के साथ किया गया है । 'प्रज्ञापना' सूत्र में जलरुह वनस्पति के भेदों को बताते हुए उदक आदि के साथ 'हड' का उल्लेख मिलता है । इसी सूत्र में साधारण शरीरी बादर-वनस्पतिकाय के प्रकारों को बताने हुए 'हड' वनस्पति का नाम आया है । आचाराङ्ग निर्युक्ति में अनन्त-जीव वनस्पति के उदाहरण देने हुए सेवाल, कथ, भाणिका, अवक, पणक, किण्णव आदि के साथ 'हड' का नामोल्लेख है । इन समान लेखों से मालूम होता है कि

१. देखो पृष्ठ ६३, पाद-टिप्पण नं० ८
२. विनयपिटक. महावग्ग ८।२।७ :
भिक्षू उच्चावचानि धूमनेतानि—सोवण्णमय रूपिमय ।
३. सूत्रकृताङ्ग २।३।५४, पत्र ३४६
अहावर पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेण तत्थवुक्कमा णाणा-विहजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए—
विउट्टन्ति
४. प्रज्ञापना १।४५, पृष्ठ १०५
से कि तं जलरुहा ?, जलरुहा अणेश विहा पन्नत्ता ।
तजहा—उदए, अवए, पणए, सेवाले, कलबुया, हडेय ।
५. वही, १।४५, पृष्ठ १०८, १०९
से कि तं साहारणसरीरबादरवणस्स इकाइया ?
साहारणसरीरबादरवणस्स इकाइया अणोगविहा पन्नत्ता । तजहा—किमिरासि भट्ठमुत्था णागलई पेलुगा इय । किण्हे पउले य हडे हरतणुया चैव लोयाणी ।
६. आचाराङ्ग निर्युक्ति, गाथा १४१, पृष्ठ ५४
सेवालकथभाणियअवए पणए य किनए य हडे ।
एए अणन्तजीवा भणिया अण्णे लोयाणी ॥

'हड' वनस्पति 'हड' नाम से भी जानी जाती थी ।

हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ एक प्रकार की अबद्धमूल वनस्पति किया है । जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ ब्रह्म, तालाब आदि में होने वाली एक प्रकार की छिन्नमूल वनस्पति किया है । इसमें पता चलता है कि 'हड' बिना मूल की जलीय वनस्पति है ।

सुश्रुत में मेवाल के साथ 'हट' तृण पद्मपत्र आदि का उल्लेख है । इसमें पता चलता है कि संस्कृत में 'हड' का नाम 'हट' प्रचलित रहा । यही हट से आच्छादित जल को दूषित माना है । इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि 'हड' वनस्पति जल को आच्छादित कर रही है । 'हड' को संस्कृत में 'हट' भी कहा गया है ।

'हड' वनस्पति का अर्थ कई अनुवादों में घास ११ अथवा वृक्ष १२ किया गया है । पर उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि

७. हरिभद्रीय टीका, पत्र ६७
अबद्धमूलो वनस्पति विशेष ।
८. जिनदास चूणि, पृष्ठ ८६
हडो णाम वणस्सड्विसेमो, सो दहनलागादिष् छिण्ण-मूलो भवति ।
९. सुश्रुत (सूत्रस्थान) ४५।७
तत्र यत् पकशैवालहटतृणापद्मपत्रप्रभृतिभिरवच्छन्न शशिसूय्यकिरणानिलैर्नाभिजुष्ट गन्धवर्णा मोपमृष्टञ्च तादव्यापन्नमिति विद्यात् ।
१०. आचाराङ्ग निर्युक्ति, गाथा १४१, पत्र ५४
सेवालकथभाणिका वकपनककिण्वहठादयो नन्तजीवा गदिता ।
११. (क) Das. (का० वा० अम्यङ्कर) नोट्स, पृ० १३
The writer of the Vritti explains it as a kind of grass which leans before every breeze that comes from any direction.
(ख) समीसाजनो उपदेश (गो०जी० पटेल) पृ० १६
ऊंडां मूल न होवाने कारणे वायुथी ग्राम तेम फेकाता 'हड' नामना घास— ।
१२. दशवैकालिक (जी० बेलामाई), पत्र ६
हड नामा वृक्ष समुद्रने कीनारे होय छे । तेनुं मूल बराबर होतू नथी, अने माथे भार धरौ होय छे अने समुद्रने कीनारे पवननु जोर धणु होवाथी ते वृक्ष उखडीने समुद्रमा पडे अने त्यां हेराफेरा कर्या करे ।

ये दोनों अर्थ अशुद्ध है।

‘हट’ का अर्थ जलकुम्भी किया गया है। इसकी पत्तिया बहुत बड़ी, कड़ी और मोटी होती है। ऊपर की सतह मोम जैसी चिकनी होती है। इसलिए पानी में डूबने की अपेक्षा यह आसानी से तैरती रहती है। जल-कुम्भी के आठ पर्यायवाची नाम उपलब्ध है२।

३. गन्ध-चूर्ण (सिणाणं)

दशबैकालिक ६।६३ में ‘सिणाणं’ शब्द आया है। उसका अर्थ गन्ध-चूर्ण है। टीकाकार ने ‘स्नान’ को उसके प्रसिद्ध अर्थ अग-प्रक्षालन में ग्रहण किया है३। वह सही नहीं है। चूर्णद्वय में इसकी विशेष जानकारी नहीं मिलती फिर भी उससे यह स्पष्ट है कि यह कोई उद्धर्तनीय गन्ध द्रव्य है४। उमास्वाति ने इसको घ्राणेन्द्रिय का विषय बतलाया है५। उससे भी इसका गन्ध-द्रव्य होना प्रमाणित है। मोनियर-मोनियर विलियम्स ने भी अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोष में इसका एक अर्थ सुगन्धित चूर्ण किया है६।

१. सुश्रुत (सूत्रस्थान) ४।५।७, पाद-टिप्पणी न० १ में उद्धृत अश का अर्थ—

हट जलकुम्भिका, अभूमिलग्नमूलस्तृणविशेषः इत्येके।

२. शालिग्राम निघण्टु भूषण, पृष्ठ १२३०
कुम्भिका वारिपर्णी च, वारिमूली खमूलिका।
आकाशमूली कुतूणं, कुमुदा जलवल्कलम् ॥

३. हारिभद्रीय टीका, पत्र २०६
‘स्नान’ पूर्वोक्तम्।

४. अगस्त्य चूर्ण
सिणाणं सामायिगं उवण्हाण अथवा गन्धवट्टवो।

५. (क) प्रशमरति प्रकरण ४३
स्नानाडशरसगवर्तिकवर्णकधूपधिवासपटवासैः।
गन्धभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति ॥
(ख) प्रशमरति प्रकरण ४३
स्नानामंगलप्रक्षालनं चूर्णम्।

6. A Sanskrit English Dictionary. Page 1266: Anything used in ablution (E. G. water, Perfumed Powder)

४. पद्म-केसर (पउमगाणि)

अगस्त्य चूर्ण ७ के अनुसार ‘पद्मक’ का अर्थ ‘पद्म-केसर’ अथवा कुकुम, टीकाकार के अनुसार उसका अर्थ कुकुम और केसर तथा जिनदास चूर्ण ६ के अनुसार कुकुम है। सर मोनियर-मोनियर विलियम्स ने भी इसका अर्थ एक विशेष सुगन्धित द्रव्य किया है१०।

पद्मक का प्रयोग महाभारत में मिलता है—तुलाधार ने जाजलि से कहा “मैंने दूसरो के द्वारा काटे गये काठ और घास-फूस से यह घर तैयार किया है। अलयतक (वृक्ष विशेष की छाल), पद्मक (पद्माख), तुलकाष्ठ तथा चन्दनादि गन्ध-द्रव्य एवं छोटी-बड़ी वस्तुओं को मैं दूसरो से खरीद कर बेचता हूँ११।” सुश्रुत में भी इसका प्रयोग हुआ है—न्यग्रोधादि गण में कहे आम्न से लेकर नन्दी वृक्ष पर्यन्त वृक्ष की त्वचा, शंख, लाल चन्दन, मुलैहठी, कमान, गैरिक, अजन (सुरमा), मंजीठ, कमलनाल, पद्माख—इनको बारीक पीस कर, दूध में धोल कर, शर्करा मधु मिला कर, भली प्रकार छानकर ठण्डा करके जलन अनुभव करते रोगी को बस्ति देवे१२।

७. अगस्त्य चूर्ण

‘पउम’ केसर कुकुम वा

८. हारिभद्रीय टीका, पत्र २०६
पद्मकानि च कुकुमकेसराणि।

९. जिनदास चूर्ण, पृष्ठ २३२
पउम कुकुम भण्ड ॥

10. A Sanskrit English Dictionary. Page, 584. Padmaka—A Particular Substance.

११. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६२, श्लोक ७
परिच्छिन्नेः काष्ठतृणमयेद शरण कृतम्।
अलक्त तुङ्ग गन्धाश्चाच्चावचास्तथा ॥

१२. सुश्रुत, उत्तर भाग ३६, १४८
आमूदीना त्वचं शंख चन्दनामलकोत्पलैः ॥
गौरिकांजनमंजिष्ठामृणालान्यथ पद्मकम्।
श्लक्ष्णापिष्टं तु पयसा शर्करामधुसयुतम् ॥

नेमिनाह चरिउ

श्री अग्ररचन्व नाहटा

उत्तर भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं की जननी अपभ्रंश भाषा में ८वीं शताब्दी से लेकर संवत् १७०० तक में जो विशाल साहित्य का सृजन हुआ, उसमें कतिपय सिद्धों तथा 'सन्देश रासक' के अतिरिक्त जितना भी साहित्य है वह सभी जैन विद्वानों की रचना है। श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों सम्प्रदाय के कवियों ने विविध प्रकार का और बहुत बड़ा साहित्य अपभ्रंश में रचा है। उसमें से दि० अपभ्रंश साहित्य की जानकारी तो काफी प्रकाश में आ चुकी है; पर श्वेताम्बर अपभ्रंश साहित्य की जानकारी बहुत ही थोड़ी प्रगट हो सकी है। क्योंकि कुछ रचनाएँ तो प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थों में सम्मिलित हैं और बहुत-सी रचनाएँ अब भी अप्रकाशित अवस्था में ही पड़ी हैं। उन रचनाओं का इतना अधिक प्रचार भी नहीं हुआ, इसलिए दि० अपभ्रंश रचनाओं की तरह उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी अधिक नहीं मिलती। महत्वपूर्ण रचनाओं की भी एक-दो प्रतियाँ ही किसी भंडार में प्राप्त हैं, उदाहरणार्थ प्रस्तुत लेख में श्वे० अपभ्रंश साहित्य के सबसे बड़े काव्य का सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है। इसकी एक प्राचीनतम ताड़-पत्रीय प्रति जैसलमेर भण्डार में है। इसी तरह 'विलास-वई-कहा' नामक बहुत ही सुन्दर कथा-ग्रन्थ की २ ताड़-पत्रीय प्रतियाँ भी जैसलमेर भण्डार में ही हैं। 'सयम मजरी टीका' की भी एकमात्र प्रति भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना में है। इसी तरह जिन-प्रभसूरि की कई अपभ्रंश रचनाएँ हैं पर उनकी ताड़पत्रीय प्रतियाँ केवल पाटण के जैन भण्डार में ही प्राप्त हैं। दि० अपभ्रंश साहित्य में बड़े-बड़े काव्य अधिक हैं। श्वे० अपभ्रंश साहित्य में नेमिनाह चरिउ और 'विलास-वई-कहा' के अतिरिक्त सभी छोटी-छोटी रचनाओं के रूप में हैं। 'विलास-वई-कहा' की कथा और प्रतियों का सक्षिप्त परिचय मैंने अपने अन्य लेख में दिया है, जो उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से प्रकाशित

'त्रिपथगा' नामक पत्रिका में छपने भेजा हुआ है। इस काव्य का परिमाण ३६२० श्लोक का है जब कि प्रस्तुत लेख में जिस 'नेमिनाह चरिउ' का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है उसका परिमाण ८०३२ श्लोक का है। अर्थात् 'विलास वई कहा' से दुगुनी से भी अधिक है। रायपुर के डा० देवेन्द्रकुमार जैन को मैंने 'विलासवई कहा' की प्रतिलिपि अहमदाबाद से प्राप्त करने की सूचना दी थी। तदनुसार उन्होंने उसको मगाकर पढ़ा तो उनका कहना है कि समूचे अपभ्रंश कथा साहित्य में 'विलासवई कहा' सबसे सुन्दर है। उन्होंने इस कथा का विशेष परिचय अपने शोध प्रबन्ध में दिया है।

नेमिनाह चरिउ बड़गच्छ के श्रीचन्द्र सूरि के शिष्य हरिभद्र सूरि की रचना है। इसका सर्वप्रथम परिचय डा. हरमन जाकोबी को प्राप्त हुआ था। उन्होंने उस काव्य के ३४३ रङ्गा पद्यों वाले सनतकुमार चरित को सन् १९२१ में सम्पादित करके जर्मनी से प्रकाशित किया था। खेद है कि ४३ वर्ष बीत जाने पर भी इस महत्वपूर्ण महाकाव्य के प्रकाशन की बात तो दूर पर उसको पढ़ कर आवश्यक विवरण प्रकाशित करने का भी आज तक किसी ने कष्ट नहीं उठाया, यद्यपि सन् १९२३ में प्रकाशित जैसलमेर जैन भाण्डागारीय जैन ग्रन्थानाम सूचीपत्रम् के पृष्ठ २७-२८ में इस काव्य के आदि और अन्त के कुछ पद्य भी प्रकाशित हुए थे। फिर भी अपभ्रंश साहित्य पर स्वतन्त्र शोध प्रबन्ध लिखने वाले डा० हरिवंश कोछड़ ने अपने 'अपभ्रंश साहित्य' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ २२३-२२६ में सनतकुमार चरित्र का तो परिचय दिया है पर 'नेमिनाह चरिउ' का केवल कोष्ठक में नामोल्लेख के अतिरिक्त

१. डा० याकोबी के सन् १९१५ के लगभग उक्त प्रति राजकोट के एक मुनि के पास मिली वह प्रति वे साथ ले गये थे। अन्यत्र भी जरूर होगी।

कुछ भी विवरण नहीं दिया है। पं० परमानन्द जैन शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह' की प्रस्तावना के पृष्ठ ४१ में 'सनतकुमार चरित' के अतिरिक्त हरिभद्र के नेमिकुमार चरित का अलग से उल्लेख किया है और उसे मुद्रित लिख दिया है, पर पता नहीं उनके 'मुद्रित' का आधार क्या है। सनतकुमार चरित 'नेमिनाह चरित' का ही अंश है, सम्भव है इसकी उन्हें जानकारी न हो। इसलिए दोनों के नाम अलग-अलग दे दिये और प्रकाशित है तो सनतकुमार चरित पर उसके आगे मुद्रित न लिखकर नेमिकुमार चरित के आगे मुद्रित शब्द गलती से लिख दिया होगा या छप गया होगा।

मन् १६२६ में प्रकाशित स्व० मोहनलाल देसाई के जैन गुर्जर कवियों प्रथम भाग के प्रारम्भ में 'जूनी गुजराती नो इतिहास' ३२० पृष्ठों में दिया गया है, उसके पृष्ठ ७२ में नेमिनाह चरित का संक्षिप्त विवरण देने हुए लिखा है कि इसे डा० जाकोबी प्रकाशित करने वाले हैं। इसके प्रथम भाग में नेमि-राजमति के नव पूर्व भवों का विस्तृत वर्णन है और द्वितीय भाग में तीर्थङ्कर चरित्र के साथ-साथ श्रीकृष्ण और पाण्डवों का चरित्र भी दिया गया है। ग्रन्थ की एक ही प्रति प्राप्त होने के कारण इस महाकाव्य को देखने और पढ़ने का अवसर अब तक सुलभ न हो सका इसीलिये श्वे० अपभ्रंश साहित्य का सबसे बड़ा काव्य होने पर भी विद्वद् जगत इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ से अज्ञात-सा रहा।

'नेमिनाह चरित' के रचयिता बड़गच्छीय हरिभद्र सूरि बहुत बड़े कवि और विद्वान् थे। 'चन्द्रप्रभ चरित्र' के उल्लेखानुसार इन्होंने २४ तीर्थङ्करों के चरित्र बहुत विस्तार से और सुन्दर रूप में बनाये थे पर खेद है अब तो उनके रचित चन्द्रप्रभ, मल्लिनाथ और नेमिनाथ इन तीन तीर्थङ्करों के चरित्र ही प्राप्त हैं। इनमें से चन्द्रप्रभ चरित्र की एकमात्र ताड़-पत्रीय प्रति पाटण के जैन भंडार में है, जो सवत् १२२३ की लिखी हुई थी। उसका ग्रन्थ परिमाण में भी ८०३२ श्लोकों का ही है। पता नहीं

नेमिनाह चरित और चन्द्रप्रभ चरित्र दोनों के परिमाण में एक भी श्लोक का अन्तर कैसे नहीं आया? मल्लिनाथ चरित्र का परिमाण भी ६००० श्लोकों का जिन-रत्न कोष में बतलाया है। इस तरह उपलब्ध तीनों तीर्थङ्कर करीब २५००० श्लोक परिमित हैं। इससे श्री मोहनलाल देसाई ने अपने 'जैन साहित्य नो इतिहास' पृष्ठ २७६ में यह विचार व्यक्त किया है कि इस हिसाब से यदि २४ तीर्थङ्करों का चरित्र उन्होंने लिखा हो तो उन सब का परिमाण २ लाख श्लोक के करीब का आयेगा। चन्द्रप्रभ और मल्लिनाथ चरित्र प्राकृत भाषा में हैं और नेमिनाह चरित अपभ्रंश में। जिन-रत्न कोषादि में कहीं-कहीं इसे प्राकृत और अपभ्रंश दोनों भाषा का भी बतलाया है। अतः इसमें प्राकृत का कितना अंश है और अपभ्रंश का कितना अंश है यह तो पूरे ग्रन्थ को पढ़ने पर ही निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है पर प्रधानतया यह अपभ्रंश का ही लगता है।

इस महाकाव्य की रचना सवत् १२१६ कार्तिक १३ को अश्विनी नक्षत्र सोमवार को हुई थी। प्राग्वाट ज्ञानीय सरस्वती वरलब्ध महामति पृथ्वीपाल की अभ्यर्थना में यह काव्य ८०३२ श्लोकों में रचा गया। इन सब बातों का उल्लेख ग्रन्थ की प्रशस्ति में दिया हुआ है। उपलब्ध तीनों चरित्र ग्रन्थ पृथ्वीपाल के लिये ही रचे गये अतः उसके वंश की विस्तृत प्रशस्ति तीनों ग्रन्थों के अन्त में कवि ने दी है। जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी बहुत ही महत्वपूर्ण है। चन्द्रप्रभ चरित्र की प्राकृत भाषा की प्रशस्ति पाटण भण्डार सूची के पृष्ठ २५२ से २५६ में प्रकाशित हो चुकी है। नेमिनाह चरित की प्रशस्ति का थोड़ा-सा अंश जैसलमेर भण्डार सूची में छपा था पर अभी मुनि पुण्यविजय जी ने जैसलमेर भण्डार का उद्धार करते समय पूरी प्रशस्ति की नकल पूरी कर ली थी अतः इस लेख में प्रारम्भ के तीन पद्य तो जैसलमेर सूची से दिये जा रहे हैं और अन्त की पूरी प्रशस्ति मुनि पुण्यविजय जी सम्पादित, पर अभी तक, अप्रकाशित जैसलमेर-सूची से उद्धृत करके दी जा रही है।

१. चउवीसइ जिएपुगवसुचरियरयणाभिराम सिगारो ।
एसो विणेयदेसो जाओ हरिभद् सूरि ति ॥

जैन विद्वानों ने अनेक ऐतिहासिक साधनों का निर्माण किया है, उनमें ग्रन्थ की रचना और लेखन की प्रशस्तियाँ

कल्पसूत्र : एक सुभाव

कुमार चन्द्रसिंह दुधौरिया, कलकत्ता

सम्बत्सरी की परम पावन तिथि पर जैन समाज में आचार्य श्रीमद् भद्रबाहु द्वारा विरचित कल्पसूत्र के वाचन एवं श्रवण की परम्परा है। परन्तु कालान्तर के प्रभाव से इनके प्रति सर्वसाधारण जैन जनता के आग्रह-भाव में कमजोरी आती जा रही है, जिसे कदापि शुभ नहीं माना जा सकता है।

जैन धर्म और जैन दर्शन की वह अमूल्य निधि—कल्पसूत्र, अर्धमागधी किंवा प्राकृत भाषा में है और इसी भाषा में—जो अब मतप्राय है—इसका वाचन होता है जिसे युवा पीढ़ी समझ नहीं पाती। यही कारण है कि इस अनमोल सूत्र के प्रति नवयुवकों में उदासीनता बढ़ती जा रही है। मेरे इस कथन के पीछे इस सूत्र के वाचन एवं श्रवण की प्रचलित परिपाटी के प्रति किसी प्रकार की अनास्था अथवा अश्रद्धा का भाव कदापि नहीं है। मैं तो इस तथ्य की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि जिस काल में आचार्य भद्रबाहु महाराज ने इस महान सूत्र को विरचित किया, उस समय अर्धमागधी ही सर्वसाधारण की भाषा थी। संस्कृत को छोड़ कर अर्धमागधी में कल्पसूत्र को विरचित करने के पीछे भी आचार्य महाराज की यही भावना प्रतीत होती है कि वह इस सूत्र को सर्वसाधारण के लिए अधिकाधिक बोधगम्य एवं व्यापक बनाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने इस सूत्र की तत्कालीन लोकभाषा में रचना की। अतएव इस कल्पसूत्र का हिन्दी एवं अन्य प्रादेशिक भाषाओं में रूपान्तर करने की ओर जब हमारी दृष्टि जाती है तो वह आचार्य श्रीमद् भद्रबाहु महाराज के दृष्टिकोण एवं भावनाओं के सर्वथा अनुरूप ही है। इस अमूल्य सूत्र की सार्थकता वस्तुतः इसे अधिकाधिक सरल

एवं बोधगम्य बनाने में है।

यदि समय रहते इस अनमोल कल्पसूत्र को बोधगम्य न बनाया गया तो उसमें निहित भावनाओं एवं आदर्शों की जानकारी के अभाव में पर्युषण एवं क्षमायाचना का हमारा यह पर्व केवल एक परम्परागत रीति के रूप में ही रह जायगा और जिस महान आदर्श एवं लक्ष्य को यह अपने में सजोये हुए है वह शून्य शून्य बिलुप्त होता जायेगा।

वर्तमान वस्तुवादी युग और सभ्यता की चकाचौध में धर्म एवं धार्मिक विषयों के प्रति लोगों की आस्था, निष्ठा एवं रुचि में जो ही कमी होती जा रही है। ऐसी स्थिति में कल्पसूत्र का वाचन अर्धमागधी या प्राकृत भाषा में किया जाना नवयुवकों को उससे विमुख करने में सहायक ही होगा।

अतएव, आज समस्त जैन समाज और उनके मनीषियों, आचार्यों, विचारकों एवं शुभ-चिन्तकों से मेरा यह हार्दिक आग्रह है कि वे जमाने के तकाजे या समय की माँग से विमुख न होकर कल्पसूत्र को बोधगम्य बनाने की दिशा में ठोस एवं निश्चित कदम उठाये जिससे इस कल्याणकारी सूत्र को सर्वसाधारण के द्वारा सरलतापूर्वक हृदयगम किया जा सके। आचार्य श्रीमद् भद्रबाहु ने हम सभी पर जो असीम उपकार किया है और कल्पसूत्र जैसे महान सूत्र एवं उसमें निहित अनमोल सन्देशों को प्रदान किया है उस महान सूत्र को बोधगम्य बनाकर उनके उन दिव्य सन्देशों को जन-जन तक पहुँचा कर हम कुछ अंश तक उस उपकार के ऋण से उन्मुक्त हो सकते हैं।

जैन संघ के छः अंग

डा० विद्याधर जोहरा पुरकर, जावरा

प्राचीन समय में जैन सघ के चार भाग किये जाते थे—मुनि, आर्यिका, श्रावक व श्राविका। किन्तु जो व्यक्ति श्रावक और मुनि की सीमारेखा पर होते हैं उनका इस विभाजन में ठीक तरह से वर्णन नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ—वर्तमान समय में जो धुल्लक अथवा ऐलक पद के व्यक्ति हैं वे आचार-ग्रन्थों की दृष्टि से श्रावक हैं किन्तु व्यवहारतः वे साधुवर्ग में समाविष्ट समझे जाते हैं। मध्ययुग में जब दिगम्बर मुनि नहीं के बराबर थे तब यह समस्या विशिष्ट रूप में सामने आती रही होगी। इस विषय पर करीब चार शताब्दी पूर्व की एक रचना अभी हमारे अवलोकन में आई, जिसे पाठकों के लाभार्थ उद्धृत किया जाता है। इस रचना का शीर्षक 'संघाष्टक' है। इसमें छप्पय छंद के दस पद्य हैं। इसके रचयिता ब्रह्म ज्ञानसागर हैं जो काष्ठामध-नन्दीनटगच्छ के भ० श्रीभूषण के शिष्य थे। विक्रम की सत्रहवीं सदी में उनका समय निश्चित है। ज्ञानसागर ने जैन संघ का विभाजन इस प्रकार किया है—१. श्रावक, २. श्राविका, ३. पंडित, ४. व्रती, ५. आर्यिका, ६. भट्टारक। भट्टारक के आदर्श का कवि का वर्णन पठनीय है। यदि सभी भट्टारक इस आदर्श को प्राप्त करने का यत्न करते तो मायद भट्टारक-विरोधी तेरावथ-संप्रदाय का उद्भव ही न हुआ होता। अस्तु, कवि की मूल रचना इस प्रकार है :

संघाष्टक

सेवे जिनवर देव धर्म दशलक्षण धारे ।
गुरुसेवे नित साधु व्यसन कषाय निवारे ॥
दान च्यार नित देत बारे व्रत नितपाले ।
रत्नत्रय मन धरत पंच मिथ्यामति टाले ॥
सामायिक नवकार गुरु क्रिया सकल पाले सदा ।
श्रावक ते जाणो निपुण ब्रह्मज्ञान बोले मुदा ॥१॥

वरजं तीन मकार पंचउबर परित्यागे ।
व्यसन सात गत दूर दयाभाव अनुरागे ॥
देव शास्त्र गुरु भाव निशिभोजन परिहारी ।
जल प्रामुक पोषंत सप्त तत्त्व मन धारी ॥
दशविध धर्माभूत पियो मिथ्या पंचमनथें त्यजे ।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति सो श्रावक जिनमत भजे ॥२॥

श्रावकनी जग कही पतिसहित व्रत पाले ।
आराधे जिनदेव पंच मिथ्यामति टाले ।
देत दान नित च्यार जिनवर पूज रचावें ।
करे पर उपकार भावना हृदयमां भावें ॥
धरे सम्यक्त्व पाले दया गुरु बंदे पातक त्यजे ।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति सो श्रावकनी पद भजे ॥३॥

सामायिक मन शुद्ध मुख नवकारह जंघे ।
थावर जगम जीव तास घात मन कंघे ॥
धर्मध्यान नित करत देव शास्त्र गुरु बंदे ।
प्रतिमा पालत आठ आखव सकल निकंदे ॥
व्यवहार धर्म पाले सदा शुद्ध भाव मनमां धरे ।
श्रावकनी ते जाणिये ब्रह्म ज्ञान इस उच्चरे ॥४॥

पंडित कहिये सोहि जोहि व्याकरण बखाने ।
पंडित कहिये सोहि जोहि आगम गुण जाने ॥
पंडित कहिये सोहि हस्त क्रिया जिस आवे ।
पंडित कहिये सोहि जोहि संयम व्रत पावे ॥
मह।भिषेक शांतिक बडुं होम मंत्र जप उच्चरे ।
ब्रह्म ज्ञान सागर वदति सो पंडित पूजा करे ॥५॥

ब्रह्मचार सोहि जाण जोहि जिनवाणी रत्ता ।
प्रतिमा आठ धरंत व्रत सामायिक जुत्ता ॥
इंद्रिय करे निरोध क्षमावंत गुणधारी ।
मदन कषाय निरोध व्यसन सात परिहारी ॥
करे तीर्थ समता धरे परम साधु पासे रहे ।
ब्रह्मचार ते जाणिये इस विष ज्ञानसागर कहे ॥६॥

कहिये बाइ सुजाण जेह व्रत पूरण पाले ।
 इवेत वस्त्र पेहरंत धर्मध्यान अजुआले ॥
 संयम निर्मल धरत दयाभाव बहु राखे ।
 जिनवर गुण ध्यायत पंचेन्द्रिय दम शोषे ॥
 जाप जपे जिनराजको परमरय पद संचरे ।
 बाइ कहावत सो मली ब्रह्म ज्ञान इम उच्चरे ॥३॥

पंच महाव्रत सहित मूलगुण निर्मल पाले ।
 पढ़त पढ़ावत शास्त्र राम द्वेषमव टाले ।
 बिहरत देश अनेक धर्मध्यान प्रगटावे ।
 करे धर्म उद्योत सकल सज्जन मन भावे ॥
 क्रिया सकल मुनिवर तणी विविध प्रकारे आचरे ।
 बडा व्रती ते जाणिये ब्रह्म ज्ञान इम उच्चरे ॥४॥

भट्टारक सोहि जाण भ्रष्टाचार निवारे ।
 धर्म प्रकाशे वोइ भविक जीव बहु तारे ॥
 सकल शास्त्र संपूर्ण सूरिमंत्र आराधे ।
 करे गच्छ उद्धार स्वात्मकार्य बहु साधे ॥
 सौम्यमूर्ति शोभाकरण क्षमाधरण गंभीरमति ।
 भट्टारक सोहि जाणिये कहत ज्ञानसागर यति ॥५॥

श्रावक गुण भंडार श्रावकनी अरु पंडित ।
 ब्रह्मचार व्रतधर्म आजिका पापबिखंडित ॥
 पंच महाव्रत धीर वीर चारित्र निधानह ।
 भट्टारक गुणपूर पावत त्रिभुवन मानह ॥
 सकल धर्म उद्योतकरण संघाष्टक पावनमति ।
 भावसहित नित सेविये कहत ज्ञानसागर यति ॥६॥

[पृ० २२६ का शेष]

वग-वारि-तुरग-करि-रयणविसयलवखण विसिट्ठिण,
 तयणु लिहाविवि पुत्थयह, सइहि सयल सिद्धंत ।
 आराहिवि तित्थाहिवह चलण जणियजम्मत्त ॥
 समणुमधु वि विविहवत्थहि पडिलाहिवि
 अप्पु कयकिच्चु करिवि सहम्मकम्मिण ।
 नियजणणी जणयइ वि धम्महेउ जिणनाहभत्तिण ।
 पुह्इप्पाल महाइह अद्वभत्थणह वसेण ।
 इहु हरिभट्टमुणी सरिण, चरिउ रइउ लेसेण ॥
 यह न तारिसु वयणविन्नाणु न य मत
 ततप्फुरणु जइ वि तह वि पटुभन्ति जोगिण ।
 इहु नेमिजिणसरहचरिउ रइउ मइ गुरु पसाइण ।
 इय इहु भुवणमुहावउणउ सुयणहु सुणहु चरित ।
 अहव सयं पि इ ते विवुड, चितामणि सुवि ॥
 कुमरवालह निवह रज्जम्मि अणहिल्लवाडइ
 नयरि अनणुमुयणबुह्यणह मगमि ।
 सोलुत्तर बारसई १२१६ कत्तियम्मि तेरसि समागमि
 अस्सिणि रिक्खिण सोमदिणि, सुप्पवित्ति लग्गम्मि ।

एहु समत्थिउ कह वि नियपरियणसाहज्जम्मि ।
 पच्चक्खरगणणाए, सिलोगमाणेण इह पबंधम्मि ।
 अट्ठेव यस्सहस्सा, बत्तीस ८०३२ सिलोगया होति ॥
 ज किचि मए अणुचियमुवइहु तुच्छमइविसेसाओ ।
 त पसिउ मह सुयणा, सोहतु कयप्पसाय ति ॥
 यस्याहिद्वयनखमणिमयूखसक्रातसुरपतिश्रेणी ।
 निजलघुतामिव कथयति, वपुषाऽपि जयत्वसो नेमि ॥
 यावच्चन्द्रो यावद् दिवाकरो यावदमरगिरिरत्र ।
 राजति तावज्जीयात् श्रीनेमिजिनेन्द्रचरितमद ॥
 उद्यल्लक्षण शास्त्रसचयनिधीन् सद्धर्म मुद्रावधीन्,
 सिद्धान्तैकसहस्रपत्रतरणीन् सदादि चूडामणीन् ॥
 तर्काध्वन्यतरून् मनोभववधूवैधव्यदीक्षागुरून्,
 साहित्यामृतसागरान् मुनिवरान् श्रीचन्द्रसूरीन् स्तुवे ॥
 इति श्री चन्द्रसूरिक्रमकमलभसल श्री हरिभद्रसूरि
 विरचित नवभवोपनिबद्ध श्री नेमिनाथ
 चरितं समाप्तम् ॥६॥

जैन संत म० वीरचन्द्र की साहित्य-सेवा

डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, एम. ए. पी-एच डी; जयपुर

चौदहवी-पन्द्रहवीं शताब्दी से राजस्थानी जैन सन्तो ने साहित्य-रचना में विशेष रुचि ली। इन सन्तो के प्रमुख थे भट्टारक सकलकीर्ति (सं० १४४३-१४६९), जिन्होंने साहित्य सेवा का विशेष लक्ष्य बनाया। भट्टारक सकलकीर्ति के पश्चात् बागड एवं गुजरात प्रदेश में जितने भी भट्टारक हुए उन्होंने मस्कृत एवं हिन्दी में सैकड़ों कृतियाँ लिखी एवं उनके प्रचार में अत्यधिक योग दिया। इन सन्तो की रचनाएँ राजस्थानी के अधिक समीप हैं और जिनकी भाषा एवं शैली पर गुजराती का पूरा प्रभाव है। इन सन्तो की साहित्य सेवा का अभी तक उचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। इसलिए इस ओर विशेष खोज की आवश्यकता है। कुछ विद्वानों की इनकी अधिक साहित्य सेवा है कि उस पर एक-एक शोध-प्रबन्ध लिखा जा सकता है और ऐसे विद्वानों में भ. सकलकीर्ति, ब्रह्म जिनदाम, भ० शुभचन्द्र, भ० कुमुदचन्द्र, रत्नकीर्ति, सोमकीर्ति एवं भ. वीरचन्द्र आदि हैं। इन्होंने साहित्य-सेवा के अतिरिक्त भारतीय पुरातत्त्व की बहुत सेवा की। प्रस्तुत लेख में भट्टारक वीरचन्द्र की साहित्य-सेवा पर प्रकाश डाला जा रहा है।

भट्टारकीय बलात्कार गण शाखा के संस्थापक भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति थे जो सन्त शिरोमणि एवं भट्टारक पञ्चनन्दि के शिष्यों में से थे। जब देवेन्द्रकीर्ति ने सूरत में भट्टारक गादी की स्थापना की थी, उस समय भट्टारक सकलकीर्ति का राजस्थान एवं गुजरात में जबर्दस्त प्रभाव था। सम्भवतः इसी प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से देवेन्द्रकीर्ति ने एक नई भट्टारक संस्था को जन्म दिया। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के पीछे एवं वीरचन्द्र के पहिले तीन और भट्टारक हुए जिनके नाम हैं—विद्यानन्दि (संवत् १४६९-१५३७), मल्लभूषण (१५४४-५५) और लक्ष्मीचन्द्र (१५५६-८२)। वीरचन्द्र भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे और इन्हीं की मृत्यु के पश्चात् ये भट्टारक

बने थे। यद्यपि इनका मूल गादी से सम्बन्ध था लेकिन ये राजस्थान के अधिक समीप थे और बागड प्रदेश में खूब विहार किया करते थे।

सन्त वीरचन्द्र प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् थे। व्याकरण एवं न्यायशास्त्र के प्रकांड वेत्ता थे। छन्द, अलंकार, संगीत शास्त्र में उनकी विशेष गति थी। वे जहाँ जाते अपने भक्तों की संख्या बढ़ा लेते एवं विरोधियों का सफाया कर देते। वाद-विवाद में उनमें जीतना बड़े-बड़े महारथियों के लिये भी सहज नहीं था। वे माधु-जीवन को पूरी तरह निभाने और गृहस्थों को समयित जीवन रखने का उपदेश देते। एक भट्टारक पदावली में उनका निम्नप्रकार पारिचय दिया जाता है—

“तद्वशमण्डन-कदपदपदलन विश्वलोक हृदयजन महान्व्रतीपुण्डराणा नवमहसप्रमुखदेशाधिप महाराजाधिराज महाराज श्री अर्जुनजीवराज सभामध्यप्राप्तसम्मानाना षोडशवर्षपर्यन्तशाकपाकपक्वालशास्त्रोदनादिमपि प्रभृति सरसाहार पर्वजिनाना दुर्वागिवादिमगपर्वतीर्णोत्कर्षण वज्रापमान प्रथमवचनखण्डनपण्डिताना व्याकरणप्रमेय-कमलमार्तण्ड छन्दोलकृतिमार साहित्य-मङ्गीत-सकलतकं सिद्धान्तागम शास्त्रसमुद्रपारगताना सकलमूलोत्तर गुणगण मणिमण्डितविविधवर श्री वीरचन्द्र भट्टारकाणा.....।”

उक्त प्रणति से ज्ञात होता है कि वीरचन्द्र ने नव-सारी के शासक अर्जुन जीवराज में बहुत सम्मान पाया तथा सोलह वर्ष तक नीरम आहार का सेवन किया। वीरचन्द्र की विद्वत्ता का इनके बाद होने वाले कितने ही विद्वानों ने उल्लेख किया है। भट्टारक शुभचन्द्र ने अपनी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की मस्कृत टीका में इनकी प्रशंसा में निम्न पद्य लिखा है—

भट्टारक पदाधीशः मूलसंघे विवाचराः।

रमा वीरेन्द्र-चिद्रूप-गुरवो हि गणेशिनः ॥१०॥

भ. सुमतिकीर्ति ने इन्हें वादियों के लिए अजेय स्वी-

कार किया है और वादियों रूपी पर्वत के लिए इन्हें वज्र के समान माना है। अपनी प्राकृत पचमग्रह की टीका में इनके यश को जीवित रखने के लिए निम्न-पद्य लिखा है—
दुर्वार दुर्बादिकपर्वतानां वजायमानो वरवीरचन्द्रः ।
तदन्वये सूरिवरप्रधानो ज्ञानादि भूवो गणि गच्छराजः ॥

इसी तरह भ. वादिचन्द ने अपनी सुभग सुलोचना चरित में वीरचन्द्र की विद्वत्ता की प्रशंसा की है और कहा है कि कौनसा भूख उनके शिष्यत्व को स्वीकार कर विद्वान् नहीं बन सकता :—

वीरचन्द्रः समाधित्य के मूर्खा न विदो भवत् ।

तं (श्रये) त्यक्त सर्वान्न दीप्या निजित काञ्चनम् ॥

इस प्रकार उक्त उद्धरणों से वीरचन्द्र की प्रतिभा, विद्वत्ता एवं लोकप्रियता का सहज ही में आभास मिलता है ।

वीरचन्द्र जबरदस्त साहित्य-मेवी थे । वे संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी गुजराती के पारंगत विद्वान् थे । यद्यपि उनकी अब तक केवल ६ रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी है लेकिन वे ही उनकी विद्वत्ता का परिचय देने के लिये पर्याप्त है । इनकी रचनाओं के नाम निम्न प्रकार हैं —

(१) वीर-विलास फाग (२) जम्बू स्वामी वेलि
 (३) जिन आतरा (४) सीमघर स्वामी गीत (५)
 सबोध सत्ताणु (६) चित्त-निरोध कथा ।

१. वीर-विलास फाग

वीर-विलास फाग एक खण्ड-काव्य है जिसमें २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के जीवन की एक घटना का वर्णन किया गया है । फाग में १३७ पद्य हैं । इसकी एक हस्त-लिखित प्रति उदयपुर के खण्डेलवाल जैन-मन्दिर के शास्त्र भण्डार में सङ्गृहीत है, यह प्रति सवत् १६८६ में भ. वादिचन्द के शिष्य भ. महीचन्द के उपदेश से लिखी गई थी । ब्र. ज्ञानसागर इसके प्रतिलिपिकार थे ।

रचना के प्रारम्भ में नेमिनाथ के सौन्दर्य एवं शक्ति का वर्णन किया गया है इसके पश्चात् उनकी होने वाली पत्नी राजुल की सुन्दरता का वर्णन मिलता है । विवाह के अवसर पर नगर की शोभा दर्शनीय हो जाती है तथा वहाँ विभिन्न उत्सव मनाये जाते हैं । नेमिनाथ की बारात बड़ी सज-धज के साथ आती है लेकिन तोरण द्वार पर

पहुँचने के पूर्व ही नेमिनाथ एक चौक में बहुत से पशुओं को घिरा हुआ देखते हैं और जब उन्हें सारथी द्वारा यह मालूम होता है कि वे सभी पशु बरातियों के भोजन के लिए एकत्रित किये गये हैं तो उन्हें तत्काल वैराग्य हो जाता है और वे ककण तोड़कर गिरनार पर चले जाते हैं । राजुल को जब उनके वैराग्य लेने की बात मालूम होती है तो वह घोर विलाप करती है, बेहोश होकर गिर पड़ती है । वह स्वयं भी अपने सब आभूषणों को उतार कर तपस्वी जीवन धारण कर लेती है । रचना के अन्त में नेमिनाथ के तपस्वी जीवन का भी अच्छा वर्णन मिलता है ।

फाग सरस एवं सुन्दर है । कवि के सभी वर्णन अनूठे हैं और उनमें सजीवता एवं काव्यत्व के दर्शन होते हैं । नेमिनाथ की सुन्दरता का एक वर्णन देखिए :—

केलि कमलदल कोमल, सामल वरण शरीर ।

त्रिभुवनपति त्रिभुवन तिलो, नीलो गुण गंभीर ॥

माननी मोहन जिनवर, दिन दिन बेह दिपत ।

प्रलब प्रताप प्रभाकर, भवहर श्री भगवत ॥८॥

लीला ललित नेमीश्वर, अलवेश्वर उदार ।

महसित पकज पल्लवी, अलखंडी रूपि अपार ॥९॥

अति कोमल गल कदल, प्रविमल वाणी विशाल ।

अंगि अनोपम निरुपम, मदन.....निवास ॥१०॥

इसी प्रकार राजुल के सौन्दर्य वर्णन को भी कवि के शब्दों में पढ़िये :—

कठिन सुपीन पयोधर, मनोहर अति उत्तम ।

चंपकवर्णी चन्द्राननी, माननी सोहि सुरंग ॥१७॥

हरणी हरावी निज वपणीड, वपणीड साह सुरंग ।

बंत सुपंती दीपंती, सोहंती सिरवेणी बध ॥१८॥

कनक केरी जसी पूतली, पातली पदमनी नारि ।

सतीप शिरोमणि सुन्दरी, भवतरी अरवि मझारि ॥१९॥

ज्ञान विज्ञान विचक्षणी, सुलक्षणी कोमल काय ।

दान सुपात्रह पोखती, पूजती श्री जिनवर पाय ॥२०॥

राजमती रत्नीयामणी, सोहामणी सुमधुरीय वाणी ।

अंभरम्भोली भामिनी, स्वामिनी सोहि सुराणी ॥२१॥

रूपि रंभा सु-तिलोत्तमा, उत्तम अगि आचार ।

परणितुं पुण्यवंती तेहनि, नेहकरी नेमिकुमार ॥२२॥

फाग के अन्य सुन्दरतम वर्णनों में राजुल विलाप भी

एक उल्लेखनीय स्थल है : वर्णन के पढ़ने के पश्चात् पाठकों के आँसू बह निकलते हैं। इस वर्णन का एक स्थल पर देखिये :—

कनकीय कंकडा मोडती, तोडती मणिमि हार ।
लूंचती केश कलाप, विलाप करि अनिवार ॥
नयणि नीर काजलि गलि, टलवलि भामिनी भूर ।
किम करूँ कहि रे साहेलडी, दिहि नडि गयो मभ नाह ॥

काव्य के अन्त में कवि ने अपना जो परिचय दिया है वह निम्न प्रकार है :—

श्री मूल संधि महिमा निलो, जती निलो श्री विद्यानन्द ।
सूरी श्री मल्लिभूषण, जयो जयो सूरी लक्ष्मीचन्द ॥१३५॥
जयो सूरी श्री वीरचन्द्र गुण्ड रच्यो जिणि फाग ।
गातां सांभलता ए मनोहर सुखकर श्री वीतराग ॥१३६॥
जीहां मेदनी मेरु महीधर, दीपसायर जगि जाम ।
जिहां लगि ए चंदो नंदो सदा फाग ए ताम ॥१३७॥

कवि ने फाग में रचनाकाल का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। लेकिन यह रचना सन् १६०० के पहले की मालूम होती है।

२. जम्बू स्वामी वेलि—

यह कवि की दूसरी रचना है। इसकी एक अपूर्ण प्रति लेखक को उदयपुर (राजस्थान) के खण्डेलवाल जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डार में उपलब्ध हुई थी। जो एक गुटके में सगृहीत है। प्रति जीर्ण अवस्था में है और उसके कितने ही स्थलों के अक्षर मिट गये हैं। इसमें अन्तिम केवली जम्बू स्वामी का जीवन चरित वर्णित है। जम्बू स्वामी का जीवन जैन कवियों के लिये आकर्षक रहा है। इसलिये संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी एवं अन्य भाषाओं में उनके जीवन पर विविध कृतियाँ उपलब्ध होती हैं।

वेलि की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है जिस पर डिगल का प्रभाव है। यद्यपि वेलि काव्यत्व की दृष्टि से उतनी उच्चस्तर की रचना नहीं है किन्तु भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अच्छी रचना है। इसमें दोहा त्रोटक चाल छन्दो का प्रयोग हुआ है। रचना का अन्तिम भाग जिसमें कवि ने अपना परिचय दिया हुआ है जो निम्न प्रकार है :—

श्री मूलसंधे महिमा निलो अने देवेन्द्रकीरति सूरिराय ।
श्री विद्यानंदि वसुधा निलो, नरपति सेवे पाय ॥१॥
तेह पाटें उदयो जति, लक्ष्मीचंद्र जेण आण ।
श्री मल्लिभूषण महिमा धणो, नमे ग्यामुदीन मुलतान ॥२॥
तेह गरु चरण कमल नमी, ऊर्ने बेलि रची छे रसाल ।
श्री वीरचन्द्र सूरिवर कहें, गांता पुण्य अपार ॥३॥
जंबू कुमर केवली हवा, अमे स्वर्ग मुक्ति वातार ।
जे भविषण भावें भाव से, ते तरसे संसार ॥४॥

कवि ने रचना काल का कोई उल्लेख नहीं किया है।

३. जिन आंतरा

यह कवि की लघु रचना है जो उदयपुर के उसी गुटके में सगृहीत है। इसमें २४ तीर्थंकरों के एक के बाद दूसरे तीर्थंकर के होने में जो समय लगता है उसका वर्णन किया गया है। काव्य सौष्टव की दृष्टि से रचना सामान्य है। भाषा भी वही है जो कवि का अन्य रचनाओं की है। दो वर्णन देखिये :—

“उणा अउड मासे करी वरस हुंता जब च्यार ।
श्री आदिनाथ तब शिव गया त्रिजा काल मभार ॥१॥
सत्तर पथ ओहों वरस, मुहनों त्रियो काल ।
श्री वरुमान सिद्धोतरा, भंजनी भव जंजाल ॥२॥
जेणे आंतरे जिन जेहवा, तेह नू तेह मांहे आप ।
सागरोपम कोडाकाडि एणी पेरें पुरो थाप ॥३॥”

रचना का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है :—
“सत्यशासन जिन स्वामीनू जेहने तेहनी जग ।
हो जावे वशे भला, ते नर चतुर सुचग ॥६॥
जगे जनम्यं धन्य तेहनू तेहनू जीव्यं सार ।
रग लागे जेहने मने, जिन शासनह मभार ॥७॥
श्री लक्ष्मीचन्द्र गुरु गच्छपती तिस पाटें सार शुंगार ।
श्री वीरचन्द्र गोरे कहा, जिन आंतरा उबार ॥८॥”

४. संबोध संताणु भावना

यह एक उपदेशात्मक कृति है जिसमें ५७ पद्य हैं तथा सभी दोहों के रूप में हैं। उसकी प्रति भी उदयपुर के उसी गुटके में सगृहीत है जिसमें कवि की अन्य रचनाएँ लिखी हुई हैं। भावना के अन्त में कवि ने अपना जो परिचय दिया है वह निम्न प्रकार है :—

“सूरि श्री विद्यानंदि जयो, श्री मल्लिभूषण मुनिचन्द्र ।
तस पाटे महिमा निलो, गुरु श्री लक्ष्मीचन्द्र ॥६६॥
तेह कुल कमल दिवसपति जंपती जाति वीरचन्द्र ।
सुणतां भणतां ए भावना, पामीए परमानन्द ॥६७॥”

भावना मे सभी दोहे शिक्षाप्रद तथा सुन्दर भावों से परिपूर्ण है । कवि के कहने की शैली सरल एवं अर्थगम्य है । कुछ दोहों का आस्वादन कीजिए —

“धर्म धर्म नर उच्चरे न धरे धर्मनो मर्म ।
धर्म कारण प्राणि हणे, न गणे निष्ठुर कर्म ॥३॥

+ + + +

धर्म धर्म सहु को कहो, न लहे धर्म नूं नाम ।
राम राम पोपट पढ़े, बूझे न तो जिम राम ॥६॥
धनपाले धनपाल ते, धनपाल नामें भिखारी ।
लाछि नाम लक्ष्मी तगूं, लाछि लाकडां वहे नारी ॥१७॥

+ + + +

दया बीज विण जे क्रिया, ते सधली अप्रमाण ।
शीतल संजन जन भरघा, जेम चडाल न बाण ॥१६॥

+ + + +

धर्म मूल प्राणी दया, दया ते जीवनी माय ।
भाट भ्रान्ति न भ्राणीए, भ्रान्ति धर्म जो पाय ॥२१॥

प्राणि दया विण प्राणी नैः एक न इक्षूं होय ।
तेल न बेलू पीलतां, तूप न तोय बिलोय ॥२२॥
कंठ बिहणूं गान जिम, जिम विण व्याकरणें वाणि ।
न सोहे धर्म दया बिना, जिम पोषण विण पाणि ॥
नीचनी संगति परि हरो, धरो उत्तम आचार ।
दुर्लभ भव मानव सणो, जीव तूं भ्रालिम हार ॥४१॥”

२. सीमधर स्वामी गीत :

यह एक लघु गीत है जिसमे सीमधर स्वामी का स्तवन किया गया है ।

५ चित्त निरोध कथा

यह १५ पद्यों की लघु कृति है जिसमे चित्त को वश मे रखने का उपदेश दिया गया है । यह भी उदयपुर वाले गुटके मे ही मगहीत है । अन्तिम पद्य निम्न प्रकार है—
“सूरि श्री मल्लिभूषण, जयो जयो श्री लक्ष्मीचन्द्र ।
ताम वंश विद्यानिल, लाड नीलि शृंगार ।
श्री वीरचन्द्र सूरि भणी, चित्त निरोध विचार ॥१५॥”

इस प्रकार भ० वीरचन्द्र की अब तक छः कृतियां उपलब्ध हुई हैं, जो इनके साहित्य प्रेम के दर्शन प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है । राजस्थान एवं गुजरात के शास्त्र भण्डारों की पूर्ण खोज होने पर अभी और भी रचनाये प्रकाश मे आवेंगी ऐसी आशा की जाती है ।

तृतीय विश्व-धर्म-सम्मेलन

डा० ब्रूलचन्द जैन

विश्वधर्म संगम की महासभा ने यह निश्चय किया है कि तृतीय विश्वधर्म सम्मेलन का आयोजन दिल्ली मे आगामी २६, २७ और २८ फरवरी सन् १९६५ को किया जाय ।

विश्व धर्म संगम का उद्देश्य

विश्व धर्म संगम एक पंजीकृत संस्था है । जिसके प्रवर्तक हैं—मुनि श्री सुशीलकुमार जी महाराज । इस

संस्था का उद्देश्य विभिन्न धर्मों में परस्पर सहिष्णुता की भावना का विकास करना और विश्व-बन्धुत्व के द्वारा विश्व-शान्ति के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करना है ।

विश्व धर्म सम्मेलन क्यों ?

मानव-मानव के बीच जो तत्त्व-भेद तथा संघर्ष का निर्माण कर रहे हैं, उनका निराकरण समस्त धर्मों की

मयुक्त नैतिक शक्ति को संयोजित करने से संभव है। विश्व धर्म सम्मेलन का आयोजन इसका साधन है।

विश्व धर्म सम्मेलन के आयोजन का एक शुभ परिणाम यह भी होगा कि विभिन्न धर्मों का, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का, तथा ज्ञान-विज्ञान का समन्वयात्मक अध्ययन का योग्य अवसर प्रतिनिधियों को उपलब्ध हो सकेगा। जिससे अन्ततोगत्वा धर्म के सारभूत तत्त्वों पर मानव की श्रद्धा तथा निष्ठा जमेगी और विश्वबन्धुत्व की स्थापना में सहायता मिलेगी। इस तरह धार्मिक शक्तियाँ विश्व-शान्ति की स्थापना की दिशा में सक्रिय रूप से उपकारक मिश्र होगी। एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब धर्म के नाम पर होने वाले मघर्ष एवं पृथक्तावादी तत्त्व समाप्त होंगे। इस अर्थ में विश्व धर्म सम्मेलन अहिंसा, सत्य और मानुषभाव पर आधारित विश्व-शान्ति का एक पावन अभियान है।

विश्व धर्म मगम द्वारा आयोजित विश्व धर्म सम्मेलनों में भाग लेने वाले भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रतिनिधि अपने ही धर्म का गुणगान नहीं करते बल्कि वह इस बात पर बल देने हैं कि उनका धर्म किस प्रकार समूचे विश्व में मानव कल्याणकारी शक्तियों का संयोजित करने में उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

प्रथम सम्मेलन

प्रथम विश्व धर्म सम्मेलन सन् १९५७ में दिल्ली में हुआ था। जिसमें भिन्न-भिन्न धर्मों के कोई २०२ प्रतिनिधियों ने लगभग २८ देशों से आकर भाग लिया था। खुले अधिवेशन में ५ लाख से अधिक नागरिकों ने उपस्थित होकर सम्मेलन की कार्यवाहियों में सहयोग प्रदान किया था। भारत के महामहिम राष्ट्रपति जी तथा उपराष्ट्रपति जी, प्रधान मंत्री, शिक्षा मंत्री जी तथा अनेकों धार्मिक पुरुषों एवं राजनेताओं ने उपस्थित हो, सम्मेलन के उद्देश्यों को बल प्रदान किया था।

द्वितीय-विश्व-धर्म सम्मेलन कलकत्ते में फरवरी १९६० में हुआ था। इस सम्मेलन में विश्व के अनेक देशों के २५० से भी अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया था।

तृतीय विश्व धर्म सम्मेलन

इस बार तृतीय विश्व धर्म सम्मेलन पुनः दिल्ली में करने का निश्चय जागतिक परिस्थितियों को ध्यान में रख कर किया गया है। यह आशा की जा रही है कि इस बार सम्मेलन में बाहर से बहुत बड़ी संख्या में प्रतिनिधि तथा गणमान्य महानुभाव पधारेंगे।

यह प्रसन्नता की बात है कि विश्व धर्म मगम के प्रवर्तक मुनि श्री सुशील कुमार जी महाराज जिन्होंने पहले दोनो सम्मेलन कराये थे, तृतीय विश्व धर्म सम्मेलन को अपना पुनीत आशीर्वाद प्रदान करने की अनुकम्पा की है।

इस सम्मेलन को सफल बनाने के लिए अनेक महा-पुरुषों, राजनेताओं एवं विशिष्ट जनों की एक स्वागत-समिति गठित की गई है। प्रबन्ध के लिये अनेक सक्षम समाज-सेवकों के सहयोग से विभिन्न उपसमितियों का निर्माण किया गया है। तृतीय विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेने वाले समस्त अतिथियों, प्रतिनिधियों तथा आगन्तुक महानुभावों के स्वागत, सत्कार का यथेष्ट प्रबन्ध होगा।

खुला आमन्त्रण

तृतीय विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेने के लिये समस्त उन नागरिकों एवं मर्यादों को माह्रह्र निमन्त्रण है—जो धार्मिक, विश्व-बन्धुत्व की भावना के विम्वार में विश्वास रखते हैं। और इसको प्रसारित करने में अपना योगदान देना चाहते हैं। इसका प्रतिनिधि शुल्क ५०) रुपया रखा गया है। सदस्यता के लिये एक आवेदन-पत्र प्रेषित करना होगा।

मुनि श्री सुशीलकुमार जी का भाषण

हम विश्वास करते हैं कि विश्व के सभी देशों, सभी राष्ट्रों एवं सभी जातियों का विकास, धर्म एवं संस्कृति के आधार पर ही हुआ है। धर्म ने ही मनुष्य को राष्ट्रभेद, भाषाभेद, भौगोलिक एवं रहन-सहन के भेदों से ऊँचा उठा कर कौटुम्बिकता के धागे में पिरोया है।

समाज की कोई विचारधारा और विश्व का कोई दूसरा वाद बिना धर्म के मानव जाति को एक नहीं कर सकता। धर्मिक एकता के आगे बिना मानव-जाति के

पिछड़ेपन और वैचारिक दरिद्रता को हम मिटा नहीं सकते।

विश्व-धर्म सम्मेलन के द्वारा हमें सारे संसार की धार्मिक-शक्तियों की, समूचे मनुष्य समाज के दुख और दैन्य को मिटाने के लिए उन्मुख करना है। युद्धजनित पीड़ाएं और धर्महीन समाजवादी पैशाचिक व्यवस्थाएं मनुष्य को सदा के लिए जड़ता की ओर धकेल देगी। लाखों वर्षों के चिन्तन के बाद मनुष्य-समाज केवल धरती और धन के वटवारे में ही मिट्टी, पानी, अग्नि के समवाय में ही उलझा रहे, इससे ऊपर उठकर अपने आत्मा के शाश्वत अस्तित्व को मान ही न सके—इससे बड़ा संसार के लिए अभिशाप और क्या हो सकता है।

धरती और धन जैसी प्रकृति वस्तुओं पर मनुष्य का एकाधिकार धर्म की दृष्टि से निषिद्ध है। संसार के किसी भी धर्म के द्रष्टा या धर्म-प्रवर्तक ने किसी भी प्रकार के मग्न और शोषण को प्रश्रय नहीं दिया। यह तो केवल राजनीतिक महत्वकांक्षाओं और सामाजिक कुरीतियों का दुष्परिणाम है—जो आज संसार में विषमता के रूप में दिखाई दे रहा है।

हमें आश्चर्य होता है कि जब धर्महीन समाजवादी मत्ताधीन मानव-जाति की आध्यात्मिक सस्कृति को नष्ट करने पर उतारू होते हैं—यह मस्कृति एवं धर्म के लिए बड़ा संकटकाल है। हमें पूर्ण विश्वास के साथ संसार की समस्त धार्मिक शक्तियों को इकाई और समष्टि की शाश्वत एकता, अखण्डता और पूर्ण विकास की सुरक्षा के लिए विश्व-व्यापी मोर्चा बनाने जा रहे हैं।

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आज से बारह वर्ष पूर्व विश्व-धर्म सम्मेलन का सूत्रपात बहुत छोटे से रूप में बम्बई से हुआ था। सन् १९५७ के विश्व-धर्म सम्मेलन का विराट् रूप आज देख चुके हैं। कलकत्ता के द्वितीय विश्व-धर्म सम्मेलन के बाद विश्व के भूखण्डों में इस धर्म सम्मेलन ने आशातीत प्रगति की है—यह हमारे लिए गौरव का विषय है।

संसार के पचास राष्ट्रों का विश्व-धर्म सम्मेलन को सहयोग प्राप्त हो चुका है। हम विश्वास करते हैं कि आगामी २६, २७ और २८ फरवरी १९६५ को होने वाले तृतीय विश्व-धर्म सम्मेलन में साठ देशों का प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा।

एशिया के भूखण्डों में उठे इस धर्म के प्रकाश ने सारी मानव-जाति को सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक चेतना में आबद्ध किया है। हम इस अभियान को ऐसे समय चलाने जा रहे हैं—जब कि भारत पर चारों ओर से धर्म-हीन-समाजवादी व्यवस्थाएं, सस्कृति नष्ट करने पर—आक्रमण के लिए सन्नद्ध हो रही है।

हम समझते हैं कि यह नास्तिकता का आक्रमण भारत पर ही नहीं—मानवीय धर्म और सस्कृति पर है। अगर धार्मिक शक्तियाँ ऐसे संकट के समय पर भी एक नहीं हो सकती तो मानव-जाति को सर्वनाश से बचाए रखना अत्यन्त कठिन है।

हम विश्व-धर्म सम्मेलन को मानवीय धार्मिक चेतना को बचाए रखने का सजग प्रहरी समझते हैं—और इसी पवित्र विश्वास के आधार पर हम इस धर्म-आन्दोलन को संसार की सभी धार्मिक शक्तियों के सहारे से एवं मानव-के सहयोग से एवं प्रभु की पवित्र-प्रेरणा से ही इस काम में जुटे हैं। हम आशा करते हैं कि हमारा यह प्रयास समाजवाद के अन्तःस्थल में भी धर्म को प्रतिष्ठित करने में सहायक हो सका तो राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, जे-थुस्थ, मूसा, ईसा, मोहम्मद, नानक और गाँधी तक की निदिष्ट मानवता का पूर्ण रूप संसार में निखर उठेगा।

ईराक के प्रेजीडेण्ट का संदेश

“The cornerstone of Islam is belief in one God. This makes the faithful join in the worship of God and God alone. They are, without regard to race or colour, equal before him and the subjects of his mercy and forgiveness.”

The message further says “The Quran enjoins Muslims to help the needy, the stranger and those cut off from their lands, who have no means to live with. Islam prohibits murder, vice, robbery and marauding. It commends humbleness and forgiveness. It does not believe in compulsion in spreading its tenets, though it is ready to sanction force in self-defence.....

“Islam” says the Field Marshal president, “is against aggression. We seek peace and like to see people living in amity and no one trespassing on another.”

साहित्य-समीक्षा

१. दिगम्बर जैन मन्दिर मूर्ति-लेख संग्रह—संग्रहकर्ता अपने प्रकाशक, मूलचन्द किसनदाम कापडिया, क पडिया भवन गांधी चौक, सूरत। पृष्ठ ३३४ बिना मूल्य ६ पैसे पोस्टेज भेजने पर प्राप्त।

शिलालेखों की तरह मूर्तिलेख भी इतिहास में उपयोगी होते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में सूरत और सूरत जिले के मन्दिर और मूर्तिलेखों का संग्रह किया गया है। इससे अनेक जातव्य बातों पर प्रकाश पड़ता है। इन मूर्तिलेखों से भट्टारको, आचार्यों, विद्वानों और श्रावक-श्राविकाओं आदि के इतिवृत्त का मकेत मिलता है, साथ ही सामयिक, धार्मिक कार्यों की जानकारी भी प्राप्त होती है। ये लेख ऐतिहासिक तथ्यों के निर्णय में सहायक होते हैं। इनमें विविध जातियों के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। इस संग्रह में विक्रम की १२वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक के मूर्तिलेखों का संग्रह किया गया है।

श्री कापडिया जी अपनी लगन के एक ही व्यक्ति हैं, जो इतनी वृद्धावस्था में भी समाज-सेवा के कार्यों में दिन-चरपी रखते हैं। जैन समाज में अनेक रिटायर्ड पेन्शन-यापना व्यक्ति हैं जो आजीविकादि कार्यों से पेन्शन पा गये हैं और अपना शेष जीवन धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यों में व्यतीत करना चाहते हैं। उन्हें ऐसे धार्मिक और साहित्यिक कार्यों में सहयोग देना चाहिए। भारत में जैन मन्दिर और मूर्तियाँ प्रचुर मात्रा में हैं। यदि उन सबके लेखों का सकलन हो जाय, तो जैन इतिहास के निर्माण में बहुत कुछ सहयोग मिल सकता है। आशा है समाज इस पर ध्यान देगी। पुस्तक सुन्दर और संग्रहणीय है।

२. समाधि मरणोत्साह-दीपक—मूलकर्ता गरिण सकलकीर्ति, अनुवादक पं० हीरालाल जैन सिद्धान्त शास्त्री, प्राक्कथन पं० जुगलकिशोर मुख्तार, सम्पादक और प्रस्तावना लेखक पं० दरबारीलाल जैन कोठिया एम. ए., न्यायाचार्य प्राध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, प्रकाशक मन्त्री वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, २१ दरियागज

दिल्ली-६। पृष्ठ संख्या १६६, मूल्य दो रुपये।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वृत्ती जीवन के अन्त में होने वाले समाधि-मरण का सुन्दर विवेचन किया गया है। मूलग्रन्थ भ. सकलकीर्ति गणि की एक अप्रकाशित कृति है जिसे प्रकाश में लाया गया है। ग्रन्थ संस्कृत के २१५ पद्यों में समाप्त हुआ है। पुस्तक में मानव जीवन की सफलता-मूचक सल्लेखना के साथ देहोत्सर्ग करने का विधि-विधान अंकित करते हुए उसकी महत्ता पर प्रकाश डाला गया है अनुवाद मूलानुगामी है। ग्रन्थ की जो वाने अनुवाद में स्पष्ट नहीं हो सकी, उनको स्पष्ट करने के लिए सम्पादक ने विशेषार्थ द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और उसे दूसरे बारीक टाइप में छपाया है।

वयोवृद्ध विद्वान श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने अपने प्राक्कथन में सल्लेखना के स्वरूप, उसका प्रयोजन तथा सल्लेखना की विधि का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। और सम्पादक ने अपनी प्रस्तावना में भ० सकलकीर्ति और उनकी कृति का ऐतिहासिक परिचय कराने हुए सल्लेखना के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला है, मरण के १७ प्रकारों का उल्लेख करते हुए, समाधि-मरण कराने वाले माधुओं की मर्यादा और उनका कर्तव्य भगवती आराधना के अनुसार बनलाया है। समाधि-मरण की आवश्यकता और प्रयोजन का उल्लेख करते हुए, समाधि-मरण कराने में कम से कम दो व्यक्तियों के सहयोग का निर्देश किया है। साथ ही परिशष्टों द्वारा हिन्दी के समाधि-विषयक अन्य पाठों को भी सङ्कलित कर दिया है। जो समाधि के इच्छुक व्यक्ति के लिये उपयोगी है। इसमें ग्रन्थ की उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। समाधि-मरण के इच्छुको को चाहिये कि वे इस ग्रन्थ को मगारकर अवश्य पढ़ें और अपने इष्ट-मित्रों को पढ़ने की प्रेरणा करें। इस सुन्दर संस्करण के लिये सयोजक, सम्पादक और प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

३. कुण्डलपुर—रचयिता श्री नीरज जैन, सुपमा

प्रकाशन सतना (म० प्र०)। पृष्ठ संख्या ६२ मूल्य चालीस पैसा।

प्रस्तुत पुस्तक में श्रीनीरज जी ने मध्य प्रदेश के अति-शय क्षेत्र कुण्डलपुर का परिचय, इतिहास और पूजन दी है, जो सर्व साधारण के लिए उपयोगी है। वहाँ के मन्दिर में विराजमान मूर्ति जिसके कारण वह अतिशय क्षेत्र बना, और जिसे लोग बड़े बाबा के नाम से पुकारते हैं तथा उसे महावीर स्वामी की मूर्ति बतलाते हैं। लेखक ने अपनी प्रस्तावना में उसे आदिनाथ की मूर्ति सप्रमाण बतलाई है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत मूर्ति आदिनाथ की ही जान पड़ती है।

इस पुस्तक में नीरज जी की तीन कविता और पूजन दी हुई है, जो महावीर की मूर्ति को लक्ष्य करके लिखी गई है पूजन यदि आधुनिक स्तर पर लिखी जाती तो अधिक उपयुक्त होती। अस्तु, कविता सुन्दर है, भावपूर्ण है, और चित्ताकर्षक है। कविता के कारण पुस्तक बोल उठी है। उसमें क्षेत्र का वैभव साकार हो उठा है। नमूने के कुछ पद्य देखिये।

धर्मनिरुक्त नृप छत्रसाल, क्या कभी भुलाया जावेगा।
उसका यश गौरव घर-घर में, सदियों तक गाया जावेगा ॥

वह महावीर का परमभक्त, जिन शासन का अनुयायी था।
'श्री' दीन-हीन दुखियों का वह रक्षक भी था सुखदायी था।
प्रभु के ढिग आकर एक बार बोला, ऋणों में भुका शीश।
मैं आज मांगने आया हूँ, यह वर मुझ को दीजें मुनीश ॥

...

...

...

...

क्षण-भर में ही कुछ यवन वहाँ वेदी पर चढ़से टूट पड़े,
दर्शक-पूजक हत-बुद्धि हुए श्री' विस्मित से रह गये खड़े।
सबसे आगे खुद बादशाह, कर में टांकी लेकर आया,
पर जाने क्यों कर अकस्मात उसका तन श्री' मन थरिया।
वह बीतराग छवि निनिमेष अब भी बंसी मृस्काती सी,
थी अटल शांत पर लगती थी—उसको उपदेश सुनाती सी।
सुन पड़ा शाह के कानों में 'मिट्टी के पुतले सोच जरा,
यह अहंकार धन-धान्य सभी कुछ रह जावेगा यहीं घरा।'
जीवन की धारा में अब भी, तू परिवर्तन ला सकता है,
अब भी अवसर है अरे मूढ़ ! तू मानव कहला सकता है।

नीरज जी उदीयमान लेखक और कवि हैं। उनसे समाज को बड़ी आशाएँ हैं। पुस्तक सुन्दर है, लेखक से मंगाकर पढ़ना चाहिए।

परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त के ग्राहक बनें

'अनेकान्त' पुराना ख्याति प्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संख्या का बढ़ाना अनिवार्य है। हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थानों, संस्कृत विद्यालय, कालेजों और जैनश्रुत की प्रभावना में श्रद्धा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे शीघ्र ही 'अनेकान्त' के ग्राहक बनें और बनावें।

एक महत्त्वपूर्ण पत्र

वीर सेवामन्दिर दिल्ली से प्रकाशित द्वै मासिक अनेकान्त पत्र का एक अंक मिला। मैं उसे आद्योपात् पढ़ गया। जैनसमाज का यह ऐतिहासिक पत्र सुन्दर निकल रहा है, इसमें पाठक को पढ़ने और अनुसंधान करने के लिए बहुत सामग्री रहती है। सभी लेख महत्त्वपूर्ण और पठनीय होते हैं। दुर्भाग्य है कि जैन-समाज ऐसे प्रभाविक और महत्त्वपूर्ण पत्र को अपना सहयोग प्रदान करती मालूम नहीं होती, अन्यथा यह पत्र 'कल्याण' के समान प्रगति करता। जैनसमाज के धनिक वर्ग को चाहिए कि वह आर्थिक सहयोग प्रदान करे, जिससे संचालकगण इसे और भी ऊँचा उठा सकें। मैं पत्र की उन्नति का इच्छुक हूँ।

सुरेशचन्द्र सक्सेना एम. ए.

लुधियाना।

वीर-सेवा-मन्दिर और "अनेकान्त" के सहायक

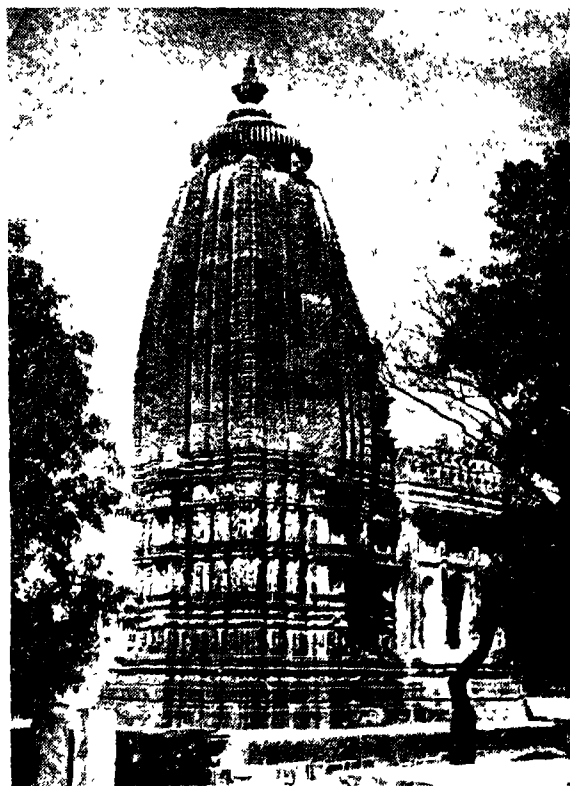
१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता	१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१०००) श्री देवेन्द्रकुमार जैन, ट्रस्ट, श्री साहु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता	१५०) ,, जगमोहन जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सरावगी एण्ड सस, कलकत्ता	१५०) ,, कस्तूरचन्द जी भानुदीलाल कलकत्ता
५००) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता	१५०) ,, कन्हैयालाल जी सीताराम, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता	१५०) ,, पं० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री वंजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता	१५०) ,, मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी भांभरी, कलकत्ता	१५०) ,, प्रतापमल जी मदनलाल पांड्या, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची	१५०) ,, भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाडघा), कलकत्ता	१५०) ,, शिखरचन्द जी सरावगी, कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी	१५०) ,, सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन, मंसर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता	१०१) ,, मारवाड़ी दि० जैन समाज, व्यावर
२५१) श्री ल. ला जयप्रकाश जी जैन स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी	१०१) ,, दिगम्बर जैन समाज, केकड़ी
२५०) श्री मोतीलाल होराचन्द गांधी, उस्मानाबाद	१०१) ,, सेठ चन्डूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
२५०) श्री बन्दीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता	१०१) ,, लाला शान्तिलाल कागजी, बरियागंज दिल्ली
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता	१०१) ,, सेठ भंवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
२५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी	१०१) ,, शान्ति प्रसाद जी जैन जैन बुक एजेन्सी, नई दिल्ली
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता	१०१) ,, सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या भूमरीतलैया
२५०) श्री बी० आर० सी० जैन, कलकत्ता	१००) ,, बन्नीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता	१००) ,, रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
१५०) श्री बजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता	१००) ,, जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या इन्दौर
	१००) ,, बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

सभी ग्रन्थ पौने मूल्य में

- (१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। सम्पादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेपणापूर्ण महत्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए. डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानों के लिए अनीब उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द १५.)
- (२) आप्त परीक्षा—श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषय के सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८)
- (३) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्व की गवेपणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २)
- (४) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, मानुवाद और श्री जुगलकिशोर मुस्तार की महत्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १॥)
- (५) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पद्याध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिकरचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १॥)
- (६) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १॥)
- (७) श्रीपुरपाश्वर्चनायस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्व की स्तुति, हिन्दी अनुवाद-सहित। ... ॥)
- (८) शासनचतुस्त्रिशिका—(तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित ॥)
- (९) समीचीन धर्मशास्त्र—स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेपणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३)
- (१०) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह—संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों की और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ४)
- (११) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्व की रचना, मुस्तार श्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। १)
- (१२) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्राय)—मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... १)
- (१३) श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैनतीर्थ। १)
- (१४) महावीर का सर्वोदय तीर्थ (३), (१५) समन्तभद्र विचार-दीपिका (३), (१६) महावीर पूजा १)
- (१७) बाहुबली पूजा—जुगलकिशोर मुस्तार कृत १)
- (१८) अध्यात्म रहस्य—१० आशाधर की सुन्दर कृति मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित १)
- (१९) जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ अश्विंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्वपूर्ण संग्रह ५५ ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और उनके परिशिष्टों सहित। म० पं० परमानन्द शास्त्री सजिल्द १२)
- (२०) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द (वीर-शासन-संघ प्रकाशन ... ५)
- (२१) कसायपाहुड सुक्त—मूलग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालाल जी सिद्धांत शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़ी साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०)
- (२२) Reality आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृष्ठ पक्की जिल्द मू० ६)

अनेकान्त



खजुराहो का आदिनाथ जिनालय

(१२ वीं शती)

छाया—नीरज जैन

समन्तभद्राश्रम (वीर-सेवा-मन्दिर) का मुखपत्र

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१. श्रीसुपाशर्व-जिन-स्तवन—समन्तभद्राचार्य	२४१
२. होयसल नरेश विष्णुवर्धन और जैनधर्म —के० भुजबली शास्त्री मूडबिंदी	२२२
३. श्रीपुर में राजा ईल से पूर्व का जैन मन्दिर —नेमचन्द धन्नुसा जैन न्यायतीर्थ	२४५
४. वाग्भट्ट के मंगलाचरण का रचयिता —क्षुल्लक सिद्ध सागर	२४८
५. रङ्ग कृत 'सावयचरित' 'समत्तकउमुद्' ही है —प्रो० राजा राम एम. ए., आरा	२५०
६. जैन-दर्शन में सप्तभंगीवाद —उपध्याय मुनि श्री अमरचन्द	२५३
७. यज्ञ और अहिंसक परम्पराएँ —आचार्य श्री तुलसी	२५६
८. अपभ्रंश का एक प्रमुख कथाकाव्य —डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री रायपुर	२६३
९. खजुराहो का आदिनाथ जिनालय —नीरज जैन	२७५
१०. माणिकचन्द . एक भक्त कवि —गगाराम गर्ग एम. ए., जयपुर	२७८
११. ३८वें ईसाई तथा सातवें बौद्ध विश्व सम्मेलन की श्री जैन सघ को प्रेरणा —कनक विजय जी महाराज—वागणसी	२८१
१२. साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री	२८५
१३. वार्षिक विषय-सूची	२८७



सम्पादक-मण्डल

डा० आ० ने० उपाध्ये

डा० प्रेमसागर जैन

श्री यशपाल जैन



अनेकान्त को सहायता

११) श्रीमान् सेठ भगवानदास शोभालाल जी जैन चमेली चौक सागर, (म० प्रदेश) ने निसई जी तीर्थ क्षेत्र मल्हारगढ़ पर कलशारोहण और स्वाध्याय भवन के उद्घाटन के समय निकाले हुए दान में से ग्यारह रुपया धन्यवाद सहित प्राप्त हुए।

—व्यवस्थापक
'अनेकान्त'



स्थायी सदस्यों की आवश्यकता

अनेकान्त जैसे प्रतिष्ठित और अतिप्राप्त शोधपत्र के लिए हमें २५०० रुपया प्रदान करने वाले ३१ स्थायी सदस्य चाहिए। समाज के प्रतिष्ठित धर्मात्मा धनी महानुभावों में प्रार्थना है कि वे अनेकान्त के स्थायी सदस्य बनें, और अपने मित्रों को बनाएँ। जिसमें अनेकान्त को और भी ऊँचा उठाया जा सके।

—व्यवस्थापक

अनेकान्त

वीर सेवा मन्दिर २१ दरियागंज,
दिल्ली।



अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया २५ पैसे

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक मण्डल उत्तरदायी नहीं हैं।



ओम् अहम्

अनेकान्त

परमागस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष १७
किरण-६

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-६
वीर निर्वाण सवत् २४६१, वि० सं० २०२१

फरवरी
सन् १९६५

श्रीसुपाश्व-जिन-स्तवन

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां ।
स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा ।,
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्ति—
रितोद् मास्यद्भगवान् सुपाश्वः ॥१॥

—समन्तभद्राचार्य

‘यह जो आत्यन्तिक स्वास्थ्य है—वह विभाव परिणति से रहित अपने अनन्तज्ञानादिमय स्वात्म-स्वरूप में अविनश्वरी स्थिति है—वही पुरुषों का—जीवात्मा का—सच्चा स्वार्थ है—निजी प्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग—इन्द्रिय-विषय—सुख का अनुभव—स्वार्थ नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय-विषय-सुख के सेवन से उत्तरोत्तर तृप्णा की—भोगा-काक्षा की—वृद्धि होती है और उससे ताप की—शारीरिक तथा मानसिक दुःख की—शान्ति नहीं होने पाती । यह स्वार्थ और अस्वार्थ का स्वरूप शोभनपाश्वों—सुन्दर शरीराङ्गों के धारक (और इसलिए अन्वर्थ-सज्जक) भगवान् सुपाश्व ने बतलाया है ।

भावार्थ—इस पद्य में आचार्य समन्तभद्र ने सातवें तीर्थङ्कर सुपाश्वनाथ का स्तवन करते हुए स्वार्थ और अस्वार्थ का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया है, वह महत्वपूर्ण है । ज्ञानी जीवों का स्वार्थ स्वात्मोपलब्धि की प्राप्ति है । वे उसी की सम्प्राप्ति का निरन्तर प्रयास करते हैं । क्षणभंगुर इन्द्रिय-विषयों की ओर उनका भुकाव नहीं होता, क्योंकि वे सन्ताप बढ़ाने वाले हैं, शान्ति के घातक हैं, अतएव वह ज्ञानी जनो का अस्वार्थ है । भगवान् सुपाश्व ने उसी सम्यक् स्वार्थ को प्राप्त किया, और जगत् को उसी की सम्प्राप्ति का मार्ग भी बतलाया है ।

होयसल नरेश विष्णुवर्धन और जैनधर्म

के० भुजबली शास्त्री, मूडबिट्रो

[होयसल नरेश महाराजा विष्णुवर्धन वंणव थे, किन्तु जैनधर्म पर भी उनका अगाध प्रेम था, यह बात विद्वान लेखक ने प्रामाणिक उद्धरणों से सिद्ध की है। अन्त में एक किंवदन्ती का उल्लेख है कि दारसमुद्र के ७५० मनोज जैन-मन्दिरों को विष्णुवर्धन ने ही, वंणव होने के उपरान्त नष्ट करवाया था। शायद लेखक इससे सहमत नहीं है। अच्छा हो कि कोई अन्य विद्वान इसे अपनी खोज का विषय बनायें। —सम्पादक]

पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में कडूर जिले के मूडगेरे तालुका में 'अगडि' नामक एक स्थान है। इसका प्राचीन नाम शशकपुर था। यही स्थान होयसलो का उद्गम स्थान है। यहाँ पर आज भी वासन्तिकादेवी का पुराना मन्दिर मौजूद है। क्योंकि इस समय यह मन्दिर वैदिकों के अधिकार में है। पर मैंने अपने एक लेख में इस वासन्तिकादेवी को पद्मावतीदेवी मिद्ध किया है। वासतिका पद्मावती का ही अपर नाम है। जैन मन्दिर होने के कारण ही मुनि सुदन्त यहाँ पर रहा करते थे। आज भी देखने पर वासन्तिका की मूर्ति पद्मावती की मूर्ति से ज्यों की त्यों मिलती है।

एक रोज यही पर 'मल' नामक एक सामन्त ने एक व्याघ्र से सुदन्त मुनि की रक्षा करने के हेतु 'पोयसल' नाम प्राप्त किया था। यही 'पोयसल' नाम आगे चल कर 'होयसल' बना। इस वंश के भावी नरेशों ने अपने को 'मलपरोल्गण्ड' अर्थात् पहाड़ी सामन्ती में प्रधान कहा है। इसमें सिद्ध होता है कि प्रारम्भ में होयसल वंश पहाड़ी था। इस वंश में आगे विनयादित्य, बल्लाल आदि कई प्रतापी नरेश हुए हैं। बल्कि बल्लाल ने ही अपनी राजधानी शशकपुर से 'बेलूर' में हटा ली। हाँ उनकी राजधानी 'बेलूर' के सिवा दारसमुद्र या वर्तमान हलेबाडु में भी रहने लगी। बल्लाल के उत्तराधिकारी विष्णुवर्धन के समय में होयसल नरेशों का प्रभाव बहुत बढ़ गया। गगवाडि का पुराना राज्य सब उनके अधीन हो गया और विष्णुवर्धन ने कई अन्य प्रदेश भी जीते।

अधिकांश विद्वानों का मत है कि प्रारम्भ में विष्णुवर्धन जैनधर्मावलम्बी थे, पर बाद में वैष्णव हो गये थे।

किन्तु इस विषय में मैं निम्नलिखित बातों पर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। पहली बात यह है कि विष्णुवर्धन की 'सम्यक्त्व-चूडामणि' उपाधि स्वयं उन्हें जैनधर्म-श्रद्धालु सिद्ध करती है। दूसरी बात है कि विष्णुवर्धन के द्वारा मन्दिरों के जीर्णोद्धार और मुनियों के आहार दानार्थ शल्य आदि ग्रामों का दान देना भी उन्हें स्पष्ट जैनधर्म का प्रेमी प्रकट करती है। तीसरी बात है कि गगराज, हुल्ल, भरत और मरियण्ण आदि कट्टर जैनधर्मावलम्बियों को सचिव, सेनानायक जैसे दायित्वपूर्ण सर्वोच्च पदों पर स्थापित करना भी जैन धर्मानुयायियों से विष्णुवर्धन का अटूट अनुराग व्यक्त करता है।

खासकर गगराज पर विष्णुवर्धन की बड़ी गर्व था। नरेश प्रधान सेनानायक गगराज को बहुत मानते थे। श्रवण बेलगोल के लेख न० ६० (२४०) में पाया जाता है कि "जिस प्रकार इन्द्र का वज्र, बलराम का हल विष्णु का चक्र, शक्तिधर की शक्ति और अर्जुन का गाण्डीव उसी प्रकार विष्णुवर्धन नरेश के गगराज सहायक थे।" गगराज जन्म से ही सेनानायक-परम्परा के रहे। आप नृपकाम के विश्वासपात्र महासेनानी एच के सुयोग्य पुत्र थे। अपने शौर्य, साहस एवं राजनिष्ठा के कारण गगराज 'द्रोहघरट्ट' —द्रोहियों को चूर-चूर करने वाले इस समुन्नत उपाधि से विभूषित थे। विष्णुवर्धन अपने को पितृ तुल्य मानने पर भी गगराज उन्हें बड़ी गौरव-दृष्टि से देखते रहे। गगराज वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध एवं समरविद्या पारङ्गत थे। उन्हें जैन

१. श्रवणबेलगोल लेख न० ४६३ (शक १०४८) देखें।

धर्म पर अचल थड़ा रही। तलकाड के गङ्ग-नरेशों की परम्परा में जन्म लेने वाले स्वाभिमानों तथा राष्ट्रप्रेमी गंगराज शक्ति, माहस, युद्धनैपुण्य, देशनिष्ठा आदि सदगुणों के मूर्तस्वरूप थे।

गंगराज शौर्यनिधि एवं उत्तम पराक्रमी होने के कारण उनके समय में होयसलों को सर्वत्र विजय ही विजय प्राप्त हुई। साथ ही साथ पर्याप्त कीर्ति भी। पुनीश, भरत आदि अन्य जैन सेनानायकों को भी गंगराज पर बड़ा अभिमान था। खासकर तलकाड और चोलों के युद्ध में गंगराज को इन सेनानायकों ने सकल सहयोग प्रदान किया था। गंगराज धर्मात्मा थे। अतः विजित राज्यों की राजाओं को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं देते थे। 'शरणागतवत्सल' उनकी यह उपाधि सार्थक थी। अपने सेनापट्टाभिषेक के शुभावसर पर गंगराज नरेश के द्वारा महर्षि प्रदत्त 'त्रिङ्गिगेन विले' ग्राम को अपने उत्तराधिकारियों को न सौंप कर तुंगस्त श्रद्धेय स्वगुरु शुभचन्द्रदेव के चरणों में समर्पित करते हैं। देखिये गंगराज की निस्वार्थ धार्मिक बुद्धि! वस्तुतः गंगराज आदर्श मन्त्री, प्रतापी सेनानायक, अनन्य स्वाभिभक्त, असीम प्रजानुरागी एवं अग्रिम देशभक्त थे। ऐसे महान् व्यक्तियों पर जैनधर्म आज भी गर्व कर रहा है।

चौथी बात है कि प्रधान मन्त्री शातला का अतः तक जैनधर्म पर अचल रहना भी एक विचारणीय गम्भीर बात है। अगर विष्णुवर्धन जैनधर्म के कट्टर विरोधी होने तो शातलादेवी जैनधर्म की पक्की अनुयायिनी नहीं हो सकती थी। नरेश शातला के जैनधर्म सम्बन्धी किसी भी धार्मिक कार्य में बाधक नहीं बने हैं। बल्कि शातला के प्रत्येक धार्मिक कार्य में सहायक ही रहे हैं। शातलादेवी ने श्रवणबेलगोल में 'सर्वनिगन्धवारणवस्ति' के नाम से एक सुन्दर जिनालय निर्माण करा कर उसमें स्वनामानुकूल शातिनाथ भगवान् की प्रतिमा स्थापित की थी। 'सर्वनिगन्धवारण' शातलादेवी की अन्यतम उपाधि थी।

रानी शातला के श्रद्धेय गुरु प्रभाचन्द्र एवं प्रगुरु नेमिचन्द्र त्रैविद्यदेव उस समय के प्रमुख आचार्यों में से थे। शातला रूप, शील, दया, भक्ति आदि मानवोन्मिक्त सभी गुणों से अलंकृत थी। रानी के पिता शैव होने पर भी

माता माचिकब्बे कट्टर जिनभक्ता रही। उन्होंने अतः समय में प्रभाचन्द्र, वर्धमान और रविचन्द्र के तत्त्वावधान में विधिवत् सत्सेखना स्वीकार कर एक माह के उपरान्त श्रवणबेलगोल में शरीर त्याग किया। शातला के मातृगृह वाले भी शुद्ध जैनधर्मानुयायी ही रहे।

शातलादेवी आदर्श गृहिणी थी। साथ ही साथ वीर-पत्नी भी। महाराज विष्णुवर्धन के राज्य-कार्यों में भी शातला बराबर भाग लेती थी। एक बार प्रधान सेनानायक गंगराज को भी उन्होंने ललकारा था। हाँ, बाद में उन्हें इसके लिए पश्चात्ताप अवश्य हुआ। यो तो शातला-देवी गंगराज को बहुत मानती थी। एक बार गंगराज के द्वारा रानी 'माता' के नाम से पुकारी जान पर वह सविनय कहने लगी कि "अमात्य जी, भविष्य में कभी भी मुझे आप इस नाम से सम्बोधित न करें। मैं आपकी बेटी हूँ, माता नहीं हूँ। शातला वाद्य, गीत और नृत्य इन तीनों में बड़ी विदुषी थी। इस प्रकार रानी अनुकूल पत्नी, आदर्श राजकाङ्क्षिणी, प्रजावत्सला एवं उत्तमकुलपरिशुद्धा होने के कारण भारतीय श्रेष्ठ नाग-मणियों की पहली पंक्ति में शामिल होने की योग्यता रखती थी।

अतः में शातलादेवी ने शक १०५० में बेंगलूर में करीब ३० मील दूरी पर स्थित 'शिवगंगे' में समाधि-मण्डपपूर्वक शरीर त्याग किया था। बेंगलूर के के० बी० अय्यर नामक लेखक ने 'शातला' नामक अपनी रचना में शातला की इस मृत्यु को 'आत्महत्या' लिख मागा है। मैंने उसका विरोध किया था। बल्कि हाल ही में मैसूर विश्वविद्यालय के कन्नड प्राध्यापक डा० चिदानन्दमूर्ति ने अपने महाप्रबन्ध में मेरे ही मत का समर्थन किया है। उनका भी कहना है कि शिलालेख में स्पष्ट "मुडिवि स्वर्गने या दलु—सरकर स्वर्गामीन हुई।" लिखा है। ऐसी विवेकशीला एवं धर्मात्मा महिला की मृत्यु को आत्महत्या कहना निरा भूल है। शातला वस्तुतः एक आदर्श महिला थी।

पाँचवीं बात है कि गंगराज के पुत्र बोप्पदेव ने अपने पूज्य पिता की स्मृति में द्वारममुद्र पर जो विनाल एवं सुन्दर जिन-मन्दिर निर्माण कराया था, उसकी प्रतिष्ठा के बाद पुजारी लोग शेषाक्षत लेकर महाराजा विष्णुवर्धन के

पास बंकापुर गये। उसी समय महाराज ने मसन नामक शत्रु को बधकर उसका देश प्राप्त किया था और उनकी रानी लक्ष्मी महादेवी को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। नरेश ने उन पुजारियों की वन्दना की और भक्ति से गन्धोदक एवं शेषाक्षत अपने मस्तक में लगाये। उस समय विष्णुवर्धन ने कहा कि “इन भगवान् की प्रतिष्ठा के पुण्य से ही मैंने विजय एवं पुत्र का जन्म पाया। इसलिए मैं इन भगवान् को ‘विजयपार्वनाथ’ नाम से पुकारूँगा। और मैं अपने पुत्र का नाम ‘विजय नरसिंहदेव’ रखूँगा। साथ ही साथ महाराज ने मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए ‘जावगल्लु’ नामक ग्राम भेंट किया था। न० १२४ सन् ११३३ का यह लेख बस्तिहल्ल (हलेबाडु) में पार्वनाथ मन्दिर के बाहरी भीत पर एक पाषाण में अंकित है।

छठी बात है कि जिस समय विष्णुवर्धन के बड़े भाई बल्लाल एक असाध्य रोग से विशेष पीड़ित थे तब विष्णुवर्धन के आग्रह से ही श्रवणबेलगोल के तत्कालीन मठाधीश श्री चारुकीर्ति जी का इलाज किया गया और उस इलाज से बल्लाल स्वस्थ हो गये थे। बल्कि इसी के उप-

लक्ष्य में भट्टारक जी को ‘बल्लाल जीवरक्षक’ की उपाधि भी दी गई थी जो कि शिलालेखों में भी इस बात का उल्लेख पाया जाता है। अगर विष्णुवर्धन को जैनधर्म एवं जैन गुरु पर भक्ति नहीं होती तो वह चारुकीर्ति जी के इलाज के लिये आग्रह ही क्यों करते ?

सारांश यह है कि महाराज विष्णुवर्धन कारणात् से वैष्णव होने पर भी जैनधर्म पर उन्हें प्रेम तथा अभिमान कम नहीं हुआ था। इस बात को स्पष्ट करने के लिये उपर्युक्त प्रमाण पर्याप्त है। हाँ, एक किवदन्ती है कि द्वार-समुद्र माहलेबीडु में विष्णुवर्धन के समय में लगभग ७५० विशाल एवं मनोज्ञ जैन मन्दिर थे और वैष्णव होने के उपरान्त विष्णुवर्धन ने ही उन सब मन्दिरों को नाश कराया। आज हलेबीडु में दृष्टिगोचर होने वाले मन्दिरों के भग्नावशेषों से भी मन्दिरों के विनाश की बात यथार्थ मालूम होती है। पर यह विनाश-कार्य कब और किससे हुआ यह बात अनिश्चित है। इस विषय में अनुसन्धान की आवश्यकता है। तब ही इस बात की सच्चाई प्रकट हो सकती है।

‘अनेकान्त’ के स्वामित्व तथा अन्य व्योरे के विषय में—

प्रकाशन का स्थान	वीर सेवा मन्दिर भवन, २१ दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशन की अवधि	द्विमासिक
मुद्रक का नाम	प्रेमचन्द
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागंज, दिल्ली
प्रकाशक का नाम	प्रेमचन्द, मन्त्री वीर सेवा मन्दिर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	२१, दरियागंज, दिल्ली
सम्पादक का नाम	डा० आ. ने. उपाध्ये एम. ए. डी. लिट्, कोल्हापुर
	डा० प्रेमसागर, बडौत
	यशपाल जैन, दिल्ली
	भारतीय
राष्ट्रीयता	मार्फत वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली
पता	वीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, दिल्ली
स्वामिनी संस्था	

मैं, प्रेमचन्द घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

१७-२-६४

ह० प्रेमचन्द
(प्रेमचन्द)

श्रीपुर में राजा ईल से पूर्व का जैन मन्दिर

नेमचन्द्र धन्नुसा जैन, न्यायतीर्थ

[श्रीपुर 'अतरिक्ष पाश्वनाथ' का अधिष्ठान रहा है। इसे अतिशय क्षेत्र कहते हैं। इसके मन्दिर में 'प्रभु पाश्वनाथ' की प्रतिमा अघर में स्थित है। इसका उल्लेख वि० स० पहली शताब्दी के कुम्भकुन्दाचार्य की 'निष्वाणभर्त्ती' में प्राप्त होता है। इस मन्दिर का निर्माण राजा ईल से पूर्व खरदूषण ने करवाया था। लेखक ने परिश्रमपूर्वक अन्वेषणबुद्धि से एतद् सम्बन्धी ऊहापोह किया है। —सम्पादक]

ग्राम तौर पर समझा जाता है कि श्रीपुर पाश्वनाथ क्षेत्र का निर्माण राजा ईल ने ही किया है। लेकिन उपलब्ध जैन साहित्य, ताम्रपत्र तथा दत्तकथाओं के आधार पर यह सिद्ध हो सकता है कि श्रीपुर में ही खरदूषण राजा के समय से इस सातिशय प्रभु की स्थापना हो गयी थी। श्रीपुर का उल्लेख सातिशय क्षेत्रों में हमेशा हुआ है। हाँ इतना तो जरूर मानना पड़ता है कि ईल राजा के कुछ पहले इस क्षेत्र का विध्वंस हो गया हो और प्रभु जी को हस्ते-परहस्ते जल प्रवेश करना पड़ा हो। उसके बाद ईल राजा ने यहाँ धर्म प्रभावना के साथ क्षेत्र का उद्धार किया, उस समय भी यह प्रतिमा अघर (अतरिक्ष) रहने से इसका नाम तभी से अतरिक्ष पड़ा। 'तस थी अतरिक्ष कहा' यह उल्लेख इसका साक्षी है।

अब सवाल यह पैदा होता है—प्राचीन मन्दिर था, तो क्या श्रीपुर नगर भी प्राचीन है? मन्दिर कहाँ था, और पहले प्रतिमाजी कैसी विराजमान थी?

इस सातिशय प्रतिमा को राजा खरदूषण ने ही निर्माण किया, इस बाबत सब दिगम्बर साहित्य एकमत है। लेकिन श्वेताम्बर साहित्य में दो मत हैं। प्राचीन श्वेताम्बर आचार्य माली-सुमाली को निर्माता मानते हैं, तो लावण्य विजय से लेकर बाद के सब श्वेताम्बर आचार्य भी खरदूषण को निर्माता मानते हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि इनके ऊपर दिगम्बरी साहित्य का प्रभाव पड़ा है।

श्रीपुर की प्राचीनता—चारुदत्त श्रेष्ठी (भ० नेमिनाथ के समकालीन) धन कमाने के इरादे से इस

भाग में जब आया था, तब उसका आगमन श्रीपुर में हुआ था। (देखो चारुदत्त चरित्र) तथा कोटीभट श्रीपाल—भ० नेमिनाथ के समकालीन—वत्सनगर (वाशीम जिला अकोला) आया था तब वह इस नगर के बाहर उद्यान में स्थित एक विद्याधर को विद्यासाधन में सहायक हुआ था। 'वत्सगुल्म (वाशीम) महात्म्य' इस किताब में बताया है कि, पौराणिक काल में वाशीम का विस्तार १२ कोम का था। अतः हो सकता है—उम श्रोपान के जमाने में श्रीपुर का स्थान वासम नगरी के बाहर नजीक उद्यान जैसा हो। अन्यथा गाँव के हलकल्लोल में विद्यासाधना नहीं हो सकती।

श्रीपुर का सातिशय क्षेत्र में उल्लेख—(१) इसका उल्लेख करने वाले पहले आचार्य श्री कुन्द कुन्द (ई० सन् की पहली शताब्दी) के हैं। वह 'निष्वाण भर्त्ती' में यहाँ के पाश्वनाथ को वंदन करते हैं। देखो 'पास सिग्पुरि वदमि। होलगिरी शख दीवमि।

(२) दूसरा उल्लेख (जैन शिलालेख संग्रह भाग २ पृष्ठ ८५) राजा चानुक्य जयसिंह के ताम्रपत्र में है। ई० स० (४८८) में इस क्षेत्र को कुछ भूमि दान दी गई थी। तथा अकोला जिले के १९११ के गजेटियर में लिखा है कि 'आज जहाँ मूर्ति विराजमान है उसी भोयरे में यह मूर्ति संवत् ५५५ ई० स० ४९८ के वैशाख शुद्ध ११ को स्थापित की गई थी। वहाँ राजा का नाम गंगसिंह है, जो जयसिंह भी हो सकता है।

इस पर से विश्वास होता है कि यह गजेटियर लिखते समय उनके पास कोई प्रबल प्रमाण जरूर होगा, नहीं तो

वह निश्चित तिथि और जगह नहीं देते। अतः इस उल्लेख में हमें विश्वास आता है कि प्राचीन मन्दिर गाँव में ही उन्नी जगह होगा। इसका समर्थन नीचे के प्रमाण से भी होना है।

(३) जैन शिलालेख संग्रह भाग २ पृष्ठ १०६ में बताया है कि, “मुनिश्री विमलचन्द्राचार्य के (ई० स० ७७६) उपदेश से पृथ्वी निर्गुन्दराज की पत्नी कुन्दाक्षी ने श्रीपुर के उत्तर में ‘लोकतिलक’ नाम का मन्दिर बनवाया था। तथा इसकी मरम्मत, नई वृद्धि, देवपूजा आदि के लिए एक ग्राम दान दिया था।” उन श्रीविमलचन्द्राचार्य की प्रतिष्ठित और भी छोटी-छोटी धातु तथा पाषाण की प्रतिमाएँ श्रीपुर में सलेख पाई जाती हैं।

इस पर से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि, वह मन्दिर श्रीपुर के उत्तर दिशा में बनाया गया था। मन्दिर श्रीपुर के उत्तर भाग में ही है। तथा उत्तर दिशा नकशे में अग्र-भाग में ही रहने में या गिद्धस्वरूपी त्रिलोकीनाथ यहाँ विराजमान होने से इस मन्दिर का ‘लोकतिलक’ ऐसा नाम रखा होगा।

(४) आठवीं सदी के श्वेताम्बर विद्वान् हर्षभद्रसूरि समगच्छकहा में पृष्ठ ३६८-३६९ पर श्रीपुर का उल्लेख करते हैं। उस श्रीपुर का खलामा अनेकान्त जून १६६२ में पृष्ठ ८६ पर इस प्रकार आया है—‘४६ श्रीपुर—विभिन्न तीर्थ कल्प के अनुसार श्रीपुर में अंतरिक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की गई है। श्रीपुर का निर्माण मानी मुनानी ने किया है।

इसका मीथा अर्थ यह है कि श्वेताम्बरों के प्राचीन साहित्य में भी श्रीपुर का अस्तित्व भार्वातमुमानी के जमाने में माना जाता है।

(५) श्री जिनगेनाचाय (ई० स० ७८४) हर्षवश एरण अध्याय ५७ श्लोक ११०-१२३ में श्रीपुर, अचल-पुर (अचलसपुर) आदि ८५ नगरों का दिव्य नगर कहा है। और आगे कहा है कि ‘वहाँ के जिन मन्दिर में स्थित प्रतिमाएँ यद्यपि अपने-अपने स्थान पर स्थित हैं, तथापि मैं मने खड़े होकर देखने वालों को ऐसी दिखाई देती हैं मानो उन स्थानों में निकलकर आकाश में ही विद्यमान हों।। श्लोक १३६॥

इसमें श्रीपुर की जिन प्रतिमा अंतरिक्ष में अधर स्थित होने की स्पष्ट सूचना मिलती है तथा उसकी ऊँचाई भी स्पष्ट बताई है कि मामने खड़े होने वाले व्यक्ति के ऊँचाई में निकलकर अर्थात् कुछ अधिक ऊँचाई पर वह प्रतिमा स्थित थी।

श्वेताम्बर विद्वान् श्री जिनप्रभसूरि, सोमधर्मगणी तथा लावण्यविजय सूरि भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि श्रीपुर में पहले एक पुरुष से अधिक ऊँचाई पर प्रतिमा अधर स्थित थी।

देखो—जिनप्रभसूरि—‘श्रीपुर में पहले पानी भरने वाली स्त्री (मूर्ति के नीचे) से निकल जायगी इतनी अधर प्रतिमा थी।’ (श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ कल्प) सोमधर्मगणी—‘एक स्त्री अपने मस्तक पर घट-पर-घट रख कर उस बिंब के नीचे में पहले निकल जा सकती थी। ऐसा श्रीपुर के वृद्ध लोग कहते हैं।’ (उपदेश मण्डित श्लोक (२१-२२)। लावण्य समय—‘प्रतिमा के नीचे में पहले एक अमवार निकल जा सकती था’ आदि। (श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथ छंद) साथ में ये तीनों श्वेताम्बर विद्वान् एक आवाज में कहने हैं कि ‘अब यह प्रतिमा एक अगुल भर ही अधर है।’

आचार्य श्री विद्यानन्दी (ई० स० १४०) का श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र सूचित करता है कि, ईल राजा के पहले श्रीपुर में मातिशय पार्श्वनाथ की मूर्ति तथा मन्दिर था।

बाबू कामताप्रसाद जो लिखते हैं कि ‘श्रीपुर में पार्श्वनाथ भगवान का समवशरण आया था’ (स० जैन ड० भाग १ पृ० ८८)

इसके बाद का तथा श्रीपाल ईल राजा के पहले का कोई और साहित्यिक उल्लेख दृष्टि में नहीं आया। हाँ, जो आया है उस पर अगर विश्वास रखें कि वह वादिराज मुनि का ही है तथा श्रीपुर सबन्धी ही था तो श्रीवादिराज के (ई० स० ८६०-७०) जमाने में श्रीपुर के मन्दिर का विध्वंस हो गया होगा। और मूर्ति जलकूप में विराजित हुई होगी। यह जलकूप वह ही जान पड़ता है, जो पीली मन्दिर के बाजू में ही है। [ऐसा आज भी अनुभव होता है, कि उस कुएँ का जल एक मास तक सेवन करे तो उससे सब उदर रोग चले जाते हैं।] भानुविजयगणी के (वि० स० १७१५) के कथनानुसार भी, यह कूप इसली

के पेड़ के नीचे ही आता है। जहाँ ईल राजा ने विश्रान्ति ली थी। और हाथ-मुह धोकर जल पान किया था। तथा श्वेताम्बर वि० विजयराम (स० १७३७) लिखते हैं— 'एक दिन राजा घूमते हुए बगीचे में गया। वहाँ उसको मुड़े जल का प्रवाह मिला। राजा घोड़े पर से नीचे उतरा। वह वहाँ बैठा और हाथ-पाँव धोये तथा अपने महल को लौटा' आगे फिर कुएँ को जाने का तथा कुएँ से मूर्ति निकलने का वर्णन है।

अतः राजा ईल ने इस कूप में सयत्न यह मूर्ति निकाल कर प्रथम वहाँ के तोरणद्वार (महाद्वार) में स्थापना की और पूजा तथा राजधानी की तरफ उसे ले जाते समय वह अपनी पुराणी जगह आ गई और रुक गयी। राजा ने पीछे देखा तो प्रतिमाजी स्थिर हो गयी। या मान लो योगयोग राजा ने वहाँ कहीं पीछे देखा तो, मूर्ति वहाँ से न हटी। तब राजा ने जोशी लोगों से जाना कि, मूर्ति राजधानी एलिचपुर नहीं चलेगी, तो उसने सोचा होगा कि अच्छा हो जहाँ से इसे लाया वहाँ पर ही विराजमान करदू। इसी विचार से पीली मन्दिर का निर्माण हुआ। इसमें भट्टारक रामसेन (ई० स० ६८० से १०३५) का पूरा सहयोग था। स्थानीय लोग उनके हाथ में प्रतिष्ठा होना पसन्द नहीं करते थे। इसलिए वाद उपस्थित होने लगा तो रामसेन ने भी अघूरे मन्दिर में जन्दी से प्रतिमा विराजमान कर बाद में जेप काम (शिखर आदि) करने का विचार किया होगा। किन्तु योग के अनुसार प्रतिमा वहाँ में न हटी। तब मन्दिर को अधूरा ही छोड़कर रामसेन वहाँ से अलग हो गये हैं।

फिर राजा की अनुमति से मलधारि पद्मप्रभ को

बुलाया गया। उन्होंने 'लक्ष्मी महातुल्य सती...' स्तोत्र : प्रभु की स्तुति कर धरुणेंद्र को प्रसन्न किया। और धरुणों से प्रतिमाजी वहाँ से न हटाने का समाचार जानकर (गई में) वहाँ ही प्रतिमा के ऊपर मन्दिर निर्माण करवाया। हु सकता है राजा को काष्ठासघीय समझकर या सध आम्ना भेद का भगडा फिर खडा न हो। इसलिए भ्राम जनर को भी आर्थिक और श्रमिक मदद देकर मन्दिर निर्मा का उपदेश दिया हो।

यहाँ पीली मन्दिर निर्माण में राजा को गर्व होने क सवाल ही पैदा नहीं होता, अतः यह भ्रामक कल्पना बा में शामिल की होगी। क्योंकि श्वेताम्बर जिन प्रभुसूरी सोमधर्मगणि आदि विद्वान भी प्रतिमा के ऊपर ही मन्दि का निर्माण मानते हैं। (अचीकरच्च प्रोत्तुंग प्रासादं प्रतिष् पणि ।) आदि।

इस प्रकार मिट्ट हो सकता है कि खरदूषण राजा ३ आजनक श्रीपुर ही अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ भगवान क अधिष्ठान है। ऐसा नहीं होता तो, दिगम्बर या श्वेताम्बर साहित्य में उम अन्य जगह का जरूर उल्लेख मिलता।

कुछ लोग एलोरा का इस मूर्ति के प्रथम स्थान ३ सम्बन्ध लगाने हैं, लेकिन वह भ्रात है, क्योंकि एलोरा ३ गुफा निर्माण करने से ही ईल राजा का उससे सम्बन्ध है न कि मूर्ति वहाँ से लाने से। ऐसा नहीं होता तो एलोरा और श्रीपुर सम्बन्धी लिखने वाले ब्रह्मज्ञानसागर जं (१७वीं सदी) इसका जरूर उल्लेख करते। इति अलम्

हो सकता है इसमें मेरी भी भूल हो गयी हो तो विद्वान लोग इस पर अधिक प्रकाश डालें।

“बादल सागर का क्षार (क्षारा) जल पीकर और उसे मोठा एवं स्वादिष्ट बना कर लोक हित की दृष्टि से बरसा देता है। उसी तरह सज्जन पुरुष भी बुजुर्गों के दुर्बलताओं को सुनकर और उनके परिताप को सह कर उत्तर में मधुर, हितकारी और प्रिय सङ्घन ही बोलते हैं।”

वाग्भट्ट के मंगलाचरण का रचयिता

श्री क्षुल्लक सिद्धसागर

[सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग पृ० २५४) में तीन वाग्भट्टों का उल्लेख मिलता है। पहले वाग्भट्ट जैन थे, और उन्होंने 'वाग्भटालंकार' का निर्माण किया था। उस पर पाँच टीकाएँ उपलब्ध हैं। टीकाकार सिंह गणि ने उन्हें कवीन्द्र, महाकवि और राज-मंत्री कहा है। दूसरे वाग्भट्ट अर्जुन थे, उनके पिता का नाम सिंहगुप्त था, उन्होंने एक वैद्यक ग्रन्थ का निर्माण किया था। इसी ग्रन्थ के मंगलाचरण को दार्शनिक पहलू से आँक कर क्षुल्लक सिद्धसागर ने जैन सिद्ध किया है। प्रतीत होता है कि उनका कथन प्रामाणिक है। —सम्पादक]

रागादिरोगान् सततानुषक्ता-

नशेषकायप्रसूतानशेषान् ।

अतोऽसुखमोहारतिदाञ्जघान

योऽपूर्वबद्धाय नमोस्तु तस्मै ॥

जो लोग जीव के अस्तित्व को नहीं समझते हैं, उनके मत में जीव के न होने वाले रागादिकों का अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता है। तथा जो जीव को सर्वथा नश्य या शुद्ध ही मानते हैं, उनके मन्तव्य के अनुसार भी भाव रागादि हो सकते हैं और न द्रव्य ही। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो सर्वथा नित्य ही हो और अनित्यता उसमें हो। इसका कारण है कि वस्तु सत् है तथा परिणामी नित्य है। इसके विपरीत जो सर्वथा क्षणिक ही है, जिसमें नित्यता किसी प्रकार भी नहीं है, उस वस्तु का अस्तित्व ही नहीं हो सकता। वस्तु सत् स्वरूप होती है और मत् उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्ययुक्त होता है।

रागादि रोग उत्पन्न हो तथा वे जीव में कुछ काल तक कायम रहें तभी तो उसका रत्नत्रय रूप त्रिफला से दूर करने का उपाय भी बन सकता है। किन्तु जिसके मन्तव्य के अनुसार उनका होना तथा कुछ काल तक ही संसारी जीव के उनका बना रहना असम्भव है, उसके मत में उनका निराकरण भी सम्भव नहीं है।

जो लोग सदा से अनादि से ही जिस ईश्वर विशेष को रागादि रहित मानते हैं उनका यह कहना कि उसने रागादि रोगों को नष्ट किया है स्ववचन बाधित है, अतः

इस मंगलाचरण का रचयिता न तो सर्वथा नित्यवादी ही हो सकता है और न क्षणिकवादी बौद्ध ही। तथा जो ईश्वर को सर्वव्यापक तथा अनादि शुद्ध मानते हैं, उनके मत में रागादि का उसके उत्पन्न होना तथा रागादि रोगों का नष्ट किया जाना सम्भव नहीं हो सकता है, अतः यह सिद्ध होता है कि उक्त वाग्भट्ट कृत मंगलाचरण परिणामी नित्य वस्तु को मानने वाले किसी आर्हत् मतानुयायी का रचा हुआ है।

जिसके मत में न ईश्वर के कोई शरीर है और न वह सर्वव्यापक होने से कोई परिस्पन्दवती क्रिया ही करता है, वह जीवों के रागादि तथा आनुपङ्गिक और काय में होने वाले रोगों को कैसे दूर कर सकता है? वह शरीर के बिना जीवों को मोहादिक रोगों को दूर करने के उपाय को बताने वाला अपूर्व वैद्य कैसे हो सकता है?

हाँ, जो पहले संसारी जीव होता है तथा जो अपने मोहादिक को दूर कर, अठारह दोष रहित, निर्दोष सकल परमात्मा बनता है, वह परमौदारिक निरोग शरीर में स्थित परमात्मा, जिसके दिव्य-वाणी पाई जाती है, वह अपने और दूसरे के रागादि रोगों को दूर करने वाला हो सकता है।

“स्थित्युत्पत्तिलयान् गच्छति, इति जगत् ।” इस कथन के अनुसार सम्पूर्ण विश्व या जगत् परिणामी नित्य है तथा उस मन्तव्य के अनुसार जीव के रागादिक रोग तथा काय में होने वाले रोगों का होना तथा उनका

निदान आदि करके निराकरण किया जाना सम्भव है।

शरीर में या जीव में होने वाले रोगों के प्रकार अनेक हैं। तथा उनके उपाय भी अनेक हैं। एक रोग के लिए अनेक औषधियाँ हो सकती हैं तथा अनेक रोगों के लिए एक औषधि भी उपयोगी हो सकती है। इस प्रकार रोगी, रोग, उनके कारण और शमन के उपाय आर्हन्त मतानुसार अनेकान्तमय है।

जीव के रागादिक रोग होते हैं, वे निष्कारण नहीं हो सकते हैं। जीव, शरीर और कर्म से बंधा हुआ है। उम बन्ध के हेतु मोहादिक है। यदि नवीन अपराध, मोह, हिमा आदि रूप से न किया जावे तथा कर्मोदयादि से होने वाले पुराने रोगों का अन्त करने के लिये इच्छा-निरोध रूप तप करके उनको आंशिक रूप से समाप्त किया जावे, तो फिर पूर्णरूप से मुक्ति भी असम्भव नहीं है। जो निर्दोष सर्वज्ञ हैं उनके शरीर में मोहादि का अभाव होने से कोई रोग और उपसर्ग नहीं होता है।

यदि जीव को काया से सर्वथा अबद्ध माना जावे तो काय में उत्पन्न होने वाले रोगों का असर ससारी जीव में क्यों हो ? अन्य के शरीर के समान निजी शरीर के रोग में भी उमे वेदना नहीं होनी चाहिये ? किन्तु पीड़ा का अनुभव मोही जीव को होता है। वह राग जीव का परिणाम है। वह रागादिक रोग निष्कारण नहीं होता है। जीव विवेकरहित होकर अपराध कर कर्म बन्ध कर उसके फल पाता है। इसीलिये आचार्य धनञ्जय ने कहा है कि—

“नरक यान्य मेधश ।”

उक्त कथनों पर से यह फलित होता है कि—जीव अजीव के साथ अपराध करने से बंधा हुआ शरीर रूपी कारागार में पड़ा हुआ है। वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी भगवान् अपूर्व वैद्य है—जैसा कि वैद्यक ग्रंथों में स्वयंभू प्रजापति या आदिदेवरूप धनवन्तरी को रागादि रोगों को दूर करने वाला वैद्य प्रतिपादित किया है। जीवका स्वरूप जानना देखना है या उपयोग है, तथा अजीव अचेतन रूप है, अपराध आश्रय है, तथा उससे कर्म बन्ध होता है, जब जीव अपराध को नहीं करने रूप (सम्यक्त्व सहित) संवर को करता है, तथा रागादि रोगों के कारण कर्म को अंश रूप से निर्जरारूप करते हुए पूर्णरूप से जब उसे खिरा देता है, मुक्त होता है।

चार्वाक नास्तिक इस मंगलाचरण का रचयिता नहीं हो सकता है, क्योंकि वह पुद्गल से अलग जीव का अस्तित्व नहीं मानता, उसके मत में जीव के रागादिक का होना सम्भव नहीं है।

आर्हन्त मत के सिवाय किसी भी मन्तव्य के अनुसार उपर्युक्त मंगलाचरण का रचा जाना संभव नहीं है। जो क्षणिकवादी है, वह मंगलाचरण के रचने के विचार के समय ही चल बसेगा। अतः वह तो उसे रच ही नहीं सकता है। तथा जो सर्वथा नित्य है, वह मंगलाचरण रचने के पहले जैसे नित्य मंगलाचरण रचने के विचार से रहित था, वैसे ही रहने से मंगलाचरण रचने के नवीन कार्य को नहीं करा सकता है।

जो द्रव्य दृष्टि से वस्तु को ऊर्ध्व सामान्य या अन्वय की अपेक्षा से कथञ्चित् नित्य तथा पर्याय अपेक्षा से कथञ्चित् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त मानता है उस आर्हन्त मत की अपेक्षा से उस मंगलाचरण का रचा जाना सम्भव है। “असद् का उत्पाद नहीं होता है तथा सत् निर्मूल नहीं होता है।” इस कथन के अनुसार समस्त वस्तुएँ अनादि निधन है। जो वस्तु है उसी में कुछ उत्पाद व्यय आदि होते रहते हैं। जो कुछ भी नहीं है उसमें न कोई उत्पाद है न व्ययादिक है। जो वस्तु है, वही परिणामी नित्य है, वही वस्तु हो सकती है। इस प्रकार वस्तु उभयान्वय से और अविनाभाव से सहित है।

यदि रोग का कारण सर्वथा नित्य है, तो रोग का उपचार व्यर्थ होता है। यदि रोग क्षणिक है, वह स्वतः नष्ट होता है, तो भी उसका उपाय व्यर्थ है। जो रोग निष्कारण प्रति क्षण उत्पन्न हो तथा नष्ट हो, उसके मत में आयुर्वेद शास्त्र कार्यकारी नहीं हो सकता है। किन्तु जो रोग के आधार रोग के कारण, रोग तथा रोग के उपचार को, आर्हन्त मत में कहे हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सहित परिणामी नित्य, मानता है, उसके मत में ही आयुर्वेद शास्त्र तथा मंगलाचरण-प्रणयन आदि की सफलता सम्भव है।

यदि औषधि रूप से पाये जाने वाले द्रव्य सर्वथा नित्य हैं, तो वे कोई असर नहीं कर सकते तथा क्षणिक

[शेष पृष्ठ २४२ पर]

रङ्ग कृत 'सावयचरित' 'समत्तकउमुइ' ही है

प्रो० राजाराम जैन, आरा

[रङ्ग अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने 'समत्तकउमुइ' का निर्माण किया था। उनकी रचना 'सावयचरित' का ही दूसरा नाम 'समत्तकउमुइ' था। पं० परमानंद और प्रो० राजाराम दोनों की ऐसी मान्यता है। श्री अग्ररचंद नाहटा ने 'भूल की पुनरावृत्ति' कहकर उसका खण्डन किया है। किन्तु प्रस्तुत निबंध में प्रो० राजाराम ने नाहटा जी के कथन की नितान्त भ्रामक प्रमाणित कर दिया है। अच्छा होता यदि नाहटा जी अपने 'खण्डन' को अखण्ड न मानते।

—सम्पादक]

अनेकान्त के वर्ष १७ किरण १ (अप्रैल १९६४) में सिद्धान्ताचार्य श्री बाबू अग्ररचन्द्र जी नाहटा ने एक लेख लिखकर महाकवि रङ्ग कृत "सावयचरित" का "समत्तकउमुइ" नाम अनुपयुक्त माना है। उन्होंने अपने मत का समर्थन करते हुए भिक्षूस्मृति ग्रंथ (कलकत्ता १९६१) में प्रकाशित "अपभ्रंश-भाषा के मन्थिकालीन महाकवि रङ्ग" नामक मेरे निबंध एवं श्री पं० परमानन्द जी शास्त्री द्वारा सम्पादित 'प्रशस्ति संग्रह द्वि० भाग की प्रस्तावना (पृ० १०२) में उल्लिखित रङ्गकृत "समत्तकउमुइ" नाम-कोभी" "ठीक नहीं" बतलाया है। किन्तु जिसे श्री नाहटा जी ने "भूल की पुनरावृत्ति" कहा है, मेरे दृष्टिकोण में सत्य का समर्थन वस्तुतः उसी से होता है।

"सावयचरित" के आद्योपान्त अध्ययन से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि 'सावयचरित' एवं 'समत्तकउमुइ' एक ही रचना के दो नाम हैं। रङ्ग-साहित्य का विद्यार्थी होने के कारण मुझे रङ्ग का प्रायः समस्त उपलब्ध साहित्य देखने का अवसर मिला है तथा उसकी कई विशेषताओं में से एक यह विशेषता भी दृष्टिगोचर हुई है कि लेखक ने नायकों, भट्टारकों एवं रचनाओं के कई-कई पर्यायवाची नाम अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किये हैं। जैसे—

रविपट्ट—अर्ककीर्ति (पासणाह० ३।११।१),

हयसेणु—अश्वसेन (पासणाह० ३।१।४, ३।२।१४),

सत्तुदमन—अरिदमन (सिरिबाल० ३।२),

हरिहर—मृगरथ (सिरिबाल० २।१) आदि नायकों,

सुरसेन—देवसेन (मेहेसर० १।९) आदि लेखकों,
कजकिर्ति—कमलकीर्ति (णेमि० अन्त्यप्रशस्ति)
आदि माथुर-गच्छीय पुष्करगणशाखा के भट्टारकों, एवं
रामचरित—पउमचरित एवं बलहृदचरित,
मेहेमरचरित—आदिपुराण,
सम्मइजिणचरित—वीरचरित एवं वड्डमाणचरित,
मिग्गिवालचरित—सिद्धचक्कमाहण एवं सिद्धचक्क-
विहि,

वित्तमार—चरितमार, तथा

णेमिणाहचरित—अग्निट्टणेमिचरित एवं हरिवंशपुराण
आदि स्वचरित रचनाओं के नाम-नामान्तरो के प्रयोग
उपलब्ध होते हैं। यही नहीं, उसने स्वयं अपने नाम के
भी नाम-नामान्तर प्रस्तुत किये हैं। जैसे उसने 'रङ्ग'
इस नाम का तो प्रयोग किया ही किन्तु कहीं-कहीं 'सिहसेन'
(सम्मइ० १।५।१०-११; मेहेसर० १।३।८-९) का भी
प्रयोग कर लिया तो सन्धियों के अन्त्य पत्तों में रङ्ग,
(सम्मइ० १।१९।११, २।१६।१७, ३।३८।१७, ४।२।११५,
५।३८।१२; ६।१७।१३, सावय० ३।२९) रङ्गधर (सावय०
१।१३) जैसे नामान्तरों के उल्लेख भी किये हैं। ठीक
इसी प्रकार 'सावय चरित' के भी कवि ने कई नामों के
उल्लेख किये हैं। जैसे "कौमुदी कथा प्रबन्ध" (जीवन्धर०
१।३); 'कौमुदी प्रबन्ध' (णेमि० १।२) 'कौमुदी कथा'
(जीवन्धर० १।४ तथा उसकी अत्यन्त प्रशस्ति) 'सम्मत्त
कउमुइ' (सावय० अन्त्य पुष्पिका) एवं 'सावय चरित'।
उपयुक्त उदाहरणों से यह भी स्पष्ट अवगत होता है कि

कवि रङ्गू ने 'सावय चरिउ' में ही 'सावय चरिउ' का नामोल्लेख किया है किन्तु अपनी अन्य रचनाओं में पूर्ववर्ती स्वरचित रचनाओं के उल्लेखों के प्रसंग में सर्वत्र 'कौमुदी कथा' आदि के नाम से ही उसका स्मरण किया है, 'सावय चरिउ' के नाम से नहीं। फिर 'सावय चरिउ' की चतुर्थ सन्धि की पुष्पिका में 'सम्मत कहतर' एवं उसीकी अन्त्य पुष्पिका में 'सम्मतकउमुइ' का स्पष्ट नामोल्लेख मिलता ही है, तब पता नहीं उसे 'सावयचरिउ' के कहलाने का ही आग्रह श्री नाहटा जी क्यों करते हैं ?

जहाँ तक विषयवस्तु का प्रश्न है 'सावयचरिउ' एवं 'समत्तकउमुइ' में कोई अन्तर नहीं। सस्कृत की सम्यक्त्व-कौमुदी ही इसका मूलधार है अथवा यदि चाहे तो यह भी कह सकने है कि सस्कृत की सम्यक्त्व कौमुदी का यह कुछ थोड़े से हेर-फेर के साथ अपभ्रंश-सस्करण ही है। इसके उदितोदय एवं सुयोधन राजा, सुबुद्धि मन्त्री, रूपखुर एवं सुवर्णखुर चोर, अहंदास सेठ तथा उसकी मित्रश्री आदि आठ सेटानियाँ दोनों ही ग्रंथों में समान हैं। कथानक भी वही है। दोनों ही ग्रन्थों में 'कौमुदी-महोत्सव' कथानक-विस्तार का मूल कारण है। इस आधार पर यह स्पष्ट है कि 'सावय चरिउ' एवं 'समत्तकउमुइ' एक ही रचना के दो नाम हैं।

श्री नाहटा जी ने 'सावयचरिउ' का ग्रन्थ प्रेरक सेउ साहु के पुत्र कुशराज को माना है। मैं इससे भी सहमत नहीं। 'सावयचरिउ' के प्रणयन की मूल प्रेरणा वस्तुतः टेक्कणि साहु ने ही की। यथा—

आयमचरिउपुराणवियाणे । टेक्कणिसाहु गुणेणपहाणे ॥
पडितच्छतेण विणत्तउ । करमउलेप्पिणु वियसियवत्तउ ॥

धत्ता

भो भो कइयणवर दुक्कियरयहर
पइकइत्त भरु वहिउ मिरि ।
णिमुणहि णिम्मलमणरजिय
बुहयण सव्व मुहायग सच्चगिरि ॥

सावय० १।२।१७-२०

.....तह सावइ चरिउ भणेहु इच्छ ॥

सावय० १।३।४

कवि टेक्कणिसाहु की प्रार्थना सुनकर अपनी कुछ असमर्थता दिखलाना है। वह कहता है—

ता कइणा पडिततरूपउत्तु ।
तुह कहिउ करमि हउ सुह णिरुत्तु ॥
परणियमिणसोयाणरपहाणु ।
जो सच्छभानु उव्वहइ जाणु ॥
जाचहिणउ कोवि महत्तु होइ ।
ता किम विच्छरइ ससच्छु लोइ ॥

सावय० १।३।५-८

प्रतीत होता है कि टेक्कणि साहु की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी न थी तथा कवि बिना आश्रय प्राप्त किए रचना कर सकने में असमर्थ था। अतः उक्त साहु ने तुरन्त ही गोपाचल के श्री कुशराज का परिचय कवि को दिया तथा समय पाकर एक दिन वह कुशराज को लेकर स्वयं कवि के पास पहुँचे तथा कुशराज की पूर्वं चार पीढ़ियों का परिचय देते हुए। कुशराज के विषय में कहा—

एयाह मज्झि कुल-भवण-दीउ ।
कुशराज महासइणिरुविणीउ ॥
तुहु पुरु सठिउ विण्णवइ एहु ।
सत्थत्थज्जाणु किण्णउ मुणेहु ॥
इहु णिव्वाहइ सकइत्त भारु ।
इय मुणिवि करहि किण चरिउ चारु ॥
इहु कवियण मणभत्तउ पहाणु ।
तुम्हह कीरेसइ अहिउ माणु ॥

सावय० १।४।१३-१६

टेक्कणि साहु में कुशराज का परिचय प्राप्त कर रङ्गू ग्रन्थ प्रणयन की स्वीकृति देते हुए कहते हैं—

इहु सच्चु कइत्तहु भरु वहेइ ।
णिम्मलु जस पसरु विइह लहेइ ॥
साहम्मिय वच्छल गुण पवित्तु ।
कि कि ण करमि एयहु पउत्तु ॥

सावय० १।४।१८-१९

इसके बाद रङ्गू एवं कुशराज का परस्पर में कुछ वार्तालाप होता है और रङ्गू अपना कार्याम्भ कर देते हैं। इन प्रसंगों से यह बिल्कुल स्पष्ट ही है कि कुशराज ग्रंथप्रेरक नहीं बल्कि आश्रयदाता है। ग्रंथप्रेरक तो वस्तुतः टेक्कणि साहु ही है, क्योंकि टेक्कणि साहु यदि कवि से

परिचित न होते अथवा कुशराज से कवि का परिचय न कराते तब 'सावयचरिउ' के लिखे जाने का कोई प्रश्न ही न उठता। रङ्ग की अन्य रचनाओं में भी यही परम्परा उपलब्ध होती है कि ग्रन्थ-प्रणयन की प्रेरणा कोई अन्य करता है जबकि आश्रयदाता वही अथवा अन्य दूसरा कोई होता है।

सावयचरिउ अथवा समस्त कउमुइ के विषय में जो कुछ भ्रान्त धारणाएं जगी है, उसका मूल कारण यथार्थ में नागौर शास्त्र-भण्डार के अधिकारी भट्टारक एवं वहाँ की प्रबन्ध समिति ही है। मध्यकालीन राजनैतिक, साम्प्रदायिक एवं धार्मिक उथल-पुथल के समय जब जैन साहित्य, कला एवं सस्कृति अवनतिके कगारे पर खड़ी एक धक्के की प्रतीक्षा कर रही थी। उसी समय भट्टारकों ने उनके

संरक्षण के लिये जो कुछ किया वह भारतीय वाङ्मय का एक अद्भुत अध्याय है। उनकी कृपा से साहित्य-प्रणयन का जो एक तूफान आया उसी का यह फल है कि भारतीय जैन शास्त्र भण्डार उनसे भरे-पड़े है। शत-प्रतिशत भट्टारक प्रायः साहित्यकार थे, जिन्होंने विशाल साहित्य लिखा, साथ ही उन्होंने जैन-जैनोत्तर विद्वानों से भी साहित्य-सृजन का कार्य कराया। भट्टारक यशः कीर्ति की प्रवृत्ति हिन्दी के भारतेन्दु बाबू की भाँति थी। उन्होंने साहित्य एवं साहित्यकार दोनों का ही निर्माण किया। एक ओर साहित्य-प्रणयन का ऐसा उत्साह-भरा वातावरण था तो दूसरी ओर नागौर शास्त्र-भण्डार का द्वार साहित्य-जिज्ञासुओं के लिए बन्द रहता है, दोनों प्रवृत्तियों में कोई मेल नहीं।

[पृ० २४६ का शेष]

द्रव्य एक क्षण में गुण-रहित हो जाता है, तो वह रोग और रोगी पर अपना प्रभाव कैसे डालेगा ?

यदि सब द्रव्य एक रूप ही हैं तो एक ही औषधि से सब रोग दूर हो जावेगे। शेष औषधियों से भी वैसा ही होगा किन्तु इस विषय में कोई एकान्त नियम नहीं पाया जाता है। अनेक औषधियाँ भी एक रोग को दूर करने के निमित्त होती हैं तथा एक औषधि भी अनेक रोगों को दूर करती है, अतः प्रत्येक द्रव्य अनेकान्तात्मक तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है।

औषधि की मात्राओं में जो भिन्नता पाई जाती है, वह वस्तु की शक्तियों की भिन्नता की द्योतक है। जब वस्तु को स्वतः अनेकान्त खचकर है तो हम आहत् मत को कैसे टाल सकते हैं ?

वस्तुओं के क्षेत्र के अनुसार भी भिन्नता होती है तथा अनेकता होती है। भिन्न-भिन्न देशों की प्रकृतियों का उल्लेख आयुर्वेद में प्रतिपादित है तथा उसके अनुसार रोग का निदान उपचार आदि यथासम्भव कर उचित है।

भिन्न-भिन्न कालों या ऋतुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों के कारण रोगी और उपाय पाये जाते हैं अतः काल की अपेक्षा भी द्रव्य का विचार किया जाता है।

किस वस्तु में कौन-सा गुण या विटामिन कितनी मात्रा में पाया जाता है तथा किसमें किस प्रकार की शक्ति कम मात्रा में मौजूद है और कौन-सी अधिक मात्रा में विकसित है, यह सब वस्तु को 'अनेकान्तात्मक' सिद्ध करती है।

जैन-दर्शन में सप्तभंगीवाद

उपाध्याय मुनि श्री अमरचन्द्र

[सप्तभंगीवाद जैनदर्शन के 'स्याद्वाद' का विश्लेषण है। जैन आचार्यों ने स्याद्वाद को सात रूपों में विभक्त कर समझने का सफल प्रयास किया है। इन सात रूपों को ही सप्तभंग कहते हैं। नैयायिकों ने अपनी भाषा में उलझा कर इसे बुरा बना दिया, परिणामतः विद्वान् भी 'सप्तभंगी' का नाम सुन कर घबड़ाते हैं। इस निबन्ध में मुनि अमरचन्द्र जी ने 'सप्तभंगी' को रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। आशा है कि पाठक न ऊबेंगे न उकतायेंगे, अपितु उनकी जिज्ञासा वृत्ति को आनन्द प्राप्त होगा —सम्पादक]

माख्यदर्शन का चरम विकास प्रकृति पुरुष-वाद में हुआ, वेदान्तदर्शन का चित् अद्वैत में, बौद्ध दर्शन का विज्ञानवाद में और जैन दर्शन का अनेकान्त एव स्याद्वाद में। स्याद्वाद जैनदर्शन के विकास की चरम-रेखा है। इसको समझने के पूर्व प्रमाण एव नय को समझना आवश्यक है। और प्रमाण एव नय को समझने के लिए सप्तभंगी का समझना भी आवश्यक ही नहीं परम आवश्यक है। जहाँ वस्तुगत अनेकान्त के परिबोध के लिए प्रमाण और नय है, वहाँ प्रतिपादक वचन-पद्धति के परिज्ञान के लिए सप्तभंगी है। यहाँ पर मुख्य रूप में सप्तभंगीवाद का विश्लेषण ही अभीष्ट है। अतः प्रमाण और नय की स्वतन्त्र परिचर्चा में न जाकर सप्तभंगी की ही विवेचना करेंगे।

सप्तभंगी—

प्रश्न उठता है कि सप्तभंगी क्या है? उसका प्रयोजन क्या है? उसका उपयोग क्या है? विश्व की प्रत्येक वस्तु के स्वरूप-कथन में मात प्रकार के वचनो का प्रयोग किया जा सकता है, इसी को सप्तभंगी कहते हैं।

वस्तु के यथार्थ परिबोध के लिए जैनदर्शन ने दो उपाय स्वीकार किये हैं—प्रमाण और नय। समार की किसी भी वस्तु का अधिगम (बोध) करना हो तो वह बिना प्रमाण और नय के नहीं किया जा सकता।

१. सप्तभि प्रकारैर्वचन-विन्यासः सप्तभंगीतिगीयते।

—स्याद्वाद मजरी, का० २३ टीका।

२. प्रमाण नयैरधिगमः—तत्त्वार्थगम सू० १-६।

अधिगम के दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ३। स्वार्थ ज्ञानात्मक होता है, परार्थ शब्दात्मक। भग का प्रयोग परार्थ (दूसरे को बोध कराने के लिए किया जाने वाला शब्दात्मक अधिगम) में किया जाता है, स्वार्थ (अपने आपके लिए होने वाला ज्ञानात्मक अधिगम) में नहीं। उक्तवचन-प्रयोग रूप शब्दात्मक परार्थ अधिगम के भी दो भेद किये जाते हैं—प्रमाण-वाक्य और नय-वाक्य। उक्त आधार पर ही सप्तभंगी के दो भेद किये हैं—प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी। प्रमाण वाक्य को सकलादेश और नय वाक्य को विकलादेश भी कहा गया है। वस्तुगत अनेक धर्मों के बोधक वचन को सकलादेश और उसके किसी एक धर्म के बोधक-वचन को विकलादेश कहते हैं। जैनदर्शन में वस्तु को अनन्त धर्मात्मक माना गया है। वस्तु की परिभाषा इस प्रकार की है—जिसमें गुण और पर्याय रहते हैं, वह वस्तु है५। तत्त्व, पदार्थ और द्रव्य ये वस्तु के पर्यायवाची शब्द हैं।

३. अधिगमोद्विविधः स्वार्थः परार्थश्च, स्वार्थोऽज्ञानात्मकः परार्थः शब्दात्मकः। स च प्रमाणान्मको नयात्मकश्च.....इयमेव-प्रमाणमातभंगी च कथ्यते।

—सप्तभंगीतरंगिणी, पृ० १

अधिगमहेतु द्विविधः.....तत्त्वा० रा० १-६-४

४. अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्

अन्ययोग व्यवच्छेदिका

का० २२

५. वसन्ति गुण-पर्याया अस्मिन्निति वस्तु—धर्माधर्मा-ऽऽकाश पुद्गल-काल जीवलक्षणं द्रव्य षट्कम्।

—स्याद्वादमजरी, कारिका २३ टीका।

सप्तभंगी की परिभाषा करते हुए कहा गया है, कि—“प्रश्न उठने पर एक वस्तु में अविरोध-भाव से जो एक धर्म-विषयक विधि और निषेध की कल्पना की जाती है, उसे सप्तभंगी कहा जाता है।” भंग सात ही क्यों हैं ? क्योंकि वस्तु का एक धर्म-सम्बन्धी प्रश्न सात ही प्रकार से किया जा सकता है। प्रश्न सात ही प्रकार का क्यों होता है ? क्योंकि जिज्ञासा सात ही प्रकार से होती है। जिज्ञासा सात ही प्रकार से क्यों होती है ? क्योंकि संशय सात ही प्रकार से होता है। अतः किसी भी एक वस्तु के किसी भी एक धर्म के विषय में सात ही भंग होने से इसे सप्तभंगी कहा गया है। गणित-शास्त्र के नियमानुसार भी तीन मूल वचनों के संयोगी एवं असंयोगी अपुनरुक्त भंग सात ही हो सकते हैं कम और अधिक नहीं। तीन असंयोगी मूल भंग, तीनद्वि-संयोगी भंग और एकत्रिसंयोगी भंग। भंग का अर्थ है—विकल्प प्रकार और भेद।

सप्तभंगी और अनेकान्त—

वस्तु का अनेकान्तत्व और तत् प्रतिपादक भाषा की निर्दोष पद्धति स्याद्वाद, मूलतः सप्तभंगी में सन्निहित है। अनेकान्त दृष्टि का फलितार्थ है, कि प्रत्येक वस्तु में सामान्य रूप से और विशेष रूप से, मिश्रता की दृष्टि से और अमिश्रता की दृष्टि से, नित्यत्व की अपेक्षा से और अनित्यत्व की अपेक्षा से तथा सद्रूप से और असद्रूप से अनन्त धर्म होते हैं। संक्षेप में—“प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है।”—यह परिबोध अनेकान्त दृष्टि का प्रयोजन है। अनेकान्त स्वार्थाधिगम है, प्रमाणात्मक-श्रुतज्ञान है। परन्तु सप्तभंगी की उपयोगिता इस बात में है कि वह वस्तु-गत अनेक अथवा अनन्त धर्मों की निर्दोष भाषा में अपेक्षा बताए, योग्य अभिव्यक्ति कराये। उक्त चर्चा का सारांश यह है कि अनेकान्त अनन्तधर्मात्मक वस्तु स्वरूप की एक दृष्टि है, और स्याद्वाद अर्थात् सप्तभंगी उस मूलज्ञानात्मक दृष्टि को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा-सूचिका एक वचन-पद्धति

१. प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुव्यविरोधेन विधि-प्रतिषेध विकल्पना सप्तभंगी। (तत्त्वा० रा० वा. १, ६, ५१।)

है। अनेकान्त एक लक्ष्य है, एक वाच्य है और सप्तभंगी स्याद्वाद एक साधन है, एक वाचक है, उसे समझने का एक प्रकार है। अनेकान्त का क्षेत्र व्यापक है, जबकि स्याद्वाद का प्रतिपाद्य विषय व्याप्य है, दोनों में व्याप्य व्यापक-भाव सम्बन्ध है। अनन्तानन्त अनेकान्तों में शब्दात्मक होने से सीमित स्याद्वादों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः स्याद्वाद अनेकान्त का व्याप्य है व्यापक नहीं।

भंग कथन पद्धति—

शब्द शास्त्र के अनुसार प्रत्येक शब्द के मुख्य रूप में दो वाच्य होते हैं—विधि और निषेध। प्रत्येक विधि के साथ निषेध है और प्रत्येक निषेध के साथ विधि है। एकान्त रूप से न कोई विधि है, और न कोई निषेध। इकारार के साथ इन्कार और इन्कार के साथ इकारार सर्वत्र लगा हुआ है। उक्त विधि और निषेध के मय मिलाकर सप्तभंग होते हैं। सप्तभंगों के कथन की पद्धति यह है—

१. स्यादस्ति, २. स्यादनास्ति, ३. स्याद अस्ति-नास्ति, ४. स्याद अवक्तव्य, ५. स्याद अस्ति अवक्तव्य, ६. स्याद नास्ति अवक्तव्य, ७. स्याद अस्ति नास्ति अवक्तव्य।

सप्तभंगी में वस्तुतः मूलभंग तीन ही हैं—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। इसमें तीन द्विसंयोगी और एक त्रि-संयोगी—इस प्रकार चार भंग मिलाने से सात भंग होते हैं। द्विसंयोगी भंग ये हैं अस्ति-नास्ति, अस्त्यवक्तव्य और

१. अभिलाप्यभाव, अनभिलाप्यभावों के अनन्तवे भाग है—पणवणिज्जाभावा, अणन्तभागो दु अणभिलाप्यण। गोम्मटसार—अनन्त का अनन्तवां भाग भी अनन्त ही होता है। अतः वचन में भी अनन्त है। तत्त्वार्थश्लो० १, ६, ५२ के विवरण में कहा है—“एकत्र वस्तुनि अनन्तानां धर्माणामभिलापयोग्यना-मुपगमादनन्ता एक वचन मार्गा स्याद्वादिना भवेयुः। यह ठीक है कि वचन अनन्त है फलतः स्याद्वाद भी अनन्त है, परन्तु वह अनेकान्तधर्मों का अनन्तवां भाग होने के कारण सीमित है, फलतः व्याप्य है।

नास्ति अवक्तव्य । मूलभग तीन होने पर भी फलितार्थ रूप से सात भगो का उल्लेख भी आगमों में उपलब्ध होता है । भगवती सूत्र में जहाँ त्रिप्रदेशिक स्कन्ध का वर्णन आया है वहाँ स्पष्ट रूप से सात भंगों का प्रयोग किया गया है^१ ? आचार्य कुन्दकुन्द ने सात भंगों का नाम गिनाकर सप्तभग का प्रयोग किया है^२ । भगवती सूत्र में अवक्तव्य को तीसरा भंग कहा है^३ । जिन भद्रगणी क्षमाश्रमण भी अवक्तव्य को तीसरा भग मानते हैं^४ । कुन्दकुन्द ने पचास्तिकाय में इसको चौथा माना है, पर अपने प्रवचनसार में इसको तीसरा माना है^५ । उत्तरकालीन आचार्यों की कृतियों में दोनों क्रमों का उल्लेख मिलता है ।

प्रथम भंगः—स्याद् अस्तिघट

उदाहरण के लिए घट गत मत्ता धर्म के सम्बन्ध में सप्तभगो घटाई जा रही है । घट के अनन्त धर्मों में एक धर्म मत्ता है, अस्तित्व है । प्रश्न है कि वह अस्तित्व किस अपेक्षा में है ? घट है, पर वह क्यों और कैसे है ? इसी का उत्तर प्रथम भग देता है ।

घट का अस्तित्व स्यात् है, कथंचित् है, स्वचतुष्टय की अपेक्षा में है । जब हम चाहते हैं कि घड़ा है, तब हमारा अभिप्राय यही होता है, कि घड़ा स्वद्रव्य स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की दृष्टि से है । यह घट के अस्तित्व की विधि है, अतः यह विधिभग है । परन्तु यह अस्तित्व की विधि स्व की अपेक्षा है, परकी अपेक्षा से नहीं है । विश्व की प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व स्वरूप से ही होता है, पर रूप से नहीं । “सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च ।” यदि स्वयं से भिन्न अन्यसमग्र पर स्वरूपों में भी घट का अस्तित्व हो, तो घट फिर एक घट ही क्यों रहे, विश्व रूप क्यों न बन जाए ? और यदि विश्व-रूप बन जाए, तो फिर मात्र अपनी जलाहरणादि क्रियाएँ ही घट में क्यों हो, अन्य पटादि की प्रच्छादिनादि क्रियाएँ क्यों न हो ? किन्तु कभी ऐसा होता नहीं है । एक बात और है । यदि वस्तुओं में अपने स्वरूप के समान पर

स्वरूप की सत्ता भी मानी जाय^१, तो उनमें स्व-पर विभाग कैसे घटित होगा ? स्व-पर विभाग के अभाव में सकरदोष उपस्थित होता है, जो सब गुड़-गोबर एक कर देता है । अतः प्रथम भग का यह अर्थ होता है कि घट की सत्ता किसी एक अपेक्षा से है, सब अपेक्षाओं से नहीं । और वह एक अपेक्षा है स्व की, स्वचतुष्टय की ।

द्वितीयभंगः—स्याद् नास्ति घट

यहाँ घट की सत्ता का निषेध पर-द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से किया गया है । प्रत्येक पदार्थ विधिरूप होता है, वैसे निषेध रूप भी । अस्तु घट में घट के अस्तित्व की विधि के साथ घट के अस्तित्व का निषेध—नास्ति भी रहा हुआ है । परन्तु वह नास्तित्व अर्थात् सत्ता का निषेध, स्वाभिन्न अनन्त पर की अपेक्षा से है । यदि पर की अपेक्षा के समान स्व की अपेक्षा से भी अस्तित्व का निषेध माना जाए, तो घट निस्वरूप हो जाये^२ । और यदि निस्वरूपता स्वीकार करे, तो स्पष्ट ही सर्वशून्यता का दोष उपस्थित हो जाता है । अतः द्वितीय भंग सूचित करता है कि घट कथंचित् नहीं है, घटभिन्न पटादि की, परचतुष्टय अपेक्षा में नहीं है । स्वरूपेण ही सदा स्व है, पर रूपेण नहीं ।

तृतीय भंग : अस्ति नास्ति घट

जहाँ प्रथम समय में विधि की और द्वितीय समय में निषेध की क्रमशः विवक्षा की जाती है, वहाँ तीसरा भंग होता है । इसमें स्व की अपेक्षा सत्ता का और पर की अपेक्षा अमत्ता का एक साथ, किन्तु क्रमशः कथन किया गया है । प्रथम और द्वितीय भग विधि और निषेध का स्व-तन्त्ररूप से पृथक्-पृथक् प्रतिपादन करते हैं, जबकि तृतीय भग एक साथ, किन्तु क्रमशः विधि-निषेध का उल्लेख करता है ।

चतुर्थ भंग : स्याद् अवक्तव्य घट

जब घटास्तित्व के विधि और निषेध दोनों की युगपत् अर्थात् एक समय में विवक्षा होती है, तब दोनों को एक

१. भगवती सू० श० १२, ३. १०, प्र० १६-२० । २. पंचास्तिकाय गाथा १४, ४ । ३. भगवती सू० श० १२, ३०, १० प्र० १६-२० । ४. विशेषावश्यक भाष्य गा० २, ३२ । ५. प्रवचनसार जेयाधिकार गा० ११५ ।

१. स्वरूपोपादानवत् पररूपोपादाने सर्वथा स्वपर-विभागाभाव प्रसंगात् । स चायुक्तः ।

—तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक १, ६, ५२

२. पररूपोपादानवत् स्वरूपोपादाने तु निरुपाख्यत्व-प्रसंगात् ।

—तत्त्वार्थश्लो० वा० १, ६, ५२

कालावच्छेदेन एक साथ अक्रमशः बताने वाला कोई शब्द न होने से घट को अवक्तव्य कहा जाता है। शब्द की शक्ति सीमित है। जब हम वस्तुगत किसी भी धर्म की विधि का उल्लेख करते हैं, तो उसका निषेध रह जाता है, और जब निषेध कहते हैं तो विधि रह जाती है। यदि विधि-निषेध का पृथक्-पृथक् या क्रमशः एक साथ प्रतिपादन करना हो तो प्रथम तीन भगों में यथाक्रम 'अस्ति-नास्ति' और अस्ति-नास्ति शब्दों के द्वारा काम चल सकता है, परन्तु विधि-निषेध की युगपद् वक्तव्यता में कठिनाई है, जिसे अवक्तव्य शब्द के द्वारा हल किया गया है। स्याद् अवक्तव्य भग बतलाता है कि घट वक्तव्यता क्रम में ही होती है, युगपद् में नहीं। स्याद् अवक्तव्य भग एक और ध्वनि भी देता है। वह यह कि घट के युगपद् अस्तित्व नास्तित्व का वाचक कोई शब्द नहीं है। अतः विधि-निषेध का युगपत्त्व अवक्तव्य है। परन्तु वह अवक्तव्यत्व सर्वथा सर्वतोभावेन नहीं है। यदि सर्वथा सर्वतोभावेन अवक्तव्यत्व माना जाये, तो एकान्त अवक्तव्यत्व का दोष उपस्थित होता है, जो जैन दर्शन में मिथ्या होने से मान्य नहीं है। अतः स्याद् अवक्तव्य सूचित करता है कि यद्यपि विधि निषेध का युगपत्त्व विधि या निषेध शब्द से वक्तव्य नहीं है, अवक्तव्य है, परन्तु वह अवक्तव्य सर्वथा अवक्तव्य नहीं है 'अवक्तव्य' शब्द के द्वारा तो वह युगपत्त्व वक्तव्य ही है।

पञ्चम भग : स्याद् अस्ति अवक्तव्य घट

यहाँ पर प्रथम समय में विधि और द्वितीय समय में युगपद् विधि-निषेध की विवक्षा करने से घट को स्याद् अस्ति अवक्तव्य कहा गया है। इसमें प्रथमाश अस्ति, स्वरूपेण घट की सत्ता का कथन करता है और द्वितीय अवक्तव्य अश युगपद् विधि-निषेध का प्रतिपादन करता है। पञ्चम भग का अर्थ है—घट है, और अवक्तव्य भी है।

षष्ठ भग : स्याद् नास्ति अवक्तव्य घट

यहाँ पर प्रथम समय में निषेध और द्वितीय समय में एक साथ युगपद् विधि निषेध की विवक्षा होने से घट नहीं है, और वह अवक्तव्य है—यह कथन किया गया है।

सप्तम भग : स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य घट

यहाँ पर क्रम से प्रथम समय में विधि और द्वितीय समय में निषेध तथा तृतीय समय एक साथ में युगपद्

विधि-निषेध की अपेक्षा से—'घट' है, घट नहीं, घट अवक्तव्य है" यह कहा गया है।

चतुष्टय की व्याख्या

प्रत्येक वस्तु का परिज्ञान विधिमुखेन और निषेधमुखेन होता है। स्वात्मा में विधि है और परमात्मा से निषेध है, क्योंकि स्वचतुष्टयेन जो वस्तु सत् है वही वस्तु पर-चतुष्टयेन असत् है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इसको चतुष्टय कहते हैं। घट स्व-द्रव्यरूप में पुद्गल है, चैतन्य आदि पर द्रव्यरूप में नहीं है। स्वक्षेत्र रूप में कपालादि स्वावयवों में है, तन्त्रादि पर अवयवों में नहीं है। स्व-कालरूप में अपनी वर्तमान पर्यायों में है। पर पदार्थों की पर्यायों में नहीं है। स्वभाव रूप में स्वयं रक्तादि गुणों में है, पर पदार्थों के गुणों में नहीं है। अतः प्रत्येक वस्तु स्व-द्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भाव से सत् है, और पर-द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, पर-भाव से असत् है। इस अपेक्षा में एक ही वस्तु के सत् और असत् होने में किसी प्रकार की बाधा अथवा किसी प्रकार का विरोध नहीं है। विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा में है, और परचतुष्टय की अपेक्षा से वह नहीं भी है।

स्यात् शब्द की योजना

सप्तभगों के प्रत्येक भग में स्व-धर्म मुख्य होता है। और शेष धर्म गौण अथवा अप्रधान होते हैं। इसी गौण-मुख्य विवक्षा की सूचना 'स्यात्' शब्द करता है। "स्यात्" जहाँ विवक्षित धर्म की मुख्यत्वेन प्रतीति कराता है, वहाँ

१. जिसमें घटबुद्धि और घट शब्द की प्रवृत्ति (व्यवहार) है, वह घट का स्वात्मा है, और जिसमें उक्त दोनों की प्रवृत्ति नहीं है, वह घट का पटादि परात्मा है। "घटबुद्धिभिधान प्रवृत्ति निज्ज्ञ स्वात्मा, यत्र तयो-रप्रवृत्तिः स परात्मा पटादि ।

—तत्त्वार्थ राजवातिक १, ६, ५ पृ. ३३

२. अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्क च । द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाऽथवापि भावेन ॥

—पञ्चाध्यायी १, २६३

३. स्याद्वाद मजरी (का० २३) में घट का स्वचतुष्टय क्रमशः पार्थिव, पाटनिपुत्रकत्व, शैशिरत्व और श्यामत्व रूप छपा है, जो व्यवहार प्रधान है।

अविबक्षित धर्म का भी सर्वथा अपलापन न करके उसका गौणत्वेन उपस्थापन करता है। वक्ता और श्रोता यदि शब्द-शक्ति और वस्तु स्वरूप की विवेचना में कुशल है १ तो 'स्यात्' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती। बिना उसके प्रयोग के भी अनेकान्त का प्रकाशन हो जाता है। 'अहम् अस्मि' मैं हैं। यह एक वाक्य प्रयोग है। इस में दो पद हैं—एक 'अहम्' और दूसरा 'अस्मि'। दोनों में से एक का प्रयोग होने पर दूसरे का अर्थ स्वतः ही गम्यमान हो जाता है, फिर भी स्पष्टता के लिये दोनों पदों का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'पार्थो धनुर्धरः' इत्यादि वाक्यों में 'एव' का प्रयोग न होने पर भी तन्निमित्तक 'अर्जन ही धनुर्धर है—यहाँ अर्थबोध होता है और कुछ नहीं २। प्रकृत में भी यही सिद्धान्त लागू पड़ता है। स्यात्-शून्य केवल 'अस्ति घट' कहने पर भी यही अर्थ निकलता है, कि "कथञ्चित् घट है, किमी अपेक्षा से घट है।" फिर भी भूल-चक को माफ करने लिए किवा वक्ता के भावों को समझने में भ्रान्ति न हो जायें, इसलिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग अभीष्ट है। क्योंकि समाज में विद्वानों की अपेक्षा साधारण जनो की मर्यादा ही अधिक है। अतः सप्तमणी जैसे गम्भीर तत्त्व को समझने का बहुमत-सम्मत राजमार्ग यही है, कि सर्वत्र 'स्यात्' ३ शब्द का प्रयोग

किया जाए।

अन्य दर्शनों में भंग-योजना का रहस्य—

भगों के सम्बन्ध में स्पष्टता की जा चुकी है, फिर भी अधिक स्पष्टीकरण के लिए इतना समझना आवश्यक है, कि सप्तमणी में मूलभग तीन ही हैं—अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य। शेष चार भग सयोगजन्य हैं तीन द्वि-सयोगी और एक त्रिसयोगी हैं। अद्वैत वेदान्त, बौद्ध और वैशेषिक दर्शन की दृष्टि से मूल तीन भगों की योजना इस प्रकार की जाती है।

अद्वैत वेदान्त में एकमात्र तत्त्व ब्रह्म ही है। किन्तु वह 'अस्ति' होकर भी अवक्तव्य है। उसकी मत्ता होने पर भी वाणी से उसकी अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। अतः वेदान्त में ब्रह्म 'अस्ति' होकर भी 'अवक्तव्य' है। बौद्ध-दर्शन में अन्यापोह 'नास्ति' होकर भी अवक्तव्य है। क्योंकि वाणी के द्वारा अन्य का सर्वथा अपोह करने पर किमी भी विधिरूप वस्तु का बोध नहीं हो सकता। अतः बौद्ध का अन्यापोह 'नास्ति' होकर भी अवक्तव्य रहना है। वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष दोनों स्वतन्त्र हैं। सामान्य-विशेष अस्ति-नास्ति १ होकर भी अवक्तव्य रहता है। वैशेषिकदर्शन में सामान्य और विशेष दोनों स्वतन्त्र हैं। सामान्य-विशेष अस्ति-नास्ति होकर अवक्तव्य है। क्योंकि वे दोनों किमी एक शब्द के वाच्य नहीं हो सकते हैं और न सर्वथा भिन्न सामान्य-विशेष में कोई अर्थ क्रिया ही हो सकती है। इस दृष्टि में जैन सम्मत मूल-भगों की स्थिति अन्य दर्शनों में भी किसी न किमी रूप में स्वीकृत है २।

सकलादेश और विकलादेश

यह बताया जा चुका है कि प्रमाण वाक्य को सकलादेश और नय-वाक्य को विकलादेश कहते हैं। फिर भी उक्त दोनों भेदों को और अधिक स्पष्टता से समझने की आवश्यकता है। पाच जानों में श्रुतज्ञान भी एक भेद है।

१. विशेष व्यावृत्ति हेतुक होने से नास्ति है।

२. देखो, प० महेन्द्रकुमार सम्पादित जैनदर्शन पृ. ५४३

१. अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।

विधी निषेधेऽप्यन्यत्र, कुशलश्चेत्प्रयोजक ॥६३॥

—नर्थायस्त्रय, प्रवचन प्रवेश

२. सोऽप्रयुक्तोऽपि तज्जं सर्वत्रार्थात्प्रतीयते,

तथैवकारो योगादि व्यवच्छेद प्रयोजन ॥

—तत्त्वार्थ श्लोक वा० १, ६, ५६

३. स्यादित्यव्ययम् अनेकान्त द्योतकम् ॥ स्याद्वाद मजरी का० ५ आचार्य हेमचन्द्र सूत्रि स्यात् को अनेकान्त बोधक ही मानते हैं, अतः उन्हें स्यात् प्रमाण में अभीष्ट है, नय में नहीं।—संदेह सन् स्यात्सदिति त्रिधार्थः.....अयोग० का० २८। जबकि भट्टाकलक लघीयस्त्रय ६२ में स्यात् को सम्यग् अनेकान्त और और सम्यग् एकान्त उभय का वाचक मानते हैं, अतः उन्हें प्रमाण और नय—दोनों में ही स्यात् अभीष्ट है।

उस श्रुतज्ञान के दो१ उपयोग हैं—स्याद्वाद और नय । स्याद्वाद सकलादेश है और नयविकलादेश । ये सातो ही भग जब सकलादेशी होते हैं, तब प्रमाण और जब विकलादेशी होते हैं, तब नय कहे जाते हैं । वस्तु के समस्त धर्मों को ग्रहण करने वाला सकलादेश और किसी एक धर्म को मुख्यरूप से ग्रहण करने वाला२ तथा शेष धर्मों के प्रति उदासीन अर्थात् तटस्थ रहने वाला विकलादेश कहा जाता है । आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—स्याद्वाद सम्पूर्णार्थविनिश्चायी है३ । अतः वह अनेकान्तात्मक पूर्ण अर्थ को ग्रहण करता है । जैसे 'जीव' कहने से जीव के ज्ञान आदि असाधारण धर्म, सत्त्व आदि साधारण धर्म और अमूर्तत्व आदि साधारण-साधारण आदि सभी गुणों का ग्रहण होता है । अतः यह प्रमाण-वाक्य है—स्याद्वाद वचन है । नय वाक्य वस्तु के किसी एक धर्म का मुख्य रूप से कथन करता है जैसे "जो जीव" कहने से जीव के अनन्त गुणों में से केवल ज्ञानगुण का ही बोध होता है, शेषधर्म गौणरूप से उदासीनता के कक्ष में पड़े रहते हैं । सकलादेशी वाक्य के समान विकलादेशी वाक्य में भी 'स्यात्' पद का प्रयोग अनेक आचार्यों ने किया है । क्योंकि वह शेष धर्मों के अस्तित्व की गौणरूप से मूक सूचना करता है । इस आधार से सप्तभंगी के दो भेद किये जाते हैं—प्रमाण-सप्तभंगी और नय-सप्तभंगी ।

१. उपयोगी श्रुतस्य द्वौ, स्याद्वाद नय-सज्जितौ ।

स्याद्वाद. सकलादेशो नयो विकल सकथा ॥

—लघीयस्थय श्लोक ६२

२. अनेक-धर्मात्मक वस्तुविषयक-बोधजनकत्व सकलादेशत्वम् ।

एक धर्मात्मक-वस्तु-विषयक-बोधजनकत्वं विकलादेशत्वम् ।

—सप्तभग तरंगिणी पृ० १६

३. नयनामेकनिष्ठानां, प्रवृत्ते श्रुतवर्त्मनि;

सम्पूर्णार्थविनिश्चायी, स्याद्वाद श्रुत मुच्यते ।

—न्यायावतार सूत्र श्लो० ३०

प्रमाण सप्तभंगी—

आगम और युक्ति से यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि वस्तु में अनन्त धर्म हैं । अतः किसी भी एक वस्तु के पूर्णरूप से कथन करने के लिए तत् तद् अनन्त धर्म-बोधक अनन्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिए । परन्तु न यह सम्भव है, और न व्यवहार्य ही । अनन्त धर्मों के लिए पृथक्-पृथक् अनन्त शब्दों के प्रयोग में अनन्तकाल बीत सकता है, और तब तक एक पदार्थ का भी समग्रबोध न हो सकेगा । अस्तु, कुछ भी हो, हमें किसी एक शब्द से ही सम्पूर्ण अर्थ के बोध का मार्ग अपनाना पड़ता है । वह एक शब्द ध्वनि-मुखन भले ही बाहर में एक धर्म का ही कथन करता-सा लगता है, परन्तु अभेद प्राधान्य वृत्ति अथवा अभेदोपचार से वह अन्य धर्मों का भी प्रतिपादन कर देता है । उक्त अभेद प्राधान्य वृत्ति या अभेदोपचार से एक शब्द के द्वारा एक धर्म का कथन होते हुए भी अखण्डरूप से अन्य समस्त धर्मों का भी युगपत् कथन हो जाता है । अतः इसको 'प्रमाण-सप्त' भंगी कहते हैं ।

प्रश्न है, कि यह अभेद वृत्ति अथवा अभेदोपचार क्या चीज है ? जबकि वस्तु के अनन्त धर्म परस्पर भिन्न हैं, उन सबकी स्वरूप सत्ता पृथक् है, तब उनमें अभेद कैसे माना जा सकता है ? सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए केवल कथन मात्र अपेक्षित ही नहीं होता, उसके लिए कोई ठोस आधार चाहिए । समाधान है कि वस्तु तत्त्व के प्रतिपादन की दो शैलियाँ हैं—अभेद और भेद । अभेद-शैली भिन्नता में भी अभिन्नता का पथ पकड़ती है और भेद-शैली अभिन्नता में भिन्नता का पथ प्रशस्त करती है । अस्तु, अभेद प्राधान्य वृत्ति या अभेदोपचार विवक्षित वस्तु के अनन्त धर्मों को काल, आत्म, रूप, अर्थ, सम्बन्ध उपकार, गुणिदेश, ससर्ग और शब्द की अपेक्षा से एक साथ अखण्ड एक वस्तु के रूप में उपस्थित करता है । इस प्रकार एक और अखण्ड वस्तु के समस्त धर्मों का एक साथ समूहात्मक परिज्ञान हो जाता है ।

—क्रमशः

यज्ञ और अहिंसक परम्पराएँ

आचार्य श्री तुलसी

[प्रस्तुत निबन्ध में श्रमण और वैदिक परम्पराओं की दृष्टि से 'यज्ञ' का तुलनात्मक विश्लेषण है। श्रमण सस्थाएँ नितान्त अहिंसक थीं। उसके प्राचीन ग्रन्थों से प्रमाणित है कि पहले बलि-यज्ञ नहीं होते थे, वे औषधि-यज्ञ के रूप में प्रचलित थे। पहले वेदानुयायी भी यज्ञों में बलि नहीं देते थे। जैन तीर्थंकर मुनि-सुव्रतनाथ के तीर्थकाल में यह कार्य प्रारम्भ हुआ। यही राम-लक्ष्मण का भी युग था। इनका विरोध केवल जैन और बौद्ध सस्थाओं ने ही नहीं, अपितु सांख्य, शैव, कृष्ण और महर्षि नारद से सम्बन्धित तत्त्वों ने भी किया। इस भाँति लेख में आचार्य श्री की गहन विद्वत्ता के दर्शन होते हैं। उन्होंने गवेषणा-पूर्ण तथ्यों को आयासहीन रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। काश, शोध में संलग्न विद्वान् यह ढंग अपना सकें।

—सम्पादक]

यज्ञ भारतीय साहित्य का बड़ा विश्रुत शब्द है। इसका सामान्य अर्थ था देवपूजा। वैदिक विचार धारा के योग से यह विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया—वैदिक कर्म-काण्ड का वाचक बन गया। एक समय भारतीय जीवन में यज्ञ संस्था की घूम थी, आज वह निष्प्राण मी है। वेद-काल में उसे बहुत महत्व मिला और उपनिषद्काल में उसका महत्व कम होने लगा।

ऋग्वेदकालीन मान्यता थी—“जो यज्ञ रूपी नौका पर सवार न हो सके, वे अधर्मी है, ऋणी है और नीच अवस्था में दबे हुए है।”

इसके विपरीत मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—“यज्ञ विनाशी और दुर्बल साधन है। जो मूढ़ इनको श्रेय मानते हैं, वे बार-बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं।”

१. ऋग्वेद संहिता १०।४४।६

न ये शेकुर्यजिया नावमारुहमीर्मेव ते न्यविशन्ति केपय ।

२. मुण्डकोपनिषद् १।२।७

प्लावा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा,

अष्टादशोक्तमवर येषु कर्म ।

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा,

जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति ॥

यज्ञ का विरोध—

श्रमण सस्थाएँ अहिंसा-निष्ठ थी, इसलिए वे प्रारम्भ से यज्ञ का विरोध कर रही थी। उसका प्रज्वलित रूप हमें जैन, बौद्ध साहित्य और महाभारत में मिलता है। महाभारत यद्यपि श्रमणों का विचार-ग्रन्थ नहीं है, पर उसका एक बहुत बड़ा भाग उनकी विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करता है। सांख्य और शैव भी यज्ञ-संस्था के उतने ही विरोधी रहे हैं, जितने जैन और बौद्ध। प्रजापति दक्ष के यज्ञ में शिव का आह्वान नहीं किया गया। महर्षि दधीचि ने अपने योग बल से यह जान लिया कि ये सब देवता एक मत हो गए हैं, इसलिए उन्होंने शिव को निमंत्रित नहीं किया है^३। उन्होंने प्रजापति दक्ष में कहा—“मैं जानता हूँ, आप सब लोगों ने मिल-जुलकर, शिव को निमंत्रित न करने का निश्चय किया है परन्तु मैं शंकर से बढकर किसी को देव नहीं मानता। प्रजापति दक्ष का यह विशाल यज्ञ नष्ट हो जाएगा^४। आखिर वही हुआ। पावर्ती के अनुरोध पर शिव ने वीरभद्र की सृष्टि की। उसने प्रजापति दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कर डाला^५।

३. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २८।१६

४. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २८।२१

५. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २८।२६-५०

यह कथा बताती है कि शिव उस संस्कृति के थे, जिसे यज्ञ मान्य नहीं था। इसीलिए देवताओं ने उन्हें निमंत्रित नहीं किया था।

साख्य कारिका में स्पष्ट है कि साख्य लोग यज्ञ में विश्वास नहीं करते थे। वे इसे हेय मानते थे।

महर्षि कपिल और स्यूमरश्मि के संवाद में भी यही प्राप्त होता है। स्यूमरश्मि हिंसा का समर्थन करता है और महर्षि कपिल अहिंसा की प्राचीन परम्परा को पुष्ट करते हैं। उन्होंने त्वष्टा के लिए नियुक्त गाय को देखकर निश्वास लेते हुए कहा—हा वेद ! तुम्हारे नाम पर लोंग ऐसा-ऐसा अनाचार करते हैं।

स्यूमरश्मि ने कहा—आप वेदों की प्रमाणिकता में सन्देह करते हैं। महर्षि कपिल बोले—मैं वेदों की निन्दा नहीं करता हूँ। किन्तु वैदिक मत से भिन्न दूसरा मत है—कर्मों का आरम्भ न किया जाए—उसका प्रतिपादन कर रहा हूँ। यज्ञ आदि कार्यों में आलम्बन (पशु-बध) न करने पर दोष नहीं होता और आलम्बन करने पर महान् दोष होता है। मैं अहिंसा से परे कुछ भी नहीं देखता।

राक्षस नाग आदि यज्ञ विरोधी थे। पुराणों के अनुसार असुर आर्हत धर्म के अनुयायी हो गये थे। रावण ने भी राजा मरुत को हिमात्मक यज्ञ से विमुख किया था।

यज्ञ के प्रकार—

यज्ञ के मुख्य तीन प्रकार मिलते हैं—

१. औपधी-यज्ञ, जिसमें फल-फूल आदि का व्यवहार होता।

२. प्राणी-यज्ञ, जिसमें पशु और मनुष्य की बलि दी जाती।

३. आत्म-यज्ञ, जो आध्यात्म व्रत से सम्पन्न होता।

औषधी-यज्ञ—

‘अजैयंष्टव्यम्’—इस वैदिक श्रुतिका अर्थ-परिवर्तन किया गया, तब पशु-बलि प्रचलित हुई। इससे पूर्व औषधी-यज्ञ किए जाते थे। महाभारत का एक प्रसंग है—एक बार ब्रह्मा-ऋषि यज्ञ के लिए एकत्रित हुए। उस समय

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६८, श्लोक ७-१७

२. विष्णुपुराण ३।१७, १८

३. त्रिषष्टिशलाका, पुरुष चरित्र, पर्व ७, सर्ग २, पत्र ७

देवताओं ने उनसे कहा—अज्ञ में यज्ञ करना चाहिए और इस प्रकरण में अज्ञ का अर्थ बकरा ही है। ब्रह्मर्षियों ने कहा—यज्ञ में बीजों द्वारा यजन करना चाहिए, यह वैदिक श्रुति है। बीज का नाम ही अज्ञ है, बकरे का बध करना उचित नहीं। यह मत्स्य चल रहा है, इसमें पशु का बध कैसे किया जा सकता है? देवता और ऋषि मवाद कर रहे थे, इतने में राजा वसु उम मार्ग से निकला। वह सत्य-वादी था। सत्य के प्रभाव से उपरिचर था—आकाश में चलता था। उसे देख ब्रह्मर्षियों ने देवताओं से कहा—वसु हमारा सन्देह दूर कर देगा। वे सब उसके पास गये। प्रश्न उपस्थित किया। राजा ने दोनों का मत जान अपना निर्णय देवताओं के पक्ष में दिया। वह जानबूझ कर असत्य बोला, अतः ब्रह्मर्षियों ने उसे शाप दिया और वह आकाश से नीचे गिर पाताल में चला गया।

जैन-साहित्य में भी ‘अजैयंष्टव्यम्’—इस विवाद का उल्लेख मिलता है। एक बार साधु-परिषद् में ‘अज्ञ’ शब्द को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ। उस समय ऋषि नारद ने कहा—जिसमें अकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई, वैसा तीन वर्ष पुराना जी ‘अज्ञ’ कहलाता है। पर्वत ने इसका प्रतिवाद किया। वह बोला—अज्ञ का अर्थ बकरा है।

उम परिषद् में पर्व का अर्थ मान्य नहीं हुआ। वह क्रुद्ध होकर वहाँ से चला गया। उसने महाकाल अमुग से मिल जाल रचा। स्थान-स्थान पर यह प्रचार शुरू किया—“पशुओं की सृष्टि यज्ञ के लिए की गई है। उनका बध करने से पाप नहीं हाता किन्तु स्वर्ग के द्वार

१. महाभारत, शान्तिपर्व श्लोक ३३७।३-५

२. महाभारत, शान्तिपर्व, श्लोक ३३७।६-१७

३. उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ३२६-३३२

गच्छत्येव तयोः काले कदाचित्साधुसंसदि ।

अर्जहोतव्यमित्यस्य वाक्यस्याथं प्ररूपणे ॥

विवादोऽभून्महास्तत्र विगताङ्कुरशक्तिकम् ।

यवबीजं त्रिवर्षस्थमजमित्यभिधीयते ॥

तद्विकारेण सप्तार्चिमुखे देवार्चनं विदः ।

वदन्ति यज्ञमित्याख्यदनुपद्धतिं नारदः ॥

पर्वतोप्यज शब्देन पशुभेदः प्रकीर्तितः ।

यज्ञेऽनौ तद्विकारेण होत्र मित्यवदद्विधीः ॥

खुल जाते हैं।" राजा सगर को विश्वास दिलाकर पर्वत ने साठ हजार पशु यज्ञ के लिए प्राप्त किए। मन्त्रोच्चारण पूर्वक उन्हें यज्ञ-कुण्ड में डालना शुरू किया। महाकाल अमर ने दिखाया कि वे सब पशु विमान में बैठ सदेह स्वर्ग जा रहे हैं। उस माया में लोग मूढ़ हो गए। यज्ञ में मरने को स्वर्ग प्राप्ति का उपाय मानने लगे। राजा वसु की सभा में भी नारद और पर्वत का विवाद हुआ। राजा वसु ने पर्वत की मा (अपने गुरु की पत्नी) के आग्रह से पर्वत का पक्ष ले अज का अर्थ बकरा किया। उसने कहा—पर्वत जो कहता है, वह स्वर्ग का साधन है। भय मुक्त होकर सब लोग उसका आचरण करें। इस असत्य-वाणी के साथ-साथ वसु का मिहामन भूमि में धम गया।

इन दोनों आख्यानों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रारम्भ में वैदिक लोग भी यज्ञ में पशु-बलि नहीं देते थे। महाभारत के अनुसार वह देवताओं और उत्तर पुराण के अनुसार महाकाल अमर और पर्वत ब्राह्मण के आग्रह से शुरू हुई।

राजा वसु पहले पशु-यज्ञ का विरोधी और अहिमा-प्रिय था। उसने एक बार यज्ञ किया। उसमें किसी पशु का वध नहीं हुआ उसमें जगल में उत्पन्न फल-फल आदि पदार्थ ही देवताओं के लिए निश्चित किए। उस समय देवाधिदेव भगवान् नारायण ने प्रमन्न होकर राजा को प्रत्यक्ष दर्शन दिया। किन्तु दूसरे किसी को उनका दर्शन नहीं हुआ।

इस प्रकरण में स्पष्ट ज्ञात होता है कि वसु अहिमा-धर्मी और निराशी कामनाओं से मुक्त था। उसने सभव है परम्परा के निर्वाह के लिए यज्ञ किया। पर उसका

१. उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ४१३-४३६

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६, श्लोक १०-१२
सम्भूता सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाव्रतो ।
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजेव स्थितोऽभवत् ॥
अहिंस शुचिरक्षुद्रो निराशी कर्मसस्तुतः ।
आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिता ॥
प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेव पुरातनः ।
साक्षात् त दर्शयामास सोऽद्वयोऽन्येन किञ्चित् ॥

३. महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३३६ श्लोक १०-१२

यज्ञ पूर्णतः औपधि-यज्ञ था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण भी पशु-बलि के नितान्त विरोधी थे। उन्होंने वसु को दर्शन इसलिए दिया कि उसने अपने यज्ञ में पशु-बलि का सर्वथा तिरस्कार किया था।

प्राणी यज्ञ

जैन पुराणों के अनुसार पशु बलि वाले यज्ञों का प्रारम्भ बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुवत के तीर्थकाल में हुआ। यही काल राम लक्ष्मण का अस्तित्व काल है। इस काल में महाकाल अमर और पर्वत के द्वारा पशु यज्ञ का विधान किया गया। महर्षि नारद ने उसका घोर विरोध किया था।

वैश्य तुलाधार ने पशु हिमा का विरोध किया तो मुनि जाजल ने उसे नास्तिक कहा। इस पर तुलाधार ने कहा—जाजल ! मैं नास्तिक नहीं हूँ, और यज्ञ का निन्दक भी नहीं हूँ। मैं उस यज्ञ की निन्दा करता हूँ, जो अर्थ-लोलुप नास्तिक व्यक्तियों द्वारा प्रवर्तित है। इसका यज्ञ पहले नहीं था। यह महाभारत से प्रमाणित होता है। राजा विचरन्तु ने देखा—यज्ञशाला में एक बैल की गर्दन कटी हुई है बहुत सी गीर्ण आर्तनाद कर रही हैं और कितनी ही गीबे खड़ी हैं। यह देव राजा ने कहा—गीबों का कल्याण हो। यह तब कहा जब हिमा प्रवृत्त हो रही थी। जैन साहित्य में मिलता है कि ऋषभपुत्र भरत के द्वारा वेदों की रचना हुई थी। उनमें हिमा का विधान नहीं था। बाद में कुछ व्यक्तियों द्वारा उनमें हिमा के विधान कर दिए गए। इस विषय में महाभारत की भी सहमति है कि वेदों में पहले हिमात्मक विधान नहीं था। वहाँ लिखा है—मुगा, आसव, मधु, माम, निल और चावल

१. उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ३२७-३८४

२. उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ३८५-४४५

३. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६३, श्लोक २-१८
“छिन्नस्थूण वृष दृष्ट्वा विलाप च गवा भृशम् ।
गोघहेयजवाटस्य प्रेक्षमाणः स पाथिवः ॥
स्वस्ति गोम्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम् ।
हिसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता ॥”

४. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, श्लोक २३

की खिचड़ी—इन वस्तुओं को धूर्तों ने यज्ञ में प्रचलित कर दिया है। वेदों में इनके उपयोग का विधान नहीं है। उन धूर्तों ने अभिमान, मोह और लोभ के बशीभूत होकर उन वस्तुओं के प्रति अपनी लोलुपता ही प्रकट की है।

जैन-साहित्य का उल्लेख है—ऋषभपुत्र भरत द्वारा स्थापित ब्राह्मण स्वाध्यायलीन थे। फिर बाद में उनका स्थान लालची ब्राह्मणों ने ले लिया। महाभारत में भी ऐसा उल्लेख मिलता है। वहाँ लिखा है—प्राचीनकाल के ब्राह्मण सत्य-यज्ञ और दम-यज्ञ का अनुष्ठान करते थे। वे परम पुरुषार्थ-मोक्ष के प्रति लोभ रखते थे। उन्हें धन की प्यास नहीं रहती थी। वे उससे सदा तृप्त थे। वे प्राप्त वस्तु का त्याग करने वाले और ईर्ष्या-द्वेष से रहित थे। वे शरीर और आत्मा के तत्त्व को जानने वाले और आत्म-यज्ञ परायण थे। वे ब्राह्मण वेद के अध्ययन में तत्पर रहते थे। स्वयं सन्तुष्ट थे और दूसरों को सन्तोष की शिक्षा देते थे२।

वैश्य तुलाधार ने उक्त बात ब्राह्मण ऋषि जाजल से कही। इसमें उस प्राचीन परम्परा की सूचना है जिसके अनुयायी ब्राह्मण भी अहिंसा-प्रधान थे।

आत्म-यज्ञ

नमि, अरिष्टनेमि, पार्व और महावीर—इन चार

तीर्थङ्करों के काल से हिंसापूर्ण यज्ञ का प्रतिरोध होता रहा। हिंसा के जो संस्कार सुदृढ़ हो गए थे, वे एक साथ ही नहीं टूटे। उन्हें टूटते-टूटते लम्बा समय लगा।

तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में हिंसक-यज्ञ के विरोध में आत्म-यज्ञ का स्वर प्रलल हो उठा था। श्री कृष्ण, जो अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे, आत्म-यज्ञ के प्रतिपादन में बहुत प्रयत्नशील थे। अरिष्टनेमि और कृष्ण दोनों के समवेत प्रयत्न ने जो विशेष स्थिति का सूत्रपात किया, उसका परिणाम भगवान् महावीर और बुद्ध के अस्तित्वकाल में संदृष्ट हुआ।

राजा विचरन्नु का वह स्वप्न साकार हो उठा—धर्मात्मा मनु ने सब कामों में अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। मनुष्य अपनी ही इच्छा से यज्ञ की बाह्य वेदी पर पशुओं का बलिदान करते हैं। विद्वान् पुरुष प्रमाण के द्वारा धर्म के सूक्ष्म स्वरूप का निर्णय करे। अहिंसा सब धर्मों में ज्येष्ठ है। यह जान वेद की फल-श्रुतियों—काम्य कर्मों—का परित्याग कर दे। सकाम कर्मों के आचरण को अनाचार समझ उनमें प्रवृत्त न हो१।

उछ वृत्ति ऋषि के यज्ञ में धर्म ने मृग का रूप धारण कर यही कहा था—अहिंसा ही पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है२।

“सुरा मत्स्या मधु मासमासव कृसरौदनम्।

धूर्ते प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ॥”

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, श्लोक ६-१०

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, श्लोक १८-२१

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, श्लोक ५-७

“अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः।”

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २७२, श्लोक २०

अनेकान्त के ग्राहक बनें

‘अनेकान्त’ पुराना ख्यातिप्राप्त शोध-पत्र है। अनेक विद्वानों और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अभिमत है कि वह निरन्तर प्रकाशित होता रहे। ऐसा तभी हो सकता है जब उसमें घाटा न हो और इसके लिए ग्राहक संस्था का बढ़ाना अनिवार्य है हम विद्वानों, प्रोफेसरों, विद्यार्थियों, सेठियों, शिक्षा-संस्थाओं, संस्कृत विद्यालयों, कालेजों और जैन-श्रुत की प्रभावना में अट्ठा रखने वालों से निवेदन करते हैं कि वे ‘अनेकान्त’ के ग्राहक स्वयं बनें और दूसरों को बनावें।

अपभ्रंश का एक प्रमुख कथाकाव्य

डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, रायपुर

[डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री का यह निबन्ध शोधपूर्ण है। उन्हें 'भविसयत्त कहा' पर ही अभी पी०एच० डी० की उपाधि आगरा विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई है। प्रस्तुत निबन्ध में 'भविसयत्त कहा' का साहित्यिक दृष्टि से पूर्ण परिचय दिया गया है। यदि अन्तिम दो-तीन पंराप्राफ जायसी के पद्यावत और जैनकवि लालचंद लब्धोदय के पद्मिनी-चरित से तुलनात्मक हो जाते तो निबन्ध की 'केवल परिचय' वाली रूक्षता का परिहार हो जाता। —सम्पादक]

अपभ्रंश के प्रकाशित तथा उपलब्ध कथाकाव्यों में 'भविसयत्त कहा' मुख्य कथाकाव्य है। यह काव्य बाईस सन्धियों में और दो खण्डों में निबद्ध है^१। इसमें श्रुत-पंचमी व्रत के फल के वर्णन स्वरूप भविष्यदत्त की कथा का वर्णन है। इसलिए इसे 'श्रुतपंचमी कथा' भी कहते हैं। अपभ्रंश तथा भारतीय ग्रन्थ भाषाओं में छोटी-छोटी धार्मिक कथाओं की कमी नहीं है। हजारों की संख्या में इतिवृत्तात्मक कथाएँ मिलती हैं। परन्तु प्रबन्ध काव्य के रूप में लिखी गई कथाएँ कम हैं। भविष्यदत्त कथा का प्रकाशन सबसे पहली बार हर्मन जेकोबी ने सन् १९१८ में मचन (जर्मन) से कराया था। यह काव्य प्रो० जेकोबी को भारत-यात्रा में २१ मार्च, १९१४ ई० को अहमदाबाद में पण्य गुलाब विजय से प्राप्त हुआ था। भारतवर्ष में इसे प्रकाशित कराने का श्रेय सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे को है। उनके प्रयत्न से यह प्रबन्ध काव्य सन् १९२३ में गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बडौदा से प्रकाशित हुआ था। पहली बार भाषा की दृष्टि से इसका मूल्यांकन किया गया था और दूसरी बार देशी शब्द और काव्यत्व की दृष्टि से इसका महत्व कूत गया। मेरी दृष्टि में काव्य-कला, प्रबन्ध-रचना और लोक-तत्त्वों की संयोजना में इस रचना का वैशिष्ट्य लक्षित होता है। अतएव अपभ्रंश-साहित्य में ही नहीं मध्ययुगीन भारतीय साहित्य में

भी यह महत्व पूर्ण रचना सिद्ध होती है।

इस कथाकाव्य के लेखक महाकवि धनपाल हैं, जिन का जन्म धक्कड़ वंश में हुआ था। यद्यपि कवि धनपाल के सम्बन्ध में अभी तक विशेष जानकारी नहीं मिल सकी है परन्तु ग्रन्थकार ने अपना जो परिचय दिया है वह संक्षिप्त होने पर भी महत्वपूर्ण है। कवि के पिता का नाम मायेसर और माता का नाम धनसिग्दिदेवी था^२। उन्हें सरस्वती का वर प्राप्त था^३। धक्कड़ या धक्कड़ जाति वंश थी। मुख्यरूप से यह मारवाड़ और गुजरात में बसती थी। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय के लोग इस वंश में हुए हैं। धर्मपरीक्षा के रचयिता कवि हरिषेण भी इसी वंश के थे। महाकवि वीर कृत 'जम्बू-स्वामी चरित' में भी मानवदेश में धक्कड़ वंश के तिलक महासूदन के पुत्र तवखड्ड श्रेष्ठी का उल्लेख मिलता है। देलवाड़ा के वि० सं० १२८७ के तेजपाल वाले शिलालेख में भी धक्कड़ जाति का उल्लेख है^४। ऐतिहासिक प्रमाणों

२. धक्कड़वणिगसि माएसरहु ममुग्गविण ।

धनसिग्दिदेवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण ।

—वही २२, ६

३. चिन्तिय धणवाने वणिवरेण,

सरसइ बहुलद्ध महावरेण । —वही, १, ४

४. प० परमानन्द जैन शास्त्री का लेख 'अपभ्रंश भाषा का जम्बूस्वामीचरित और महाकवि वीर, प्रकाशित 'अनेकान्त', वर्ष १३, किरण ६, पृ० १५५

१. विरइउ एउ चरिउ धणवार्णि,

विहि खण्डहि वावीसहि सन्धिहि ।

—भविसयत्तकहा, २२, ६

के आधार पर यह बंश दसवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक प्रसिद्ध रहा है। अन्तरंग प्रमाणों से भी पता चलता है कि कवि दिगम्बर जैन थे। क्योंकि अष्ट-मूलगुणों का वर्णन, सल्लेखना का चतुर्थ शिक्षाव्रत के रूप में उल्लेख, मोलह स्वर्गों का वर्णन और अन्य सैद्धान्तिक विवेचन दिगम्बर मान्यताओं के अनुकूल हुआ है। 'जैण भजिवि दियम्बरि लायउ' से भी स्पष्ट है कि धनपाल दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

यद्यपि अद्यावधि धनपाल विरचित 'भविष्यदत्त कथा' ही एकमात्र रचना उपलब्ध हो सकी है परन्तु कवि की प्रतिभा और योग्यता को देखते हुए सहज में ही यह प्रतीत होता है कि उसने अन्य रचनाएँ भी की होंगी। प्रतिभा के धनी धनपाल ने अपनी रचनाओं का उल्लेख तो नहीं किया है परन्तु इनकी अन्य रचनाएँ भी संभावित हैं।

धनपाल नामधारी चार कवि

१० परमानन्द शास्त्री ने धनपाल नाम के चार विद्वानों का परिचय दिया है। ये चारों ही भिन्न-भिन्न काल के परस्पर भिन्न कवि एवं विद्वान् हैं। इनमें से दो संस्कृत के कवि थे और दो अपभ्रंश के। संस्कृत के कवि धनपाल राजा भोज के आश्रित थे। इन्होंने दसवीं शताब्दी में 'पाण्ड्यलच्छी नाममाला' की रचना की थी। दूसरे धनपाल तेरहवीं शताब्दी के संस्कृत कवि हैं। उनके द्वारा लिखित 'तिलकमजरीसार' नामक गद्य ग्रन्थ का ही अब तक पता लग पाया है। तीसरे धनपाल अपभ्रंश भाषा में लिखित 'बाहुबलिचरित' के रचयिता हैं जिनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी है। ये गुजरात के पुरवाड-वंश के प्रधान थे। इनकी माता का नाम सुहडादेवी और पिता का नाम मेठ सुहडप्रभ था। चौथे धनपाल आलोच्यमान मुख्य कथा-काव्य के लेखक धक्कड़वंश के कवि थे। इस प्रकार चारों धनपाल नामधारी कवियों का समय अलग-अलग है। चारों ही भिन्न काल के विभिन्न कवि एवं लेखक थे।

५. वही, अनेकान्त, किरण ७-८, पृ० ८२

६. गुजरातपुरवाडवंशतिलउ मिगि मुहडसेट्टि गुणगणणिलउ। तहो मणहर छायागेहणिय सुहडाएवी णामे भणिय।
—बाहुबलिचरित की अन्तिम प्रशस्ति।

इनमें थोड़ा-बहुत भी कही मामूम नहीं दिखाई पड़ता है। जिनमें किसी कवि का विचार कर उनकी अभेदता पर प्रकाश डाला जा सके।

रचना-काल

अत्यन्त आश्चर्य है कि दसवीं शताब्दी से लेकर मोलहवीं शताब्दी तक के जिन कवियों के अपभ्रंश-काव्य प्रकाश में आये हैं और जिनमें पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख किया है उनमें धनपाल का नाम नहीं मिलता है। इसमें यह पता चलता है कि कवि की प्रसिद्धि लोक में अधिक दिनों तक नहीं रही अथवा कवि अधिक दिनों तक पार्थिव देह में नहीं रहा। परन्तु "भविष्यत्तकहा" की प्रबन्ध-रचना और काव्य-शैली का प्रचलन किसी न किसी रूप में बग़ावर बना रहा है।

जर्मन विद्वान् हर्मन जेकोबी ने श्री हरिभद्र सूरि के "णेमिगाहचरित" धनपाल की भविष्यत्तकहा की भाषा की तुलना करते हुए लिखा है कि कम से कम दसवीं शताब्दी में धनपाल रहे होंगे। क्योंकि जेकोबी के अनुसार हरिभद्र सूरि नवमी शताब्दी के उत्तमार्द्ध के कवि हैं। परन्तु मुनि जिनविजय जी के अनुसार वे आठवीं शताब्दी के हैं जो कई प्रमाणों में निश्चित है। प्रो० जेकोबी के विचारों में दोनों नेगेटिव लिटरेचर हैं और हरिभद्र की भाषा धनपाल की भाषा से बिल्कुल अलग है। हरिभद्र की भाषा पर प्राकृत का प्रभाव अधिक है। दोनों की शैली भी भिन्न है। धनपाल से हरिभद्र की शैली उदात्त है। इस प्रकार भाषा की दृष्टि से जर्मन विद्वान् ने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे वास्तविकता से परे ही जान पड़ते हैं। उनके विचारों का विश्लेषण करते हुए सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे ने लिखा है कि धनपाल की भाषा, आ० हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा से प्राचीन है। उनकी

७. भविसयत्तकहा (स० दलाल और गुणे) की भूमिका, पृष्ठ ३।

८. डा० हर्मन जेकोबी द्वारा लिखित "इण्ट्रोडक्सन टु द भविसयत्तकहा" अनु० प्रो० एस० एन० घोषाल, प्रकाशित जर्नल आव द ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बडौदा, जिल्द २, मार्च १९५३, संख्या ३, पृष्ठ २३८-३९।

भाषा में जो वैकल्पिक रूपों की प्रचुरता, लोच और व्याकरण के नियमों की शिथिलता दिखाई पड़ती है वह आ० हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण में नहीं मिलती। इसका यही अर्थ है कि धनपाल ने जब अपने इस काव्य को लिखा होगा तब अपभ्रंश लोक में बोली जाती थी और हेमचन्द्र के समय में (बारहवीं शताब्दी) में आकर वह केवल साहित्य की भाषा बन कर रह गई थी। डा० भायाणी ने स्वयम्भू के “पउमचरिउ” और धनपाल की ‘भविसयत्त-कहा’ के कुछ अंशों की तुलना करते हुए यह निश्चय किया है कि धनपाल के मामले प्रारम्भिक कड़वको को लिखते समय “पउमचरिउ” विद्यमान था^{१०}। और इन सब प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने धनपाल का समय दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी माना है। यह तथ्य एक प्रकार से रूढ़ हो गया कि “भविसयत्तकहा” दसवीं शताब्दी की रचना है। परन्तु उपलब्ध प्रति के आधार पर अब इन मतों का खण्डन हो गया है। लेखक को प्राप्त हुई इस कथाकाव्य की सबसे प्राचीन प्रति में यह प्रमाणित है कि इसका रचना-काल दसवीं शताब्दी न होकर चौदहवीं शताब्दी है।

यदि हम धनपाल की भविष्यदन्त कथा का प्रारम्भिक भाग यह मानकर छोड़ दें कि पूर्ववर्ती प्रबन्ध-काव्य की परम्परा उत्तरकालिक प्राकृत तथा अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यों की रचना होती रही है इसलिए महाकवि स्वयम्भू के “पउमचरिउ” का प्रभाव प्रस्तुत काव्य में मिलता है तो स्वाभाविक ही है। दोनों को ध्यान में देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि धनपाल ने “पउमचरिउ” को आदर्श मानकर कुछ बातें प्रभाव रूप में और कुछ ज्यों की त्यों ग्रहण की हैं। उदाहरण के लिए—जिस प्रकार केतुमती पुत्र के वियोग में “हा पुत्त-पुत्त” कह कर विलाप करती है वैसे ही कमलश्री भविष्यदन्त के शोक में “हा हा पुत्त-पुत्त” कहती हुई करुण विलाप करती है। इससे स्पष्ट है कि धनपाल स्वयम्भू के पश्चात् हुए। और वर्षों के अन्तराल से नहीं बरन शताब्दियों के बाद हुए। अतएव उन पर

स्वयम्भू का उतना प्रभाव नहीं है जितना कि विबुध श्रीधर विरचित “भविष्यदन्तचरित्र” बारहवीं शताब्दी (वि० सं० १२३०)[†] की रचना में है। लोक-जीवन का प्रभाव और अभिव्यंजना की लोक-प्रचलित शैली धनपाल ने सम्भवतः विबुध श्रीधर से ग्रहण की होगी। क्योंकि चौदहवीं शताब्दी में आकर अपभ्रंश रूढ़ हो चुकी थी। उसका विकास रुक गया था। वह परिनिष्ठित हो चुकी थी। किन्तु धनपाल की भाषा में जो लोक-तत्त्व मिलता है वह विबुध श्रीधर का प्रभाव कहा जा सकता है। इस प्रकार अन्तरंग प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि धनपाल का जन्म तेरहवीं शताब्दी में हुआ था और वि० सं० १३६३ में उन्होंने “भविसयत्तकहा” की रचना की थी। यह कथा-काव्य कवि के शब्दों में—वि० सवत्सर तेरह सौ तेरानवे में, पौष मास में, शुक्ल पक्ष में, बारस सोमवार रोहिणी नक्षत्र में, वाघू के लिए यह मुन्दर शास्त्र समाप्त हुआ था^{११}। कवि ने उस समय दिल्ली के निहामन पर मुहम्मदशाह का शासन करना लिखा है। इतिहास में बादशाह का नाम मुहम्मद बिन तुगलक मिलता है। किन्तु उसके अन्य नामों में मुहम्मद तुगलक और मुहम्मदशाह का भी उल्लेख मिलता है^{१२}। मुहम्मद बिन तुगलक का शासनकाल १३२५-५१ ई० माना जाता है। आलोच्यमान रचनाकाल १३३६ ई० है। ग्रन्थ की पुष्पिका में जिस

[†] यहाँ बारहवीं शताब्दी नहीं किन्तु तेरहवीं शताब्दी होना चाहिए क्योंकि स० १२३० तेरहवीं शताब्दी है।
—सम्पादक

^१ उक्त निष्कर्षानुसार धनपाल का जन्म विश्वम्भ की १४वीं शताब्दी में हुआ था, तेरहवीं में नहीं। क्योंकि उसका रचनाकाल स० १३६३ दिया है। —संपादक

११. सुमवच्छरे अक्किरा विक्कमण,

अहीएह तेणबुदि तेरहमएण ।

वरिस्सेय पूमेण सेयम्मि पक्खे,

तिही वारमी मोमिरोहिणिहि रिक्खे ॥

—भविसयत्तकहा की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति की

अन्तिम प्रशस्ति में ।

१२. द दिल्ली सल्तनत : प्रकाशित भारतीय विद्याभवन प्रथम संस्करण, पृ० ६१ ।

९. भविसयत्तकहा की भूमिका, पृ० ४ ।

१०. डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी : पउमचरिउ की भूमिका, पृष्ठ ३६-३७ ।

विद्रोह का उल्लेख है वह दिल्ली सल्तनत से सम्बन्धित था जो लगभग १३३५ ई० के लगभग हुआ था। इसी प्रकार १३३५ ई० के अकाल का भी उल्लेख मिलता है। कवि घनपाल जौनपुर के निकट (लगभग चौदह-पन्द्रह मील दूर) जफराबाद में रहते थे। अकाल पड़ने पर सन् १३३५ में दिल्ली की दशा बहुत ही खराब हो गई थी। धर्मिमा हिमपाल दिल्ली में रहते थे। वे बहुत ही वैभव सम्पन्न थे। उसका पुत्र बाधू था। उसके लिए कवि ने यह कथा-काव्य लिखा था। और इसके समाप्त होने पर बाधू जफराबाद लेने के लिए पहुँचा था। इस प्रकार इतिहास के आलोक में हमें जो तथ्य प्राप्त होने हैं उनकी संगति और प्रामाणिकता का भी निश्चय हो जाता है।

पूर्व परम्परा

अपभ्रंश में लिखी जाने वाली यह कथा घनपाल के लिए नई वस्तु नहीं थी। क्योंकि उसके पूर्व प्राकृत में महेश्वरसूरि "ज्ञानपंचमी कथा" और संस्कृत में श्रीधर कवि भविष्यदत्तचरित्र लिख चुके थे। अपभ्रंश में भी विबुध श्रीधर "भविष्यदत्तचरित्र" की रचना कर चुके थे। "ज्ञान पंचमी कथा" और 'भविष्यदत्तकथा' में कई बातों में अन्तर है। मुख्य रूप से ज्ञान पंचमी कथा में वरदरा और गुणमंजरी की कथा वर्णित मिलती है। पात्रों में नाम-भेद के साथ ही कहीं-कहीं कार्य-व्यापारों में भी अन्तर मिलता है। परन्तु दोनों का उद्देश्य एक है। और कथा-वस्तु भी लगभग समान है। केवल नामों में अन्तर है, मुख्य कामों में नहीं। प्राकृत में लिखी गई कथा अत्यन्त संक्षिप्त पद्य-बद्ध है। उसमें भविष्यदत्त कथा का उत्तरार्द्ध नहीं है। वस्तुतः घनपाल की भविष्यदत्त कथा का कथानक अपभ्रंश के कवि विबुध श्रीधर से लिया गया है। जिसमें कई बातों में अद्भुत साम्य मिलता है। परन्तु सिन्धुनरेश के साथ भविष्यदत्त के युद्ध का वर्णन घनपाल की निजी कल्पना है जो पूर्ववर्ती रचनाओं में नहीं मिलती।

जैन-साहित्य में भविष्यदत्त की कथा अत्यन्त विख्यात रही है अतएव प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में इस कथा के पद्यबद्ध लिखे जाने के

उल्लेख मिलते हैं। जिन रत्नकोश में दस "ज्ञान पंचमी" कथाओं का उल्लेख है। १४ इसी प्रकार मंजुश्री विरचित "कार्तिक सौभाग्य पंचमी माहात्म्य कथा" संस्कृत में तथा पद्ममुन्दर कृत "भविष्यदत्त चरित्र" (नाटक) का उल्लेख मिलता है। १५। हिन्दी में ब० रायमल्ल विरचित "भविष्यदत्त चौदई" मिलती है जिसे पंचमी कथा या पंचमीरास भी कहते हैं। बनवारी कृत "भविष्यदत्त चरित्र" मवन् १६६६ की रचना है जो चौपाई छन्द में निबद्ध है। इसी प्रकार मुनि सुरेन्द्र भूषण रचित "पंचमी व्रत कथा" वि० म० १७५७ की लिखी रचना है, जिसे कवि ने "ऋषि पंचमी व्रत कथा" कहा है। जिन उदय गुरु के शिष्य और ठक्कर माल्हे के पुत्र विद्वान् विरचित "चउपई" भी मिलती है जिसका उल्लेख प० नेमिचन्द्र शास्त्री ने किया है १६। न्यामतसिंह विरचित "भविष्यदत्त तिलकमुन्दरी" पद्यबद्ध नाटक है। और पन्नालाल चौधरी कृत "भविष्यदत्तचरित्र" हिन्दी-गद्य में लिखा मिलता है। इसी प्रकार भविष्यदत्त तथा पंचमी व्रत कथा के नाम से कई अज्ञात रचनाएँ हिन्दी में लिखी मिलती हैं। गुजराती में वणारसी कृत "ज्ञान पंचमी चैत्यवन्दन" ज्ञान-पंचमी उद्यापनविधि स्वाध्याय, और विजयलक्ष्मीसूरि रचित "ज्ञान पंचमीदेववन्दन", ज्ञान-पंचमी स्वाध्याय तथा गुणविजय कृत "ज्ञान पंचमी स्तवन" आदि रचनाएँ मिलती हैं १७। संस्कृत में मेघविजय विरचित "पंचमी कथा" और क्षमा कल्याण कृत "सौभाग्य पंचमी"

१४ मुहमद्माहो विराओ पयडो,

निओ तेण सायरपमाणेहि दण्डो,

उसविकट्टि णिदलिवि मलिओवि माणो,

किओ रज्जु इकच्छत्ति उवयतमाणो।

पयट्टे विदूसम्मि काले रउदं,

पहुत्तो सुवद्धम जफरायवादे।

इहते परत्ते सुहायारहेउ,

तिणे लिहिय सुअपंचमी णियहं हेउ ॥ ग्रंथ-प्रशस्ति।

१५. स० एच० डी० वेल्गकर · जिनरत्नकोश, पृ० १४८

१६. वही, पृ० ८५। १७. नेमिचन्द्र शास्त्री, जैन-साहित्य-परिशीलन, पृ० २०६।

कथा काव्यों का उल्लेख मिलता है १८। मुक्तिविमल कृत "ज्ञान पंचमी" तो बहुत पहले (१९१६ ई०) में प्रकाशित हो चुकी है। इस प्रकार कथाएँ मिलती हैं जिनमें भविष्यदत्त का कथानक काव्य के विभिन्न रूपों में चित्रित किया गया है। परन्तु भावों की उदात्तता कल्पना की अनिश्चयता और वस्तु का जो यथार्थ चित्रण हमें धनपाल के कथा काव्य में मिलता है उतने सुन्दर रूप में अन्य काव्य में नहीं है। कवि ने अपनी रचना को दो खण्डों और बार्हस सधियों में विभक्त कहा है। प्रबन्ध और वस्तु-तत्त्व की योजना सोद्देश्य नियोजित है। इसलिए धार्मिकता का पुट स्पष्ट है। किन्तु भवान्तर तथा अति लौकिक बातों को यदि छोड़ दिया जाये तो कथा शुद्ध रूप में लोक कथा झलकने लगती है।

अपभ्रंश के कथाकाव्यों में भविष्यदत्त की कथा अत्यन्त करुण, मजीब और यथार्थ है। परिवार की छोटी-सी घटना को लेकर वस्तु-बीज किस प्रकार समाज, जाति और देश के मूल तक पहुँच जाता है—इसका सटीक वर्णन इस काव्य में मिलता है। समस्याएँ प्रत्येक युग में प्रत्येक सामाजिक के सामने रही हैं और उसकी सफलता तथा विफलता का समाधान प्रायः साहित्यकार करते हैं। यही नहीं, उनके परिणाम तथा सघर्षों के परिणामों का लेखा-जोखा भी किसी न किसी रूप में चित्रबद्ध किया जाता रहा है। धनपाल के इस कथा काव्य को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में किस प्रकार सामन्त युगीन धनिक वर्ग कामवामना की तृप्ति के लिए बहु विवाह करते थे और मनसि पर उसका क्या दुष्परिणाम पड़ता था? इसी प्रकार सत्ता तथा बाहुबल पर किस प्रकार गजा लोग सुन्दरी का अपहरण करते थे और इस प्रकार छोटी-छोटी बातों के लिए युद्ध करते थे? भाई-भाई किस प्रकार सम्मान तथा आत्म-तृप्ति के लिए सगे भाई के साथ छल-कपट करते थे और किस प्रकार मातु-तुल्य भौजाई को हथिया लेने का षड्यन्त्र रचते थे?

१८. महेश्वर सूरि कृत ज्ञानपंचमीकथा का प्रस्तावना, पृ० ७। १९. मोहनलाल दुलीचंद देसाई: जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९३३, पृ० ६५३।

किस प्रकार भाई तथा भौजाई अपनी परीक्षा देते थे और अन्त में सफलता प्राप्त करते थे? ऐसे ही कुछ प्रश्न हैं, जिन पर कवि ने प्रकाश डाला है।

वस्तु-चित्रण

कथानक के दो भेद कहे जाते हैं—सरल और जटिल। सरल कथानक में कार्य-व्यापार एक और अवच्छिन्न रहता है। वस्तु की जटिलता एवं उलझन इसमें नहीं मिलती। जहाँ-कहीं लेखक को उलझन या रहस्य प्रतीत होता है वही तुरन्त घटना विशेष से उसका सम्बन्ध जोड़ देता है। इस प्रकार मुख्य कथा कई छोटी-छोटी कथाओं से एक माला के रूप में अनुबद्ध रहती है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में हमें अधिकतर ऐसी ही कथाएँ मिलती हैं जो शृंखलाबद्ध रूप में वर्णित हैं। हमें ऐकिक कहानी कहा जा सकता है जिसमें कई सरल कथाओं से मिलकर एक बृहत्कथा बनती है। मूल रूप में कथा बहुत छोटी रहती है किन्तु वस्तु-वर्णन तथा विभिन्न अभिप्राय-मूलक घटनाओं के योग से समूचे जीवन का चित्र चित्रित करने वाले प्रबन्ध काव्य का आकार ग्रहण कर लेती है। उदाहरण के लिए भविष्यदत्त की कथा में एक साथ तीन अन्य उपकथाएँ जुड़ी हुई हैं। मुनि के आजीर्णद से भविष्यदत्त का उत्पन्न होना और पाँच सौ व्यापरी एवं भाई बन्धुदत्त के साथ समुद्रो-यात्रा के लिए जाना, मार्ग में मैनागर्दीप में बन्धुदत्त के द्वारा भविष्यदत्त को छोड़ दिया जाना, वहाँ से भविष्यदत्त का तिलकपुर में पहुँचना और भविष्यानुपूर्वा से मिलना, बन्धुदत्त के लौट कर आने पर उसी द्वीप में फिर से मिलने और छल से पुनः भाई को अकेला छोड़ कर बन्धुदत्त का भाभी के साथ घर पहुँचने की कथा एक सूत्र में बद्ध है। यह कथा मूल रूप में "बड़ी माँ की कहानी" है जिसमें सातेली माँ का व्यवहार और उसके सिखाये हुए पाठ से बड़े भाई के साथ छोटे भाई का खोटे से खोटा कर्म और नीच कर्म का वर्णन तथा उसके फल का विवरण है। कहीं-कहीं इन घटनाओं से कथा को गतिशील बनाये रखने के लिए उपवाक्यों की भाँति उपकथाएँ जुड़ी रहती हैं। संक्षेप में, यदि भविष्यदत्त की कथा की घटनाओं पर विचार किया जाये तो निम्न-लिखित घटनाएँ मुख्य लक्षित होंगी।

(१) सेठ धनवड का कमलश्री को त्याग कर दूसरा विवाह सरूपा से करना और बन्धुदत्त का जन्म होना। भविष्यदत्त का ननिहाल में पालन पोषण होना।

(२) पांच सौ व्यापारियों तथा बन्धुदत्त के साथ भविष्यदत्त की कंचनद्वीप की यात्रा, मार्ग में मैनागद्वीप में भविष्यदत्त को अकेला छोड़कर बन्धुदत्त की आज्ञा से जहाज का कचन द्वीप के लिए प्रस्थान करना।

(३) भविष्यदत्त का उजाड़ नगर तिलकपुर में प्रवेश करना तथा अपने साहस से राक्षस को प्रसन्न कर राजकन्या भविष्यानुरूपा का पाणिग्रहण कर बारह वर्षों के बाद अपने नगर के लिए प्रस्थान कर समुद्र तट पर पहुँचना। मयोग से बन्धुदत्त का मिल जाना। छल पूर्वक भविष्यदत्त को छोड़कर भविष्यानुरूपा के साथ अतुल मपत्ति लेकर बन्धुदत्त का स्वदेश-गमन करना। मार्ग में जल-देवता के प्रभाव में तूफान का आना और भविष्यानुरूपा के सर्तीत्व की रक्षा होना। एक मास की अवधि में पति से मिलने का स्वप्न देखना। घर पहुँच कर बन्धुदत्त की भविष्यानुरूपा के साथ विवाह का तैयारी होना। इतने में भविष्यदत्त का लौटकर घर पहुँचना। राजा को सच्चा वृत्तान्त ज्ञात होने पर बन्धुदत्त को दण्ड देना।

(४) राजा का भविष्यदत्त के साथ सुमित्रा का व्याहृत का प्रस्ताव रखना, धनवड का उसे स्वीकार करना। पांचाल नरेश चित्राग का सुमित्रा को मागना और सकल राज्य में वश में करने तथा कर देने का प्रस्ताव रखना, भविष्यदत्त का विरोध करना। युद्ध के लिए तैयारी। भविष्यदत्त का चित्राग को बन्दी बनाकर सुमित्रा से विवाह करना। बरसों तक सुखोपभोग करने के बाद संन्यास में दीक्षित होना तथा तपस्या कर परमपद को प्राप्त करना।

ये मुख्य घटनाएँ अपने आप में छोटी-छोटी चार लोक-कथाएँ हैं जो आज भी अलग-अलग कई रूपों में कही-सुनी जाती हैं। जहाँ तक कथा की पहली मुख्य घटना एवं कहानी का सम्बंध है वह सौतेली मा की कहानी से सम्बन्धित है जिसमें एक ही राजा या सेठ की कई पत्नियों या दो रानियों में से सबसे छोटी के साथ और उसके पुत्र के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता है

और बड़ी को तथा उसके पुत्र को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है। सौतेला भाई कुछ तो स्वभाव से और कुछ माता के सिखाने से विमाता के लड़के को धोखा देकर मार डालने की चेष्टा करता है पर इस कार्य में उसे पूर्ण सफलता नहीं मिलती। इतना ही नहीं, विमाता का पुत्र अपने भाइयों की सहायता या सकट में उनकी रक्षा करता है। किन्तु वही सौतेला भाई फिर से धोखा देकर उसका अनिष्ट करने की चेष्टा करता है और अन्त में असफलता ही उसके हाथ लगती है।

पहली मुख्य घटना से सम्बन्धित एक अन्य घटना है—माता का पुत्र से विछोह हो जाने के कारण पुनः प्राप्ति के लिए व्रत करना और परिणामस्वरूप पुत्र में भेंट होना। ऐसी कई व्रत-कथाएँ हैं जिनमें बाहर गये हुए अथवा किसी प्रकार विछूड़े हुए पुत्र या पति की प्राप्ति के लिए व्रत-विधान निर्दिष्ट है तथा जिनके पालन से मनो-वाञ्छित फल की प्राप्ति होती है। स्कन्द पुराण के अन्तर्गत “गणेश चतुर्थी” की कथा ऐसी ही कथा है जिसमें इस व्रत के पालन से रानी दमयन्ती को सातवें महीने में पुत्र और पति की भेंट होती है। इसी प्रकार ठाकुर ‘मारभुलि’ में सङ्कलित ‘कलावती राजकन्या’ नाम की कहानी में भी कलावती एक महीने के व्रत के फलस्वरूप पति को तथा बुद्ध और मुत्तुम की माता जल-देवता की आराधना से यात्रा से लौटे हुए पुत्र को प्राप्त करती है २०। इसी प्रकार साहित्यिक राजकुमारों तथा सौदागरो की अनेक कहानियाँ मिलती हैं जिनमें समुद्री-यात्रा करते समय अनेक सकटों को भेजना पड़ता है और अन्त में उनसे उबर कर कचन-कामिनी एवं अतुल वैभव प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः सकट-निवारण के लिए व्रत-उपवास का पालन करना भारतीय जीवन की चिर-प्रचलित लोक-रूढ़ि है। अतएव लोक-कथाओं में उनका निर्देश होना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार सकट में पड़े बिना, और साहसी कार्यों को बिना किए हुए मनुष्य जीवन की समृद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए इन कथाओं में रोमांचक तथा प्रेरक तत्वों की संयोजना इस रूप में की गई है कि वे जीवन

२०. सं० दक्षिणारजन मित्र : ठाकुर मारभुलि, वागला रूपकथा, पृष्ठ १६।

की वास्तविक प्रगति का चित्रबद्ध रूप प्रकट करती हुई जान पड़ती है।

इसी प्रकार किसी उजाड़ नगरी या गन्धर्वों के देश में अथवा पातालपुरी में किसी बहुत सुन्दर राजकुमारी का अकेला रहना और नायक का माहमिक कार्यों द्वारा उसे प्राप्त करने या प्राप्त हो जाने की घटना भी लोक-कथाओं तथा भविष्यदत्त कथा में समान है। बंगला में “धुमन्तपुरी” नामक दादी की सुनाई हुई कहानी ऐसी ही है जिसमें एक राजा का पुत्र के बार-बार मना करने पर पिता की आज्ञा में देश-भ्रमण के लिए निकल पड़ता है और निर्जन एवं निःशब्द वन में किसी राजभवन में पहुँच जाता है, जिस नगरी को राक्षसों ने उजाड़ दी थी और न जाने क्यों राजकुमारी को छोड़कर राक्षस ने समस्त नगरी का ध्वस कर डाला था। राजकुमार उस राजकुमारी को प्राणान्तक नीद में जगाकर बुद्धिबल में राक्षस का अन्त कर देता है^{२१}। भविष्यदत्त भी माता के बहुत हठ कर मना करने पर भाई के साथ व्यापार करने कचन-द्वीप की यात्रा करता है। मैनागद्वीप में छोड़ दिए जाने पर तिलकपुर में भटक कर पहुँचना है। भविष्यदत्त उजाड़ नगरी को देखकर राजमहल में जाता है जहाँ सुन्दर राजकुमारी से उसकी भेंट होती है। राक्षस को पाम में आने देखकर भविष्यदत्त उसमें युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है। राक्षस भविष्यदत्त का साहस और पराक्रम देखकर प्रसन्न हो जाता है और भविष्यानुशासा का विवाह उसके साथ कर देता है।

भविष्यदत्त कथा का लोक-रूप

यद्यपि अपभ्रंश की कथाएँ सच्ची मान कर लोगों के मन पर धार्मिक प्रभाव डालने के लिए लिखी गई हैं पर उनकी जड़े लोक-कथाओं में जमी हुई मिलती हैं। भविष्यदत्तकथा भी मूलतः लोक-कथा है, जो उद्देश्य विशेष से प्रबन्धकाव्य के रूप में वर्णित है। इस तरह की कथा-कहानी आज भी हमारे यहाँ गाँवों में कही जाती है। कही पर यह कहानी राजा-रानी और राजकुमारों के रूप

में कही जाती है और कहीं पर सौदागर के रूप में^{२२}। अधिकतर लोक-कहानियों में राजकुमार की कहानी इसमें मिलती-जुलती सुनी जाती है। बंगाल की प्रसिद्ध लोक-कथाओं में ‘कलावती राजकुमारी’ की कहानी इसी प्रकार की रूपकथा है जिसमें पाँचों राजकुमार ईर्ष्याविष सबमें छोटे बोनो राजकुमारों को छोड़कर कलावती को पाने के लिए जहाज में बैठकर यात्रा करने हैं। किन्तु दोनों भाई भी डोगी में बैठकर प्रस्थान करते हैं। दोनों भाई तीन बुद्धियों के देश में पहुँचकर बुद्धिया के चंगुल में फँसे हुए पाँचों भाइयों को छुड़ाने हैं। परन्तु इस पर भी पाँचों भाई दोनों भाइयों की उपेक्षा कर आगे बढ़ जाते हैं। मार्ग में शिशाभ्रम की दशा में दोनों भाइयों में से बुद्धू पाँचों की सहायता करता है। अन्त में तूफान आने से पाँचों भाई डूब जाते हैं। बुद्धू कलावती के नगर में पहुँच कर देखता है कि पाँचों भाई बन्दीगृह में हैं। उसे भी बन्दी बना लिया जाता है। परन्तु वह कला-कौशल से पाँचों भाइयों का तथा छोटे भाई को कलावती के साथ लेकर पोत में बैठकर घर के लिए लौट पड़ता है। पाँचों भाई कलावती को बुद्धू के पास देखकर जल-भुन उठते हैं और उन दोनों भाइयों को समुद्र में फेंक देने हैं। कलावती को कैद कर वे अपने नगर में ले जाते हैं। राजा कलावती का विवाह राजकुमार से करना चाहता है, परन्तु वह तैयार नहीं होता। राजा उसे मार डालने की धमकी देता है। वह महीने का व्रत धारण करती है। इसी बीच दोनों राजकुमार आकर कलावती में मिलते हैं। राजा को जब सारा रहस्य ज्ञात होता है तब वह बुद्धू का विवाह कलावती के साथ धूम-धाम से करता है। छोटे भाई का पाणिग्रहण भी किसी अन्य राजकुमारी से हो जाता है। पाँचों भाइयों को अपने किये का दण्ड मिलता है।

इस प्रकार मक्षेप में भविष्यदत्त की लोक-कथा का रूप है—किसी नगर में एक नगर सेठ रहता था। उसका नाम धनवत् था। कमलश्री नाम की उसके शीन तथा रूपवती पत्नी थी। उन दोनों के भविष्यदत्त नाम का एक पुत्र उत्पन्न हुआ। धीरे-धीरे सेठ का मन उससे विरक्त हो

२२. डा० नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान, तृतीय परिवर्द्धित संस्करण, पृ० २५८

गया। उसका दूसरा विवाह सरूपा से हुआ। सरूपा स्वभाव से दुष्ट तथा रूपगर्विता थी। भविष्यदत्त ननिहाल में पढ़-लिख कर बड़ा होता है। सरूपा के भी एक पुत्र उत्पन्न होता है, जिसका नाम बन्धुदत्त रखा जाता है। बन्धुदत्त नगर में बहुत उत्पात मचाता है। नगर के लोग मन्त्रियों से निवेदन करते हैं। अन्त में प्रधान नगर-सेठ से कह कर उसे व्यापार के लिए भेजते हैं। पाँच सौ व्यापारियों का मुखिया बनकर बन्धुदत्त समुद्र के मार्ग से जहाज पर बैठकर यात्रा करता है। भविष्यदत्त भी साथ में जाने के लिए तैयार होता है। उसकी माता कमलश्री बहुत समझाती है। अन्त में मामा आदि के कहने से वह भविष्यदत्त को भेज देती है। बन्धुदत्त की माता बड़े भाई भविष्यदत्त के सम्बन्ध में सब कुछ बता देती है और किसी प्रकार मार्ग में कहीं छोड़ आने या समुद्र में गिरा देने की सीख देती है। कई दिनों के बाद बन्धुदत्त का जहाज मैनागद्दीप के तट पर लगता है। सब लोग उतरकर खाने पीते हैं। फल-फूलों को वन में से तोड़ते हैं। भविष्यदत्त फूलों को चुनता हुआ दूर निकल जाता है। अक्सर पाने ही बन्धुदत्त भविष्यदत्त को वही छोड़कर जहाज चलवा देता है। भविष्यदत्त रोता-गाता जंगल में भटकता है। एक रात धने जंगल में, जगनी जानवरो के बीच एक सिला पर सोता हुआ बिताता है दूसरे दिन एक गुफा में से निकल कर एक उजाड़ नगरी में पहुँचता है। उस तिलकपुर में उसे केवल एक सुन्दर राजकुमारी को छोड़कर कोई नहीं मिलता। वह उससे सारा हाल पूछता है। वह कहती है—राक्षस ने इस नगरी को उजाड़ दिया है। तुम भी उससे नहीं बच सकते। राक्षस के आने पर वह ललकारता हुआ युद्ध के लिए तैयार हो जाता है। राक्षस उसके साहस तथा पराक्रम से प्रसन्न होकर उन दोनों का विवाह कर देता है। दोनों वहाँ पर बारह वर्षों तक साथ में रहते हैं। एक दिन भविष्यानुरूपा ससुराल के हाल-चाल पूछती है तो भविष्यदत्त को माता का स्मरण हो आता है। वह दूसरे दिन ही उस गुफा में से होकर समुद्र-तट पर पहुँचते हैं।

बारह वर्षों के बाद बन्धुदत्त का जहाज फिर उसी तट पर लगता है। लोग भविष्यदत्त को पहचान लेते हैं। बन्धुदत्त गले मिलता है। भाई से क्षमा माँगता है।

भविष्यदत्त सब को भोजन कराता है। भविष्यानुरूपा के साथ सब माल जहाज पर चढ़ा दिया जाता है। भविष्यानुरूपा को इतने में ही स्मरण हो जाता है कि वह सेज पर नागमुद्रा भूल आई है। भविष्यदत्त उसे लेने के लिए जाता है। तभी बन्धुदत्त लोगों के मना करने पर भी जहाज खुलवा देता है। भविष्यदत्त बहुत पछताता है। भौजाई के रूप-स्मृन्दर्य से आकृष्ट होकर बन्धुदत्त उससे अनुनय-विनय करता है, वह मौन धारण कर लेती है। भोजन-पानी त्याग देती है। देवी उसे स्वप्न देती है कि एक महीने में पति के दर्शन होंगे। मार्ग में जल-देवता के प्रभाव से तूफान आता है। जहाज डगमगाने लगता है। सभी बन्धुदत्त को धिक्कारते हैं। भविष्यानुरूपा से क्षमा माँगते हैं। तब कहीं लहरे शान्त होनी हैं और गजपुर की ओर आगे बढ़ते हैं। सभी अपने-अपने घर पहुँच जाते हैं। कमलश्री भविष्यदत्त को नहीं आया हुआ देखकर निराश होती है। वह सबसे पूछती है। सब यही कहते हैं कि किसी द्वीप में रह गया है, आ जायगा। बन्धुदत्त के विवाह की तैयारियाँ होती हैं। पन्द्रह-बीस दिन बाद भविष्यदत्त घर लौट आता है। मामा के साथ वह राजा को सब वृत्तान्त सुनाता है। माता को भेजकर नागमुद्रिका के अभिज्ञान से वह भविष्यानुरूपा को राजदरबार में बुला लेता है। राजा सभा बुलाता है। सारा रहस्य खुल जाता है। नगर सेठ और बन्धुदत्त को दण्ड मिलता है। जनता विरोध करती है। भविष्यदत्त के कहने पर धनवद को छोड़ दिया जाता है। राजा अपनी कन्या सुमित्रा का विवाह भविष्यदत्त के साथ करने का निश्चय प्रकट करता है।

इसी बीच पाचाल नरेश की सेना आकर गजपुर को घेर लेती है। सुमित्रा को मागने और अधीनता स्वीकार कर लेने का प्रस्ताव रखा जाता है। राजा बड़े असमजस में पड़ जाता है। भविष्यदत्त इस प्रस्ताव को ठुकरा देता है। स्वयं सेना का नेतृत्व कर युद्ध लड़ता है और चित्रांग को बन्दी बना लेता है। सुमित्रा से उसका विवाह हो जाता है। वह राजा बन जाता है। धनवद भी अपनी भूल स्वीकार कर पूर्ववत्त कमलश्री को अपना लेता है। सभी का जीवन आनन्द से बीतता है।

अतएव अपभ्रंश की यह कथा लोक-कथा है, जिसमें

धर्म और साहित्य के परिप्रेक्ष्य में कतिपय कथाभिप्राय वर्णित है। ऐसी कथाएँ प्रायः लोक-जीवन और मस्कृति को समझने के लिए महत्वपूर्ण होती हैं। भविष्यदत्त की यह कथा उत्पाद्य है, जिसमें मुमित्रा के लिए युद्ध, मणि-भद्र यक्ष की सहायता से मँनागद्वीप से गजपुर पहुँचने और भविष्यानुरूपा के दोहला के समय तिलकपुर में भ्रमण की घटनाएँ एवं वृत्त कल्पित जान पड़ता है। इसका मुख्य कारण धार्मिक वातावरण प्रस्तुत करना है।

चरित्र-चित्रण

घटनाओं की भाँति भावों में मधुर्य का चित्रण करना अपभ्रंश-कथाकाव्यों की सामान्य प्रवृत्ति है। यद्यपि भविष्यदत्त सामान्य व्यक्ति है इसलिए भाई के द्वारा द्वीप में छोड़ दिए जाने पर आसू बहाता है, पश्चाताप करता है परन्तु विनय, गालीनता, साहम और धैर्य आदि गुणों से संयुक्त होने के कारण वह धीरोदान नायक की भाँति चित्रित किया गया है। अपभ्रंश के कवियों ने अपने काव्यों में सामान्य व्यक्ति को भी नायक मानकर उसके क्रिया-कलापों से उदात्त जीवन में उन्हें प्रतिष्ठित किया है और इसका मूल कारण उनकी धार्मिक वृत्ति जान पड़ती है, जिसके अनुसार वे “नर से नागयण” बनने की मान्यता में विश्वास रखते हैं। अतएव भविष्यदत्त धीर, वीर ही नहीं साहसी और क्षमाशील भी है। जातीय गुणों के साथ ही उसमें क्षात्रधर्म का दर्प और तेज भी दिखाई पड़ता है। अतएव सिन्धुनरेश के अन्यायपूर्ण प्रस्ताव से असहमत हो कर वह मन्त्रसे आगे बढ़कर युद्ध लड़ता है और निर्भीकता के साथ अपनी वीरता का परिचय देता है। इस प्रकार सामान्य वणिक्पुत्र होकर भी भविष्यदत्त राजोचित प्रवृत्तियों एवं गुणों को प्रदर्शित कर अन्त में राजा बनता है और सफलता से राज्य शासन करता है। लेखक ने जहाँ दैवी संयोग, आकस्मिकता और असाधारण वृत्तों की संयोजना धार्मिक प्रभाव स्पष्ट करने के हेतु की है वही नायक चारित्रिक गुणों पर भी प्रकाश डाला है।

प्रबन्ध-संघटना

कथा-बन्ध की दृष्टि से भविष्यदत्त कथा प्रबन्ध-काव्य है जिसमें घटनाओं की कार्य-कारण योजना और रसा-

न्वित औचित्यपूर्ण लक्षित होती है। परन्तु अवान्तर कथाओं की विशेष संयोजना से कहीं-कहीं मध्य और अन्तिम भाग गतिहीन तथा प्रभावहीन जान पड़ता है। वस्तुतः प्रबन्ध का पूर्वाह्न जैसा कसा हुआ है वैसे उत्तरार्ध नहीं। इस-लिए कहीं-कहीं प्रबन्ध-रचना में शिथिलता दिखाई पड़ती है। एक तो यही कारण है और दूसरा आदर्श महत् न होने के कारण इसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता है। यह मस्कृत के एकार्थक कोटि का प्रबन्ध-काव्य है जो कथा काव्य की विशेष विधा के अनुरूप लिखा गया है।

समालोचकों ने प्रबन्ध-काव्य में कार्यान्वय की आवश्यकता पर अधिक बल दिया है। डा० शम्भूनाथसिंह के मत में रोमांचक कथाकाव्यों में कार्यान्वयिनी नहीं होती और न नाटकीय तत्त्व ही अधिक होते हैं। उनका कथानक प्रवाहमय और बेविध्यपूर्ण अधिक होता है पर उसमें कमावट और थोड़े में अधिक कहने का गुण, जो महाकाव्य का प्रधान लक्षण है, नहीं होता २३। परन्तु भविष्यदत्त की कथा में थोड़े में अधिक कहने का गुण कूट-कूट कर भरा हुआ है। कार्यान्वयिनी भी आदि से अन्त तक बराबर बनी हुई है। सम्भवतः इसीलिए विण्टरनिस् ने इसे रोमांचक महाकाव्य माना है २४। प्रबन्ध-काव्य के मौलिक गुणों की दृष्टि से यह एक सफल रचना कही जा सकती है। क्योंकि इसमें कथानक का विस्तार कथातत्त्व के लिए न होकर चरित्र-चित्रण के लिए हुआ है, जो महाकाव्य का प्रधान गुण माना जाता है। चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता का सन्निवेश इस काव्य की विशेषता है। फिर, कथानक में नाटकीय तत्वों का भी समावेश हुआ है। स्थान-स्थान पर नाटकीय ढंग से चित्रों की अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः इस कथाकाव्य का महत्व तीन बातों में है—पौराणिकता से हटकर लोक-जीवन का यथार्थ चित्रण करना, काव्य-रूढ़ियों का समाहार कर परम्परागत प्रवृत्ति का निर्वाह करना और चलते वर्णनों के बीच काव्य को मवेदनीय बनाना।

२३. डा० शम्भूनाथसिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृष्ठ ८८।

२४. एम० विण्टरनिस् : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, १९३३, खण्ड २ पृष्ठ ५३२।

काव्य-रूढ़ियाँ

आलोच्यमान कथाकाव्य में निम्नलिखित काव्यरूढ़ियों का पालन हुआ है— १. मंगलाचरण, २. विनय-प्रदर्शन, ३. काव्य-रचना का प्रयोजन, ४. सज्जन-दुर्जन वर्णन, ५. वन्दना (प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ में स्तुति या वन्दना), ६. श्रोता-वक्ता शैली और आत्म-परिचय।

अपभ्रंश के कथाकाव्यों में काव्य-रूढ़ियाँ प्रबन्ध-रचना की अंग विशेष लक्षित होती हैं। संस्कृत के प्रबन्ध-काव्यों में मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जन वर्णन ही किसी-किसी में दिखाई पड़ता है। रूढ़ नहीं है। परन्तु अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों में इनका विशेष ध्यान रखा गया है। इसी रूढ़िके अन्तर्गत कवि आत्म-परिचय भी दे सकता था। अत्यन्त प्राचीन कवियों में अपना परिचय देने की रूढ़ि नहीं थी।

वस्तु-वर्णन

आलोच्य ग्रन्थ में वस्तु-वर्णन कई रूपों में मिलता है। कवि ने जहाँ परम्परायुक्त वस्तु-परिगणन और इति-वृत्तात्मक शैली को अपनाया है वही लोक-प्रचलित शैली में वस्तु-वर्णन कर लोक-प्रवृत्ति का परिचय दिया है। परम्परागत वर्णनों में नगर-वर्णन, नख-शिख वर्णन और प्रकृति-वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें कोई नवीनता लक्षित नहीं होती मुख्य वर्णन है—नगर-वर्णन, कचनद्वीप-यात्रा वर्णन, समुद्र-वर्णन, विवाह-वर्णन, युद्ध-वर्णन, वसन्त-वर्णन, राजद्वार-वर्णन, मैनागद्वीप-वर्णन, बाल-वर्णन, रूप-वर्णन तथा तैल चढ़ाने का आदि का वर्णन।

इन वर्णनों में कहीं-कहीं उपमानों में नवीनता, लोक-तत्व और स्थानीय विशेषताएँ मिलती हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि इस काव्य पर लोकजीवन का प्रभाव विशेष है।

शैली

अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की भाँति इस कथा-काव्य में भी कडवकबन्ध है जो सामान्यतः दस से सोलह पक्तियों का है। कम से कम दस और अधिक से अधिक तीस पक्तियाँ एक कडवक में प्रयुक्त हैं। कडवक् पञ्चद्विका, अष्टिल्ला या वस्तु से समन्वित होते हैं। कहीं-कहीं दुवई का प्रयोग भी मिलता है। इस भिन्नता का कारण यही

प्रतीत होता है कि यह रचना की एक शैली थी जिसमें प्रबन्ध और विषय की दृष्टि से अन्यान्यप्रास छन्दोयोजना नियत पक्तियों में होती थी। साधारणतया एक कडवक में कम से कम कुल आठ यमक या सोलह पक्तियाँ देखी जाती हैं। इसी प्रकार सोलह मात्राओं का एक पद कहा जाता है। किन्तु इसके सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि निश्चितता नहीं है। सामान्यतया कडवक के अन्त में दो पक्तियों का दोहा के आकार में मिलते-जुलते छन्द देव जाते हैं। यह काव्य पद्धतियाँ शैली में लिखा गया है।

काव्य-सौष्ठव

भविष्यदत्त कथा में कई भावपूर्ण तथा मार्मिक स्थल मिलते हैं जिनमें कवि की प्रतिभा और भावुकता का सच्चा परिचय मिलता है। छोटे भाई को बड़े भाई का अकेला बीहड़ द्वीप में छोड़ देने से बड़ कर मार्मिक करुण दृश्य और क्या हो सकता है। भविष्यदत्त की उस समय वही दशा होती है जो किसी साधारण जन की हो सकती है। बही धरती पर हाथ पटकता है, छानी कूटता है और अत्यन्त दुखी होकर कहता है कि माता ने पहले ही कहा था पर मैं नहीं माना। मेरा कार्य ही नष्ट हो गया। मैं व्यापार के लिए आया था पर यह अद्भुत दृश्य देख रहा हूँ कि भीत ही मेरे सामने अड गई है। इस प्रकार के विविध भावों में डूबता उतरता भविष्यदत्त अपने भाग्य को कोमता हुआ कह उठता है कि मेरा भाग्य ही उलटा है; किसी का क्या दोष? इस प्रसंग में कवि ने भविष्यदत्त की विविध मानसिक दशाओं की विस्तृत अभिव्यञ्जना की है।

बन्धुदत्त को कचनद्वीप की यात्रा से घर लौटने पर जितनी अधिक प्रसन्नता होती है उसमें कहीं अधिक नगर के लोगो को हर्ष होता है। उसके लौटने के समाचार मिलते ही लोग हर्ष में पगे हुए नदी के तीर पर दौड़े-दौड़े जाते हैं। वे इतने अधिक हर्ष से उल्लसित हैं कि किसी ने सिर का कपड़ा पहन लिया है, किसी ने शीघ्रता में हाथों के कगन कही के कहीं पहन लिए हैं, कोई पुरुष किसी स्त्री से ही प्रार्थन करने लगा, किसी के अंग का प्रतिबिम्ब कहीं और पड़ने लगा, किसी ने किसी दूसरे का सिर चूम लिया। इस प्रकार सभ्रम और पुलक से भरे हुए लोग

अपने-अपने कामों को छोड़कर प्रिय की कुशल-अकुशल की बात करते हुए नदी-तट पर पहुँचे । धनवद् ने झालों में झंझू भरकर गदगद वाणी से बेटे की कुशल-क्षेम पूछी २५ ।

वियोग वर्णन

विप्रलम्भ शृङ्गार के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण में से पूर्वराग को छोड़कर तीनों रूप मिलते हैं । कमलश्री धनवद् प्रियतम के मान धारण कर लेने पर घर में ही अत्यन्त दुखी होकर वियोग में छटपटाती है । धनवद् के प्रणय से हीन उसका मन अत्यन्त संतप्त रहने लगता है । उसके अंग विरहाग्नि सहन करने में असमर्थ हो जाते हैं । उसकी झालें जाते हुए पति की ओर हो लगी रहती हैं । इतने पर भी उसे प्रिय के वचन, मदन, आसन और शयन कभी नहीं मिल पाते २६ ।

भविष्यदत्त के मैनागद्वीप में छूट जाने पर भविष्यानु-रूप बहुत दुखी होती है । वह तरह-तरह से अपने मन को समझाती है । वह विचार करती है कि मैं गजपुर में हूँ और पतिदेव यहाँ से सैकड़ों योजन दूर द्वीपान्तर में हैं । किस प्रकार से मिलना हो ? जिस द्वीप की भूमि में कोई मनुष्य संचार नहीं करता वहाँ कैसे पहुँचूँ ? मुझे जितना दुःख भोगना था उतना भोग लिया । बिना आशा के मैं कब तक प्राण धारण करूँ ? इतने में ही वह किसी से सुनती है कि कमलश्री ने यह निश्चय किया है कि एक

२५. धाड़उ सयलु लोउ विहडप्फडु

केणवि कहुवि लयउ सिरकप्पडु ।

केणवि कहुवि छुड्डु करिकंकणु

केणवि कहु वि दिण्णु आलिगणु ।

केणवि कहुवि अंगु पडिदिवउ

केणवि कौवि लेवि सिरु चूविउ ।

गय वड्यहि कम्मइ मेल्लियइ

णयणइ हरिसुजलौल्लियइ ।

पियकुसलाकुसल करंतियइ

चित्तइ सदेहविडंवियइ ॥

८, १ । भ० क०,

धनवद् अंसुलोल्लियणयणयणउं

पुच्छइ पुणुवि सगिरवयणउं ।

२६. वही, २, ६-७ । २७. वही, ८, २० ।

महीने में यदि मेरा पुत्र आकर नहीं मिला तो मैं अपने प्राणों को त्याग दूँगी २७ । यहाँ पर कवि ने आकाशवाणी या किसी असाधारण घटना का समावेश न कर अस्वाभाविकता से कथानक को बचा लिया है । इस कथाकाव्य में और भी जो वियोग-वर्णन के स्थल हैं उनमें भी रीति-परम्परा से प्रस्त मानवीय भावनाओं का प्रदर्शन न होकर जीवन की वास्तविक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है ।

शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों में रौद्र, हास्य, वात्सल्य और भयानक की प्रसंगतः मधुर अभिव्यजना हुई है । विविध रसों के भाव, अनुभाव और हावों की भी योजना इस काव्य में मिलती है । यद्यपि शृङ्गार के दोनो पक्षों का चित्रण काव्य में किया गया है परन्तु जायसी या सूर की भाँति वियोग-वर्णन की अतिशयता, रूप-विधान और गम्भीरता नहीं मिलती । इसका कारण यही प्रतीत होता है कि कवि का लक्ष्य काव्य को शृङ्गार प्रधान न बना कर शान्तरस को अंगी मानकर अभिव्यक्त करना था । लगभग सभी कथाकाव्य शान्तरस प्रधान हैं ।

भाषा

यद्यपि धनपाल की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है पर उसमें लोकभाषा का पूरा पुट है । इसलिए जहाँ एक ओर साहित्यिक वर्णन तथा शिष्ट प्रयोग हैं वहीं लोक-जीवन की सामान्य बातों का विवरण घरेलू वातावरण में एव जनबोली में वर्णित है । सजातीय लोगों की जेवनार में कवि ने घेवर, लड्डू, खाजा, कसार, मांड़ा, भात, कचरिया पापड़ आदि न जाने कितनी वस्तुओं का वर्णन किया है ।

डा० एच० जेकोबी के अनुसार धनपाल की भाषा बोली है जो उत्तर भारत की है २८ । धनपाल की भाषा पूर्ण साहित्यिक है । केवल लोक-बोली का पुट या उसके शब्द-रूपों की प्रचुरता होने से हम उसे युग की बोली जाने वाली भाषा नहीं मान सकते । क्योंकि प्रत्येक रचना

२८. डा० एच० जेकोबी : फ्राम इण्ट्रोडक्सन टु द भविसयत्तकहा, अनु० प्रो० एस० एन० धोसाल, प्रकाशित लेख, "जनरल आब द ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट, बडौदा," द्वितीय खण्ड, अंक संख्या ३, मार्च १९५३ ।

में बोल-चाल के कुछ शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है। धनपाल की भाषा में जैसी कसावट और संस्कृत के शब्दों के प्रति झुकाव है उससे यही सिद्ध होता है कि उनकी भाषा बोलचाल की न होकर साहित्य की है। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है। जैसे कि—

किउ अम्भुत्याणु णराहिवेण,
अहिणउ पाहुडु अल्लविउ तेण ।
(कृत अम्भुत्थान नराधिपेन,
अभिनव प्राभूत आहृत्य ? तेन)
रयणाहरण विहूसिय कठि,
वेलासिरिव उयहि उवकंठि ।
(रत्नाभरण विभूषित कण्ठ,
वेलाश्रीरिव उदगत उपकण्ठ)

डा० तगारे ने पश्चिमी अपभ्रंश की जिन विशेषताओं का निर्देश किया है वे आलोच्य कथाकाव्य में भलीभांति मिलती है २६। इस कथाकाव्य की भाषा आदर्श भले ही न हो पर परिनिष्ठित अपभ्रंश अवश्य है, जिसके लक्षण हमें आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण में मिलते हैं। अतएव धनपाल की भाषा साहित्यिक है, जिस पर बोलचाल का पानी चढ़ा हुआ है।

अलंकार-योजना

सादृश्यमूलक अलंकार ही विशेष रूप से मिलते हैं। कुछ मुख्य अलंकार इस प्रकार हैं—विनोक्ति, दृष्टान्त, काव्यालिंग विशेषोक्ति, विरोधामस, लोकोक्ति, रूपक, व्यतिरेक, अर्थान्तरव्यास और प्रतिवस्तूपमा। इनके अतिरिक्त और भी कई अलंकार मिलते हैं। उत्प्रेक्षा के कई भेद प्रयुक्त हैं। उनको देखकर यही प्रतीत होता कि धनपाल मानो उत्प्रेक्षा के ही कवि हैं।

छन्दयोजना

इस कथाकाव्य में वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्द मिलते हैं। अधिकतर छन्द मात्रिक हैं। निम्न-लिखित छन्द विशेष रूप से प्रयुक्त हैं—पञ्चदशिका या पदड़ी अडिल्ला, घत्ता, दुवई, मरहट्टा चामर, भुजग-

२६. डा० गजानन वासुदेव तगारे; हिस्टारिकल ग्रामर आव अपभ्रंश, पूना, १९४८, पृ० २६०।

प्रयात, शंखनारी, सिद्धात्रलोकन, काव्य, प्लवंगम, क्लृप्त, गाथा और संकीर्ण स्कन्धक आदि।

भविष्यदत्त में समाज और संस्कृति

आलोच्य काव्य में राजपूतकालीन समाज और संस्कृति की स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है। भविष्यदत्त केवल सकल कलाएँ, ज्ञान-विज्ञान, ज्योतिष तन्त्र-मन्त्रादिक ही नहीं सीखता है वरन् वणिक्पुत्र होकर भी विविध आयुधों का विभिन्न प्रकार से संचालन, सग्राम में विभिन्न चातुर्यों से अपनी बचाव, मल्लयुद्ध तथा हाथी-घोड़े आदि सवारी की भी शिक्षा प्राप्त करता है। उस युग में स्त्रियाँ विभिन्न कलाओं में तथा विशेष कर सगीत और वीणावादन में निपुण होती थी। सरूपा इन कलाओं से युक्त थी। सामाजिक वातावरण और लोक-रूढ़ियों से भरित यह काव्य लोकयुगीन विशेषताओं की छाप से अंकित है, जिसमें भविष्यदत्त को रण के लिए सजाना, वणिक्पुत्र भविष्यदत्त का रण में कौशल प्रकट करना, धनवई का युद्ध के लिए तैयार होना, व्यापार जोड़ना आदि ऐसी बातें हैं जो राजपूतकाल की विशेषताएँ रही हैं। इसी प्रकार लोक-प्रचलित रूढ़ियों का भी विशेष विवरण इस काव्य में मिलता है।

सक्षेप में कथाकाव्य का स्वरूप तथा अपभ्रंश काव्य में वर्णित लोक-जीवन और संस्कृति को समझने के लिए भविष्यदत्त कथा का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। भाषा की दृष्टि से तो इसका विशेष महत्व है। लोकोक्तियों, सूक्तियों और मुहावरों से जहाँ भाषा प्रभाव पूर्ण है वही साहित्यिक प्रयोग से भी समन्वित है। साहित्यिक और बोलचाल की भाषा का सुन्दर मेल इस काव्य की विशेषता है। देशी शब्दों की प्रचुरता इस काव्य में विशेष रूप से मिलती है। इसके वर्णनों को पढ़ते-पढ़ते लोक जीवन की विविध रंगीन चित्रावली आँखों के सामने भूमने लगती है। उदाहरण के लिए वसन्त-वर्णन प्रस्तुत है :—

घर-घर में कुतूहल के साथ चाचर खेती जाने लगी। घर-घर में उत्सव मनाये जाने लगे। घर-घर में तोरण सजने लगे। घर-घर में लोग परस्पर प्रेम प्रदर्शित करने

खजुराहो का आदिनाथ जिनालय

नीरज जैन

खजुराहो अपने अद्वितीय कला भण्डार के कारण दिन प्रति दिन प्रसिद्धि के गिखर की ओर बढ़ रहा है। यहाँ के शिल्प-सौंदर्य का कीर्तिगान सात समुन्दर पार भी अपनी पूरी लय और तान के साथ गूँज रहा है। यह स्थान मध्य प्रदेश के छतरपुर, जिले में स्थित है तथा महोबा, हर्षपालपुर, छतरपुर और पन्ना तथा सतना से यहाँ के लिए बस द्वारा जाया जा सकता है।

खजुराहो में अन्य धर्मों के साथ साथ जैनधर्म का भी बड़ा प्रचार रहा है और आज भी जो प्रचुर जैन पुरातत्त्व वहाँ पाया जाता है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैन पुरातत्त्व, मन्दिरों के एक प्रथक समूह में ही स्थित है। जिसे हम—१. पारसनाथ मन्दिर, २. आदिनाथ मन्दिर, ३. शातिनाथ मन्दिर, ४ घंटाई मन्दिर तथा ५ जैन संग्रहालय के रूप में जानते हैं। इस समस्त कला भण्डार का परिचयात्मक वर्णन तो मैंने अपनी एक प्रथक पुस्तक “खजुराहो का जैन पुरातत्त्व” में किया है परन्तु उनका संक्षिप्त वर्णन अनेकान्त के पाठकों की सेवा में क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। जैन ग्रुप का पार्श्वनाथ मन्दिर समूचे खजुराहो का सभवत सर्वाधिक सुन्दर मन्दिर कला मर्मज्ञों द्वारा माना गया है। उसका वर्णन अनेकान्त की किरण ४ पृष्ठ १५१ (अक्टूबर १९६३) में प्रकाशित

हो चुका है। इस लेख में आदिनाथ जिनालय का वर्णन प्रस्तुत है।

पार्श्वनाथ मन्दिर के पार्श्व में स्थित यह मन्दिर आकार प्रकार में उससे कुछ छोटा तथा लगभग एक सौ वर्ष उपरान्त की रचना माना जाता है। यह पंचायतन भी नहीं है परन्तु नागर शैली के मन्दिरों में उत्तर मध्य काल की एक विशिष्ट, सीधी परन्तु अलंकृत गिखर संयोजना के कारण समकालीन मन्दिरों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। ऊँचे अधिष्ठान पर स्थित इस मन्दिर के सामने का मण्डप कालदीप से ध्वस्त हो चुका था जो बाद में ईंट और चूने का बनवा दिया गया है। इसके अतिरिक्त शेष मन्दिर यथा स्थिति सुरक्षित है।

भित्तियों पर मूर्तियों का अंकन यहाँ केवल बाहर पाया जाता है। प्रदक्षिणा पथ इसमें भीतर नहीं है। मूर्तियाँ उसी प्रकार एक पर एक तीन पंक्तियों में अंकित हैं। ऊपर की छोटी पंक्ति में गधर्व, किन्नर, और विद्या-धर तथा शेष दो पंक्तियों में शासन देवता—यक्ष, मिथुन तथा अप्सराएँ आदि दिखाये गये हैं। एक तो यह कि बीच की पंक्ति में देव कुलिकाएँ बना कर उनमें अनेक जैन शासन देवियों की बड़ी-बड़ी ललितासन मूर्तियाँ स्थापित हैं। ये कुल सोलह हैं तथा इनके वाहन, आयुध

लगे। घर-घर में चन्दन छिड़क दिया गया। मुचकुन्द के बन फूल उठे। घर-घर पर शोभित होने वाले जयमगल कलश ऐसे जान पड़ने लगे मानो किसी देवता ने अवतार लिया हो।

कुल मिलाकर “भविष्यत्कहा” अपभ्रंश का मुख्य कथाकाव्य है जो धार्मिक होकर भी शुद्ध काव्य की दृष्टि से भी उत्तम रचना है अन्य कथाकाव्यों की भाँति मानव

जीवन के वास्तविक विकास का क्रम प्रदर्शित कर कवि ने मानव-मन की सन्निय चेतना का प्रसार किया है। इस प्रकार पौराणिकता से बहुत कुछ हट कर लोक-भूमि से चेतना ग्रहण कर कवि ने जिस वातावरण और भाव-भूमि की मृष्टि की है वह अत्यन्त स्फीत, प्रेरक एवं यथार्थता से मण्डित है।

और परिकर का ऐसा सजीव और बारीक अंकन यहाँ किया गया है कि उसके द्वारा उन देवियों का सही और शास्त्रोक्त स्वरूप समझने में बड़ी सहायता मिलती है। देवगढ़ के अतिरिक्त शासन देवियों का ऐसा अंकन अन्यत्र मैंने नहीं देखा। ये सोलह विद्या देवियाँ भी हो सकती हैं पर पूरी शोध के बिना निश्चित कुछ कहना अभी ठीक न होगा।

इन पट्टिकाओं की दूसरी विशेषता यह है कि इनके कोणों पर भगवान् युगादि देव के शासन सेबक गोवदन यक्ष का बड़ा सुन्दर और वैचित्र्य पूर्ण अंकन है। यह यक्ष अपनी दर्प पूर्ण मुद्रा में मन्दिर के चारों कोनों पर अंकित है और चतुर्भुज होकर भी सीधा, मनुष्याकृति खड़ा हुआ दिखाया गया है। इसके आयुध, अलंकार, यज्ञोपवीत आदि बड़े स्पष्ट और सुन्दर हैं।

अप्सरार्यों की मूर्तियाँ यहाँ निश्चित ही पार्श्वनाथ मन्दिर से कम हैं और उनका आकार भी थोड़ा छोटा है पर अपने विविध अभिप्रायों और भाव-भंगिमाओं को उजागर करने में वे किसी भी प्रकार असमर्थ नहीं दिखाई देती। यहाँ शिखर की उठान सादी होने के कारण दर्शक के लिए ये मूर्तियाँ एकांत आकर्षण का केन्द्र बनकर उसकी चेतना को मोह लेती हैं और दृष्टि को भटकने नहीं देती। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, बीच-बीच में शासन देवियों या विद्या देवियों का अंकन होने के कारण इन रूप राशि अप्सराओं की मनोहरता और सार्थक्य अधिक मान्य हो उठा है।

इन अप्सराओं में आरसी देखकर सीमत में सिन्दूर आलेखन करती हुई रूप गविता तथा आरसी देखकर ही नयन आजती हुई सुनयना और चुम्बन के व्याज से बालक पर ममता उड़ेलती हुई जननी का चित्रण बहुत स्वाभाविक, बहुत सुन्दर और बहुत अविस्मरणीय है। शृंगार की दाहकता से पीड़ित दर्शक की दृष्टि मातृत्व की इस शीतल धारा में अनुपम आनन्द की अनुभूति करती है। इन्हीं पंक्तियों में नायिकाओं तथा कामिनी भामिनियों का जो अंकन है वह भी एक गौरव तथा शालीनता के साथ भारतीय नारी के “स्त्रीत्व” की रक्षा का प्रयास करता हुआ सा जान पड़ता है। पश्चिम की

और मध्य पंक्ति में खण्डिता नायिका की अस्त-व्यस्त वेषभूषा परन्तु लज्जापूर्ण मुद्रा मेरे इस कथन की साक्षी है।

एक और सविशेष अप्सरा का अंकन मध्य पंक्ति में परिक्रमा प्रारम्भ करते ही तीसरी श्रेणी पर मिलता है। इस नृत्यांगना के शरीर की फुर्ती और अति गतिमान चरणों का अंकन इतना सजीव है और मुद्रा इतनी शांत सौम्य तथा मनोहर है कि उसे देखकर मुझे विश्व-विश्रुत नर्तकी नीलाञ्जना का स्मरण हो आता है।

भगवत् जिनसेनाचार्य ने महापुराण के सत्रहवें पर्व में भगवान् आदिनाथ के दीक्षा प्रसंग का जो वर्णन किया है उससे ज्ञात होता है कि एक बार इन्द्र ने भगवान् की सभा में उनकी आराधना हेतु नृत्य गान का आयोजन किया। उसी समय उसके मन में विचार आया कि भगवान् को विराग कैसे उत्पन्न होगा? उसी वैराग्य के निमित्त रूप में इन्द्र ने अन्तिम रूपवती नीलाञ्जना नाम की अप्सरा का नृत्य प्रारम्भ कराया। इन्द्र को ज्ञात था कि उस नर्तकी की आयु शीघ्र ही समाप्त होने वाली है।

इस सुर सुन्दरी के भाव-लय-पूर्ण नृत्य ने एक बार भगवान् आदिनाथ के मन को भी इस प्रकार अनुरूप बना लिया, जैसे अत्यन्त शुद्ध स्फटिक मणि भी अन्य पदार्थों के संसर्ग से लालिमा ग्रहण कर लेता है—

तन्मूर्त्यं सुरनारीणां मनोस्थारञ्जयत प्रभो।

स्फटिकोहि मणिः शुद्धोऽप्यावसे राग मन्यतः ॥

(महा पु० १७-५)

नृत्य के बीच में ही नीलाञ्जना की आयु समाप्त हो गई और उसका शरीर लोप हो गया। इन्द्र ने तत्क्षण उसी रूप रेखा की दूसरी नर्तकी इस प्रकार प्रस्तुत कर दी कि साधारण दर्शक इस परिवर्तन को लक्ष्य भी न कर सके, पर भगवान् ने जीवन की भंगुरता को लक्ष्य किया और वही उनके वैराग्य का निमित्त कारण बना।

मैं जिस अप्सरा मूर्ति की चर्चा कर रहा हूँ, वह अपने परिकर के मध्य ऐसे असाधारण रूप से उभरी हुई अंकित की गई है जिसे देख कर मुझे विश्वास होता है कि भगवान् आदिनाथ के वैराग्य प्रसंग की नायिका नीलाञ्जना का ही अवतरण कलाकार ने यहाँ किया है।

प्रदक्षिणा के इस अंकन के बाद इस मन्दिर की जो विशेषता हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह है इसके ऊँचे शिखर की सादगी और उस पर रखे कलश की भव्यता। इस शिखर में पार्श्वनाथ मन्दिर के शिखर की तरह उरु शृंग अथवा कर्ण शिखर नहीं बनाए गए हैं, बल्कि अधिष्ठान और भित्तियों के ऊपर से एक दम प्रारम्भ होकर यहाँ शिखर ने भगवान की निर्वाण भूमि कैलाश की किसी अलंघ्य चोटी का रूप प्रदर्शित कर दिया है।

इस शिखर को देख कर सहज ही कोणार्क और भुवनेश्वर शैली के मन्दिरों की याद आ जाती है। सज्जा में उपयुक्त एक रस शैली भी आँखों को ऊँच नहीं देती बल्कि अपनी सहजता की ओर अधिक आकर्षित करती है।

ऊपर की सूची-चक्र-आमलक और कुम्भ-कलश बहुत मनोहर बन पड़े हैं और यह भाग निश्चित ही पार्श्वनाथ मन्दिर के शिखर भाग से अधिक लुभावना है।

इस मन्दिर का प्रवेश द्वार अपने समस्त सज्जागत शिल्प-वैभव के साथ अपनी सही स्थिति में अवस्थित है। दोनों ओर गंगा-यमुना और द्वारपाल अंकित हैं। इनके ऊपर कोष्ठको में जहाँ प्रायः मिथुन का अंकन पाया जाता है यहाँ उसका अभाव है। मिथुन की जगह यहाँ इन कोष्ठकों में चतुर्भुजी शासन देवियों की उपस्थिति उल्लेखनीय है। इन देवियों के आसन में हिरण, तोता, सिंह और बिल आदि वाहन भी बने हैं। देवियों के दोनों ओर

नृत्य गान रत गंधर्व हैं तथा ऊपर के तोरण में भी पाँच कोष्ठक बना कर प्रत्येक में वंसी ही शासन देवियों का अंकन है जिनके हाथों में शंख, कमल, कलश, कुलिश, पाश आदि आयुध हैं। एक देवी बालक को स्तन पान कराती हुई एक हाथ में श्राद्ध मंजरी लिए आम के वृक्ष के नीचे सिंह पर बैठी दिखाई गई है। यह बाईसवे तीर्थकर नेमिनाथ की यक्षी अम्बिका है।

इस द्वार के सबसे ऊपर के तोरण में शची द्वारा सेवित तीर्थकर की माता को शयन करते हुए अंकित किया गया है तथा उसके बाद माता के सोलह स्वप्न दिखाए गए हैं। सोलह स्वप्न तो जैन मन्दिरों में अनेक जगह अंकित हैं किन्तु तीर्थकर की माता का साथ में अंकन इस मन्दिर की विशेषता है।

मन्दिर का गर्भ गृह अत्यन्त सादा है और वेदिका बाद की बनाई गई ज्ञात होती है। दो कमल आकृति पाषाणों को जोड़ कर वह पद्मशिला बनाई गई है जिससे इस गर्भालय की सुन्दर छत का निर्माण हुआ है।

पार्श्वनाथ मन्दिर की तरह इस मन्दिर की मूल प्रतिमा भी स्थानांतरित हो चुकी है और वर्तमान में काले पाषाण की वृषभ चिह्नित जटाधारी भगवान आदिनाथ की जो प्रतिमा यहाँ विराजित है वह बाद में स्थापित की गई है। इस पर भी सवत् १२१५ का शिलालेख है।

इस प्रकार यह मन्दिर छोटा होकर भी अपने आप में स्वास्त्य की अनेक विधाओं को लिए हुए मध्यकालीन कला का एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

एक सम्बोधक-पद

कविघर रूपचन्द

मानस जनमु वृथा तं खोयो ॥

करम करम करि आइ मिल्यो हो, निध करम करि करि सुबिगोयो ॥१॥

भाग्य विशेष सुधारस पायो, सो लं चरणनिकौ मल बोधो।

चितामनि फंकधो वाइसको, कुंजर भरि करि ईधन डोयो ॥२॥

धन की तृष्णा प्रीति बनित की, भूलि रह्यो वृष तं मुख गोयो।

सुख कं हेत विषय सब सेये, घृत के कारण सलिल बिलोयो ॥३॥

माचि रह्यो प्रमाद मद मदिरा, अह कंदर्प सर्प विष मोह्यो।

रूपचन्द जेत्यो न चितायो, मोह नींद निदल ह्वं सोयो ॥४॥

माणिकचंद : एक भक्त कवि

गंगाराम गर्ग एम० ए०, जयपुर

जब रीतिकाल में स्वर्ण-लोलुप कवि सुरा और सुन्दरी को अपना लक्ष्य बनाकर हिंदी-काव्य-धारा को पंकिल कर रहे थे और जिसकी कामुकता की भँवरों में पड़कर मानव की जीवन-नौका दिशा-भ्रष्ट हो रही थी; उस समय उसे सम्बलित कर सही दिशा में ले जाने के लिए जैन कवि ही आगे आए। एक ने रीति-ग्रन्थों का अनुवाद करते हुए नायिकाओं की नरनता और विलासिता का वर्णन कर मनुष्य की कामुकता को उभारा तो दूसरे ने चरित्र-ग्रन्थों का अनुवाद करते हुए उसको नैतिक जागरूकता प्रदान की; एक ने पाथिव राजाओं की झूठी प्रशस्तियाँ गा-गा कर स्वर्ण-राशियाँ बटोरीं, तो दूसरे ने अपने आराध्य के चरणों में श्रद्धा-मुमन चढ़ाकर आत्म सुख को ही सर्वस्व समझा। मानव-जीवन की परस्पर विरोधी धारणाएँ समानान्तर होकर यदि साथ-साथ चली तो केवल रीति-कालीन काव्य में ही; एक धारणा के प्रतिनिधि थे बिहारी, कुलपति मतिराम और पद्माकर आदि दरबारी कवि तथा दूसरी के खुशालचन्द्र, जगताराम, अनन्तराम आदि जैन कवि।

माणिकचंद भावसा का जन्म १६वीं विक्रम शताब्दी के अन्त में जयपुर में हुआ था, जहाँ की भूमि को उनसे पहले जोधराज, बुधजन, नवल आदि प्रसिद्ध जैन कवि अपनी भक्ति-काव्य-धारा से रस-सिक्त कर चुके थे। उसी काव्य धारा को माणिकचंद ने भी आगे बढ़ाया। उनका कोई अनूदित चरित्र-ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं हुआ; हाँ, बाबा दुलीचन्द भडार जयपुर के पद-संग्रह ४२२ में उनके १८३ पद अवश्य प्राप्त हुए हैं।

माणिकचंद की भक्ति—अपने आराध्य के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के लिए आचार्यों ने चार भाव प्रमुखतः माने हैं—वात्सल्य भाव, सख्य भाव, मधुर भाव और दास्य भाव। पांचवाँ भाव शान्त भाव इन्हीं में अन्तर्भूत माना जाता है। हिन्दी के जैन भक्तों के हृदय में प्रथम दो

भावों का स्थान गौण है। तीर्थङ्करों के जन्म-कल्याणक उत्सवों के समय उनके हृदय में वात्सल्य की स्थिति दृष्टि-गोचर होती है किन्तु वह प्रायः संस्कृत और अपभ्रंश के ग्रन्थों के अनुसार है, मौलिक कम। परमात्मा द्वारा चेतन के उद्बोधित किए जाने में ही जैन भक्तों का कहीं-कहीं सख्य भाव दिखाई देता है। माणिकचंद के भी भक्तिपरक पदों में दास्य और मधुर भाव की प्रधानता है।

दास्य-भाव—माणिकचंद अपने सेव्य का स्वरूप अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख व अनन्त वीर्य से युक्त, अविचल, अविकारी शान्त व परम दीप्तिमान् मानते हैं, जो जैन दर्शन के अनुसार ही है। भक्त ने केवल जैन दर्शन से ही न बंधकर तीर्थङ्करों के स्वरूप में अपने दास्य भावानुकूल जगनायक और उद्धार-कर्तृत्व को भी स्थान दिया है—

“कहाँ जाऊँ तज शरण तुम्हारे।

तुम शिव नायक सबके ज्ञायक शिव मारग दरशावनहारे।
जग के देव सरागी जिन हमरे सब काज बिगारे।
अष्ट कर्म तुम चूर किये कीचक आदि अधम बहु तारे।
तुमरो ध्यान धरत सुर मुनि खग

मानिक हृदयबसो भवि प्यारे ॥

‘जिन’ भगवान् के गुण-गान की अपेक्षा माणिकचंद ने अपने अवगुणों तथा कष्टों को उनसे अधिक व्यक्त किया है। वे कहते हैं, इन राग, द्वेष व भ्रमों ने मेरे समस्त कार्य बिगाड़ दिए, हे अधम-उद्धारक ! इन्हें नष्ट कीजिये—

“श्री जिन म्हारी अरज सुनौ म्हाराज।

हे त्रिभुवन सिरताज।

राग दोष भ्रम भाव जु मेरो होन न देय निज काज।
मैं चिर दुःखी भयो विधि बस करि मेटि गरीब निवाज।
तुम तो अधम अनेक उधारे तिन पायो शिवराज।
‘मानिक’ चरण शरण गहि लीनों तुम्हीं को हमारी लाज ॥”

‘मोह’ शत्रु ने तो भक्त के आत्म-धन का अपहरण कर उसे चिर-मत्त बना दिया है, इसीलिए उसे शीघ्र ही ‘जिन’ भगवान् की शरण लेनी पड़ी—

हे मेरी विनती सुनों जिनराय ।
मोह शत्रु निज धन हरि कें मोहि रक कियो भरमाय ।
मैं चिर दुःखी भयो भव-वन में सो कछु कह्यो न जाय ।
अधम उधारक शिव सुखकारक सुनि जस आयो धाय ॥

‘पतित-उद्धार’ जिन भगवान् का विरद है । नीचाति-नीच व्यक्ति भी कर्म-शत्रु से तभी तक पीड़ित रहता है जब तक जिनेन्द्र उसकी ओर प्रवृत्त नहीं होते । माणिकचंद ‘जिन’ भगवान् को अपने उद्धार की ओर प्रवृत्त कराने के लिए वैष्णव भक्तों के समान उनके विरद का भी ध्यान दिना देते हैं—

प्रभु तोरी हजूरियां ठाढ़ो ।
एजी मैने तारण तरण सुन्यो छे विरद थारो गाढ़ो ।
एजी थारो अनुपम शान्त छवी पे कोटि रवि वारो ।
एजी तुम बिन भव वन के माही सहो दुख भारो ।
एजी म्हाने कर्म शत्रु अति पीडे न्याव निरवारो ।
एजी थे त्रिभुवन अंतरजामी अरज अवधारो ।
एजी अब ‘मानिक’ को भवदधि से हस्त पकरि निरवारो ।

माणिक जिनेन्द्र से अपना सम्बन्ध भी निकाल लेते हैं, वह पतित है जिनेन्द्र पतित पावन, दोनों का हित एक दूसरे पर निर्भर है । भक्तप्रवर तुलसी ने भी अपने आराध्य से उद्धार की प्रार्थना करते समय उनसे सम्बन्ध निकालने की युक्ति सोची थी ‘मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ वानिक बने ।’^१ ‘जिन’ भगवान् को भी पतित-पावन कहलाने के लिए अपने सम्बन्धी भक्त का उद्धार करना ही पड़ेगा—

म्हारो दुख बेगि मिटाउ जगतपति अधम उधारण ।
मोह शत्रु म्हारें पंड परो है निशिदिन करत दवाउ ।
म्हे तो पतित थे पतित जु पावन अपनो विरद निधाउ ।
‘मानिक’ अरज सुनों करगा करि अरि को सग छुड़ाउ ।

यहाँ ‘म्हारो दुःख बेग मिटाउ’ में भक्त का तीव्र

सताप तथा उद्धार के लिए प्रातुरता भी स्पष्टतः चोत्ति है ।

भक्त माणिक की सबसे बड़ी विशेषता है ‘जिन’ के प्रति अनन्यता । जिनेन्द्र की वीतरागता, ज्ञान, अ-क्रोध, भ्रम विनाश तथा भय और दुःख को दूर करके अधमों का उद्धार करने की प्रवृत्ति आदि ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण भक्त को उनके अतिरिक्त दूसरा देव मुहाता ही नहीं, अतः उसने अपने को मन, वचन व कर्म से केवल जिनेन्द्र का शरणागत व अग्र्य देवों का उपेक्षी बतलाया है—

प्रभुजी तुम्हारो हो आसरो मोहि और किसी सों काम नहीं
तुम नाम रटत संकट जु कटत अधकर्म मिटत हैं ततछिन हीं
भयभंजन रंजन मुक्त बधू दुख करि संजन केहरि तुमहो
तुम अधम उधारण नाम सही यह कीरति तिहुजग छाव रही
भवसागर से प्रभु पार करो ‘मानिक’ मन-वच-तन शरण गही

आदर्श दास्य भक्तों को अपनी भक्ति के फल-स्वरूप किसी भौतिक समृद्धि की अभिलाषा नहीं हुआ करती; उन्हें कामना होती है केवल आदर्श अथवा अनुकरणीय मानव बनने की । तुलसी ने स्वयं को सन्त बना देने की कृपा चाही थी^२ । माणिकचंद को भी जिनेन्द्र से इन्द्रिय-दमन, देव, धर्म व गुरुओं का सेवन, कुगुरुओं का परित्याग प्रमाद का विनाश तथा शास्त्र व साधर्मियों के ससंग व आत्म-चिन्तन की याचना ही अभीष्ट है—

निज हित मांहो भवि लागना ।

तेरो शत्रु प्रमाद प्रबल है निश दिन ताकों त्यागना ।
इन्द्रिय चल चोर निज धन के तिनके मग नहि लागना ।
हित के कारण देव धर्म गुरु तिनसों नित प्रति पागना ।
अहित हेतुकुगुरादिक परलि कें दूरिहि ते तजि भागना ।
जिन श्रुत साधर्मों सुसंगति ‘मानिक’ प्रभु ते मांगना ।

आराध्य का गुण-ज्ञान, स्वदोषों का कथन, उद्धार की प्रार्थना, भक्ति की अनन्यता व निष्कामता आदि विशेष-

२. पद संग्रह ४२८, पृ० ४४, दुलीचंद भंडार जयपुर

२. कबहुँक ही यह रहनि रहीगे ।

श्री रघुनाथ कृपालु कृपा ते सन्त सुभाव गहीगे ।

—विनय-पत्रिका

ताम्रों का अवलोकन करके माणिक को दास्य-भावना में तुलसी आदि के समकक्ष कहें तो अत्युक्ति न होगी।

माधुर्य भाव—हिन्दी के वैष्णव-भक्ति साहित्य में माधुर्य-भाव का समावेश अधिकांशतः सत्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ; तदनन्तर माधुर्योपासक हरिदासी, निम्बार्क, राधावल्लभ, ललित, श्री आदि सम्प्रदायों की बाढ-सी आ गई और प्रचुर साहित्य का निर्माण हुआ। जैन दास्य-भावना में वैष्णव-भक्तों से समानता रखते हुए भी जैन-भक्तों का माधुर्य-भाव उनसे कुछ भिन्न है तथा अपेक्षा-कृत प्राचीन भी। भिन्नताएँ इस प्रकार हैं—

१. वैष्णव मधुर-भक्तों का आराध्य अपनी आह्लादिनी शक्ति के साथ लीला-हेतु वृन्दावन अथवा साकेत-धाम में अवतीर्ण होता है। जिनेन्द्र की न तो अपनी कोई आह्लादिनी शक्ति है और न वह लीला-हेतु अवतार ही लेता है। वह तो सामान्य जीवों की तरह इस जगत् में अपने ही विशिष्ट गुणों से एक महत्वपूर्ण स्थान पा गया है।

२. वैष्णव-मधुर-उपासकों को राम अथवा कृष्ण का लोक-रंजक रूप ही मान्य है किन्तु जैन-भक्तों को जिनेन्द्र का सत्य, शिव, सुन्दरम् का समन्वित स्वरूप, अतः जहाँ के वैष्णव भक्त आराध्य के सौन्दर्य पर रीझकर उसे निरखते रहने की चाह करके रह गये हैं वहाँ जैन-मधुर-भक्तों ने जिनेन्द्र के लोक-मंगलकारी स्वरूप को भी अपने लिए अनुकरणीय माना है।

३. वैष्णव-भक्तों ने माधुर्य-भाव के तीन भेद किये

हैं—गोपी-भाव, पत्नी-भाव व सखी-भाव। जैन मधुर-भक्तों में केवल पत्नी-भाव ही परिलक्षित होता है।

४. वैष्णव भक्तों की मधुर-साधना में अष्टधाम और वर्षोत्सव लीलाओं के चित्रण में लौकिक शृङ्गार की-सी बू आती है। जैन मधुर-भक्तों को अपने आराध्य के संयोग का अवसर ही न मिला, फिर अष्टधाम और वर्षोत्सव लीलाओं का वर्णन वे कहाँ से करते? आराध्य का सान्निध्य पाने के लिए विरह और तड़पन ही जैन मधुर-भक्तों का जीवन है।

५. वैष्णव भक्तों व सन्तों ने अपने आराध्य से सीधा ही माधुर्य सम्बन्ध स्थापित कर उसका संयोग-सुख लूटा अथवा उसके विरह में आसू बहाये; जैन कवियों ने जिनेन्द्र से अपना माधुर्य सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए प्रायः सर्वत्र ही राजमती को माध्यम बनाया है—तात्पर्य यह है कि राजमती विरह-वर्णन में ही जैन-भक्तों की मधुर-भावना-जन्य टीस, तड़पन अभिव्यक्त है।

माणिकचन्द के पद-संग्रह में 'राजमती-विरह' के रूप में कई ऐसे पद संकलित हैं जिनमें क्षण-भर भी प्रिय-वियोग को सहने की सामर्थ्य माणिकचन्द में परिलक्षित नहीं होती—

अब क्यों बर हो, जडुपति नेमिकुमार प्रभु सुनि।

किवित सुख स्वप्नेवत बीतयो अब दुःख सुमेर हो।

मैं अनाथ मोहि साथ निबाहो अब क्यों करत अबेर हो।

मानिक अरज सुनो रजमति प्रभु राखो चरननि लेर हो।

भक्ति के अन्य भाव—वात्सल्य व सख्य—माणिकचन्द के पदों में नहीं दिखाई देते।

अनेकान्त की पुरानी फाइलें

अनेकान्त की कुछ पुरानी फाइलें अवशिष्ट हैं जिनमें इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन और साहित्य के सम्बन्ध में खोजपूर्ण लेख लिखे गए हैं जो पठनीय तथा संग्रहणीय हैं। फाइलें अनेकान्त के लागत मूल्य पर बी जावेगी, पोस्टेजलर्च अलग होगा। फाइलें वर्ष ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७ वर्षों की हैं। चाड़ी ही प्रतियाँ अवशिष्ट हैं। मंगाने की शीघ्रता करें।

मनेजर 'अनेकान्त'

बीरसेवामन्दिर २१ दरियागंज, दिल्ली।

३८वें ईसाई तथा सातवें बौद्ध विश्वसम्मेलन की श्री जैन संघ को प्रेरणा

कनकविजय जी महाराज

[अनेकान्त के विगत ग्रंथ में आचार्यप्रवर तुलसी गणी के 'तीन सुभाव' शीर्षक निबन्ध से अनु-प्राणित होकर मुनि कनकविजय जी महाराज ने प्रस्तुत लेख की रचना की है। लेखक ने ३८वें ईसाई और ७वें बौद्ध विश्व-सम्मेलन स्वयं देखे थे। उससे जैन संघ के प्रति उनकी जो अनुभूतियाँ जागृत हुईं, उनका इस निबन्ध में सांगोपांग विवेचन है। इस सम्बन्ध में मुनि जी की विस्तृत जानकारी है। यह निबन्ध जैन संघ के प्रति उनकी श्रद्धा का द्योतक है। आशा है कि जैन समाज के कर्णधार विचार करेंगे। लेख क्रमशः प्रकाशित होगा।

—सम्पादक]

लेख की प्रेरणा

सारनाथ वाराणसी में नवम्बर २६ से ४ दिसम्बर १९६४ तक ७वाँ विश्व बौद्ध सम्मेलन जो हुआ था उसका मैं बहुत समीप से दशक रहा हूँ। क्योंकि २८-११-६४ से ८-१२-६४ तक मैं सारनाथ में ही रहा था। श्री जैन संघ का मेरे पर इतना महान् ऋण है कि जो किसी तरह से उद्धार न किया जा सकता। अतः उस सम्पूर्ण प्रसंग के प्रत्येक अनुभव से लेकर आज तक मेरी दृष्टि के सामने बराबर श्री जैन संघ रहा है। एक हित चिंतक के रूप में श्री संघ की सेवा में कुछ लिखने की इच्छा तो थी ही, किन्तु जैन संघ की वर्तमान कर्तव्य शून्य अवस्था को देखते हुए उसका अमल नहीं होता था। भावनगर, सौराष्ट्र से प्रकाशित होने वाले १६-१२-६४ के 'जैन' में विद्वान् संपादकीय लेखक महानुभाव ने सामयिक स्फुरण में ईसाई विश्व सम्मेलन के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा, वह पढ़ने के पश्चात् पुनः भीतर से उमि उठी, जिसकी पूर्ति ३-१-६५ के 'जैन' में आचार्य श्री तुलसी गणी जी महाराज का लेख "जैन समाज के लिए तीन सुभाव" पढ़ने के पश्चात् निर्णय हुआ और उसी कारण से कुछ विलम्ब से भी श्री संघ की सेवा में यह लेख लिख रहा हूँ।

शास्त्रों का नहीं, जीवन्त अनेकान्तवाद चाहिए

श्री जैन संघ की आँखों के सामने ही अत्यन्त महत्त्व-

पूर्ण ईसाई-बौद्ध-जैसे दो विश्व सम्मेलन हुए हैं। हर तीन वर्ष में हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन, नासिक के कुम्भ के रूप में तथा प्रति वर्ष माघ मेले के रूप में घूमते-फिरते विशाल हिन्दू सम्मेलन तो होते ही हैं, फिर भी चालू वर्ष के अप्रैल में विश्व हिन्दू सम्मेलन दिल्ली में होगा। इतना ही नहीं सन् १९६६ के माघ महीने में प्रयाग के पूर्ण कुम्भ पर पुनः दूसरा विश्व हिन्दू सम्मेलन भी होने वाला है। इन सारे प्रेरणादायी प्रसंगों से श्री जैन संघ जैसा अत्यन्त विचक्षण और बुद्धिमान संघ भी क्या कोई उपयोगी प्रेरणा ले सकता है कि नहीं? और यदि ले सकता है तो क्या प्रेरणा लेनी चाहिए? यह विचारने के लिए ही यह लेख लिख रहा हूँ। यद्यपि आचार्य श्री तुलसी गणी जी महाराज अर्थात् तेरापन्थी जैन समाज का अणुव्रत आंदोलन तथा मुनि श्री सुशीलकुमार जी का अनेकों स्थान में हुए विश्व धर्म सम्मेलनों, श्री कामता प्रसाद जी जैन आदि के द्वारा संचालित विश्व जैन मिशन, अलीगंज, एटा आदि प्रवृत्तियाँ श्री जैन संघ के लिए गौरव रूप ही हैं, फिर भी इतना तो कहना ही पड़ता है कि उन प्रवृत्तियों में जैसा संगठन होना चाहिए, वैसा नहीं है। अतः भारत तथा विश्व में उतना समुचित प्रभाव भी नहीं पड़ता कि जिससे जैन सस्कृति का नाम उज्ज्वल हो। बात तो यह होनी चाहिए थी कि संगठित जैन संघ की प्रेरणा विश्व की अन्य

संस्कृतियाँ भी लेतीं। यदि ऐसा होता तो जैनियों का अनेकान्त या स्यादवाद जीवन्त है, ऐसा गिना जाता, किन्तु नहीं, विश्व के समग्र दर्शन तथा विचारधाराओं का समन्वय करने वाला जैनियों का अनेकान्तवाद केवल पुस्तकों या ग्रंथों की ही शोभा बढ़ाने वाला है। जीवन में उस महान् अनेकान्तवाद का कोई विशेष उपयोग नहीं है और ऐसा होने से ही जैनियों के छोटे-मोटे पेटा-उपपेटा सम्प्रदाय भी आपस में नहीं मिल सकते। मिलने की बात तो दूर रही, वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए भले प्रगट न सही, किन्तु गुप्त रूप से भीतरी द्वेषभाव भी उनमें विद्यमान है। जिसकी समय-समय पर जन-साधारण को भी प्रतीति होती रहती है। जहाँ परिस्थिति यह हो, वहाँ आस्तिक-नास्तिक, ईश्वरवादी-अनीश्वरवादी आदि प्राचीन दृष्टि-भेदों का, तथा वर्तमान के साम्यवाद, समाजवाद, पूँजीवाद, सर्वोदयवाद आदि मानव जीवन की वर्तमान अनेक विध समस्याओं का समाधान करने वाली बातों का जीवन्त समन्वय तो सम्भव ही कहाँ से हो? किन्तु अत्यन्त नम्रता से श्री संघ के सामने मैं इतना निवेदन अवश्य करूँगा कि वैसे जीवन्त अनेकान्त के बिना श्री जैन संघ की "सर्वो जीव करूँ शासन रसी" भावना केवल मनोराज्य की ही भावना होगी। वर्तमान विश्व में वैसी कोल्पनिक भावनाओं का विशेष कोई मूल्य नहीं है।

श्री जैन संघ उपरोक्त दोनों सम्मेलनों में से क्या-क्या प्रेरणा ले सकता है? उसका विचार तथा निर्णय करने के पूर्व उन दोनों विश्व सम्मेलनों की कार्यवाही पर एक सरसरी निगाह डालें।

३८वाँ विश्व ईसाई सम्मेलन, बम्बई

भारत में सर्वप्रथम ईसाई प्रचार ६०० ई० वर्ष पूर्व सेन्ट थोमस द्वारा शुरू हुआ था। वर्तमान में १,२०,००,००० एक करोड़ बीस लाख करीब भारत में ईसाई हैं। वे अधिकतर हिन्दू से ही ईसाई बने हैं। केरल प्रान्त आधा क्रिश्चियन है, नागालैण्ड की चार लाख की आबादी में से साठ प्रतिशत ईसाई हो गये हैं। मध्यभारत में जसपुर स्टेट के आस-पास में भी क्रिश्चियनों का बड़ा भारी प्रचार चल रहा है। सम्पूर्ण एशिया में सर्वोत्तम विशाल चर्च

मध्यभारत में बनाने की भी क्रिश्चियन सोसायटी की योजना है, जो बहुत जल्द शुरू होने वाली है। संसार में वर्तमान समय में ६० करोड़ ईसाई हैं।

ईसा का मुख्य शिष्य सन्त पेत्रस के दो सौ चौसठवे उत्तराधिकारी वर्तमान पोप अर्थात् सन्त पिता ज़होन छट्ठा पोलुस की उम्र ६७ वर्ष की है। उन्हीं को सेवकों के सेवक भी कहे जाते हैं। जो पोप का ही शब्दार्थ है। वे इटली में रोम के पास में बेटिकन में रहते हैं। उनका विश्व भर में सबसे छोटा सार्वभौम स्वतन्त्र साम्राज्य है, जिसका क्षेत्रफल ६१६ माईल का है। उनका स्वतन्त्र सिक्का, पोलिस, पोस्ट विभाग, रेडियो स्टेशन आदि है। १३हवीं शताब्दी तक सारे यूरोप पर पोप का आधिपत्य अर्थात् शासन था। रोमन कैथोलिक जनता पोप को साक्षात् प्रतिनिधि मानती है। उनके पास में अपर धन था, और वर्तमान में भी है। पोप की परम्परा ने धन का उपयोग जनता के ज्ञान, कला आदि के विकास के लिए भी किया है। भारत में नालन्दा, तक्षशिला आदि प्राचीन विश्वविद्यालयों की तरह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, पेरिस का विश्वविद्यालय आदि अनेकों विश्वविद्यालयों की पोप परम्परा ने स्थापना तथा वृद्धि की है। सन् १८७१ से प्रतिवर्ष १६ लाख रुपया मिलता है, किन्तु पोप के न लेने के कारण इटली के राज-भंडार में जमा होता जाता है। इस प्रकार अब तक करोड़ों रुपया जमा हुआ है। २००० वर्षों के इतिहास में पोप अर्थात् सन्त पिता यूरोप में भी कदाचित् ही बाहर गये हों। एशिया में तो सर्वप्रथम यूरैरिस्टिक कांग्रेस अर्थात् परमप्रसाद महासभा के ३८वें अधिवेशन के लिए ही आए थे, वह भी बम्बई के बड़े पादरी तथा कांग्रेस अध्यक्ष के अत्यन्त आग्रह के कारण ही। वे केवल ३ दिन के लिए ही विशेष हवाई जहाज से निजी राष्ट्र बेटिकन राज्य से भारत आये थे। हवाई जहाज को भीतर-बाहर से खूब सजाया गया था। पोप के दल में ७० सदस्य थे। पोप के केवल ३ दिन के बम्बई के प्रोग्राम के लिए खास सफेद रंग की कार भी अमेरिका से फोर्ड कं० ने जहाज द्वारा भिजवाई थी, जो अमेरिका की ही किसी यूनिवर्सिटी ने पोप के लिए भेंट की थी। पोप ने भी उसका केवल ३ दिन उपयोग करके भारत के

ही ईसाई मिशन को भेंट कर दी। २००० पौण्ड का विशाल घंटा भी स्टार्डम से स्विस् जहाज में खास कांग्रेस के अधिवेशन के लिए आया था।

पोप जब हवाई जहाज से बम्बई आये, तब हवाई अड्डे पर १० लाख की जनता एकत्रित थी, ऐसा बम्बई के एरोड्रोम में इधर कितने वर्षों के इतिहास में नहीं हुआ था। उपराष्ट्रपति श्री जाकिरहुसेन तथा प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने बम्बई जाकर श्रियुत् पोप का स्वागत किया था। राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् भी पोप से मिलने के लिए ही हवाई जहाज द्वारा ३-१२-६४ को दिल्ली से बम्बई गये थे। श्री पोप को डेढ़ सौ (१५०) वर्ष पुरानी खास बहुमूल्य काश्मीरी शाल भेंट की गई थी। पोप के भारत आगमन पर, भारत सरकार द्वारा पोष्ट के टिकट शुरू करके पोप का स्वागत किया गया था। गोवा, दिल्ली, कोचीन, अहमदाबाद तथा कलकत्ता से बम्बई के लिए ३ दिन की स्पेशल विमानों की सविस भी चालू हुई थी। प्रतिदिन दर्जनों ट्रैने भी विभिन्न स्थानों से खास बम्बई के लिए चलाई गई थी। कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिए ३३ राष्ट्रों के प्रतिनिधि हजारों की सख्या में बम्बई आये थे। विमान बम्बई के एरोड्रोम में पहुँचते ही विशाल जनसमूह को देखकर पोप ने हाथ जोड़कर जनता का अभिनन्दन स्वीकार किया। एक सभा की समाप्ति पर स्वयं पोप ने 'जय-हिन्द' का नारा लगाया था। भेंट में आये हुए रामायण और महाभारत को स्वीकार करते हुए पोप ने कहा था कि "महान् ग्रन्थों के रूप में ये दोनों महाकाव्य अत्यन्त मूल्यवान हैं।" ३-१२-६४ के दिन ६ विशिष्ट पादरियों की पवित्रीकरण क्रिया श्रियुत् पोप ने कराई थी। लगभग ३०,००० तीस हजार पादरी बम्बई में सम्मिलित हुए। पोप के पास समय न होने के कारण पोप के खास प्रतिनिधि सेण्ट जेवियर्स की समाधि पर श्रद्धा प्रकट करने के लिए विशेष विमान से गोवा गये थे। वहाँ जाकर जनता के साथ आदर भाव व्यक्त करके पोप बम्बई आये थे। बम्बई की कांग्रेस तथा तत्सम्बन्धित समारोहों पर ८७ लाख से भी अधिक खर्च हुआ। इस अवसर पर गवर्नमेंट की ओर से एक लाख बोरी सीमेंट की व्यवस्था की गई थी।

पोप के भारत आगमन पर तिब्बत के श्री दलाई लामा ने कहा कि "भारत में दो धर्मों का विश्व सम्मेलन शुभ-सूचक है।" काची कामकोटि के श्री शङ्कराचार्य ने जनता से अपील की कि "पोप का अनादर न करें, शांति रखें।" शारदापीठ, (द्वारका, सौराष्ट्र) तथा शृंगेरी पीठ के शंकराचार्यों ने कहा कि "पोपपाल जैसे महामनीषि का भारत में स्वागत सत्कार होना चाहिए।" विनोबा भावे तथा श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी का जनता को शान्ति रखने का उद्बोधन महत्व का तो था ही। जैन मुनि श्री सुशीलकुमार जी का उद्बोधन भी श्री जैन संघ के गौरव को बढ़ाने ही वाला था कि "पोप पाल का अनादर न करे।" यह सब होने पर भी आर्य समाज, हिन्दू महा-सभा आदि के द्वारा पोपपाल का विरोध भी हुआ। परिणामतः कितनी गिरफ्तारियाँ भी हुईं। इतना होने पर भी पोपपाल ने भारत में आते ही उदार भाव से उन सब गिरफ्तार व्यक्तियों को छोड़ा दिया। और कहा कि "मैं उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ।" पोप ने २४ हजार पौण्ड गरीबों के लिए दिया। ५०,००० रुपये का दान भारत के गरीब बालकों के लिए किया। गरीबों के लिए विश्वकोष बनाने की भी विश्व को अपील की। अनाथ बालकों के साथ में पोप ने स्वयं जलपान अर्थात् अल्पाहार भी किया। पोप को मिली हुई अनेक भेंटों में एक अन्ध व्यक्ति के उपहार को पोप ने सर्वाधिक महत्व का बतलाया था। पोप के जुलूम उत्सव आदि में अनेकों फोटोग्राफर फोटो लेने के लिए लगे हुए थे, उनमें श्री जोधामल नाम के एक फोटोग्राफर दुर्घटनाग्रस्त होकर मर गये। तब पोप ने जोधामल के परिवार को ५००० डालर की सहायता दी। पोप ने महाराष्ट्र प्रान्त के राज्यपाल को, श्रीमती विजय-लक्ष्मी पंडित तथा श्रीमती इन्दिरा गाँधी आदि कितने ही विशेष व्यक्तियों को चाँदी का पदक तथा चाँदी के फ्रेम में मढ़े हुए अपने फोटो भेंट दिए। पोप ने ३०० नर्तकों के विशिष्ट भारतीय नृत्यों को भी देखा। पोप ने अपने प्रवचनों में जनता को सम्बोधित करते हुए कहा, "जन साधारण में ईश्वर के प्रति निष्ठा होनी चाहिये, मानव समाज को रेडियो, विमान आदि वैज्ञानिक आविष्कारों से भी अधिक आवश्यकता प्रेम सौहार्द आदि की

है। जिसके द्वारा मनुष्य दूसरे मनुष्य के समीप पहुँच सके।" बम्बई से अपनी राजधानी बेटीकन की ओर हवाई जहाज द्वारा जाते हुए विमान के ही रेडियो से भारत के राष्ट्रपति के नाम सद्भावना सन्देश भी भेजा। क्योंकि डा० राधाकृष्णन् पोप से मिलने के लिए ही विमान के द्वारा दिल्ली से बम्बई गये थे।

इस सारे प्रसंग में भारत के लिए कलंक रूप, भारत का नैतिक जीवन भी कितना नीचा आ गया है? वह दर्शाता हुआ एक खास प्रसंग कहता है कि:—चोरी, बद-माशी आदि दुर्घटनाओं को रोकने के लिए गुप्तचर-विभाग पूर्ण सक्रिय था। दो सौ से अधिक गुण्डे जेबकतरे (पाकेट-मार) बदमाश आदि को गिरफ्तार किया गया था। कहाँ प्राचीन भारत का गौरवपूर्ण आदर्श, नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन, जहाँ जन-साधारण भी खुले पड़े सोने या जवाहरात के ऊपर दृष्टि नहीं करता था, वहाँ आज देव-मन्दिरों की सम्पत्ति की रक्षा करनी भी अत्यन्त दुर्लभ है। आज तो भारत की सरकार भी नैतिक रीति से सहस्राब्दियों से चली आती साधारण जनता को भी चोरी, बेईमानी, छल, प्रपंच, कपट, दगा, धोखा आदि के दुखद मार्ग पर बलात्कार धकेल रही है। जनसाधारण को भारत का वर्तमान जनजीवन बिल्कुल असह्य हो रहा है। जानी भगवान ही जाने कि भारत की आध्यात्मिक सस्कृति की रक्षा कौन? कब? कैसे करेगा? क्या किसी युग प्रधान महापुरुष के आगमन के मणकारे भारत के वायुमण्डल में बज रहे हैं।

अड़तीसवें विश्व ईसाई सम्मेलन का उल्लेखनीय

स्वागत सत्कार तो हुआ ही है किन्तु कितने स्थानों में विरोध भी। श्री पी० के० हरिवंश द्वारा ६-१२-६४ के दैनिक आज में 'भारत में पोप का स्वागत क्यों?' श्री भारतेन्दुनाथ साहित्यालंकार द्वारा २२-११-६४ के दैनिक आज में 'पोप की सेना का भारत पर हमला'। ४-१-६५ के दैनिक आज में 'मुसलमान ईसाई धर्म-प्रचार से विरुद्ध है। क्योंकि ईसाई मुसलमानों को क्रिश्चियन बनाते हैं। ६-१२-६४ के दैनिक आज में "यदि ईसाई हजरत किसी मुस्लिम देश में अपना सम्मेलन करने का विचार भी करे तो मजा आ जाय। सम्मेलन करना तो दूर रहा मुसलमान प्रधान देश में ईसाइयों को पैर रखने तक की अनुमति भी नहीं मिल सकती। इत्यादि।

ईसाई विश्व सम्मेलन की प्रशस्ति करते हुए भावनगर सौराष्ट्र से प्रगट होने वाले 'जैन' साप्ताहिक के विद्वान् तन्त्री ने पृष्ठ ७५३ पर लिखा है कि "अड़तीसवाँ विश्व ईसाई सम्मेलन का यह प्रसंग हिन्दुस्तान में हुई एक महत्व की घटना के रूप में यादगार बन गया। पोप ने समय को परख कर बेटीकन में ही अवरोद्ध रहने की प्रथा में परिवर्तन किया। इतना बड़ा विश्व सम्मेलन भारत के लिए उदाहरण रूप बन गया है। "वहाँ व्यवस्था अजब थी और शान्ति अपूर्व।" तन्त्री श्री आगे चलकर लिखते हैं कि—पतित, दलित, दरिद्र, दुःखी और रोगग्रस्त अज्ञान मानव-समूहों को अपनाकर ही क्रिश्चियन धर्म विश्वभर में महा वट-वृक्ष की तरह अपना विस्तार कर सका। यह बात कभी भी भूलने जैसी नहीं है।

अब अपने सातवें विश्व बौद्ध सम्मेलन की ओर आते।

(क्रमशः)

स्व और पर को भिन्न करने वाला जो ज्ञान है वही ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान को प्रयोजन भूत कहा गया है। इसके सिवाय बाकी का सब ज्ञान अज्ञान है। जिन भगवान् शुद्ध आत्मवशात् शान्त हैं। उनकी प्रतीति को जिन-प्रतिबिम्ब सूचन करती है। उस शान्तवशा को पाने के लिए जो परिणति, अनुकरण अथवा मार्ग है उसका नाम जैन मार्ग है। इस मार्ग पर चलने से जैनत्व प्राप्त होता है।

—श्रीमद् राजचन्द्र

साहित्य-समीक्षा

१—उपासकाध्ययन, मूललेखक—सोमदेव सूरि, सम्पादक अनुवादक प० कैलाशचन्द सिद्धान्तशास्त्री, प्रधानाचार्य स्याद्धाद महाविद्यालय वाराणसी, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, पृष्ठ सख्या ६३६। मूल्य सजिल्द प्रति का १२) रुपया।

प्रस्तुत उपासकाध्ययन सोमदेव सूरि के यशस्तिलक चम्पू के अन्तिम तीन आशवास है। ग्रन्थकर्ता ने स्वयं इन्हें उपासकाध्ययन नाम से उल्लेखित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ ४६ कल्पों में विभाजित है। जिनमें श्रावको के आचार और उनसे सम्बन्धित विषयों पर युक्ति पूर्वक विचार किया गया है। आचार्य सोमदेव अपने समय के प्रख्यात विद्वान् थे। वे तर्क, व्याकरण, सिद्धान्त, नीति और साहित्यादि विविध विषयों के अधिकारी बहुभुत विद्वान् थे। उनकी विद्वत्ता का परिचय उनकी कृति यशस्तिलक चम्पू से मिल जाता है। यह उच्चकोटि की रचना है। इनका समय शक स० ८८१ (वि० स० १०१६) है। कर्ता ने उस काल में होने वाली दार्शनिक प्रवृत्तियों का आलोचन किया है और वस्तुतत्त्व को दर्शाने का सफल प्रयास किया है। साथ ही दर्शनान्तरीय मतों का युक्ति-पुरस्सर निरसन भी किया है, और जैन वस्तुतत्त्वका-आप्त आगम और पदार्थ का—सुन्दर विवेचन किया है। पूजा और पूजा के प्रकारों का जितना सुन्दर वर्णन इस ग्रन्थ में पाया जाता है वसा अन्यत्र देखने में नहीं आया। और जैन श्रावकाचार की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए गद्य-पद्य में विस्तृत विवेचन किया है। उनमें अनेक बातों का वसा सुन्दर वर्णन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। ग्रन्थ का यह साङ्गोपाङ्ग विवेचन हृदयग्राही हुआ है। कर्ता ने लौकिक कार्यों के करने की सुन्दर सीमा का उल्लेख करते हुए अच्छा पथ-प्रदर्शन किया है।

सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधिः।

यत्र सम्यक्त्वं हानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥

इस प्रकार का विधान अन्यत्र नहीं मिलता।

ग्रन्थ के अन्त में शोलापुर निवासी प० जिनदास शास्त्री द्वारा रचित संस्कृत टीका भी दे दी गई है। जिससे संस्कृत पाठों भी यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं।

ग्रन्थ सम्पादक प० कैलाशचन्द शास्त्री ने अपनी ६६ पृष्ठ की महत्वपूर्ण प्रस्तावना में ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विषय में सुन्दर विवेचन किया है। और श्रावकाचार के सम्बन्ध में तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। यदि ज्वेताम्बरीय श्रावकाचारों से भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता तो और भी अच्छा होता। पूजा के सम्बन्ध में वैदिक मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। ऐसे कठिन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करने हुए उसे सरल भाषा में रखने का प्रयत्न किया है और भावार्थ द्वारा विषय को स्पष्ट करने का भी प्रयास किया है। इसके लिये वे यथाई के पात्र हैं। ऐसे सुन्दर सम्पादन प्रकाशन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ और उसके अधिकारीगण धन्यवाद के पात्र हैं।

२—सत्यशासन परीक्षा—आचार्य विद्यानन्द, सम्पादक आचार्य गोकुलचन्द जैन एम. ए., प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ काशी, मूल्य सजिल्द प्रति का ५) रुपया।

जैन परम्परा में आचार्य विद्यानन्द का स्थान अकलक देव के पश्चात् ही आता है। उनकी अष्टमहर्ष्या, नवमार्थ श्लोक वार्तिक, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि कृतियाँ जैन दर्शन की ही नहीं किन्तु भारतीय दर्शन की अमूल्य निधि हैं। वे उच्चकोटि के भगवत् दार्शनिक विद्वान् थे। उनकी कठिनें दागानक विद्वान् भारतीय परम्परा में बहुत ही कम हुए हैं। उनकी यह कृति अभी तक अप्रकाशित थी, प्रथम बार ही उनका प्रकाशन हुआ है। प्रति अपूर्ण है—उसकी पूर्ण प्रति अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हो सकी।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पुरुषार्द्धत, शब्दाद्धत, विज्ञानार्द्धत, चित्रार्द्धत इन चार अर्द्धत नामों की तथा आर्वाच, बौद्ध, सेश्वरसाख्य, निरीश्वर साख्य, नैयायिक, जैनिक, भाट्ट

और प्रभाकर शासनों की परीक्षा की गई हैं। तत्त्वोपप्लव और अनेकान्त शासन की परीक्षा अनुपलब्ध है। मूलग्रन्थ ४७ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। अन्त में १३ पृष्ठों के परिशिष्ट है। प्रारम्भ में जैन प्राकृत वंशाली इन्स्टीट्यूट के संचालक डा० नथमल टांटिया की अंग्रेजी प्रस्तावना है। उसके बाद सम्पादक की प्रस्तावना है, दोनों पृष्ठ संख्या ३८ और ३४ है, दोनों प्रस्तावनाएँ अपने में महत्वपूर्ण हैं। डा० टांटिया ने अपनी प्रस्तावना में चर्चित दर्शनों के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है और प्रारम्भ में डाक्टर साहब ने समन्तभद्र और सिद्धसेन के सम्बन्ध में भी कुछ लिखा है। प० सुखलाल जी सधवी समन्तभद्र को सिद्धसेन और पूज्यपाद के बाद का विद्वान मानते हैं। डा० टांटिया ने भी उसी का अनुसरण किया है। जब एक दृष्टि कोण बना लिया जाता है, भले ही वह गलत हो, तो भी उसके अनुकूल साधन सामग्री जुटाने का यत्न किया जाता है। आचार्य समन्तभद्र के सम्बन्ध में भी एक वर्ग ने अपना ऐसा ही दृष्टिकोण बना लिया है और वह उसी की पुष्टि में लगा हुआ है। इस पर यहाँ कुछ लिखना अप्रासंगिक होगा, अतः फिर कभी हम गलत धारणा पर लिखने का यत्न किया जावेगा। निष्ठा ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी यह कल्पना सम्मत नहीं कही जा सकती, उसका यहाँ उल्लेख करना भी उचित न था।

श्री गोकुलचन्द जी का यह प्रथम सम्पादन कार्य है। प्रथम प्रयास में ही उनकी सफलता बधाई के योग्य है। वे उदीयमान लेखक तथा सम्पादक हैं। उनसे समाज को बड़ी आशाएँ हैं। इस सुन्दर प्रकाशन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ धन्यवाद की पात्र है।

३—भोज चरित्र—लेखक श्री राजवल्लभ, सम्पादक डा० बी. सी. एच. छाबड़ा एम. ए., एम. ओ. एल., पी. एच. डी. एफ. ए. एस. ज्वाइण्ट डायरेक्टर जनरल आफ आर्किलॉजी इन इण्डिया तथा एस. शंकर नारायणन एम. ए. शिरोमणि, असिस्टेंट सुपरिन्टेण्डेंट फार एपिग्राफी।

प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी, पृष्ठ संख्या २१०, मूल्य ८) रुपये।

प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत भाषा का पद्यमय ग्रन्थ है, पद्य प्रायः अनुष्टुप है। ग्रन्थ पाँच प्रस्तावों में विभक्त है। ग्रन्थ में महान् विद्या प्रचारक मालव नरेश का जो विद्वानों का सम्मानदाता था। और जो संस्कृत भाषा का अच्छा विद्वान् कवि था, उसकी राजसभा में अनेक विद्वान रहते थे। जो कोई विद्वान नवीन श्लोक बना कर राजा भोज को सुनाता था, तब भोज उसे बड़ा पारितोषक प्रदान करता था। यदि कोई विद्वान दरिद्र होता था तो वह प्रचुर द्रव्य देकर उसकी दरिद्रता भी दूर कर देता था। राजा भोज की विद्या-वर्द्धिनी प्रवृत्ति पर भोज प्रबन्धादि अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। इससे स्पष्ट है कि राजा भोज विद्वानों को कितना प्रिय था। वह उनके आश्रयदाता के रूप में प्रसिद्ध रहा है। इसी से विद्वानों ने भोज चरित्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें प्रस्तुत ग्रन्थ भी एक है, जो जैन कवि राजवल्लभ द्वारा रचा गया है। जिसमें भोजराज की पठनीय जीवनचर्या समृहीत है। प्रस्तुत भोज चरित्र की एक बड़ी विशेषता यह है कि यह केवल चरित्र ही नहीं है किन्तु इसमें दिये गये अनेक विवरण साहित्य पुरातत्त्व की जाच में सही निकलते हैं। इसी से इस काव्य की ऐतिहासिक महत्ता है।

सम्पादकों ने ग्रन्थ का सम्पादन बड़ी कुशलता से किया है। और प्रस्तावना में उसके प्रतिपाद्य विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। सं० १४६८ की प्रति को कर्ता के काल की अंतिम अवधि मान ली है महत्वपूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना, नोट्स तथा परिशिष्ट भी दिये हैं। उसमें ग्रन्थ व कथा का संक्षिप्त परिचय और श्लोको का भाव स्पष्ट करने के लिए तथा उसके कर्ता के सम्बन्ध की समस्त ज्ञातव्य बातों का विद्वत्पूर्ण रीति से विवेचन किया है। इस सुन्दर प्रकाशन के लिए सम्पादक और भारतीय ज्ञानपीठ, के संचालक धन्यवाद के पात्र हैं।

—परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त के मत्तरहवें वर्ष की विषय-सूची

अजीमगंज भंडार का रजताक्षरी कल्पसूत्र

—भवरलाल नाहटा १७८

अनेकान्त और अनाग्रह की मर्यादा

—मुनि श्री गुलाबचन्द जी १२७

अपभ्रंश का एक प्रमुख कथा-काव्य

—डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री २६३

अपभ्रंश का एक प्रेमाख्यानक काव्य 'विलासवईकहा

—डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री १६६

अयोध्या एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर

—परमानन्द जैन शास्त्री ७८

अर्हत्परमेष्ठी स्तवन—मुनि पद्मनन्दि

आकस्मिक वियोग ४५

आचार्य भावसेन के प्रमाण विषयक विशिष्ट मत

—डा० विद्याधर जोहरापुरकर २३

३८वे ईसाई तथा ७वे बौद्ध विश्व सम्मेलनों की

श्री जैन संघ की प्रेरणा—मुनि कनकविजयजी २८१

और आँसू बुलक पड़े (मामिक कहानी)

—डा० नरेन्द्र भानावत १७५

कलकत्ता में महावीर जयन्ती

कल्पसूत्र . एक सुभाष ६२

—कुमार चन्द्रसिंह दुधौरिया २३०

कविवर भाऊ की काव्य-साधना

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल १७२

कावड एक चलता-फिरता मन्दिर

—महेन्द्र भानावत ७

कविवर रङ्गू रचित सावय चरित

—श्री अग्रचन्द नाहटा १०

खजुराहो का आदिनाथ जिनालय—श्री नीरज जैन ३७५

गेही पै गृह में न रहे (कहानी)

—प० कुन्दनलाल जैन एम. ए. १२४

जगतराय की भक्ति—गगाराम गंग एम. ए. १३३

जितवर स्तवनम्—पद्मनन्दाचार्य ४६

जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह पर मेरा अभिमत

—प० दरबारीलाल कोठिया ३३

जैनदर्शन और उसकी पृष्ठभूमि

—प० कैलाशचन्द जैन शास्त्री १४७

जैनदर्शन और पातञ्जल योगदर्शन

—साध्वी मधमित्रा जी

जैनदर्शन में सप्तभगीवाद

—उपा० मुनि श्री अमरचन्द जी २५३

जैनधर्म तर्क सम्मत और वैज्ञानिक

—मुनि श्री नगराज ८२

जैनधर्म में मूर्ति-पूजा—डा० विद्याधर जोहरा पुरकर १५५

जैनमध के छ अंग—डा० विद्याधर जोहरा पुरकर २३१

जैनसन्त भ. वीरचन्द्र की साहित्य-सेवा

—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल २३३

जैन-साहित्य में आर्य शब्द का व्यवहार

—साध्वी श्री मजुला जी ७४

जो देता है वहीं पाता है—आचार्य तुलसी

जैन समाज के समक्ष ज्वलत प्रश्न ५३

—कुमार चन्द्रसिंह दुधौरिया कनकलता १८६

तृतीय विश्वधर्म सम्मेलन—डा० बलचन्द जैन २३६

तेरहवी-चौदहवी शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य

डा० श्यामशंकर दीक्षित एम. ए. १०८

दलपतराय और उनकी रचनाएँ

—डा० प्रभाकर शास्त्री एम. ए. १३५

दशवैकान्तिक के चार शोध-टिप्पण

—मुनि श्री नथमलजी २२२

दिगम्बर कवियों के रचित वैलिमाहित्य

—श्री अग्रचन्द नाहटा ६१

दिग्विजय (ऐतिहासिक उपन्यास)

—आनन्द प्रकाश जैन जबूप्रसाद जैन २५

दिल्ली पट्ट के मूल सधी भट्टारकों का समय क्रम

डा० ज्योतिप्रसाद जैन ५४, १५६

दूसरे जीधों के साथ अच्छा व्यवहार कीजिए

शिवनारायण मक्केना एम. ए. ६६

देवताओं का गढ, देवगढ—श्री नीरज जी सतना २६७

धर्म ही मंगलमय है—अशोक कुमार जैन १०७

धर्म स्थानों में व्याप्त सोरठ की कहानी

—महेन्द्र भानावत एम. ए. २६४

ध्यान—डा० कमलचन्द सोगानी ३

नया मन्दिर धर्मपुरा दिल्ली के जैन मूर्ति लेख

—परमानन्द जैन शास्त्री २

नन्दि संध बलात्कारगण पट्टावली		रतनचन्द और उनका काव्य—गंगाराम गर्ग एम.ए. १८०
—परमानन्द जैन शास्त्री	३५	राजस्थानी भाषा का अध्यात्म गीत— १४६
मैमिनाह चरित्र—श्री अग्रचन्द नाहटा	२२६	वधेरवाल जाति—डा० विद्याधर जोहरापुरकर ६३
पं० जवाहरलाल नेहरू क्या थे ?	५०	वाग्भट्ट के मंगलाचरण का रचयिता
पल्लू ग्राम की प्रतिमा व अन्य जैन सरस्वती प्रतिमाएँ		—श्री क्षुल्लक सिद्धसागर २४८
—श्री धीरेन्द्र जैन	५७	विश्वमैत्री—डा० इन्द्रचन्द्र जैन १०३
प्राचीन मथुरा के जैनो की सघ व्यवस्था		शब्द साम्य और उक्ति साम्य—मुनि श्री नगराज १००
—डा० ज्योतिप्रसाद जैन	२१७	श्री शम्भव जिन स्तुति—समन्तभद्राचार्य १४५
पद्म जीवधर और उनकी रचनाएँ		शातिनाथ स्तोत्रम्—पद्मनंदाचार्य १
—परमानन्द जैन शास्त्री	१४०	शान्ति और सौम्यता का तीर्थ कुण्डलपुर
भगवान महावीर (कविता)—वसन्त कुमार जैन	७२	—श्री नीरज जैन ४३
भगवान महावीर के जीवन प्रसंग		शोध-कण—परमानन्द जैन शास्त्री १६६
—मुनि श्री महेन्द्रकुमार प्रथम	१७	शोध टिप्पण—
भट्टारक विजय कीर्ति—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	३०	१. आगमों के पाठ भेद और उनका मुख्य हेतु
भव्यानन्द पञ्चाशिका—भक्तामर स्तोत्र का अनुवाद		—मुनि श्री नथमल ११८
—मुनि श्रीकान्ति सागर	८३	२. राजा श्रीपाल उर्फ ईल
भारतीय दर्शन की तीन धाराएँ		—पं० नेमचन्द्र धन्नुसा जैन १२०
—भगवानदास विज एम. ए.	१६४	३. अनार्य देशो मे तीर्थकरों और मुनियों का विहार
भारतीय संस्कृति में बुद्ध और महावीर		—मुनि श्री नथमल १२२
—मुनि श्री नथमल	१६५	४. द्रोणगिरि—डा० विद्याधर जोहरापुरकर १२३
भीतर और बाहर (कविता)—भूधरदास	१६४	अब्बाजलि—टाइटल पेज १
मन्दिरों का नगर मड़ई—श्री नीरज जैन सतना	११७	श्री पद्मप्रभ जिनस्तवन—समन्तभद्राचार्य १६३
मगध और जैन संस्कृति—डा० गुलाबचन्द एम. ए.	२१२	श्रीपुर मे राजा ईल से पूर्व का जैन मन्दिर
महाकोशल का जैन पुरातत्त्व—बालचन्द जैन एम. ए.	१३१	—नेमचन्द्र धन्नुसा जैन २४५
महापंडित आशाधर—व्यक्तित्व एवं कृतित्व		श्री शम्भव जिन-स्तुति—समन्तभद्राचार्य १४५
—पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ	६७	श्री सुपाशर्व जिन-स्तवन—समन्तभद्राचार्य २४१
महावीर का गृह त्याग—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	१६	संत श्री गुणचन्द—परमानन्द शास्त्री १८६
माणिकचन्द : एक भक्त कवि—गंगाराम गर्ग एम.ए.	२७८	संवेग—मुनि श्री नथमल जी १५७
मोक्षमार्ग की दृष्टि से सम्यग्ज्ञान का निरूपण		समयसार नाटक—डा० प्रेमसागर २०२
—पं० सरनाराम जैन बड़ौत	१८२	समर्पण (कविता)—स्व० बाबू जयभगवान ४७
मोक्ष शास्त्र के पाचवे अध्याय के सूत्र ७ पर विचार		सम्यग्दृष्टिकाविवेक— ५६
—पं० सरनाराम जैन बड़ौत	१३८	सर्वोदय का अर्थ—आचार्य विनोदा भावे ३२
यज्ञ और अहिंसक परम्पराएँ—आचार्य श्री तुलसी	२४६	साहित्य-समीक्षा—डा० प्रेमसागर ४८, ६६, १६२
युगपुरुष की भाग्यशालिता—काका साहब कालेलकर	५१	साहित्य-समीक्षा—परमानन्द शास्त्री ६६, १४४, २२५
रिद्धि कृत 'सावय चरित्र' समतकउमह ही है		होयसल नरेश विष्णु वर्धन और जैनधर्म
—प्रो० राजाराम जी जैन एम. ए.	२५०	पं० के सुजबली शास्त्री २४२

मुनि श्री कान्तिसागर के पत्र का महत्त्वपूर्ण अंश

“अनेकान्त मुझे यथा समय मिल जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अब आपने इसका स्तर बढ़त ही ऊँचा कर दिया है। निबन्ध पठनीय और स्थायी शोध की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। जैन समाज का यह शोध प्रधान पत्र विद्वत्समाज का मार्ग दर्शन कराता रहे, यही कामना है। मैं भी यथा समय कुछ न कुछ भेजता रहूँगा।”

वीर-सेवा-मन्दिर और “अनेकान्त” के सहायक

१०००) श्री मिश्रीलाल जी धर्मचन्द जी जैन, कलकत्ता	१५०) श्री चम्पालाल जी सरावगी, कलकत्ता
१०००) श्री देवेंद्रकुमार जैन, ट्रस्ट,	१५०) „ जगन्मोहन जी सरावगी, कलकत्ता
श्री साधु शीतलप्रसाद जी, कलकत्ता	१५०) „ कस्तूरचन्द जी आनन्दी नाल कलकत्ता
५००) श्री रामजीवन सगावगी एण्ड सस, कलकत्ता	१५०) „ कल्यालाल जी सीताराम, कलकत्ता
५०) श्री गजराज जी सरावगी, कलकत्ता	१५०) „ प० बाबूलाल जी जैन, कलकत्ता
५००) श्री नथमल जी सेठी, कलकत्ता	१५०) „ मालीराम जी सरावगी, कलकत्ता
५००) श्री वंजनाथ जी धर्मचन्द जी, कलकत्ता	१५०) „ प्रतापमल जी सदनलाल पाट्या, कलकत्ता
५००) श्री रतनलाल जी भाँभरी, कलकत्ता	१५०) „ भागचन्द जी पाटनी, कलकत्ता
२५१) श्री रा० बा० हरखचन्द जी जैन, रांची	१५०) „ शिखरचन्द जी सगावगी, कलकत्ता
२५१) श्री अमरचन्द जी जैन (पहाडघा), कलकत्ता	१५०) „ सुरेन्द्रनाथ जी नरेन्द्रनाथ जी कलकत्ता
२५१) श्री स० सि० धन्यकुमार जी जैन, कटनी	१०१) „ मारवाडी दि० जैन समाज, व्यावर
२५१) श्री सेठ सोहनलाल जी जैन,	१०१) „ दिगम्बर जैन समाज, केफड़ी
मेतर्स मुन्नालाल द्वारकादास, कलकत्ता	१०१) „ सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्दजी, बम्बई नं० २
२५१) श्री ल.ला जयप्रकाश जी जैन	१०१) „ लाला शान्तिनाथ कागजी, दरियागञ्ज दिल्ली
स्वस्तिक मेटल वर्क्स, जगाधरी	१०१) „ सेठ भवरीलाल जी बाकलीवाल, इम्फाल
२५०) श्री मोतीलाल हीराचन्द गांधी, उस्मानाबाद	१०१) „ शान्ति प्रसाद उी जैन
२५०) श्री बन्शीधर जी जुगलकिशोर जी, कलकत्ता	जैन बुक एजेंसी, नई दिल्ली
२५०) श्री जुगमन्दरदास जी जैन, कलकत्ता	१०१) „ सेठ जगन्नाथजी पाण्ड्या भूमरीतलेया
२५०) श्री सिधई कुन्दनलाल जी, कटनी	१००) „ बट्टीप्रसाद जी आत्माराम जी, पटना
२५०) श्री महावीरप्रसाद जी अग्रवाल, कलकत्ता	१००) „ रूपचन्दजी जैन, कलकत्ता
२५०) श्री जी० अर० सी० जैन, कलकत्ता	१००) „ जैन रत्न सेठ गुलाबचन्द जी टोंग्या
२५०) श्री रामस्वरूप जी नेमिचन्द्र जी, कलकत्ता	इन्दौर
१५०) श्री वजरंगलाल जी चन्द्रकुमार जी, कलकत्ता	१००) „ बाबू नृपेन्द्रकुमार जी जैन, कलकत्ता

तीर्थराज श्री सम्मेद शिखर पर विहार सरकार का पक्षपात पूर्ण रवैया

सम्मेदशिखर जैनियो का अत्यन्त पवित्र तीर्थ क्षेत्र है, इसे दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही पूज्य मानते हैं। समस्त टोके दिगम्बर आम्नाय की प्रतीक है।

श्वेताम्बर समाज ने जमींदारी अधिकार छिन जाने पर भारतीय जैन समाज के नाम से आन्दोलन किया और कानूनी कार्यवाही भी की। पत्र व्यवहार तथा प्रतिनिधि मण्डल भेज कर मैमोरेण्डम आदि देकर तीर्थराज को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया। परिणाम स्वरूप सन् १९६४ में भारत सरकार के रवैये में कुछ परिवर्तन प्रतीत हुआ। भारतवर्षीय दि. जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी ने १८ अक्टूबर सन् १९६४ को विहार सरकार के मुख्य मंत्री को एक ज्ञापन (मैमोरेण्डम) दिया कि तीर्थराज के सम्बन्ध में जो भी नया कदम उठाया जावे उसमें दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों की समानता दी जाये। इस पर उनका आश्वासन भी प्राप्त हुआ। किन्तु हमें दुःख है कि ३ फरवरी १९६५ को विहार सरकार ने अपने आश्वासन पर ध्यान न देने हुए जैनियो के परम पुनीत इस तीर्थ राज को श्वेताम्बर सम्प्रदाय के एक भाग-केवल मूर्तिपूजक श्वेताम्बरों से एग्रीमेन्ट कर उन्हें अधिकार सौंप दिया, जिससे समस्त दिगम्बर जैन समाज में अत्यन्त क्षोभ है।

दिगम्बर समाज देशभक्त और शान्ति का प्रचारक है। उसके द्वारा सदैव ऐसे कार्य सम्पन्न हुए हैं, जिनसे बातावरण मधुर बना रहे। परन्तु धार्मिक अधिकारों पर आघात मानव जीवन पर एक महान् प्रहार है। विहार सरकार के इस पक्षपातपूर्ण रवैये ने दिगम्बर समाज में आतंक पैदा कर दिया है। जिससे समाज में अशांति उत्पन्न हो गई है। प्रत्येक जैन अपने धार्मिक अधिकारों का संरक्षण जीवन का परम कर्तव्य मानता है। वह चाहता है कि समस्या शान्तिपूर्ण ढङ्ग से सुलभ जाये।

सौभाग्य की बात है कि हमारे राष्ट्रपति महान् सन्त धर्मज्ञ और दार्शनिक हैं। समाज की दृष्टि उनकी ओर है। यदि वे हमारे धार्मिक अधिकारों की ओर ध्यान दें, तो समस्या आसानी से सुलभ सकती है। विहार सरकार ने मूर्तिपूजक श्वेताम्बर समाज से जो एग्रीमेन्ट किया है, वह सर्वथा एकांगी और अनुचित है। दिगम्बर समाज के अधिकारों पर कुठाराघात है। हमें पूर्ण आशा है कि विहार सरकार अन्यायपूर्ण एग्रीमेन्ट को वापिस ले लेगी।

दिगम्बर जैन समाज का कर्तव्य है कि वह विहार सरकार के अन्यायपूर्ण उक्त निर्णय का विरोध कर शक्तिशाली कदम उठाये और तीर्थराज पर अपने अधिकारों की रक्षार्थ सर्वस्व अर्पण के लिए तय्यार रहे। और दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के आन्दोलन में पूर्ण सहयोग देते हुए अपने सामाजिक संगठन को और भी अधिक मजबूत बनाये।

—प्रेमचन्द जैन

सं० मन्त्री वीरसेवा-मन्दिर

